श्रीअरविंद

भारतीय संस्कृतिके आधार

अदिति कार्यालय, श्रीअरविंद आश्रम,
पांडिचेरी

प्रकाशक
अदिति कार्यालय श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

[यह श्रीअरविंदकी अंगरेजी पुस्तक The Foundations of Indian Culture (दी फाउण्डेशन आफ इंडियन कल्चर) का हिंदी अनुवाद है। यह अनुवाद पहले 'अदिति सह भारत माता' के नवंबर १९५५ से फरवरी १९५७ तकके अंकोंमें धारावाहिक छापा गया और उसीसे कुछ प्रतियां पुस्तकाकार छाप ली गयीं।]

मुद्रक
श्रीअरविंद आश्रम प्रेस
पांडिचेरी

विषयसूची

भारतीय संस्कृतिके आधार

१

प्रश्न :

क्या भारत सभ्य है ?

क्या भारत सभ्य है ?

पहला अध्याय

कुछ वर्ष हुए विख्यात विद्वान् तथा तन्त्र-दर्शनके व्याख्याता सर जान उड्रफ (Sir John Woodroffe) ने 'क्या भारत सभ्य है ?' इस चौकानेवाले शीर्षकसे एक पुस्तक प्रकाशित की थी जो मिस्टर विलियम आर्चर (Mr William Archer) के अतिशयोक्तिपूर्ण कटाक्षके उत्तरमें लिखी गयी थी। उस प्रसिद्ध नाट्य-समालोचक आर्चरने अपने सुरक्षित एव स्वाभाविक क्षेत्रको छोडकर ऐसे क्षेत्रोमें टाग अडायी जिनके सबधमें कुछ कहनेका उसका मुख्य अधिकार है एक प्रकारका अभिमानपूर्ण महान् अज्ञान। उसने भारतके सपूर्ण जीवन एव सस्कृतिपर आक्रमण किया, और यहातक कि उसकी महानसे महान् प्राप्तियो, दर्शन, धर्म, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, उपनिषद्, महाभारत, रामायण आदि सबको एक साथ एक ही कोटिमें रखकर, सबके बारेमें कह डाला कि ये अवर्णनीय बर्बरताका एक घृणास्पद स्तूप है। उस समय बहुतोने यह तर्क उपस्थित किया था कि ऐसे समालोचककी बातका उत्तर देना व्यर्थमें शक्ति गवाना है, अथवा इस प्रसगमें तो वह एक निरर्थक बातको अनुचित महत्त्व देना भी हो सकता है। परतु सर जान उड्रफने इस बातपर बल दिया कि इस प्रकारके अज्ञानपूर्ण आक्रमणकी भी उपेक्षा नही करनी चाहिये, उन्होने इसे ऐसे आक्रमणोकी व्यापक श्रेणीके एक विशेष उपयोगी नमूनेके रूपमें लिया, इसका पहला कारण तो यह था कि इसमें उक्त प्रश्न तार्किक दृष्टिकोणसे उठाया गया था, ईसाई एव प्रचारकीय दृष्टिकोणसे नही, और फिर एक कारण यह भी था कि यह इस प्रकारके सभी आक्रमणोंके आधारभूत स्थूलतर उद्देश्योको प्रकट करता था। परतु उड्रफकी पुस्तक महत्त्वपूर्ण थी, और इसका कारण यही नही था कि वह एक विशिष्ट समालोचकका उत्तर थी बल्कि इससे भी बढकर यह कि उसमें भारतीय सभ्यताके बचे रहने तथा सस्कृतियोंके युद्धकी अवश्यभाविताका सपूर्ण प्रश्न खूब सुसगत और ओजस्वी रूपमें उठाया गया था।

भारतमें कोई सभ्यता थी या नही अथवा है या नही यह प्रश्न अब विवादास्पद नही है, क्योकि जिन लोगोंके मतका कुछ मूल्य है वे सभी यह स्वीकार करते है कि यहा एक विशिष्ट एव महान् सभ्यता विद्यमान थी जो अपने स्वरूपमें अद्वितीय थी। सर जान उड्रफ-

का उद्देश्य था यूरोप और एशियाकी संस्कृतियोंके संघर्षको और, मुख्य रूपसे भारतीय सभ्यताके विशिष्ट मर्म एवं महत्त्वको प्रकट करना। साथ ही वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि यह आज किस संकटमेंसे गुजर रही है और इसका विनाश जगत्‌के लिये कैसा विपज्जनक होगा। ग्रन्थकारका मत था कि इसकी रक्षा करना मानवजातिके लिये परमावश्यक है और उनकी धारणा थी कि यह एक महान् संकटमें है। उनके मतानुसार आज मानव-जगत्‌में उथलपुथलकारी बवंडरके परिणामस्वरूप परिवर्तनकी जो अति प्रचण्ड आँधी आ रही है उसमें संभवतः प्राचीन भारतकी संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी, कारण एक ओरसे तो इसपर यूरोपीय आधुनिकतावादके आक्रमण हो रहे हैं तथा भौतिक क्षेत्रमें यह अभिभूत हो रही है और दूसरी ओर भारतकी संतति भी इस विषयमें उदासीन रहकर इसके साथ विश्वासघात कर रही है। ऐसी दशामें यह आशंका है कि शायद यह सदाके लिये मटियामेट हो जाय और इसके साथ ही इसे संजोकर रखनेवाली राष्ट्रकी आत्मा भी सदाके लिये नष्ट हो जाय। उनकी पुस्तकमें हमसे बलपूर्वक अनुरोध किया गया था कि हम इस पवित्र धरोहर की ठीक-ठीक कदर करें और इसपर आते हुए संकटको देखें तथा इस अग्निपरीक्षाकी घड़ीमें दृढ़ और निष्ठावान् बने [illegible] इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी भूमिकाके रूपमें उस पुस्तकका सार संक्षेपमें बत[illegible]भी होगा।

उसके स्तरोको उन्नत करती है, और यह विकास तबतक चलता रहता है जबतक कि मन-रूपी साधनके सात्विक या आध्यात्मिक अशकी बढती हुई अभिव्यक्ति मनुष्यके अदरके व्यष्टिभूत मनोमय पुरुषको मनसे परेकी शुद्ध अध्यात्म-चेतनाके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करनेके योग्य नही बना देती। भारतवर्षकी सामाजिक व्यवस्था इसी विचारपर आधारित है, उसका दर्शन इसीको सूत्रबद्ध करता है, उसका धर्म आध्यात्मिक चेतना तथा उसके फलोकी प्राप्तिके लिये अभीप्सा-स्वरूप है, उसकी कला तथा उसके साहित्यमे यही ऊर्ध्वमुखी दृष्टि पायी जाती है, उसका सपूर्ण धर्म या जीवन-विधान इसीपर प्रतिष्ठित है। प्रगतिको वह अवश्य स्वीकार करता है, किंतु इस आध्यात्मिक प्रगतिको ही, न कि नित-अधिकाधिक समृद्ध एव कार्यदक्ष बनती जानेवाली जडवादी सभ्यताकी बाह्य विकासकी प्रक्रियाको। इस उदात्त विचारपर जीवनकी प्रतिष्ठा तथा आध्यात्मिक एव शाश्वत सत्ताकी ओर उसका प्रवेग ही उसकी सभ्यताका विशिष्ट मूल्य है। और, किसी भी प्रकारकी मानवीय त्रुटियोंके होते हुए भी, इस उच्चतम आदर्शके प्रति उसकी निष्ठाने ही उसके निवासियोको मानव-जगत्में एक विलक्षण जाति बना दिया है।

परतु कुछ अन्य सस्कृतिया भी है जो इससे भिन्न विचार और यहातक कि इससे उलटे उद्देश्यसे भी परिचालित होती है। सघर्षका नियम भौतिक जगत्में जीवन धारण करनेका पहला नियम है और इस नियमके कारण विभिन्न सस्कृतियोका एक दूसरेके साथ सघर्षमें आना अवश्यभावी है। प्रकृतिकी गहराइयोंमें बैठा हुआ एक आवेग उन्हे अपने-आपको प्रसारित करने तथा सभी विषम या विरोधी तत्त्वोको नष्ट-भ्रष्ट करने या उन्हे हजम करके उनका स्थान लेनेका यत्न करनेके लिये बाधित करता है। निःसदेह, सघर्ष ही अतिम एव आदर्श अवस्था नही है, क्योकि आदर्श अवस्था तो तब आती है जब विविध सस्कृतिया अपने पृथक्-पृथक् विशिष्ट उद्देश्योका विकास स्वतत्रतापूर्वक, घृणा एव गलतफहमीके विना अथवा एक दूसरेपर आक्रमण किये बिना और यहातक कि ऐक्यकी आधारभूत भावनाके साथ करती है। परतु जबतक सघर्षके तत्त्वका राज्य है, तबतक मनुष्यको हीनतर नियमका ही सामना करना होगा, युद्धके ठीक बीचमें हथियार डाल देना घातक ही होगा। जो सस्कृति अपनी जीवत पृथक्ताको त्याग देगी, जो सभ्यता अपनी सक्रिय प्रतिरक्षाकी उपेक्षा करेगी वह दूसरीके द्वारा निगल ली जायगी और जो राष्ट्र इसके सहारे जीता था वह अपनी आत्माको खोकर विनष्ट हो जायगा। प्रत्येक राष्ट्र मानवजातिके अदर विकसित होते हुए आत्माकी ही एक विशिष्ट शक्ति है और वह जिस शक्ति-तत्त्वका मूर्त रूप है उसीके सहारे वह जीवित रहता है। भारतवर्ष भारत-शक्ति है, एक महान् आध्यात्मिक परिकल्पना-की जीवत शक्ति है, और इसके प्रति निष्ठावान् रहना ही उसके जीवनका मूल सिद्धात है। क्योकि, इसीके बलपर उसकी अमर राष्ट्रोमें गणना रही है, यही उसके आश्चर्यजनक स्था-यित्वका तथा उसके दीर्घजीवन एव पुनरुज्जीवनकी शाश्वत शक्तिका रहस्य रहा है।

हिक कल्याणके लिये अपने स्वरूपको पुन प्राप्त करे, अपने सास्कृतिक जीवनको विदेशी प्रभावसे बचाये, अपनी विशिष्ट आत्मा, मूल नीति एव स्वभावगत विधि-विधानोकी रक्षा करे।

परतु यहा कितने ही प्रश्न उठ सकते है,—और मुख्य रूपसे यह कि आया प्रतिरक्षा और आक्रमणकी ऐसी भावना ही ठीक भावना है, आया आगामी मानव-प्रगतिके हित एकता, समस्वरता और आदान-प्रदान ही हमारे लिये समुचित भाव नही है। क्या एकीकृत विश्व-सस्कृति ही भविष्यका व्यापक पथ नही है? क्या कोई अत्यत आध्यात्मिक या फिर कोई अत्यधिक लौकिक सभ्यता ही मानव-प्रगति या मानव-पूर्णताका सुदृढ आधार हो सकती है? ऐसा प्रतीत होगा कि एक सुखद या समुचित समन्वय ही आत्मा, मन और शरीरके सामजस्यका अधिक अच्छा समाधान है। और साथ ही एक प्रश्न यह भी है कि क्या भारतीय सस्कृतिकी आत्माके समान ही उसके बाह्य रूपको भी बनाये रखना होगा। ग्रथकारका दिया हुआ इन प्रश्नोका उत्तर हमे उनके इस कथनमें मिलता है कि मानव-जातिकी आध्यात्मिक उन्नति क्रमविकासके नियमके अनुसार होती है तथा इसके लिये तीन क्रमिक अवस्थाओमेंसे गुजरना उसके लिये आवश्यक है।

पहली अवस्था है सघर्ष और स्पर्द्धाकी अवस्था, जो भूतकालमें सदैव प्रबल रही है और वर्तमान कालमें भी मनुष्यजातिको घेरे हुए है। चाहे भौतिक सघर्षके स्थूलतम रूप कम हो जाय फिर भी स्वय सघर्ष जीवित रहता है तथा सास्कृतिक द्वद्व और भी अधिक प्रबल हो जाता है। दूसरा सोपान समस्वरताकी अवस्थाको लाता है। तीसरे एव अतिम सोपानका लक्षण होता है त्याग-भावना, जिसमे प्रत्येक अपनेको दूसरोकी भलाईके लिये उत्सर्ग कर देता है, क्योकि उसमे सब कुछ एक ही आत्माके रूपमें अनुभूत होता है। दूसरी अवस्था अधिक-तर लोगोंके लिये शायद अभी शुरु ही नही हुई है, तीसरी अनिश्चित भविष्यकी वस्तु है। कुछ एक व्यक्ति उच्चतम अवस्थातक पहुच चुके है, सिद्ध सन्यासी, मुक्त पुरुष, परमात्माके साथ एकीभूत जीव भूतमात्रको आत्मवत् अनुभव करता है और उसके निकट किसी भी प्रकारकी प्रतिरक्षा एव आक्रमणका कुछ भी प्रयोजन नही होता। क्योकि, उसे जिस विधानका साक्षात्कार हुआ है उसमें सघर्षका कोई स्थान नही, त्याग और आत्मदान ही उसके कर्मका

प्रकारका सामाजिक दबाव नही डाला है, परतु भारतीय सामाजिक जीवनके जो केंद्र एव सगठन-यन्त्र पहलेसे चले आ रहे थे उन सबकी इसने जड खोद डाली है तथा उन्हे जीवत शक्तिसे वचित कर दिया है और एक प्रकारकी अप्रत्यक्ष मूलोच्छेदक प्रक्रियाके द्वारा सामा-जिक जीवनको एक सडता हुआ खोखला ढाचा मात्र बना छोडा है जिसमे न तो अपना विस्तार करनेकी शक्ति है और न अपनी रक्षा करनेके लिये तामसिकताकी शक्तिसे बढकर कोई अच्छी शक्ति ही है।

संपूर्ण सिद्धांत हात है। परंतु कोई भी जाति उस स्तरतक नहीं पहुंची है और अनिच्छा पूर्वक या अज्ञानपूर्वक या अपनी चेतनाके सत्यके विरुद्ध किसी विधान या सिद्धांतका अनुसरण करना मिथ्या एवं विनाशकारी होता है। मेंढकके द्वारा आपको समझनेकी तरह अपनी हत्या होने देनेस कोई विकास नहीं होता कोई प्रगति नहीं होती न इससे कोई आध्यात्मिक धन्यता प्राप्त होनेकी ही आशा बंधती है। समस्वरता या एकता अवश्य समयमें आ सकती है पर यह एक ऐसी मूलगत एकता होनी चाहिये जिसमें विविधतापूर्ण विकासके लिये पूरी स्वाधीनता हो यह एकका दूसरेके द्वारा भक्षण या फिर एक असंगत एवं बेसुरा मिश्रण नहीं होनी चाहिये। और यह एकता तबतक नहीं आ सकती जबतक संसार इन महत्तर वस्तुओंके लिये तैयार न हो जाय। युद्धकी परिस्थितिमें शस्त्रास्त्रका त्याग कर देना विनाशको निमंत्रित करना है और इससे कोई ऐसा आध्यात्मिक उद्देश्य भी सिद्ध नहीं हो सकता जिससे क्षतिकी पूर्ति हो जाय।

निश्चय ही आध्यात्मिक और लौकिकमें पूर्ण रूपसे मेल साधना होगा क्योंकि आत्मा मन और शरीरके द्वारा ही कार्य करता है। परंतु यूरोप आज जिस प्रकारकी निरी भौतिक या निताल जड़वादी संस्कृतिका समर्थन करता है उसके अंतस्तलमें मृत्युका बीज निहित है क्योंकि संस्कृतिका जीता-जागता उद्देश्य है पृथ्वीपर स्वर्गका राज्य स्थापित करना। भारत-वर्षका प्रबल झुकाव यद्यपि 'शाश्वत'की ओर है क्योंकि वह सदा ही उच्चतम और पूर्णतः वास्तविक तत्त्व रहा है फिर भी उसकी संस्कृति तथा दर्शनमें 'सनातन' तथा 'सांसारिक'का एक परम समन्वय पाया जाता है और उसे इस समन्वयको कहीं बाहरसे प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं। इसी सिद्धांतके अनुसार एक सामंजस्यपूर्ण संस्कृतिके अंदर मन शरीर और आत्माकी अन्योन्यनिर्भरताको व्यक्त करनेवाला एक बाह्य रूप विशुद्ध आत्माके समान ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि बाह्य रूप आत्माका ही प्रतिरूप है। इसका अर्थ यह हुआ कि बाह्य रूपको छिन्न-भिन्न कर डालना आत्माकी अभिव्यक्तिको क्षत-विक्षत करना है या कम-से-कम उसे महान् संकटमें डाल देना है। बाह्य रूपोंमें परिवर्तन हो सकता है और होता भी किंतु एक नयी रचना एक ऐसी नवीन आत्म-अभिव्यक्ति या आत्म-सर्जन होनी चाहिये जो अंदरसे विकसित हो वह आत्माकी अपनी विशिष्ट प्रकृतिसे युक्त होनी चाहिये एक विजातीय प्रकृतिके बाह्य रूपोंसे बलात्पूर्वक उधार ली हुई नहीं।

तो फिर भारत अपने इस संकटकालमें वस्तुतः किस स्थितिमें है और कहांतक यह कहा जा सकता है कि वह अभी भी अपनी चिरंतन आधारशिलाओंपर दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित है? यूरोपीय संस्कृतिके द्वारा वह पहलेसे ही अत्यधिक प्रभावित है और यह संकट अभी दूर नहीं हुआ है बल्कि निकट भविष्यमें ही यह और भी अधिक और भी प्रबल प्रचंड एवं दुर्धर्ष हो उठेगा। एशियाका पुनरुत्थान हो रहा है परंतु ठीक यही तथ्य एशियाको हड़प जानेके यूरोपीय सभ्यताके प्रयत्नको और भी प्रबल कर देगा तथा वह ऐसा कर भी रहा

है, प्रतियोगिताके सिद्धातके अनुसार यह प्रयत्न स्वाभाविक और समुचित भी है। कारण, यदि वह सास्कृतिक दृष्टिसे बदल जाय और जीत लिया जाय तो जब जगत्की भौतिक व्यवस्थामें वह फिरसे अपना स्थान बना लेगा तब एशियाई आदर्शके द्वारा यूरोपके जीते जानेका कोई खतरा नही रहेगा। इस प्रकार यह एक सास्कृतिक कलह है जो राजनीतिक प्रश्नके साथ उलझकर जटिल हो गया है। इसका कूट आशय यह है कि सास्कृतिक दृष्टिसे एशियाको यूरोपका एक प्रदेश बनना होगा और राजनीतिक रूपमें उसे एक यूरोपीय सघ या कम-से-कम यूरोपीय रगमें रगे हुए सघका एक अगमात्र बन जाना होगा, नही तो सभव है कि सास्कृतिक दृष्टिसे यूरोप एशियाका एक प्रात बन जाय, नयी विश्व-व्यवस्थामें एशियाकी समृद्ध, विपुल और शक्तिशाली जातियोंके प्रबल प्रभावके द्वारा एशियाई रगमें रग जाय। मिस्टर आर्चरके आक्रमणका मूल उद्देश्य स्पष्ट रूपमें राजनीतिक है। उसके सारे गीतकी टेक यही है कि विश्वका नव-निर्माण तर्कवादी एव जडवादी यूरोपीय सभ्यताकी रीति-नीति एव विधि-विधानके अनुसार ही होना चाहिये। उसकी युक्ति यह है कि यदि भारत अपनी सभ्यतासे चिपका रहे, यदि वह इस सभ्यताकी आध्यात्मिक प्रेरणाको प्रेमसे पोसता रहे तथा निर्माणके सबधमें इसके आध्यात्मिक सिद्धातके प्रति आसक्त रहे, तो वह इस शोभन, उज्ज्वल, युक्तिवादी जगत्का एक जीवत प्रतिवाद, इसके मस्तकपर एक कुत्सित "कलक"का टीका बना रहेगा। या तो उसे नखसे शिखतक यूरोपीय रगमें रग जाना होगा, तर्कवादी एव जडवादी बनना होगा और इस परिवर्तनके द्वारा स्वाधीनताका अधिकारी बनना होगा या फिर उसके सास्कृतिक गुरुजनोंको ही उसे अपने अधीन रखकर उसपर शासन करना होगा उसके श्रेष्ठ एव प्रबुद्ध क्रिश्चियन-नास्तिक यूरोपीय रक्षको एव शिक्षकोंको उसके त्रिश कोटि धार्मिक बर्बरोंको दृढतापूर्वक दबाये रखकर शिक्षित तथा सभ्य बनाना होगा। ऊपरसे देखनेपर तो यह एक हास्यास्पद कथन लगता है, परन्तु सारत इसके अदर सारे विषयकी जड छिपी हुई है। (सभी लोग इस प्रकार आक्रमण करते हो ऐसी बात नही, क्योकि आजकल पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक लोग भारतीय सस्कृतिको समझने तथा सराहने लगे है।) नि सदेह, भारत इस आक्रमणका विरोध करनेके लिये जाग रहा है तथा अपनी रक्षा कर रहा है, परन्तु पर्याप्त रूपमें नही, साथ ही उसके अदर वह पूर्ण निष्ठा, स्पष्ट दृष्टि एव दृढ सकल्प भी नही है जो इस सकटसे उसकी रक्षा कर सके। आज यह सकट सिरपर मडरा रहा है। अब उसे चुनाव कर लेना चाहिये कि उसे जीना है या मिट जाना है,—क्योकि चुनावकी अटल घडी उसके सामने उपस्थित है।

इस चेतावनीकी उपेक्षा नही की जा सकती, यूरोपके लेखकों, पत्रकारो एव राजनीतिज्ञोंके हालके उद्गार, भारतके विरुद्ध लिखी गयी नयी पुस्तकें और लेख आदि तथा पाश्चात्य देशोंकी जनताके द्वारा किया गया उनका सहर्ष और सोत्साह स्वागत—ये सभी सकटकी

यथार्थताके सूचक हैं। निश्चय ही एक महान् एवं निर्णायक परिवर्तनके इस संधिक्षणमें आज जो राजनीतिक स्थिति तथा मानवजातिकी जो सांस्कृतिक प्रवृत्ति हमारे देखनेमें आती है उसीके परिणामस्वरूप अनिवार्य रूपमें इस संघर्षका जन्म हुआ है। लेखकने अपनी पुस्तकमें जो विचार प्रकट किये हैं उन सभीमें उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं। उन्होंने यूरोपकी मध्ययुगीन सभ्यताकी जो स्तुति गायी है उसे स्वयं मैं भी पूर्ण रूपमें स्वीकार नहीं कर सकता। उसकी जिज्ञासा-वृत्ति उसकी कलात्मक भव्यताभरी सुषमा उसकी गंभीर और सच्ची आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंको मेरी दृष्टिमें उसकी अज्ञानता और अंधकारप्रियताकी सभी तान उसकी निष्ठुर असहिष्णुता उसकी विद्रोही आदिम-ट्यूटन-जातीय बर्बरता पाशविकता नीचता एवं स्थूलताने कलुषित कर रखा है। मुझे ऐसा लगता है कि उन्होंने पीछेकी यूरोपीय संस्कृतिपर कुछ अधिक कठोर आघात किया है। यह मुख्यतः आर्थिक ढंगकी सभ्यता अपनी उपयोगितावादी जड़वादकी प्रवृत्तिमें काफी कुत्सित रही है अतः यदि हमने इसका अनुकरण किया तो हम एक भारी भूल करेंगे तो भी कुछ उच्चतर बातोंमें जिनसे मानवजातिका बहुत-कुछ हित-साधन हुआ है इसने अवश्य ऊंचा उठाया है। परन्तु ये भी अपने बाह्य रूपमें स्थूल एवं अपूर्ण हैं और इससे पूर्व कि इन्हें भारतीय मन पूर्ण रूपसे अंगीकार कर सके इनके मार्गको अध्यात्ममय करना आवश्यक है। मेरा यह भी विचार है कि ग्रंथकारने भारतके पुनरुज्जीवनकी शक्तिका मूल्य कुछ कम ही आंका है। मेरा मतलब उसकी प्राप्त की हुई बाहरी शक्तिसे नहीं है क्योंकि वह तो बहुत ही कम है मेरा मतलब है उसकी प्रेरणाकी अमोघतासे उसकी आध्यात्मिक एवं अन्तर्निहित शक्तिसे जिसका उन्होंने पूरा मूल्यांकन नहीं किया है। साथ ही उन्होंने ऐसे राजभक्त भारतीयको बहुत अधिक महत्त्व दे दिया है जो इस अशुभ भाट-कल्पनाका उद्घोष करनेमें समर्थ होता है कि 'यूरोपकी संस्थाएं वह मानदंड हैं जिसके द्वारा भारतकी अभिलाषाएं निर्धारित होती हैं।' ऐसा प्रतिनिधि जिस वर्गसे संबंध रखता है उसका अब तीव्र गतिसे ह्रास हो रहा है और उस वर्गके सिवा यह बात अब केवल एक ही क्षेत्रमें 'राजनीतिक' क्षेत्रमें सच्ची मानी जा सकती है। मैं स्वीकार करता हूं कि यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अपवाद है और साथ ही यह एक ऐसा अपवाद है जो अत्यंत भयंकर संकटका द्वार खोल देता है। किंतु यहां भी हमें एक गंभीर भाव-परिवर्तनका आभास मिल रहा है यद्यपि उसने अभी निश्चित रूप नहीं धारण किया है और उसे अब महायुद्धमें द्वारा संचालित इसकी असत्य युद्धप्रियताके द्वारा अनुप्राणित प्रचंड यूरोपीयवादके नये आक्रमणका सामना करना है। और फिर, भारतकी आध्यात्मिक विचारधारा यूरोप और अमरीकाके अंदर क्रमशः अधिकाधिक प्रवेश कर रही है जो यूरोपके आक्रमणके प्रति भारतका अपना विशिष्ट मुंहतोड़ जवाब है किंतु ग्रंथकारने इसे पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया है। इस दृष्टिकोणसे देखनेपर सारा प्रश्न एक और ही रूप धारण कर लेता है।

भर जान उड़ेल एक सबल आत्म-रक्षाके लिये हमें अभिप्रेरित करते हैं। परतु आधुनिक सघर्षमें निरी रक्षाका परिणाम अतत पराजय ही हो सकता है, और यदि युद्ध आवश्यक ही हो तो एकमात्र उचित नीति यही हो सकती है कि एक सबल, जीवत एव सक्रिय रक्षापर प्रतिष्ठित एक तीव्र आक्रमण किया जाय, क्योकि उस आक्रमण करनेवाली शक्तिके द्वारा ही स्वय रक्षा भी प्रभावशाली हो सकती है। एक विशेष वर्गके भारतीय आज भी सभी क्षेत्रोमें यूरोपीय सस्कृतिके द्वारा सम्मोहित क्यो है और अबतक भी हम सभी राजनीतिके क्षेत्रमें इसके द्वारा मत्रमुग्ध क्यो है? क्योकि वे बराबर देखते आ रहे हैं कि समस्त शक्ति, सृजन और कर्मण्यता यूरोपकी ओर है और भारतकी ओर है समस्त निष्क्रियता, या एक अचल एव अक्षम रक्षाकी समस्त दुर्बलता। परन्तु जहा कहीं भारतीय आत्मा ओजस्वी रूपमें प्रतिक्रिया तथा आक्रमण करने और उत्साहके साथ सृजन करनेमें समर्थ हुई है वहा यूरोपीय चमक-दमककी सम्मोहनी शक्ति तुरत ही लुप्त होने लगी है। हमारे धर्मपर यूरोपका आक्रमण प्रारभमें अत्यत प्रबल था, पर आज किसीको भी उसका कोई विशेष बल महसूस नहीं होता, क्योकि हिंदू नवजागरणकी सर्जनात्मक हलचलोने भारतीय धर्मको एक प्राणवत, विकासशील, सुरक्षित, विजयिनी और आत्मप्रसारिणी शक्ति बना दिया है। परतु इस कार्यपर मुहर तो दो घटनाओने लगायी, वे थी थियोसोफीका आदोलन तथा शिकागोमें स्वामी विवेकानदका प्रकट होना। कारण, भारत जिन आध्यात्मिक विचारोका प्रतिनिधित्व करता है उन्हे इन दो घटनाओने इस रूपमें दिखला दिया कि वे अब पहलेकी तरह केवल अपनी रक्षा ही नही कर रहे है वरन् आक्रमणमें भी तत्पर है एव पश्चिमकी भौतिकताग्रस्त मनोवृत्तिपर प्रहार कर रहे है। अग्रेजी शिक्षा-दीक्षा एव अग्रेजी प्रभावने समस्त भारतको सौंदर्यसबधी धारणाओमें अगरेजियतसे भर डाला तथा असस्कृत बना डाला था। यह अवस्था तबतक बनी रही जबतक कि एकाएक बगीय चित्र-कलाकी स्वर्णिम उषाका उदय नही हो गया और उसकी रश्मिया इतनी दूर-दूरतक प्रसारित नही हो गयी कि वे टोकियो, लदन और पेरिसमें भी दिखायी देने लगी। इस महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक घटनाने देशमें सौंदर्य-विज्ञानके क्षेत्रमें क्राति मचा दी है, जो अभीतक पूर्ण तो बिलकुल ही नही है पर अदम्य अवश्य है और साथ ही अब उसका भविष्य भी सुनिश्चित है। यही बात अन्य क्षेत्रोमें भी घटित हो रही है। यहातक कि राजनीतिके क्षेत्रमें भी स्वदेशी-आदोलनके समय तथाकथित चरमपथी दलकी नीतिका आतरिक भाव भी यही था। कारण, इस आदोलनसे पहले ऐसा दिखायी देता था कि अनुकरणात्मक यूरोपीय पद्धतिको छोडकर और किसी पद्धतिसे भारतीय भावनाके द्वारा राजनीतिके क्षेत्रमें कुछ भी सृजन नही किया जा सकता, किंतु इस स्वदेशी-आदोलनने उस असभवताको अतिक्रम करनेका यत्न किया। यदि वह आदोलन उस समय विफल हुआ तो इसका कारण यह नही था कि इसकी प्रेरणामें किसी प्रकारकी असत्यता थी, वरन् यह कि इसपर जो विरोधी दबाव पड रहा था वह बहुत प्रबल था और

सवधमें 'विजातीयके बहिष्कार' की नीतिका अनुसरण करे, यद्यपि कुछ समयके लिये इस आदर्शका सर्वत्र बोलवाला रहा है और कभी इसका विकास भी खूब जोर-शोरसे हो रहा था, तथापि अब इसके सफल होनेकी सभावना नही दीखती। क्योकि, ऐसा होनेके लिये तो एकीकरणके सपूर्ण उद्देश्यको, जिसकी तैयारी प्रकृतिके अदर हो रही है, छिन्न-भिन्न हो जाना होगा। पर इस विपत्तिके आनेकी कोई सभावना नही यद्यपि ऐसा होना एकदम अशक्य भी नही है। आज जगत्पर यूरोपका आधिपत्य है और यह अनुमान करना स्वाभाविक ही है कि सारा जगत् पाश्चात्य सभ्यतामें दीक्षित हो जायगा और भौतिक जीवनके विकास एव सगठनके कठोर वैज्ञानिक अनुशीलनमें जी-जानसे लगे हुए यूरोपीय ऐक्यके अदर जिस प्रकारके छोटे-मोटे भेदोंके लिये छूट मिल सकती है केवल उसी प्रकारके भेद शेष रह जायगे। किंतु इस सभावनाके आर-पार भारतकी छाया पड चली है।

सर जान उड्फ प्रोफेसर लोवेस डिकिन्सन (Prof Lowes Dickinson) के इस अद्भुत कथनको उद्धृत करते है कि विरोध उतना एशिया और यूरोपके बीच नही है जितना कि भारत और शेष जगत्के बीच। इस कथनके पीछे कुछ सत्य है, किंतु यूरोप और एशियाका सास्कृतिक विरोध भी एक प्रधान बात है जो इससे दूर नही हो जाती। आध्यात्मिकतापर भारतका ही एकाधिकार हो ऐसी बात नही, चाहे कितनी ही यह बौद्धिकताके तलमे क्यो न छुपी पडी हो या किन्ही अन्य ढकनेवाले पर्दोंकी ओटमें क्यो न छिपी हुई हो, यह मानव-प्रकृतिका एक आवश्यक अग है। अतर इतना ही होता है कि कही तो आध्यात्मिकताको आतर तथा बाह्य दोनो प्रकारके जीवनका प्रमुख उद्देश्य एव निर्धारक शक्ति बना दिया जाता है और कही इसे दबा दिया जाता, केवल प्रच्छन्न रूपोमें ही आगे आने दिया जाता या एक गौण शक्तिके रूपमें स्थान दिया जाता है तथा बौद्धिकता या प्रबल जडवादी प्राणात्मवादको प्रश्रय देनेके लिये इसके शासनको अस्वीकृत या स्थगित कर दिया जाता है। इनमेंसे पहला पथ तो प्राचीन ज्ञानका आदर्श था जो एक समय सभी सभ्य देशोमें—सचमुच ही, चीनसे पेरूतक—व्यापक रूपसे प्रचलित था। परतु अन्य सब राष्ट्र इससे च्युत हो गये है तथा उन्होने इसकी बृहत् व्यापकताको कम कर दिया है या फिर वे इस पथसे सर्वथा भ्रष्ट हो गये है जैसा कि यूरोपमें हमें दिखायी देता है। अथवा आज वे इस खतरेमें है कि वे अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले आर्थिक, व्यावसायिक, औद्योगिक, बौद्धिकतया उपयोगितावादी आधुनिक आदर्शके हित इसे छोड बैठेंगे, जैसा कि हम एशियामें देखते है। केवल भारत ही, चाहे यहा ज्ञान और शक्तिका कितना भी क्षय या ह्रास क्यो न हो गया हो, आध्यात्मिक आदर्शके मूल स्वरूपके प्रति निष्ठावान् बना हुआ है। केवल भारत ही अभीतक हठपूर्वक डटा हुआ है। भारतके आलोचक कहते है कि टर्की, चीन और जापान इस मूर्खतासे ऊपर उठ गये है जिससे उनका मतलब यह होता है कि ये देश युक्तिवादी तथा जडवादी बन गये है। भारतके कुछ एक व्यक्तियोंने या किसी

दूसरे देशोंने जो कुछ भी किया हो फिर भी केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो समष्टि रूपमें अपने उपास्य देवका त्याग करने या बुद्धितन्त्र व्यवसायतन्त्र एवं भौतिकता-रूपी प्रबल प्रभुत्वशाली प्रतिमाओं पश्चिमके सफल लौह-देवताओंके आगे घुटने टेकनेसे अबतक भी इन्कार करता आ रहा है। वह उनसे कुछ प्रभावित अवश्य हुआ है पर अभीतक हारा नहीं है। उसकी गंभीरतर प्रज्ञाने नहीं वरन् उसके स्थूल मनने ही बाध्य होकर स्वतंत्रता समानता प्रजातंत्र आदि अनेक पश्चिमी विचारोंको स्वीकार किया है तथा अपने वैदान्तिक सत्यके साथ उनका समन्वय किया है परंतु उनके पाश्चात्य रूपसे उसे पूर्ण संतोष नहीं हुआ है और अपनी विचारधारामें वह पहलेसे ही उन्हें एक भारतीय रूप प्रदान करनेके लिये प्रयत्नशील है जो कि एक अध्यात्मभावित रूप हुए बिना नहीं रह सकता। अंग्रेजी विचारों एवं संस्कृतिका अनुकरण करनेकी प्रथम बाढ़ समाप्त हो गयी है। किंतु एक और उससे भी भयानक बाढ़ हाल ही में शुरू हुई है और वह है सामान्यतया यूरोप महाद्वीपकी संस्कृतिका और विशेषकर क्रांतिकारी रूसकी स्थूल एवं उग्र प्रवृत्तिका अनुकरण करनेकी बाढ़। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि प्राचीन हिंदू धर्मका उत्तरोत्तर पुनरुत्थान हो रहा है तथा आध्यात्मिक जागृति एवं इसके महत्त्वपूर्ण आंदोलनोंका प्रभाव विपुल रूपसे फैल रहा है। इस अनिश्चित स्थितिका परिणाम दोमेंसे कोई एक हो सकता है। या तो भारत इतनी पूरी तरहसे तर्कवादी एवं व्यवसायवादी बन जायगा कि वह पहचाननेमें ही नहीं आयगा और तब वह भारत ही नहीं रहेगा या फिर वह एक नयी विश्व-व्यवस्थाका नेता बनेगा अपने दृष्टान्त तथा सांस्कृतिक प्रभावधाराके द्वारा पश्चिमकी नयी प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहित करता हुआ मानवजातिको अध्यात्ममय बनायगा। यही एकमात्र मूल और मार्मिक विचारणीय प्रश्न है। भारत जिस आध्यात्मिक उद्देश्यका प्रतिनिधि है क्या वह यूरोपपर विजय प्राप्त करेगा और वहां पश्चिमके अनुरूप नवीन रूपोंका सृजन करेगा अथवा क्या यूरोपीय बुद्धिवाद एवं व्यवसायवाद भारतीय ढंगकी संस्कृतिको सदाके लिये मिटा देंगे?

या फिर यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि भारत सभ्य है या नहीं वरन् यह कि उसकी सभ्यताका निर्माण करनेवाला उद्देश्य क्या मानव-संस्कृतिका नेतृत्व करता है या पुराने यूरोपका बौद्धिक उद्देश्य अथवा नये यूरोपका जड़वादी उद्देश्य नेतृत्व करता है? क्या आत्मा मन और शरीरका सामञ्जस्य अपने-आपको हमारी भौतिक प्रकृतिके उस स्थूल नियम पर प्रतिष्ठित करेगा या केवल बौद्धिक द्वारा नियन्त्रित होगा या जिसे अधिकसे अधिक एक क्षीण एवं निष्प्रभाव आध्यात्मिक प्रभावका स्पर्श प्राप्त होगा या फिर क्या आत्माकी प्रबल शक्ति नेतृत्व करेगी तथा बुद्धि मन और देहकी हीनतर शक्तियोंको एक उच्चतम सुसंगति तक विकसित कर चिर-विकासशील अनुभवके हित अधिक उदात्त प्रयत्न करनेके लिये बाध्य करेगी? आत्माका अपनी रक्षा करनी होगी और इसके लिये उसे अपने सांस्कृतिक विधि-विधानोंका इस प्रकार नया निर्माण करना होगा कि वे उसके प्राचीन भारतीसे अधिक तेजस्वी अधिक

घनिष्ठ एव पूर्ण रूपमें प्रकट करे। फिर उसे अपने आक्रमणके द्वारा इस प्रकार उन्मुक्त ज्योतिकी लहरोंके आत्मप्रसारी विजयी चक्करोंके रूपमें उस-समस्त जगत्के ऊपर फैला देना चाहिये जिसे एक बार उसने सुदूर युगोंमें अधिकृत किया था या कम-से-कम प्रकाश प्रदान किया था। सघर्षके आनेकी बातको कुछ कालके लिये स्वीकार करना होगा, तबतकके लिये जबतक कि विरोधी सस्कृतिका आक्रमण जारी है। पर, क्योंकि कार्यत यह पश्चिम-की उन्नत विचारधारासे उद्भूत होनेवाली सभी श्रेष्ठ वस्तुओंके अभ्युदयमें सहायक होगा, अतएव उसके परिणामस्वरूप एक उच्चतर स्तरके सामजस्यका सूत्रपात हो जायगा और साथ ही एकताकी तैयारी भी आरभ हो जायगी।

क्या भारत सभ्य है?

दूसरा अध्याय

भारतीय सभ्यता-विषयक यह प्रश्न एक बार इस बड़े प्रश्नको उपस्थित करनेके बाद अपने संकीर्ण क्षेत्रसे हटकर एक अधिक व्यापक समस्यामें विलीन हो जाता है। क्या मानव जातिका भविष्य केवल तर्क-बुद्धि और विज्ञान (Science) ही पर आश्रित संस्कृतिमें निहित है? क्या मानवजीवनकी प्रगति उस मनके उस प्रवहणशील समष्टिगत मनके प्रयत्नपर निर्भर करती है जो भासमान् व्यष्टियोंकी सदा बदलनेवाली समष्टिसे गठित है जो इस निश्चेतन जड़ जगत्‌के अंधकारसे निकला है और इसके अंदर अपनी कठिनाइयों एवं समस्याओंके बीच किसी स्पष्ट प्रकाश एवं किसी निश्चित आश्रयकी खोजमें इधर-उधर ठोकरें खा रहा है? और क्या सभ्यता इसीका नाम है कि उस प्रकाश और आश्रयको मनुष्य युक्ति-सम्मत ज्ञान एवं युक्तियुक्त जीवन-प्रणालीमें ढूंढनेका प्रयास करे? तब तो एकमात्र वास्तविक विज्ञान होगा भौतिक प्रकृतिके बलों शक्तियों एवं संभावनाओंका क्रमबद्ध ज्ञान तथा मनोमय एवं देहमय प्राणीके रूपमें मनुष्यके मानसशास्त्रका ज्ञान। और जीवनकी एकमात्र सच्ची कला होगी समाजकी बढ़ती हुई क्षमता एवं प्रकृतिके लिये उस ज्ञानका व्यवस्थित उपयोग जिससे कि मनुष्यका क्षणस्थायी जीवन अधिक सक्षम अधिक सहनयोग्य एवं सुख-सुविधापूर्ण बन जाय अधिक साधन-संपन्न तथा मन प्राण और देहके भोगोंसे अधिक प्रचुर रूपमें समृद्ध हो जाय। हमारे समस्त दर्शन हमारे समस्त धर्म (यदि यह मान लिया जाय कि अभी धर्मसे परे जाकर उसका त्याग नहीं किया गया है) हमारे समस्त विज्ञान चिंतन कला सामाजिक संगठन विधि-विधान और अनुष्ठानको जीवन-विषयक इसी विचारपर अपनी नींव रखनी होगी और एकमात्र इसी ध्येय और प्रयासकी सेवा करनी होगी। यूरोपीय सभ्यताने यही सूत्र अपनाया है और इसीको वह किसी प्रकारकी सफलतातक पहुंचानेके लिये अब भी प्रयास कर रही है। यह एक ऐसी सभ्यताका सूत्र है जो बड़ी बुद्धिमानीके साथ एक यंत्रकी भांति गठित है तथा जो एक तर्कप्रधान एवं उपयोगितावादी संस्कृतिका सहारा लिये हुए है।

अथवा क्या हमारी सत्ताका सत्य यह नहीं है कि एक आत्मा है जिसने प्रकृतिके अंदर

देह धारण किया है और जो अपने-आपको जानने, प्राप्त करने, अपनी चेतनाको विस्तारित करने, एक महत्तर जीवन-प्रणालीको उपलब्ध करने, अध्यात्म-सत्तामें प्रगति करने और आत्म-ज्ञानकी पूर्ण ज्योति तथा किसी दिव्य आतरिक पूर्णताको प्राप्त होनेका यत्न कर रहा है ? क्या धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिंतन, शिल्प, समाज, यहातक कि समस्त जीवन इस विकासके साधन-मात्र नही है, क्या ये आत्माके ऐसे यत्र नही है जिनका उपयोग उसीकी सेवाके लिये करना है और इस आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्ति ही जिनका प्रधान या कममे कम अतिम धधा है ? जीवन और सत्ताके सबधमे भारतकी धारणा यही है,—और असलमें जैसा कि वह दावा करता है, यह उसका इस विषयका ज्ञान है। इसीका प्रतिनिधित्व वह कलतक करता आया है और आज भी वह अपनी प्रकृतिके उन सब तत्त्वोंके द्वारा, जो अत्यत दृढ और शक्ति-शाली है, इसीका प्रतिनिधित्व करनेकी चेष्टा कर रहा है। यह एक ऐसी आध्यात्मिक ढग-की सभ्यताका सूत्र है जो पूर्णताके द्वारा पर साथ ही मन, प्राण और शरीरके अतिक्रमणके द्वारा एक उच्च आत्म-सस्कृतितक पहुचनेका प्रयास कर रही है।

सुतरा, मुख्य प्रश्न यह है कि क्या मानवजातिकी भावी आशा एक तर्कप्रधान एव बुद्धि-मत्तापूर्वक यात्रीकृत सभ्यता एव सस्कृतिमे निहित है या एक आध्यात्मिक, बोधिमूलक और धार्मिक सभ्यता एव सस्कृतिमें ? जब कि हमारा युक्तिवादी समालोचक इस बातसे इन्कार करता है कि भारत सभ्य है या वह कभी सभ्य रहा है, जब वह उपनिषदोको, वेदात, बौद्ध-धर्म, हिंदूधर्म, प्राचीन भारतीय कला एव काव्यको बर्बरताका एक स्तूप, चिर-बर्बर मनकी एक निरर्थक कृति घोषित करता है तो उसका मतलब तो केवल यही होता है कि सभ्यता और जडवादी बुद्धिका आचार-विचार दोनो समानार्थक और अभिन्न है, और जो कोई वस्तु इस मानदडसे नीचे रह जाती या ऊपर उठ जाती है वह इस नामके योग्य नही। समस्त दर्शन एव समस्त धर्म न सही, पर जो दर्शन अतीव दार्शनिक है एव जो धर्म अतीव धार्मिक है वह, जो चिंतन और कला अति आदर्शवादी एव गुह्य है वे, प्रत्येक प्रकारका रहस्यवादी ज्ञान, वह सब कुछ जो भौतिक जगत्के साथ व्यवहार करनेवाली बुद्धिको सूक्ष्म बनाता है तथा उसके सीमित क्षेत्रसे परेकी चीजोकी थाह लेता है और इसलिये जो इसे अद्भुत, अति सूक्ष्म, अमित एव दुर्बोध्य प्रतीत होता है, वह सब जो अनतके बोधका प्रत्युत्तर देता है, वह सब जो सनातनकी भावनासे अभिभूत है, और वह समाज जो केवल बौद्धिक स्पष्टता तथा जडवादी विकास एव कौशलके अनुशीलनके द्वारा नियत्रित न होकर उक्त चीजोंसे उत्पन्न विचारोंके द्वारा ही अत्यधिक नियत्रित होता है—वे सभी सभ्यताकी उपज नही है बल्कि एक असस्कृत और गहन बर्बरताकी सतति है। परतु यह स्थापना स्पष्टत अत्युक्तिपूर्ण है, मानवताके महान् अतीतका अधिकाश इस दोषारोपणका पात्र सिद्ध होगा। यहातक कि प्राचीन यूनानी सस्कृति भी इससे नही बच पायगी, यदि यह स्थापना सत्य हो तो स्वय आधुनिक यूरोपीय सभ्यताके अधिकाश विचार एव कला-कौशलको भी कम-से-कम

अर्द्ध-बर्बर कहकर निंदित ठहराना होगा। इस तरह यह स्पष्ट है कि सभ्यता शब्दके अर्थ-को संकुचित तथा आधुनिक अतीत प्रयासोंके महत्त्वको क्षीण करते हुए हम अत्युक्ति और मूढ़ताके शिकार हुए बिना नहीं रह सकते। यूनानी-रोमन ईसाई एवं इस्लामी सभ्यता या यूरोपकी परवर्ती नवजागरण (रेनेसांस)-कालकी सभ्यताके सर्वथा समान ही प्राचीन भारतीय सभ्यताको भी एक महान् संस्कृतिका फल स्वीकार किया गया है और स्वीकार करना ही होगा।

परंतु मूल प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना हुआ है हां विवाद केवल इसके केंद्रीय पहलूतक सीमित रह गया है। एक अधिक संयत एवं सूक्ष्मदर्शी युक्तिवादी समालोचक भारतकी प्राचीन सफलताओंका मूल्य स्वीकार कर सकता है। वह बौद्धधर्म वेदांत समस्त भारतीय कला-कौशल दर्शन तथा सामाजिक विचारोंको बर्बर बताकर उनकी निंदा नहीं करेगा किंतु फिर भी वह आक्षेप करेगा कि भविष्यमें इन चीजोंसे मानवजातिका किसी प्रकारका कल्याण नहीं हो सकता। प्रगतिका सच्चा मार्ग यूरोपीय आधुनिकतावाद विज्ञानके महान् कार्य और मानवजातिके महत् आधुनिक अभियानमेंसे होकर जाता है इसके लिए मानवजातिको अनुमान और कल्पनापर नहीं बल्कि प्रत्यक्ष एवं निर्धारित वैज्ञानिक सत्यके दृढ़ आधारपर प्रतिष्ठित होकर पुरुषार्थ करना होगा तथा सुनिश्चित और जांची हुई वैज्ञानिक व्यवस्थाके विपुल दानोंको श्रमपूर्वक इकट्ठा करना होगा। उधर अपने आदर्शोंके प्रति निष्ठावान् भारतीय विचारक यह युक्ति देगा कि यद्यपि तर्कबुद्धि तथा विज्ञान एवं इनके अन्यान्य सहायकोंका मानवप्रयासमें अपना स्थान है पर वास्तविक सत्य इनसे परेकी वस्तु है। अपनी अंतिम पूर्णताका रहस्य हमें अपने अंदर, वस्तुओं तथा प्रकृतिके अंदर अधिक गहरे जाकर ढूंढना होगा केवल रूपमें इसे आध्यात्मिक आत्मज्ञान एवं आत्मपरिपूर्णतामें तथा उस आत्मज्ञानपर प्रतिष्ठित जीवनमें खोजना होगा।

जब प्रश्न इस रूपमें रखा जाता है तब हम तुरंत देख सकते हैं कि पूर्व और पश्चिम भारत और यूरोपके बीचकी खाई उसकी अपेक्षा बहुत ही कम गहरी तथा बहुत ही कम चौड़ी रह जाती है जितनी कि वह तीस-चालीस साल पहले थी। किंतु मूल भेद अब भी ज्यों-का-त्यों है पश्चिमका जीवन आज भी मुख्य रूपसे युक्तिवादी विचारधारा तथा जड़वादी प्रवृत्तिके द्वारा ही नियमित है। हां चिंतनके शिखरोंपर एक बड़ा भारी परिवर्तन आरम्भ हो गया है और वह प्रगति भी कर रहा है साथ ही कला काव्य संगीत और सामान्य साहित्यके द्वारा वह निरंतरतापूर्वक निम्न स्तरोंपर भी अधिकाधिक संचारित हो रहा है। आज यहां सर्वत्र यह देखा जा सकता है कि लोगोंकी दृष्टि गंभीरतर वस्तुओंकी ओर जा रही है जिन विचारधाराओंको निराश बाहर किया गया था वे फिरसे उत्तरोत्तर वापिस आ रही हैं जो उच्च मनोभूमि अबतक प्राप्त नहीं हुई है उसकी प्राप्तिके लिये प्रेरणा बन रही है जो विचार पश्चिमी मनोवृत्तिके लिये दीर्घ कालसे विजातीय रहे हैं उनका प्रवेश हो

रहा है। इस प्रक्रियाके सहायकके रूपमे तथा इससे सहायता पाकर भारतीय एव पूर्वीय विचार और प्रभाव भी, कुछ अशमें, छन-छनकर वहा पहुचा है, इतना ही नही, बल्कि हम देखते है कि जहा-तहा प्राचीन आध्यात्मिक आदर्शका उत्कृष्ट मूल्य या उच्चतर महत्ता अधिकाधिक स्वीकार की जा रही है। बहुत पहले जब कि सुदूर पूर्व और यूरोपके बीच निकट सपर्क स्थापित हुआ, जिसके लिये भारतके अग्रेजी राज्यने एक अत्यत प्रत्यक्ष अवसर प्रदान किया, तभीसे प्राच्य विचार और प्रभावका इस प्रकारका सचार आरभ हुआ था। परतु पहले-पहल यह बहुत थोडा और केवल बाहरी स्पर्शमात्र या अथवा, अधिकसे अधिक, यह इने-गिने श्रेष्ठ विचारकोपर एक बौद्धिक प्रभावमात्र था। वेदात, साख्य और बौद्ध मतकी ओर विद्वानो और विचारकोकी साहित्यिक रुचि या आकर्षण एव झुकाव, भारतीय दार्शनिक आदर्शवाद (Idealism) की सूक्ष्मता और विशालताकी सराहना, शोपेनहावर और इमर्सन जैसे महान् मनीषियो तथा कुछ एक छोटे-मोटे विचारकोपर उपनिषदो और गीताका प्रभाव—यही था इस विचार-प्रवाहके लिये पहला तग द्वार। यह प्रभाव अपनी अत्युत्तम अवस्थामें भी बहुत दूरतक नही फैला और जो छोटा-मोटा परिणाम यह उत्पन्न कर सकता था उसे भी वैज्ञानिक जडवादकी प्रबल बाढने कुछ समयके लिये रोक दिया यहा-तक कि नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, उन्नीसवी शतीके पिछले भागके यूरोपका सपूर्ण जीवनादर्श इसी बाढमे निमज्जित हो गया था।

परतु अब अन्यान्य आदोलन उठ खडे हुए है और उन्होने एक विजयशाली सफलताके साथ चिंतन तथा जीवनपर अपना अधिकार जमा लिया है। दर्शन और चिंतनने तर्कपथी जडवाद तथा इसकी निःसशय तानाशाहीसे हटकर अपनी दिशा स्पष्ट रूपसे बदल ली है। उन्होने जगत्के सबधमे एक अधिक व्यापक दृष्टि एव विचारधाराकी खोज आरभ कर दी है और इसका प्रथम परिणाम यह हुआ है कि एक ओर भारतीय अद्वैतवादने अनेक मनीषियो-पर अपना सूक्ष्म किंतु शक्तिशाली प्रभुत्व—यद्यपि बहुधा विचित्र छद्मरूपोमें ही, स्थापित कर लिया है। फिर दूसरी ओर, नये दर्शनशास्त्रोका जन्म हो गया है, निःसदेह वे प्रत्यक्ष रूपसे आध्यात्मिक नही वरन् प्राणात्मवादी एव व्यवहारवादी है, किंतु फिर भी अपनी अतर्मुखताके बढ जानेके कारण वे भारतीय चिंतनधाराओंके अधिक निकट पहुच गये है। विज्ञानके प्रति अनुरागकी पुरानी मर्यादाएं टूटनी आरभ हो गयी है, प्रेतविज्ञानसबधी खोजके नानाविध रूप और मनोविज्ञान-की अभिनव दिशाएं और यहातक कि जीवात्मवाद और गुह्यवादके प्रति अनुराग—ये सभी उत्तरोत्तर प्रचलित हो रहे है और कट्टर धर्म एव कट्टर विज्ञानके अभिशापोके होते हुए भी अपना अधिकार अधिकाधिक दृढ करते जा रहे है। थियोसोफीने पुराने और नये विश्वासो-को व्यापक रूपमें एक साथ मिलाकर तथा प्राचीन आध्यात्मिक एव आतरात्मिक पद्धतियोका आश्रय लेकर सर्वत्र अपना प्रभाव विस्तारित किया है जो उसके घोषित श्रद्धालु अनुयायि-योके दायरेको पारकर दूर-दूरतक फैल गया है। बहुत समयतक तिरस्कार और उपहास-

के साथ विरोध किये जानेपर भी उनके रूपमें पुनर्जन्म तथा अन्यान्य लोक सहचारी जीवका बुद्धि और अन्तस्तलमेंसे गुजरते हुए आत्माकी ओर विकास—इन सब विचारोंने विश्वासको व्यापक रूपमें प्रभावित करनेके लिये बहुत कुछ किया है और ये सब ऐसे विचार हैं जो एक बार स्वीकार कर लिये जानेपर जीवनके विषयमें हमारे सम्पूर्ण मनोभावको ही बदल डालेंगे। यहांतक कि स्वयं विज्ञान भी निरंतर उन्हीं निष्कर्षोंपर पहुंच रहा है जो भौतिक स्तरपर तथा उसकी अपनी भाषामें उन्हीं सत्योंकी पुनरावृत्तिमात्र करना है जिनकी स्थापना प्राचीन भारतने अध्यात्म-ज्ञानके दृष्टिबिन्दुसे तब और वेदान्तकी भाषामें की थी। इन प्रवृत्तियोंमेंसे प्रत्येक प्रत्यक्ष रूपसे या अपने आध्यात्मिक अर्थमें पूर्व और पश्चिमके मन को एक दूसरेके साथ अधिक निकट सम्पर्कमें ले आती है और उस हदतक भारतीय विचारों एवं आदर्शोंको अधिक अच्छी तरह हृदयंगम करनेकी संभावनाका द्वार खोल देती है।

कुछ दिशाओंमें तो मनोभावका यह परिवर्तन आश्चर्यजनक रूपमें आगे बढ़ चुका है और निरंतर ही प्रगति करता दिखायी दे रहा है। श्री आर्चरने एक ईसाई धर्मप्रचारकका कथन उद्धृत किया है जो यह देखकर "चकित है कि किस हदतक जर्मनी और अमरीकाकी यहांतक कि इंगलैंडकी भी धार्मिक मान्यताओंमें हिन्दू सर्वेश्वरवाद प्रविष्ट होना आरंभ हो गया है और इसके बढ़ते हुए प्रभावको वह आगामी शताब्दीके लिये एक वास्तविक 'खतरा' समझता है। उन्होंने एक और लेखकका उद्धरण दिया है जो यहांतक कहता है कि यूरोप-के समस्त उच्चतम दार्शनिक चिंतनका मूलस्रोत ब्राह्मणोंकी पूर्ववर्ती विचारधारा ही है। इतना ही नहीं वह तो यह भी कहता है कि भौतिक समस्याओंके जो भी समाधान आधुनिक युगमें किये गये हैं वे सभी पौरस्त्य विचारकोंको पहलेसे ही ज्ञात हो चुके थे तथा पूर्वके ग्रंथोंमें पाये जा सकते हैं। एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिकने हाल ही में एक भारतीय दर्शकको बताया कि यथार्थ मनोविज्ञानकी सभी विशाल धाराओं और प्रधान सत्योंका उसके व्यापक आदर्शका निरूपण भारतवर्ष पहले ही कर चुका है और अब यूरोप जो कुछ कर सकता है वह बस इतना ही है कि सही ब्योरे तथा वैज्ञानिक प्रमाणोंके द्वारा उनकी खानापूरी कर दे। ये कथन इस बातके चरम द्योतक हैं कि परिवर्तन उत्तरोत्तर अग्रसर हो रहा है वह किस दिशामें गति कर रहा है इसमें भ्रमकी कोई गुंजाइश नहीं। और केवल दर्शन और उच्चतर चिंतनमें ही विचारका यह परिवर्तन दिखायी देता हो ऐसी बात नहीं। यूरोपीय कला कुछ दिशाओंमें अपने पुराने ढंगसे बहुत दूर हट गयी है इतने दिनोंतक जो प्रेरणाएं केवल पूर्वमें ही आदरकी दृष्टिसे देखी जाती थीं उनके प्रति वह अपने ढंगसे एक नयी दृष्टि विकसित कर रही है तथा उनकी ओर अपने-आपको उन्मुक्त भी कर रही है। पूर्वीय कला और स्थापत्यकी सर्वत्र सराहना की जाने लगी है और सर्वत्र उनका सूक्ष्म पर प्रबल प्रभाव पड़ा है। काव्यने भी कुछ समयसे अस्पष्ट रूप से एक नयी भाषामें बोलना आरंभ कर दिया है—यह ध्यान देने योग्य है कि आजसे तीस

वर्ष पहले कवि ठाकुरकी विश्वव्यापी ख्यातिकी कल्पनातक नही की जा सकती थी,—और यहातक कि प्राय साधारण कवियोंके पद्यको भी हम ऐसे विचारो एव भावोंमे परिपूर्ण पाते है जिनका दृष्टात पहले भारतीय बौद्ध और सूफी कवियोके सिवा और कही शायद ही मिल पाता। सामान्य साहित्यमे भी ऐसी ही बातोके कुछ एक प्रारभिक लक्षण दिखायी दे रहे हैं। नये सत्यके अन्वेषक, अधिकाधिक, भारतको अपना आध्यात्मिक निवासस्थान बना रहे है अथवा वे अपनी अधिकाश प्रेरणाके लिये इसके ऋणी है या कम-से-कम इसके प्रकाशको स्वीकार करते है तथा इसका प्रभाव ग्रहण करते है। यह परिवर्तन यदि अपना वेग बढाता चला जाय (और पीछे लौटनेकी सभावना तो नहीके बारबर ही है), तो पूर्व और पश्चिमके बीचकी आध्यात्मिक और बौद्धिक खाई पट जायगी और यदि न भी पटी तो कम-से-कम उसपर एक सेतु अवश्य बध जायगा और भारतीय सस्कृति एव आदर्शोका समर्थन और भी सुदृढ भित्तिपर प्रतिष्ठित हो जायगा।

परतु यहापर यह कहा जा सकता है कि यदि इस प्रकार निकट भविष्यमे पारस्परिक समझ और सामजस्यका उत्पन्न होना निश्चित ही है तो फिर भारतीय सस्कृतिके उग्र समर्थन या किसी भी प्रकारके समर्थनकी जरूरत ही क्या है? और फिर सच पूछो तो, भविष्यम किसी विशिष्ट भारतीय सभ्यताको बनाये रखनेकी ही क्या आवश्यकता है? पूर्व और पश्चिम दो विपरीत छोरोसे आकर मिल जायगे और एक-दूसरेमें घुलमिल जायगे और एकीकृत मानवताके जीवनमें एक सार्वभौम विश्व-सस्कृतिकी स्थापना करेगे। सभी अतीत या वर्तमान रीतिया, परिपाटिया तथा भेद-विभेद इस नये सम्मिश्रणमें घुलमिलकर एक हो जायगे तथा अपनी परिपूर्णताको प्राप्त करेगे। परतु समस्या इतनी आसान नही है, इतनी सुसमजस रूपमें सरल नही है। कारण, यद्यपि यह मान भी लिया जाय कि एक सयुक्त विश्व-सस्कृतिमें किन्ही तीव्र एव विशिष्ट भेदोकी कोई आध्यात्मिक आवश्यकता एव प्राणिक उपयोगिता नही होगी, तो भी हम ऐसी किसी भी एकतासे अभी कोसो दूर है। अधिक उन्नत आधुनिक चितनका अतर्मुखी एव आध्यात्मिक झुकाव अभी केवल थोडेसे विचारकोतक ही सीमित है और यूरोपकी सामान्य बुद्धिपर इसका जो रग चढा है वह अभी बिलकुल ऊपरी ही है। इसके अतिरिक्त, यह अभी केवल एक विचारगत प्रवृत्ति ही है, यरोपीय सभ्यताकी जीवन-सबधी महान् प्ररणाए तो अभी ज्यो-की-त्यो अपन पुरान स्थानमें ही डटी है। मानव-सबधोका जो पुनर्वटन प्रस्तावित किया गया है उसमें कुछ आदर्शवादी तत्त्वोका दबाव अपेक्षाकृत बढ तो गया है, किंतु उन्होंने कुछ ही पहलेके जडवादी अतीतके जुएको नही उतार फेंका है और न उसे ढीला ही किया है। ठीक इसी सक्रिक्षणमें और इन्ही अवस्थाओंमे सपूर्ण मानव जगत्—भारत समेत—बलात् एक द्रुत रूपातरके दबाव और दु खके चक्रमेंसे गुजरनेवाला है। खतरा इस बातका है कि यूरोपके प्रबल विचारो और प्रेरणाओका दबाव, वर्तमान समयकी राजनीतिक आवश्यकताओंके प्रलोभन, तीव्र और अटल परिवर्तनका

बिलकुल निराली है और इसकी आंतरिक अनुभूतिकी सहस्रों धाराओंकी विपुल समृद्धि एवं विविधता एक ऐसी वरासत है जिसे *आज भी केवल भारत ही* उसके जटिल सत्य एवं सक्रिय क्रम-व्यवस्था समेत सुरक्षित रख सकता है।

साधारणत, पश्चिमीय मनमें निम्न स्तरसे उच्च स्तरकी ओर तथा बाहरसे अंदरकी ओर जीवन चलानेकी प्रवृत्ति होती है। वह अपनी दृढ नीव तो प्राणिक और भौतिक प्रकृतिपर रखता है और उच्चतर शक्तियोंको केवल प्राकृतिक पार्थिव जीवनको सुधारने तथा अंशत ऊपर उठानेके लिये ही पुकारता और ग्रहण करता है। वह अंतर्जीवनको बाह्य शक्तियोंके द्वारा गठित और परिचालित करता है। उधर, भारतका सतत लक्ष्य रहा है उच्चतर आध्यात्मिक सत्यमें जीवनके आधारका अन्वेषण करना और अंतरात्माको आधार बनाकर वहासे बाहरके जीवनको चलाना, मन, प्राण और शरीरकी वर्तमान जीवनप्रणालीको लाघकर बाह्य प्रकृतिपर शासन करना तथा उसे आदेश-निर्देश देना। जैसा कि प्राचीन वैदिक ऋषियोने कहा है, "जब वे नीचे स्थित थे तब भी उनका दिव्य आधार ऊपर था, उसीकी किरणे हमारे अदर गहरी प्रतिष्ठित हो जाय," **नीचीना स्थुरुपरि बुध्न एषाम, अस्मे अंतर्निहिता केतव स्यु।** अब, यह भेद कोई बालकी खाल खीचना नही है, बल्कि यह एक महान् और गभीर क्रियात्मक महत्त्व रखता है। यूरोपने ईसाई-धर्म तथा इसके आतर विधानके साथ जो बर्ताव किया उसके आधारपर हम यह देख सकते हैं कि वह किसी आध्यात्मिक प्रभावके साथ कैसा व्यवहार करेगा। ईसाई-धर्मके आतरिक विधानको उसने वास्तवमें अपने जीवनका विधान कभी नही स्वीकार किया। इसे यदि उसने ग्रहण किया भी तो केवल एक आदर्श और भावनागत प्रभावके रूपमें ही, इसका प्रयोग भी उसने टयूटन जातिके प्राणिक बल-वीर्य तथा लैटिन जातिकी बौद्धिक स्पष्टता एवं इंद्रियगत सुरुचिको पवित्र करने तथा उसे कुछ आध्यात्मिक पुट देनेके लिये ही किया। अतएव, जिस भी नये आध्यात्मिक विकासको वह स्वीकार करेगा, उसे वह सभवत इसी भावसे स्वीकार करेगा और उसका व्यवहार भी इसी प्रकारके स्थूल एवं सीमित उद्देश्यके लिये करेगा, हा, यदि इस हीनतर आदर्शको चुनौती देने और सच्चे आध्यात्मिक जीवनपर आग्रह करनेके लिये कोई दृढ-निष्ठ प्राणवत संस्कृति जगत्में विद्यमान हो तो दूसरी बात है।

बहुत सभव है कि दोनो प्रवृत्तिया, यूरोपकी मन-प्राण-शरीरपर बल देनेकी प्रबल प्रवृत्ति और भारतका आध्यात्मिक एवं आतरात्मिक सवेग, मानव-प्रगतिकी पूर्णताके लिये आवश्यक हो। परंतु आध्यात्मिक आदर्श यदि अभिव्यक्त जीवनके सफल सामजस्यतक ले जानेवाले अंतिम पथकी ओर इशारा करता हो तब तो भारतके लिये यह परमावश्यक है कि वह इस सत्यको न गवाये, जो उच्चतम आदर्श उसे ज्ञात है उसे न त्यागे और अपनी सच्ची चिरतन प्रकृतिके विरोधी किसी निम्नतर आदर्शको, किसी अपेक्षाकृत सहज-व्यवहार्य पर निम्नतर आदर्शको न ग्रहण करे। मानवजातिके लिये भी यह आवश्यक है कि इस सर्वोच्च आदर्श-

को चरितार्थ करनेके लिये जो एक महान् सामूहिक प्रयास चल रहा है वह—चाहे अबतक वह कितना ही अपूर्ण क्यों न रहा हो, चाहे सामयिक रूपसे वह जिस किसी अस्तव्यस्तता और अधोगतिमें क्यों न पतित हो गया हो—बंद नहीं होना चाहिये बल्कि चलता रहना चाहिये। वह सदा ही अपनी शक्ति पुनः प्राप्त कर सकता है तथा अपनी अभिव्यक्तिको बढ़ा सकता है क्योंकि आत्मा कालगत रूपोंसे बद्ध नहीं है बल्कि नित्य-नया अमर और अनंत है। अतएव हमारे लिये मानव प्रगतिकी सेवा करने तथा उसकी प्राप्तियोंको बढ़ानेका सर्वोत्तम मार्ग यही है कि हम भारतके पुरातन स्वधर्मका नये सिरेसे सृजन करें, न कि पश्चिमकी प्रकृतिके किसी धर्ममें रूपांतरित हो जायं।

सुतरां प्रतिरक्षाकी और एक प्रबल युक्ति कि आक्रमणशील प्रतिरक्षाकी आवश्यकता उत्पन्न होती है क्योंकि आधुनिक संघर्षकी अवस्थाओंमें केवल आक्रमणकारी प्रतिरक्षा ही प्रभावशाली हो सकती है। परन्तु यहां हम अपने-आपको इससे एक ठीक उलटी मनोवृत्ति तथा नितांत बाधक मनोदशाके सामने खड़े हुए पाते हैं। क्योंकि आज ऐसे भारतीय बड़ी संख्यामें देखनेमें आते हैं जो एक पूर्णतया निष्क्रिय आत्मरक्षाके ही पक्षमें हैं और इसमें वे जो कुछ उग्रता लाते हैं वह वास्तवमें एक भद्दी एवं विचारशून्य सांस्कृतिक शोवेंवाद (Chauvinism)[1] ही है जो यह मानता है कि जो कुछ भी हमारा है वही हमारे लिये अच्छा है क्योंकि वह भारतीय है अथवा जो कुछ भी भारतमें है वही सबसे उत्तम है क्योंकि वह ऋषियोंकी रचना है मानों भारतके विकासमें जो कुत्सित एवं विशृंखल चीजें आ गयी थे सब भी हमारी संस्कृतिके उन संस्थापकोंने ही निश्चित कर दी थीं जिनका हमने अत्यंत दुर्व्यवहार एवं दुरुपयोग किया है और प्रायः उन-के नामसे बहुत अधिक लाभ उठाया है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या निष्क्रिय प्रतिरक्षाका कोई फल हो सकता है। मेरा मत है—उसका कोई भविष्य नहीं है क्योंकि वस्तुओंके सम्यक् साथ उसका कोई मेल नहीं और उसका असफल होना सुनिश्चित है। इसका अर्थ इतना ही है कि जब जगत्‌की शक्ति' और केवल जगत्‌की ही नहीं बल्कि भारतकी भी शक्ति वेगपूर्वक अपने पथपर अग्रसर हो रही है तब हम हठपूर्वक निश्चल बैठे रहनेकी चेष्टा करें। यह केवल अपनी पुरानी सांस्कृतिक पूंजीपर ही भरोसा करने तथा उसे अंतिम पाई तक खर्च कर डालनेका दृढ़ निश्चय है जब कि वह हमारे अपव्ययी तथा अयोग्य हाथोंमें पड़कर क्षीण तो कबकी हो चुकी है। परन्तु अपनी पूंजीको नये कामोंके लिये प्रयुक्त किये बिना उसीपर निर्वाह करनेका अर्थ होता है दिवाला निकालना और कंगाल बन जाना। अतीतको भविष्यत् किसी बृहत्तर लाभ उपार्जन और उन्नतिके लिये एक चल और चालू पूंजीके रूपमें प्रयुक्त एवं व्यय करना होगा परन्तु लाभ प्राप्त करनेके लिये हमें कुछ खर्च

---

[1] अपने धर्म और अपनी जातिके प्रति अन्ध प्रेमकी शिक्षा देनेवाला वाद—अनुवादक।

भी करना होगा, फलने-फूलने और अधिक समृद्ध जीवन यापन करनेके लिये हमें पहले कुछ त्याग भी अवश्य करना होगा,—यही जीवनका विश्वव्यापी विधान है। अन्यथा हमारे आभ्यतरिक जीवनका स्रोत रुक जायगा और वह अपनी निष्क्रिय जडताके कारण विनष्ट हो जायगा। इस प्रकार विस्तार और परिवर्तनसे कतराना भी झूठमूठ अपनी अक्षमताको स्वीकार करना है। यह तो इस बातको मान लेना है कि धर्म और दर्शनमें भारतकी सर्जन-शक्ति शकर, रामानुज, मध्व और चैतन्यके साथ ही समाप्त हो गयी और समाज-सघटनके क्षेत्रमें रघुनदन और विद्यारण्यके साथ। कला और काव्यके क्षेत्रमें यह या तो एक रिक्त एव असर्जक शून्यतामें ही विश्राम करता है या फिर सुदर पर घिसे-घिसाये रूपों और प्रेरणाओंकी व्यर्थ एव निर्जीव पुनरावृत्तिमें। यह समाज-रचनाके उन रूपोंसे, जो ढह रहे हैं और हमारे प्रयत्नोंके बावजूद भी ढहते ही चले जायगे, चिपके रहना है और उनके गिरनेपर उनके नीचे अपने कुचले जानेका खतरा मोल लेना है।

जरूरत है एक विशाल और साहसपूर्ण परिवर्तनकी, क्योंकि छोटे-मोटे परिवर्तनोंसे हमारा काम नही चलेगा। और, किसी भी विशाल परिवर्तनपर जो आपत्ति उठायी जाती है उसे युक्तियुक्त-सा रूप केवल तभी दिया जा सकता है यदि हम उसे इस तर्कपर प्रतिष्ठित करे कि किसी सस्कृतिके बाह्य रूप उसकी भावनाका यथायथ लयताल होते है जिसे भग करते हुए हम उसकी भावनाको ही निकाल सकते है और उसके सामजस्यको सदाके लिये छिन्न-भिन्न कर सकते है। हा, पर आत्मा यद्यपि तत्त्वत नित्य-सनातन है और उसके सामजस्य-के मूलसूत्र अपरिवर्तनीय है, तथापि उसकी रूपात्मक अभिव्यक्तिका वास्तविक गतिच्छद नित्य-परिवर्तनशील है। अपनी मूल सत्तामें तथा अपनी सत्ताकी शक्तियोंमें अपरिवर्तनीय होना किंतु जीवनमें समृद्ध रूपसे परिवर्तनशील होना—यही आत्माकी इस व्यक्त सत्ताका वास्तविक स्वरूप है। और हमें यह भी देखना है कि क्या इस क्षणका वास्तविक लय-ताल अभी भी एक सुरसगितका निर्माण करता है अथवा कही वह निकृष्ट और अज्ञानी वादक-मडलीके हाथोंमें पडकर स्वरवैषम्यमें तो परिणत नही हो गया है और वह अब उस प्राचीन भावना-को पहलेकी तरह ठीक-ठीक या पर्याप्त रूपमें नही प्रकट करता। बाह्य रूपकी त्रुटिको स्वीकार करना अदर छिपी हुई भावनासे इन्कार करना नही है, बल्कि यह तो, जिस सत्य-का हम पोषण करते है उसके महत्तर भावी वैभव, उसकी पूर्णतर उपलब्धि, एव अधिक सुखद प्रवाहकी ओर अग्रसर होनेकी शर्त है। आया हम भूतकालद्वारा प्रदत्त अभिव्यक्तिसे अधिक महान् अभिव्यक्ति वस्तुत प्राप्त कर सकेंगे या नही यह निर्भर करता है हमारे अपने ऊपर, सनातन शक्ति एव प्रज्ञाको प्रत्युत्तर देनेकी हमारी क्षमता, हमारे अदर विद्यमान शक्तिके प्रकाश, और हमारे कार्यकौशलके ऊपर, उस कौशलके ऊपर जो उस सनातन आत्मा-के साथ एक हो जानेपर प्राप्त होता है जिसे हम अपने प्रकाशके अनुपातमें व्यक्त करनेका प्रयास कर रहे है, **योग कर्मसु कौशलम्।**

बिना आत्मसात् किये या फिर आत्मसात् करनेका ढोंग करते हुए बाहरसे उधार लेना पड रहा है। जो कुछ हम कर रहे है उसका सपूर्ण आशय हम एक उच्च आभ्यतरिक एव प्रभुत्वशाली दृष्टिबिंदुसे नही देख पाते, अतएव हम कोई कल्याणकारी समन्वय किये बिना केवल विषम तत्त्वोको सयुक्त करनेमें ही लगे हुए है। हमारे प्रयत्नोका परिणाम सभवत यही होगा कि आग धीमे-धीमे सुलगकर तीव्र रूपमें भडक उठेगी।

उग्र आत्म-रक्षाका अर्थ है इस आभ्यतरिक एव सुदूरगामी दृष्टिसे नव सृजन करना और इसके लिये जहा इस बातकी जरूरत है कि जो कुछ हमारे पास है उसे एक अधिक व्यजक एव शक्तिशाली रूप दिया जाय, वहा यह भी आवश्यक है कि जो कुछ हमारे नये जीवनके लिये उपयोगी है और जिसे हमारी आत्माके साथ समस्वर किया जा सकता है उसे प्रभावशाली रूपमे आत्मसात् करनेकी छूट भी हमें प्राप्त हो। युद्ध, आघात और सघर्ष अपने-आपमें कोई निरर्थक सहार नही होते, वे तो कालके महान् लेन-देनके लिये एक उग्रतापूर्ण आवरण होते है। यहातक देखनेमें आता है कि अत्यत सफल विजेता भी पराजितसे बहुत कुछ ग्रहण करता है और यदि कभी वह उस बहुत कुछको हथिया लेता है तो बहुत बार वह चीज उसे अपना बदी बना लेती है। पश्चिमी आक्रमण पूर्वीय सस्कृतिकी रीति-नीतियोको ध्वस्त करनेतक ही सीमित नही है, उसके साथ ही, पश्चिम अपनी सस्कृतिको समृद्ध बनानेके लिये पूर्वकी अधिकाश अमूल्य सपदाको चुपचाप तथा व्यापक और सूक्ष्म रूपमें अपनाता भी जा रहा है। अतएव अपने अतीतके गौरवमय वैभवको सामने लाकर उसे यूरोप और अमरीकामे उनकी ग्रहण-शक्तिके अनुसार यथेष्ट रूपमे फैला देनेसे भी हमारी रक्षा नही होगी। वह उदारता हमारी सस्कृतिपर आक्रमण करनेवालोको समृद्ध और सशक्त बनायेगी, किंतु हमारे अदर तो वह केवल एक ऐसा आत्म-विश्वास पैदा करनेमें ही सहायक होगी जिसे यदि एक महत्तर सृजन करनेके लिये सकल्प-शक्तिका रूप न दे दिया गया तो वह निरर्थक और यहातक कि पथभ्रष्ट करनेवाला ही होगा। हमें तो नयी एव अधिक शक्तिशाली रचनाओको लेकर इस आक्रमणका सामना करना होगा, वे रचनाए आक्रमणका केवल निवारण ही नही करेगी बल्कि जहातक सभव तथा मानवजातिके लिये हितकर होगा वहातक वे आक्रमणकर्त्ताके देशमें प्रवेश कर युद्ध भी करेगी। इसके साथ ही, जो कुछ हमारी आवश्यकताओके अनुकूल तथा भारतीय भावनाके अनुरूप है उस सबको हमें एक प्रबल सृजनशील सात्म्यकरणके द्वारा ग्रहण कर लेना होगा। कुछ दिशाओमें, जो अभी बहुत ही कम है, हमने ये दोनो प्रयत्न आरभ कर दिये है। अन्य दिशाओमें हमने केवल एक विवेकहीन मिश्रणकी ही सृष्टि की है या फिर जल्दबाजीसे भरा, भद्दा और बिना पचाया हुआ अनुकरण भर किया है और अभी भी कर रहे है। अनुकरण, आक्रान्ताके यत्रो और उपायोका स्थूल और अस्तव्यस्त अनुकरण कुछ कालके लिये उपयोगी हो सकता है, किंतु अपने-आपमें यह पराजय स्वीकार करनेका केवल एक अन्य प्रकार ही है। केवल उपयोग करना ही पर्याप्त

यहाँ उसे सफलताके साथ आत्मसात् करने एवं भारतीय भावनाके अनुकूल बनानेकी भी आवश्यकता है। आज यह समस्या एक अत्यंत विषमरूप एवं अतिभीमकाय रूपमें उपस्थित है और हमने अभीतक स्पष्ट बुद्धिमत्ता एवं अंतर्दृष्टिसे विचार नहीं किया है। आज दिन इस बातकी और भी तीव्र आवश्यकता है कि हम स्थितिके प्रति जागरूक होकर एक मौलिक विचारधारा एवं एक ऐसी सचेतन क्रियाके साथ इसका प्रतिकार करें जिसके पीछे एक ज्ञानपूर्ण एवं ओजस्वी अंतर्दृष्टि विद्यमान हो और साथ ही जिसकी प्रणाली भी सुनिश्चित हो। एक स्वस्थ देहमें नये उपादानोंका प्रमुखतापूर्ण एवं लाभप्रद सात्म्यकरण सदा ही प्राचीन काल में भारतीय प्रतिभाका अपना विशिष्ट गुण रहा है।

क्या भारत सभ्य है ?

तीसरा अध्याय

परतु हमारे सामने यह जो विवाद उपस्थित है इसके सबधमें एक और भी दृष्टि है। उस दृष्टिसे देखनेपर इसका स्वरूप वैसा नही रहता जैसा कि सस्कृतियोके सघर्षके रूपमें स्थूल और उत्तेजक ढगसे वर्णित किया गया है, बल्कि तब यह एक अत्यत अर्थपूर्ण समस्या-के रूपमें हमारे सामने आता है, यह एक विचारोत्तेजक निर्देशका रूप ग्रहण कर लेता है जिसका प्रभाव केवल हमारी ही सभ्यतापर नही बल्कि जो भी सभ्यताए आजतक जीवित है उन सबपर पडता है।

प्राचीन दृष्टिकोणसे विचार करते हुए तथा मानवजातिके विकासमें प्राप्त सहायताके रूपमें विभिन्न सस्कृतियोका मूल्याकन करते हुए हम उक्त विवादके सास्कृतिक पहलूका उत्तर यो दे सकते है कि भारतीय सभ्यता एक ऐसी सस्कृतिका बाह्य रूप एव अभिव्यक्ति रही है जो मानवजातिकी किसी भी ऐतिहासिक सभ्यताके समान ही महान् है, वह धर्ममें महान् रही है, दर्शनमें महान् रही है, विज्ञानमें महान् रही है, अनेक प्रकारके चिंतनमें महान् रही है, साहित्य, कला और काव्यमें महान् रही है, समाज और राजनीतिके सगठनमें महान् रही है, शिल्प और व्यापार-व्यवसायमें महान् रही है। काले धब्बे, स्पष्ट त्रुटिया और भारी कमिया भी अवश्य रही है, भला ऐसी सभ्यता कौनसी है जो सर्वांगपूर्ण रही हो, जिसपर गहरे कलक न लगे हो, जिसमें निष्ठुर नरक न रहे हो ? इसमें बडे-बडे छल-छिद्र और अनेक अध गलिया रही है, बहुतसी अन-जुती या अध-जुती जमीन भी रही है, पर कौनसी सभ्यता खाई-खदको एव अभावात्मक पहलुओंमें खाली रही है ? तथापि हमारी प्राचीन सभ्यता प्राचीन युग किंवा मध्ययुगकी सभ्यताओंके साथ अत्यत कठोर तुलना करनेपर भी टिक सकती है। यूनानी सभ्यतासे कही अधिक उच्चाकाक्षी, अधिक सूक्ष्म, बहुमुखी, अनुसधानप्रिय और गभीर, रोमन सभ्यताकी अपेक्षा कही अधिक उच्च और कोमल, पुरानी मिश्री सभ्यतासे कही अधिक उदार और आध्यात्मिक, अन्य किसी भी एशियाई सभ्यतासे कही अधिक विशाल और मौलिक, अठारहवी सदीसे पहलेके यूरोपकी सभ्यतासे कही अधिक बौद्धिक, इन सब सभ्यता-ओंमें जो कुछ था उस सबकी तथा उससे भी अधिककी स्वामिनी यह भारतीय सभ्यता सभी

अतीत मानव-संस्कृतियोंमें अधिक शक्तिशाली, आत्मस्थित, प्रेरणादायी और महाप्रतापशाली रही है।

और यदि हम वर्तमानकी तथा प्रगतिशील काल-परम्पराके फलप्रद कार्योंकी दृष्टिसे देखें तो हम कह सकते हैं कि यहां हमारी अवनतिके होते हुए भी सब कुछ बड़ी बातोंमें ही नहीं है। यह ठीक है कि हमारी सभ्यताके बहुतसे विधि-विधान अब अनुपयोगी और जर्जरित हो गये हैं और कुछ दूसरे विधि-विधानोंका जड़-मूलसे बदलना और नया गढ़नेकी जरूरत है। परंतु यह बात तो यूरोपीय संस्कृतिके बारेमें भी समान रूपसे कही जा सकती है, क्योंकि हाल ही में यह जो इतनी अधिक प्रगतिशील हो उठी है और अधिक तेजीके साथ उसने अपने आपको अवस्थाओंके अनुकूल बनानेका जो अभ्यास डाला है उसका बहुत बड़ा भाग अब सड़ गया है और अनुपयुक्त हो गया है। सब त्रुटियोंके रहते और पतनके होते हुए भी भारतीय संस्कृतिका मूल भाव, उसके केंद्रीय विचार, उसके श्रेष्ठ आदर्श आज भी केवल भारतके लिये ही नहीं अपितु समस्त मानवजातिके लिये संदेश लिये हुए हैं। और हम भारतवासी तो यह मानते हैं कि यह भाव, विचार एवं आदर्श नयी आवश्यकता एवं भावनाके संपर्कमें आकर अपने अंदरसे हमारी समस्याओंके ऐसे समाधान निकाल सकते हैं जो पश्चिमी लोगोंसे उधार लिये नये पुराने समाधानोंके समान ही बल्कि उनसे भी कहीं अधिक अच्छे होंगे। परंतु भूतकालकी तुलनाओं और वर्तमानकी आवश्यकताओंके अतिरिक्त आदर्श भविष्यका भी एक दृष्टिकोण है। कुछ और सुदूरतर लक्ष्य भी हैं जिनकी ओर मानवजाति बढ़ रही है और वर्तमान काल तो उनके निमित्त एक स्थूल अभीप्सामात्र है और इसके बाद तुरंत ही आनेवाला निकट भविष्य, जिसे हम आज एक आशाके रूपमें देख रहे हैं और व्यक्त रूप देनेका यत्न कर रहे हैं, उस आदर्श भविष्यकी एक स्थूल आरंभिक अवस्थामात्र है। कुछ एक अतिसिद्ध आदर्शमूलक विचार हैं जो आधुनिक मनके लिये तो रामराज्यके स्वप्नमात्र हैं, किंतु एक अधिक विकसित मानवजातिके लिये वे उसके दैनिक जीवनके सामान्य अंग बन सकते हैं, वर्तमानके सुपरिचित विचार बन सकते हैं, उस वर्तमानके जिसे आकर मानवजातिको आज पकड़ना है। आखिरकार यह जो भविष्य अतीतका अनिवार्य नहीं हुआ है उसकी दृष्टिसे भारतीय सभ्यताकी स्थिति कैसी ठहरती है? क्या इसके लिये भारतीय सभ्यताके प्रधान विचार एवं प्रमुख शक्तियां हमारे मार्गदर्शक ज्योतिःस्तंभ या हमारी सहायक शक्तियां हैं अथवा क्या उनका अब अपने आपमें ही ह्रास हो जाता है और पृथ्वीके आगामी युगकी विकासशील संभावनाओंका आलिंगन करनेकी क्षमता उसमें नहीं है।

कई विचारकोंके मतमें स्वयं प्रगतिका विचार ही एक भ्रांत धारणा है, क्योंकि उनका ख्याल है कि मानवजाति निरंतर एक ही चक्कर घूमा करती है। अथवा वे महात्मा मानते हैं कि सत्ययुगका दर्शन हम अधिकतम अतीतमें ही कर सकते हैं और आज हम ह्रास एवं अवनतिकी ही दिशामें जा रहे हैं। परंतु यह एक भ्रांति है जिसका खण्डन सब होता है, अब

हम अतीतके उच्च ज्योतिशिखरोंपर तो अत्यधिक दृष्टि डालते हैं और उसकी अधकारमय छायाओको भुला देते है अथवा जब हम वर्तमानके अधकारमय स्थानोकी ओर अत्यधिक ध्यान देते है और इसकी प्रकाशदायी शक्तियो एव अधिक सुखकर आशामय पहलुओकी उपेक्षा करते हैं। इस भ्रातिके उत्पन्न होनेका एक कारण यह भी है कि अपनी प्रगतिको सर्वदा एक जैसी होती हुई न देख उससे हम एक गलत सिद्धात निकाल लेते हैं। बात यह है कि प्रकृति हमारा जो विकास साधित करती है उसे वह प्रगति और अधोगति, दिन और रात्रि, जागरण और निद्राके लय-तालके द्वारा ही साधित करती हैं, कुछ परिणामोको अल्पकालके लिये आगे बढाया जाता है और उनके लिये कुछ दूसरोकी बलि दे दी जाती है यद्यपि पूर्णताके लिये वे भी पहलोंके समान ही वाछनीय होते है। इस प्रकार, स्थूल दृष्टिवालोको हमारी उन्नतिमें भी अवनति दिखायी दे सकती है। यह मानी हुई बात है कि प्रगति उस प्रकार सुरक्षित रूपसे एक सीधी रेखामें ही आगे नही बढती जाती जिस प्रकार अपने सुपरिचित मार्गका निश्चित ज्ञान रखनेवाला मनुष्य आगे ही आगे बढता जाता है या जिस प्रकार एक सेना किसी निष्कटक भूखडको या नक्शेमें भलीभाति अकित अनधिकृत प्रदेशोको लेती हुई बढती चली जाती है। मानव-प्रगति बहुत कुछ एक ऐसा अभियान है जो अज्ञात प्रदेशमेंसे होते हुए किया जाता है और वह अज्ञात प्रदेश अप्रत्याशित आक्रमणो एव परेशान करनेवाली बाधाओंसे भरा हुआ होता है, बहुधा यह प्रगति ठोकरे खाती है, अनेक स्थलोपर यह अपना मार्ग खो बैठती है, एक ओरकी कोई चीज पानेके लिये यह दूसरी ओरकी चीजका त्याग करती है, अधिक व्यापक रूपमें आगे बढनेके लिये यह प्राय ही अपने पैर पीछे खीच लाती है। अतीतके साथ तुलना करनेपर वर्तमान सदा अच्छा ही नही सिद्ध होता, यहातक कि, जब वह समूचे रूपमें अधिक उन्नत होता है तब भी वह हमारे आतरिक या बाह्य कल्याणके लिये किन्ही आवश्यक दिशाओमें अवनत हो सकता है। पर पृथ्वी आखिरकार आगे बढती ही है (Eppur si mouve)। असफलतामें भी सफलताके लिये तैयारी चल रही होती है हमारी रातोमें एक महत्तर उषाका रहस्य छिपा रहता है। हमारी वैयक्तिक उन्नतिमें तो यह बात प्राय ही अनुभवमें आती है, किंतु मानव-समष्टि भी बहुत कुछ इसी ढगसे आगे बढती है। प्रश्न यह है कि हम किस ओर बढ रहे हैं अथवा हमारी यात्राके सच्चे मार्ग और पडाव कौनसे है।

पाश्चात्य सभ्यताको अपनी सफल आधुनिकतापर गर्व है। परतु ऐसा बहुत कुछ है जिसे इसने अपने लाभोकी उत्सुकतामें गवा दिया है और ऐसा भी बहुत कुछ है जिसके लिये प्राचीन लोगोने प्रयास किया था पर जिसे पूरा करनेकी इसने चेष्टातक नही की। ऐसी चीजें भी बहुत-सी हैं जिन्हे इसने अधैर्य या अवज्ञाके कारण जानबूझकर फेक दिया है, इससे इसकी अपनी ही महान् क्षति हुई है, इसका जीवन क्षत-विक्षत हो गया है, इसकी सस्कृति त्रुटिपूर्ण रह गयी है। पेरिक्लिस (Pericles) या दार्शनिकोंके युगके किसी प्राचीन

यूरोपको यदि सहसा इस सदीमें ले आया जाय तो वह बुद्धिकी अपरिमित प्राप्तियों, मनके विस्तार, बुद्धिकी आधुनिक बहुमुखता और जिज्ञासाकी अदम्य प्रवृत्ति, अनंत सिद्धांतोंकी रचना करने और ठीक-ठीक विवरण देनेकी शक्तिको देखकर आश्चर्यचकित रह जायगा। विज्ञानकी आश्चर्यजनक उन्नति और इसके अतिमहान् आविष्कारोंकी, इसकी विपुल शक्ति, समृद्धि और इसके यंत्रोंकी सूक्ष्मता एवं आविष्कारक प्रतिभाकी अद्भुत-कर्मा शक्तिकी वह निःसंकोच सराहना करेगा। आधुनिक जीवनकी विराट् हलचल और स्पंदनको देखकर वह मुग्ध और विस्मित होनेके बजाय अभिभूत और विमूढ़ हो उठेगा। पर साथ ही इसकी कुरूपता और असभ्यताके निर्लज्ज स्तूप, इसके विकृत बाह्य उपयोगितावाद, प्राणिक भोगोंके लिये इसके कलह-कोलाहल, इसकी विकसित की हुई कितनी ही चीजोंकी अस्वाभाविक अतिरंजना और अस्वस्थताको देखकर वह घृणापूर्वक मुंह फेर लेगा। इसमें उसे इस बातका पुष्कल और स्पष्ट-सा प्रमाण दिखायी देगा कि जो बर्बर यहां किसी समय विजयी था वह आज भी पूरी तरहसे बहिष्कृत नहीं हुआ है बल्कि जीवित ही बना हुआ है। जहां वह इसके बौद्धिक मानसों और जीवनकी कसौटीपर विचार-शक्ति एवं वैज्ञानिक बुद्धिके सतर्क प्रयोगको स्वीकार करेगा वहां उसे यह बात खटकेगी कि उसने पिछले दिनोंमें मन और अंतरात्मासंबंधी आन्तरिक जीवनपर भावप्रधान बुद्धिका उज्ज्वल और उन्नत प्रयोग करनेका जो प्रयास किया था उसका यहां सर्वथा अभाव है। वह देखेगा कि इस सभ्यतामें सुंदरता तो एक विजातीय वस्तु बनी हुई है और तेजोमय आदर्श मन कुछ क्षेत्रोंमें तो पदच्युत और शोषित दास बना हुआ है और कई अन्य क्षेत्रोंमें एक उपेक्षित परदेसी।

उधर अतीतके महान् आध्यात्मिक साधकोंको बुद्धि और जीवनकी इस नव विकास-कर्मण्यतामें एक प्रकारकी दुःखदायी रिक्तताका अनुभव होगा। मनुष्यमें जो कुछ भी अत्यंत महान है तथा जो उसे अपने आपसे ऊपर उठाता है उसकी इसमें उपेक्षा देखकर उन साधकोंको इसकी असभ्यता एवं असारताका अनुभव होगा जो उन्हें पग-पगपर पीड़ा पहुंचायेगा। भौतिक प्राकृतिक नियमोंकी खोजमें लगनेसे हमारी जो महत्तर खोज एवं उपलब्धि अर्थात् आत्मा और भगवान्‌की उपलब्धि दीर्घकालसे प्रायः पूर्ण रूपसे विलुप्त ही रही और आज भी प्रयोगाधीन सामग्री ही अवलम्ब है उस खोज और प्राप्तिकी पूर्ति उनकी दृष्टिमें हमारे भौतिक आविष्कारोंसे नहीं हो सकती।

परन्तु वह भिन्नता विचारक सभ्यताके इस युगको विकासकी एक विशेष अवस्था एवं मानवप्रगतिका एक अपूर्व पर महत्त्वपूर्ण मोड़ समझना अधिक पसंद करेगा। और तब यह दिखायी देगा कि इसमें हमें अभी बड़ी-बड़ी प्राप्तियां हुई हैं जो अंतिम पूर्णताके लिये अत्यंत मूल्यवान हैं भले ही वे एक भारी कीमतपर क्यों न प्राप्त हुई हों। हमारी प्राप्ति केवल यही नहीं है कि आज जीवन अधिक व्यापक हो गया है और अनेकानेक प्रकारके बौद्धिक कौशल और जिज्ञासाका अधिक पूर्ण प्रयास किया गया है; हमारी प्राप्ति

केवल इतनी ही नहीं है कि विज्ञानकी उन्नति हुई है और हमारी परिस्थितिपर विजय पानेके लिये इसका प्रयोग हुआ है, अपरिमित साधनोपकरणोंका निर्माण तथा उनका विशाल उपयोग किया गया है, सुख-सुविधाके अनन्त छोटे-मोटे साधन और अदम्य शक्तिशाली मशीनें तैयार की गयी है तथा शक्तियोंका अथक दुरुपयोग किया गया है। बल्कि इस सबके अतिरिक्त, अनेक महान् आदर्शोंका एक प्रकारका विकास भी हुआ है जो बहुत ऊंचे न सही पर शक्तिशाली अवश्य है, और साथ ही समूचे मानवसमाजके कार्य-कलापपर प्रभाव डालनेके लिये उनका प्रयोग करनेका यत्न भी किया गया है, भले ही वह बाहरी और इसलिये त्रुटिपूर्ण क्यों न रहा हो। यह ठीक है कि बहुत-सी चीजोंका ह्रास या विलोप हो गया है, किंतु उन्हें नये सिरेसे प्राप्त भी किया जा सकता है, भले ही इसमें कुछ कठिनाई क्यों न हो। जब एक बार मनुष्य अपने अतर्जीवनको फिरसे ठीक ढर्रेपर ले आयगा तो वह देखेगा कि इसकी साधन-सपदामें तथा नमनीयताकी शक्तिमें वृद्धि ही हुई है, इसे एक नयी कोटिकी गभीरता और विशालता प्राप्त हुई है। और तब हममें बहुमुखी पूर्णता प्राप्त करनेका एक लाभदायी अभ्यास पड जायगा और अपने बाह्य सामूहिक जीवनको हम अपने उच्चतम आदर्शोंकी ठीक-ठीक प्रतिमूर्ति बनानेका सच्चा प्रयत्न करने लगेंगे। बाह्य विप्लव और बहिर्मुख प्रगतिके इस युगके बाद जो महत्तर आतरिक विस्तार होनेकी सभावना है उसके सामने आजके क्षणस्थायी ह्रासोंकी कोई गिनती नहीं।

दूसरी ओर, यदि उपनिषत्काल, बौद्ध काल या परवर्ती उच्च-साहित्यिक युगके किसी प्राचीन भारतीयको आधुनिक भारतमें लाया जाय और वह इसके जीवनकी ह्रास-युगसे सबध रखनेवाली बहुत-सी बातोंपर दृष्टि डाले तो उसे और भी अधिक विषादकारी सवेदन होगा, उसे यह अनुभव होगा कि राष्ट्र और सस्कृतिका सर्वनाश हो गया है, वे उच्चतम शिखरोंसे पतित होकर ऐसे निम्न स्तरोंपर आ पहुचे है जिनसे फिर उबरनेकी भी आशा नहीं। वह सभवत अपनेसे यह पूछेगा कि भला इस पतित सततिने अतीतकी इस महान् सभ्यताकी क्या दुर्दशा कर डाली है। उसे यह देखकर आश्चर्य होगा कि जब इन लोगोंको प्रेरित करने, ऊंचे उठाने तथा और भी महत्तर पूर्णता एव आत्म-अतिक्रमणकी ओर ले चलनेके लिये इतना अधिक मौजूद था तब भला कैसे ये इस नि शक्त और जड अस्तव्यस्ततामें आ गिरे और, भारतीय सस्कृतिके उच्च प्रेरक भावोंको और भी गभीरतर एव विशालतर परिणतियोंतक विकसित करनेके बदले उन्हें भद्दी अभिवृद्धिसे लद जाने दिया, उन्हें कलुषित, विगलित और नष्टप्राय होने दिया। वह देखेगा कि मेरी जाति भूतकालके बाह्य आचारों, खोखली और जीर्ण-शीर्ण वस्तुओंसे चिपकी हुई है और अपने उदात्ततर तत्त्वोंका नौ-दशमाश खो बैठी है। वह उपनिषदों और दर्शनोंके वीरतापूर्ण कालकी आध्यात्मिक ज्योति और शक्तिके साथ बादकी तामसिकता या हमारे दार्शनिक चिंतनकी तुच्छ, टूटी-फूटी और अधूरे रूपमें उधार ली हुई क्रियाकी तुलना करेगा। उच्च साहित्यिक युगकी बौद्धिक जिज्ञासा, वैज्ञानिक उन्नति,

विकास हुआ, कई आध्यात्मिक तथा अन्यान्य प्रकारकी प्राप्तिया हुई जो भविष्यके लिये अत्यत महत्त्वपूर्ण थी। और अवनति एव पतनके निकृष्टतम कालमें भी भारतकी आत्मा मर नही गयी थी, बल्कि वह केवल सोई हुई, ढकी हुई और पाशोंसे जकडी हुई थी। अब जब कि वह अपनेको जगानेवाले अनवरत आघातोके दबावके प्रत्युत्तरस्वरूप एक शक्तिशाली आत्मोद्धारके लिये उठ रही है, वह देखती है कि उसकी निद्रा तो केवल एक पर्दा थी जिसकी ओटमें नयी शक्यताओकी तैयारी हो रही थी। जहा उच्च अध्यात्मभावित मन, और आध्यात्मिक सकल्पकी सुमहान् शक्ति अर्थात् तपस्या, जो प्राचीन भारतकी विशेषताए थी—ये दोनो ही अपेक्षाकृत कम देखनेमे आती थी, वहा हमें चेतनाके निम्न स्तरोपर आध्यात्मिक भावावेश, और आध्यात्मिक सवेगके प्रति सवेदनशीलता—ये दोनो ही नयी प्राप्तिया हुई जिनका पहले नितात अभाव था। वास्तुकला, साहित्य, चित्रकला, भास्कर-विद्याने अपनी प्राचीन गौरव-गरिमा, शक्ति और श्रेष्ठता तो गवा दी किंतु उन दूसरी शक्तियो और प्रेरणाओको उद्बुद्ध किया जो कोमलता, सुस्पष्टता और श्री-सुषमासे सपन्न थी। उच्च शिखरोंसे निम्न स्तरोपर अवतरण अवश्य हुआ, पर वह एक ऐसा अवतरण था जिसने अपने मार्गमे ऐश्वर्य-वैभवका सग्रह किया, जो आध्यात्मिक खोज तथा उपलब्धिकी परिपूर्णताके लिये आवश्यक था। हमारी प्राचीन सस्कृतिके ह्रासको इस रूपमें भी देखा जा सकता है कि वह पुरानी रीति-नीतियोका एक ऐसा क्षय और विनाश था जिसकी जरूरत थी ताकि नये सृजनके लिये मार्ग साफ हो सके और इतना ही नही बल्कि, यदि हम चाहे तो, एक अधिक महान् और अधिक पूर्ण सृजन भी हो सके।

कारण, अततोगत्वा सत्ताकी भीतरी इच्छा ही घटनाओको उनका वास्तविक मूल्य प्रदान करती है जो प्राय ही एक अप्रत्याशित मूल्य होता है, ऊपरमें दीखनेवाले तथ्यका रग-रूप तो भ्रममें डालनेवाला चिह्न होता है। यदि किसी जाति या सभ्यताकी आभ्यतरिक इच्छा मृत्युका आलिंगन करनेकी हो, यदि वह अवनतिजनक उदासीनता और मुमूर्षुकी हस्तक्षेप न करने देनेकी इच्छाके साथ चिपकी रहे या शक्तिशाली होते हुए भी विनाशकारी प्रवृत्तियोपर अवक्त् आग्रह करे अथवा यदि वह केवल मृत युगकी शक्तियोको ही स्नेहके साथ सजोये और भविष्यकी शक्तियोंको अपनेसे दूर हटा दे, यदि वह अतीत जीवनको भावी जीवनकी अपेक्षा अधिक पसद करे, तो कोई भी चीज अवश्यभावी विघटन या विध्वससे उसकी रक्षा नही कर सकेगी, यहातक कि विपुल शक्ति, साधन-सपदा और बुद्धि, जीवनके लिये आह्वान करनेवाली शत-शत पुकारे और निरतर प्रदान किये गये अवसर भी उसे विनाशसे नही बचा सकेगे। परतु यदि उसके अदर दृढ आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाय, जीनेकी प्रबल इच्छा जागृत हो उठे, यदि वह आनेवाली वस्तुओंकी ओर खुल जाय, भविष्यको और उसके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तुओको अधिकृत करनेकी इच्छुक हो और जहा कहीं वह (भविष्य) विरोधी प्रतीत हो वहा वह उसे बदल देनेकी शक्ति रखती हो, तो वह विरोध और

पराजयसे भी अदम्य विजयशील शक्ति प्राप्त कर सकती है और ऊपरी विवशता एवं पतनकी अवस्थासे नवजीवनकी ओजस्वी ज्वालाके रूपमें एक भास्वर जीवनकी ज्योतिकी ओर उठ सकती है। भारतीय सभ्यता अपनी आत्माकी चिरंतन शक्तिके द्वारा सदा ही यही करती रही है और यही करनेके लिये आज उसका पुनरुत्थान हो रहा है।

भूतकालके आदर्शोंकी महत्ता इस बातका आश्वासन देती है कि भविष्यके आदर्श और भी महान् होंगे। अतीत प्रयास एवं शक्ति-सामर्थ्यके पीछे जो कुछ निहित था उसका सतत विस्तार ही किसी संस्कृतिके जीवित होनेका एकमात्र स्थायी प्रमाण हुआ है। इसका यह अर्थ हुआ कि सभ्यता और बर्बरता ये दोनों ही शब्द सर्वथा सापेक्ष अर्थ रखते हैं। कारण भावी विकासक्रमके दृष्टिकोणसे देखें तो यूरोप और भारतकी सभ्यताएं अपने सर्वोत्तम रूपमें भी केवल अधूरी प्राप्तियां रही हैं, ऐसी धीमी उषाएं रही हैं जो आनेवाले प्रखर मध्याह्नकी सूचना देती हैं। इस दृष्टिबिंदुसे न तो यूरोप कभी पूर्ण रूपसे सभ्य रहा है और न भारत और न ही मानवजगत्‌की कोई अन्य जाति, देश या महाद्वीप। सच्चे एवं सर्वांगीण मानव जीवनका संपूर्ण रहस्य इनमेंसे किसीकी भी पकड़में नहीं आया है, जो थोड़ा-सा रहस्य प्राप्त करनेमें ये सफल भी हुए उसे भी इनमेंसे किसीने संपूर्ण अंतर्दृष्टि या पूर्णतया जागरूक सच्चाईके साथ जीवनमें व्यवहृत नहीं किया है। यदि हम सभ्यताकी परिभाषा इन शब्दोंमें करें कि यह आत्मा, मन और देहका सामंजस्य है तो भला कहां यह सामंजस्य पूर्ण या सर्वथा वास्तविक रूपमें चरितार्थ हुआ है? भयंकर त्रुटियां और दुःखदायी विषमताएं कहां नहीं रही हैं? सामंजस्यका समग्र रहस्य अपने अंगोपांग-समेत कहां पूर्णतया अधिगत हुआ है अथवा जीवनका पूर्ण संगीत एक संतोषजनक स्थायी एवं अविरत आरोहणशील स्वर-संगतिकी विजयशाली रस-धाराके रूपमें कहां विकसित हुआ है? इतना ही नहीं कि मानवजीवनपर प्रत्यक्ष कुत्सित यहांतक कि 'बीभत्स' कलंक यत्र-तत्र-सर्वत्र देखनेमें आते हैं अपितु जिन बहुतसी चीजोंको हम आज समर्थनके साथ ग्रहण करते हैं, जिन बहुतसी चीजोंपर हम आज गर्व करते हैं उन सबको भावी मानवता शायद सहज ही निरी बर्बर या कम-से-कम अर्ध बर्बर एवं असंस्कृत चीज समझेगी। अपनी जिन प्राप्तियोंको हम आदर्श वस्तुएं मानते हैं उनकी यह कहकर निंदा की जायगी कि ये अपनेसे संतुष्ट अपूर्ण वस्तुएं हैं जो अपनी त्रुटियों-के प्रति अंधी हैं, जिन विचारोंकी हम एक ज्ञानज्योतिके रूपमें प्रशंसा करते हैं वे अर्ध प्रकाश या फिर अंधकार प्रतीत होंगे। हमारे जीवनके अनेक आचार-अनुष्ठान जो प्राचीन या यहांतक कि सनातन होनेका दावा करते हैं—मानो वस्तुओंके प्रत्येक बाह्य रूपको सनातन कहा जा सकता हो—क्षीण होकर विलुप्त हो जायंगे, इतना ही नहीं वरन् अपने सर्वश्रेष्ठ सिद्धांतों और आदर्शोंको हम अपने मनमें जो आकार देते हैं वे भी शायद भविष्यसे अधिक-से अधिक यही मांग करेंगे कि उन्हें समझ-बूझकर स्वीकार किया जाय। ऐसी चीजें बहुत कम हैं जिन्हें विस्तार और परिवर्तनमेंसे नहीं गुजरना होगा, ऐसे रूपांतरमेंसे नहीं

गुजरना पडेगा जिसके हो जानेपर सभव है कि उन्हे पहचाना ही न जा सके, या एक नये समन्वयमें शामिल होनेके लिये थोडा सुधार नही स्वीकार करना पडेगा। अतत, आगामी युग आजके यूरोप और एशियाको शायद बहुत कुछ उसी तरह देखेगे जिस तरह हम जगली जातियो या आदिवासियोको देखते है। और यदि भविष्यसे हम यह दृष्टिकोण प्राप्त कर सके तो नि सदेह यह एक अत्यत प्रकाशप्रद एव क्रियाशील दृष्टिकोण होगा जिससे हम अपने वर्तमानको परख सकेगे, परतु यह प्राचीन और आजतक जीवित सस्कृतियोंके हमारे तुलनात्मक मूल्याकनको निरर्थक नही बना देता।

कारण, यह अतीत और वर्तमान उस भविष्यके महत्तर सोपानोका निर्माण कर रहे है और जो भविष्य इनका स्थान लेगा उसमे भी इनकी बहुतसी चीजें बनी रहेगी। हमारे अपूर्ण सास्कृतिक प्रतीकोंके पीछे एक स्थायी भावना है, जिसे हमें दृढतापूर्वक पकडे रहना होगा और जो भविष्यमे भी स्थायी रूपसे बनी रहेगी। कुछ एक मौलिक प्रेरणाए या प्रमुख विचार-शक्तिया है जिनका त्याग नही किया जा सकता, क्योकि वे हमारी सत्ताके अत्यत महत्त्वपूर्ण तत्त्वके अग है, हममे हमारे अदरकी प्रकृतिका जो लक्ष्य है उसके अग है, हमारे स्वधर्मके अग है। परतु ये प्रेरणाए, ये विचार-शक्तिया, राष्ट्रके लिये हो या समूची मानवजातिके लिये, केवल इनी-गिनी और सारत सरल होती है और साथ ही नित्य-नवीन, विविधतापूर्ण एव प्रगतिशील ढगसे प्रयोगमे लाने योग्य होती है। इनके अतिरिक्त बाकी सब हमारी सत्ताके कम भीतरी स्तरोकी चीज होता है और उसे परिवर्तनके दबावके वशीभूत होना ही होगा तथा युग-भावनाकी प्रगतिशाली मागोको पूरा करना ही होगा। वस्तुओमे यह स्थायी मूलभाव विद्यमान है, और हमारे अदर यह अटल स्वधर्म अर्थात् हमारी प्रकृतिका विधान भी विद्यमान है, परतु क्रमश रूप ग्रहण करनेके नियमोकी एक कम अनिवार्य धारा भी है, आत्माके ताल-छद, बाह्य रूप, प्रवृत्तिया, प्रकृतिके अभ्यास आदि भी है और ये परिवर्तनोका, युगधर्मका अनुगमन करते है। मनुष्यजातिको स्थायित्व और परिवर्तनके इस दोहरे नियमका अनुसरण करना होगा या फिर उसे ह्रास और क्षयका दड भोगना होगा जो इसके सजीव केद्रतकको कलुषित कर सकता है।

इसमे सदेह नही कि प्रत्येक विघटनकारी आक्रमणका प्रतिकार हमे पूरे बलके साथ करना होगा, परतु इससे कही अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपनी अतीत उपलब्धि, वर्तमान स्थिति और भावी सभावनाओके सबधमें, अर्थात् हम क्या थे, क्या है और क्या बन सकते है इस सबके सबधमें हम अपनी सच्ची और स्वतत्र सम्मति निश्चित करे। हमारे अतीतमे जो कुछ भी महान्, मौलिक, उन्नतिकारक, बलदायक, प्रकाशदायक, जयशील एव अमोघ था उस सबका हमें स्पष्ट रूपसे निर्धारण करना होगा। और फिर उसमेसे भी जो कुछ हमारी सास्कृतिक सत्ताकी स्थायी मूल भावना एव उसके अटल विधानके निकट था उसे साफ-साफ जानकर हमें उसे अपनी सस्कृतिके सामयिक बाह्य रूपोका निर्माण करनेवाली अस्थायी वस्तु-

अपने पृथक् कर लेना होगा। कारण भूतकालमें जो कुछ भी महान् था उस सबको ज्यों-का-त्यों सुरक्षित नहीं रखा जा सकता और न उसे अनंत कालतक बार-बार दुहराया ही जा सकता है, क्योंकि हमारे सामने नयी आवश्यकताएं आती हैं, अन्यान्य प्रश्न उपस्थित होते हैं। परंतु हमें इस बातका भी निश्चय करना होगा कि हमारी संस्कृतिमें ऐसी चीजें कौन-सी थीं जो त्रुटियोंसे युक्त थीं किंवा ठीक तरहसे नहीं समझी गयी थीं, जो या तो अपूर्ण रूपसे गठित थीं अथवा केवल युगकी सीमित आवश्यकताओं या प्रतिकूल परिस्थितियोंके ही उपयुक्त थीं। क्योंकि यह दावा करना सर्वथा निरर्थक है कि प्राचीन युगकी महानता कि उसके अत्यंत गौरवमय कालकी भी सभी वस्तुएं पूर्ण रूपसे त्रुटिहीन थीं और वे मानव मन एवं आत्माकी परमोच्च कोटिकी प्राप्तियां थीं। उसके बाद हमें इस अतीतकी अपने वर्तमानके साथ तुलना करनी होगी और अपनी अवनतिके कारणोंको समझना तथा अपने दोषों और रोगोंका इलाज ढूंढ़ना होगा। अपने अतीतकी महत्ताका काम हमारे लिये ऐसा आकर्षक एवं सम्मोहक नहीं बन जाना चाहिये कि वह हमें अकर्मण्यताकी ओर घसीटकर मृत्युके मुखमें ले जाय बल्कि उसे एक नवीन और महत्तर प्राप्तिके लिये एक प्रेरणाका काम करना चाहिये। परंतु वर्तमानकी समालोचना करते हुए हमें एकपक्षीय भी नहीं बन जाना चाहिये और न हमें हम जो कुछ हैं या जो कुछ कर चुके हैं उस सबकी मूर्खतापूर्ण निर्ममताके साथ निन्दा ही करनी चाहिये। न तो हमें अपने अधःपतनकी झूठी बड़ाई करनी चाहिये या उसपर मुलम्मा ही चढ़ाना चाहिये और न ही विदेशियोंकी वाहवाही लूटनेके लिये अपने पैरों आप कुल्हाड़ी ही मारनी चाहिये बल्कि हमें अपनी भयंकर दुर्बलता तथा इसके मूल कारणोंकी ओर ध्यान देना चाहिये पर साथ ही अपने शक्तिशाली तत्त्वों एवं अपनी स्थायी संभावनाओंपर और अपना नव-निर्माण करनेकी अपनी क्रियाशील प्रेरणाओंपर हमें और भी दृढ़ मनोभावके साथ अपनी दृष्टि गड़ानी चाहिये।

एक दूसरी तुलना हमें पश्चिम और भारतके बीच भी करनी होगी। यदि हम यूरोप और भारतके अर्वाचीनतर निम्नतम समयपर विचार करें तो हम देख सकते हैं कि पश्चिमने क्या-क्या सफलताएं प्राप्त की हैं, वह मानवजातिके लिये कौनसा उपहार लाया है पर साथ ही हम उसके बड़े-बड़े दोषों, सुस्पष्ट त्रुटियों, भीषण और महत्त्वपूर्ण किंवा "बीभत्स" कुरूपताओं और असमर्थताओंपर भी दृष्टि डालनी होगी। दूसरे पक्षमें हमें प्राचीन और मध्ययुगीन भारतकी सफलताओं और विफलताओंको रखना होगा। वहां हमें पता चलेगा कि ऐसी चीजें नहींके बराबर हैं जिनके कारण हमें यूरोपके सामने सिर नीचा करना पड़े और ऐसी चीजें अनगिनत हैं जिनमें हम यूरोपसे ऊंचे उठ जाते हैं और कहीं-कहीं तो बहुत ऊंचे। परन्तु इसके बाद हमें पश्चिमके वर्तमानकी अर्थात् उसकी महान् सफलता, प्राण-शक्ति और विजयशील बुद्धिमत्ताकी छानबीन करनी होगी। इसमें जो चीजें महान् हैं उन्हें हम अंगीकार करेंगे परन्तु इसके दोषों, अक्षमता और लापरवाही पर भी गहरी दृष्टि डालेंगे। और इस तुलनात्मक महानता-

की तुलना हमें भारतके वर्तमानके साथ करनी होगी अर्थात् उसके अधःपतन और इसके कारणों तथा उसकी पुनरुत्थानकी दुर्बल इच्छाके साथ, और उसके जो तत्त्व आज भी उसकी श्रेष्ठताके समर्थक हैं तथा भविष्यमें भी रहेंगे उनके साथ करनी होगी। हमें यह देखना तथा विवेचन करना होगा कि पश्चिमसे क्या-क्या ग्रहण करना आवश्यक है और फिर यह सोचना होगा कि किस प्रकार हम उसे हजम कर अपनी भावना और आदर्शोंके साथ समरस बना सकते हैं। परंतु हमें यह भी देखना होगा कि हमारे अपने अंदर सहजात शक्तिके ऐसे कौनसे स्रोत हैं जिनसे हम, पश्चिमसे प्राप्य किसी भी वस्तुकी अपेक्षा, जीवनी शक्तिकी अधिक गहरी, अधिक जीवंत और अधिक ताजी धाराएं प्राप्त कर सकते हैं। कारण, ये धाराएं ही हमें पाश्चात्य रीति-नीतियों और प्रेरणाओंकी अपेक्षा अधिक सहायता पहुंचायेंगी, क्योंकि ये हमारे लिये अधिक स्वाभाविक होंगी, हमारी प्रकृतिकी विशिष्ट प्रवृत्तिके लिये अधिक प्रोत्साहित करनेवाली और सर्जन-संबंधी निर्देशोंसे अधिक परिपूर्ण होंगी, साथ ही इन्हें हम अधिक आसानीसे ग्रहण कर सकेंगे और व्यवहारमें इनका अनुसरण भी पूर्णताके साथ कर सकेंगे।

परंतु इन सब आवश्यक तुलनाओंसे कहीं अधिक सहायक वस्तु यह होगी कि हम अपने अतीत और वर्तमान आधारसे भविष्यकी ओर किसी विजातीय नहीं, वरन् अपने ही भविष्यकी आदर्श दृष्टि डालें। क्योंकि, भविष्यकी ओर हमारा विकासात्मक आवेग ही हमारे अतीत और वर्तमानको इनका सच्चा मूल्य और महत्त्व प्रदान करेगा। भारतकी प्रकृति, उसका भगवन्निर्दिष्ट कार्य, उसका कर्त्तव्य कर्म, पृथ्वीकी भवितव्यतामें उसका भाग, वह विशिष्ट शक्ति जिसका वह प्रतिनिधि है—यह सब उसके विगत इतिहासमें लिखा हुआ है और यही उसके वर्तमान कष्टों एवं अग्निपरीक्षाओंका गुप्त प्रयोजन है। हमें अपनी आत्माके बाह्य रूपोंका पुनः गठन करना होगा, किंतु प्राचीन रूपोंके पीछे विद्यमान आत्माको ही हमें उन्मुक्त करना और उसकी सुरक्षा करते हुए उसे नये और ओजस्वी विचार-प्रतीक, सांस्कृतिक मूल्य, नये उपकरण एवं महत्तर रूप प्रदान करने होंगे। और जबतक हम इन सारभूत वस्तुओंको मान्यता देते रहेंगे और इनके मूल भावके प्रति निष्ठावान् रहेंगे, तबतक अवस्थाओंके अनुकूल अत्यंत उग्र ढंगकी मानसिक या भौतिक व्यवस्थाएं एवं अत्यंत चरम कोटिके सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन करनेसे भी हमें कोई हानि नहीं होगी। परंतु स्वयं इन परिवर्तनोंको भी भारतकी ही भावना एवं सांचेके अनुरूप ढालना होगा, किसी अन्य भावना एवं सांचेके अनुसार नहीं। हमें अमरीका या यूरोपकी भावना एवं जापान या रूसके सांचेके अनुरूप नहीं होना है। हम जो कुछ हैं और जो कुछ बन सकते हैं एवं जो बननेका हमें यत्न करना चाहिये—इन दोनोंके बीचकी बड़ी भारी खाईको हमें देखना-समझना होगा। परंतु यह हमें किसी प्रकारके अनुत्साहके भावके साथ या अपने अस्तित्वसे और अपनी आत्माके सत्यसे इन्कार करनेकी वृत्तिको लेकर नहीं करना होगा,

बल्कि यह देखनेके लिये करना होगा कि हमें अभी कितनी द्रुतगत प्रगति करनी है। क्यों कि हमें इस प्रगतिकी सच्ची धाराओंको जानना होगा और साथ ही अपने अंदर अभीप्सा और प्रेरणा तथा और शक्ति प्राप्त करनी होगी जिससे हम उन धाराओंकी परिकल्पना करके उन्हें कार्य-रूपमें परिणत कर सकें।

यदि हमें यह आधार ग्रहण करना तथा यह प्रयास करना हो तो हमें आवश्यकता होगी एक मौलिक सत्यान्वेषी चिंतनकी एक ओजस्वी और साहसपूर्ण अंतर्ज्ञानकी एक अमोघ आध्यात्मिक और बौद्धिक सरलताकी। अज्ञानपूर्ण पाश्चात्य आलोचनाके विरुद्ध अपनी संस्कृतिका समर्थन करने और आधुनिक युगके भीषण दबावसे इसकी रक्षा करनेका साहस सबसे पहली वस्तु है परंतु इसके साथ ही अपनी संस्कृतिकी भूलोंको किसी यूरोपियन दृष्टिकोणसे नहीं बल्कि अपने निजी दृष्टिकोणसे स्वीकार करनेका साहस भी होना चाहिये। अवनति या विकृतिसे संबंधित समस्त बातोंको एक ओर छोड़ देनेपर भी हमारे जीवन-संबंधी सिद्धान्तों और सामाजिक प्रथाओंमें कुछ ऐसी चीजें हैं जो अपने-आपमें भ्रांत हैं उनमेंसे कुछ एक तो समर्थनके भी योग्य नहीं हैं वे हमारे जातीय जीवनको दुर्बल करनेवाली हमारी सभ्यताको नीचे गिरानेवाली तथा हमारी संस्कृतिकी प्रतिष्ठा नष्ट करनेवाली हैं। उन चीजोंसे हमें किसी प्रकारके कुतर्कके द्वारा इन्कार न करके उन्हें स्वीकार करना चाहिये। अस्पृश्योंके साथ हम जो व्यवहार करते हैं उसमें हमें ऐसी चीजोंका एक ज्वलन्त दृष्टांत मिल सकता है। कुछ लोग ऐसे हैं जो इसे यह कहकर क्षम्य समझेंगे कि भूतकालकी अवस्थाओंमें इस भूलका होना अनिवार्य ही था और कुछ ऐसे हैं जो यह युक्ति देते हैं कि उस समय जो अच्छे-से-अच्छा समाधान हो सकता था वह यही था। फिर कुछ ऐसे भी हैं जो इसे उचित सिद्ध करना चाहेंगे और, चाहे किन्हीं संशोधनोंके साथ हमारे सामाजिक संगठनके आवश्यक अंगके रूपमें इसे बनाये रखना चाहेंगे। इसके लिये कुछ बहाना था तो सही पर वह इसे जारी रखनेका कोई उचित कारण नहीं हो सकता। हां इसके पक्ष में जो तर्क उपस्थित किया जाता है वह अत्यंत विवादास्पद है। एक ऐसा समाधान जो जातिके छठे भागको स्थायी अपमान सतत अपवित्रता भीतर और बाह्य जीवनकी अस्वच्छता और क्रूर पशुसम जीवनसे ऊपर उठानेके बजाय उसे शेष जातिसे अलग करनेका दंड देता है, कोई समाधान नहीं है बल्कि अपनी दुर्बलताको स्वीकार करना है और यह समाजकी देह तथा उसके समष्टिगत आध्यात्मिक बौद्धिक नैतिक एवं भौतिक उन्नतिके लिये एक स्थायी घाव है। जो समाज-संगठन हमारे कुछ मनुष्य भाइयों और देशवासियोंकी अवनतिका स्थायी नियम बनाकर ही जीवित रह सकता है वह स्वयमेव दूषित ठहरता है और शीघ्र तब अस्तव्यस्त होना ही उसका भाग्य बना होता है। उसके दुष्परिणाम चिरकालतक दबाये रखे जा सकते हैं और वे केवल धर्म-विधानकी एक गूढ़तर अप्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा ही अपना कार्य कर सकते हैं परंतु एक बार जब इन अंधकारमय स्थानोंमें सत्यकी

रश्मिका प्रवेश हो जाता है तब इन्हे स्थायी बनाये रखना ध्वसके बीजको बचा रखना है और, अतमें, अपने चिरजीवनकी सभावनाओको विनष्ट करना है।

और फिर, हमे अपने सास्कृतिक विचारो और सामाजिक आचारोपर दृष्टिपात करना होगा और यह देखना होगा कि कहा वे अपना पुराना भाव या अपना सच्चा अर्थ खो चुके है। उनमेंसे बहुतेरे तो आज एक मिथ्या वस्तु बन गये हैं और वे अपनी ग्रहण की गयी भावनाओंके साथ या जीवनके तथ्योके साथ अब और मेल नही खाते। कुछ अन्य आचार-विचार ऐसे है जो अपने-आपमें तो अच्छे है या जो अपने समयमें तो लाभदायी थे तथापि आज वे हमारे विकासके लिये पर्याप्त नही हैं। इन सबका या तो कायापलट करना होगा या फिर इन्हे त्याग कर इनके स्थानपर अधिक सच्चे विचारो और अधिक उत्कृष्ट आचार-व्यवहारोकी स्थापना करनी होगी। इन्हे जो नयी दिशा हमें प्रदान करनी होगी वह सदा इनके पुराने अर्थकी ही पुनरावृत्ति नही होगी। जिन नये क्रियाशील सत्योकी हमें खोज करनी है वे प्राचीन आदर्शके सीमित सत्यके घेरेमें ही आबद्ध हो यह आवश्यक नही। अपने अतीत और वर्तमान आदर्शोंपर हमें आत्माका प्रकाश फेंककर यह देखना होगा कि क्या उन्हे अतिक्रात या विस्तारित करनेकी आवश्यकता तो नही है अथवा क्या उन्हे नये विशालतर आदर्शोंके साथ समस्वर करनेकी जरूरत तो नही है। जो कुछ भी हम करे या जिस किसी भी वस्तुका हम सृजन करे वह सब भारतकी शाश्वत आत्माके साथ सगत होना चाहिये, किंतु उसका ढाचा ऐसा होना चाहिये कि वह एक महत्तर, सुसमजस एव छदोबद्ध समन्वयके भीतर ठीक बैठ जाय तथा साथ ही एक अधिक उज्ज्वल भविष्यकी पुकारके प्रति नमनीय भी हो। जहा अपने-आपमे विश्वास और अपनी सस्कृतिकी भावनाके प्रति निष्ठा एक स्थायी एव शक्तिशाली जीवनके लिये प्रथम आवश्यक शर्त्तें हैं, वहा महत्तर सभावनाओका ज्ञान भी इनसे कुछ कम अनिवार्य नही है। यदि हम अपने अतीत आदर्शको एक प्रेरणा-प्रद सवेगका रूप न दे एक मिट्टीका घोघा बना दें तो हम स्वस्थ और विजयी होकर नही बने रह सकते।

हमारी सभ्यताकी भाव-भावनाओ और आदर्शोंको किसी प्रकारके समर्थनकी आवश्यकता नही, क्योंकि अपने सर्वोत्कृष्ट अशोमे एव अपने सारतत्त्वमें वे शाश्वत महत्त्वकी ही वस्तु थे। भारतने उनकी जो आभ्यतरिक एव व्यक्तिगत खोज की वह सच्ची, शक्तिशाली और फलोत्पादक थी। किंतु समाजके सामूहिक जीवनमें उसका अत्यधिक सशय-सकोचके साथ जो प्रयोग किया गया वह कभी पर्याप्त साहस और पूर्णताके साथ तो किया ही नही गया बल्कि जब भारतकी जनतामें जीवन-शक्तिका ह्रास होने लगा तो वह अधिकाधिक सकीर्ण और निश्चेष्ट बनता चला गया। यह त्रुटि, आदर्श और सामूहिक कर्ममें यह भारी विषमता समस्त मानवजीवनका पीछा करती आयी है, यह भारतकी ही कोई निराली विशेषता नही थी। किंतु समय बीतनेके साथ-साथ यह विषमस्वरता विशेष रूपमे स्पष्ट होती गयी

और अंतमें इसने हमारे समाजपर दुर्बलता और असफलताकी मुहर लगा दी जो अधिकाधिक गहरी होती गयी। आरंभमें आंतरिक आदर्श और बाह्य जीवनके बीच किसी प्रकार का समन्वय स्थापित करनेके लिये एक व्यापक प्रयास किया गया किंतु बादमें उसके परिणामस्वरूप समाजमें एक गतिहीन नियम-व्यवस्था स्थापित हो गयी। आध्यात्मिक आदर्शवाद का एक मूलभूत सिद्धांत एक भ्रामक ऐक्य और पारस्परिक व्यवहारमें सहायता करनेवाले कुछ एक बधे-बंधाये नियम-विधान तो सदा ही विद्यमान रहे, पर इनके साथ ही समाज-रूप समष्टिमें कड़े बंधन सूक्ष्म भेद-वैषम्य और दिन दूनी बढ़नेवाली जटिलताका तत्त्व भी सदा बढ़ता ही गया। मुक्ति एकत्व और मनुष्यके अंदर विद्यमान भगवत्ताके महान् वैदांतिक आदर्शोंको व्यक्तिके आंतरिक आध्यात्मिक प्रयासके लिये छोड़ दिया गया। फैलने और हजम कर जानेकी शक्ति कम हो गयी और जब बाहरसे प्रबल और आक्रमणकारी शक्तियां इस्लाम और यूरोप भारतमें घुस आये तब परवर्ती हिंदू समाज संकीर्ण और निष्क्रिय आत्मसंरक्षण और जीनेभरकी स्वतंत्रता पाकर संतुष्ट रहा। जीवन-धारा अधिकाधिक संकीर्ण हो गयी और उसने बराबर कुछ सीमित अंशमें ही अपनी पुरानी भावना को बने रहने दिया। इससे स्थायित्वकी प्राप्ति और जीवनकी रक्षा तो अवश्य हुई किंतु वह स्थायित्व अंगरोगग्रस्त था वास्तविक रूपमें सुरक्षित और प्राणवंत नहीं था और वह जीवन रक्षा भी महान् सशक्त और विजयशाली नहीं थी।

और अब तो आत्म-विस्तार किये बिना जीवनकी रक्षा करना भी असंभव हो गया है। यदि हमें जीवित रहना है तो हमें भारतके महान् प्रयासको जो आज रुका पड़ा है फिरसे हाथमें लेना होगा व्यक्तिमें और समाजमें आध्यात्मिक और सांसारिक जीवनमें दर्शन और धर्ममें कला और साहित्यमें चिंतनमें राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक विधि-विधानमें हमें भारतकी उच्चतम भावना और ज्ञानके पूर्ण और निःसीम आशयको साहसके साथ अपनाना होगा और साथ ही उसे समग्र रूपमें कार्यान्वित भी करना होगा। और यदि हम ऐसा करें तो हमें पता चलेगा कि पाश्चात्य रूपोंमें ढका हुआ उत्तमोत्तम जो कुछ भी हमारे पास आता है वह सब हमारे अपने प्राचीन ज्ञानमें पहलेसे ही छिपा हुआ है और उसके पीछे एक अधिक महान् भाव एक अधिक गंभीर सत्य और आत्मज्ञान विद्यमान है और है अधिक उत्कृष्ट एवं आदर्श रूपायणोंके लिये संकल्प करनेकी क्षमता। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि जिस वस्तुको हम आत्माके अंदर सदा ही जानते आये हैं उसे जीवनमें पूर्णरूपेण कार्यान्वित करें। हमारी अतीत संस्कृतिके मूल आशय और हमारे भविष्यकी पारिस्थितिक आवश्यकताओंमें जिस सामंजस्यकी जरूरत है उसका रहस्य उसीमें है अन्य किसी चीजमें नहीं।

यह दृष्टि हमारे सामने एक ठोस लक्ष्य रखती है और पूर्व तथा पश्चिमके मिलनका जो तात्कालिक भयावह पहलू संस्कृतियोंका संघर्ष है उससे परेका यह पथ है। मनुष्यके अंदर

अवस्थित दिव्य आत्माका समग्र मानवजातिके अंदर बस एक ही लक्ष्य है, परंतु विभिन्न महाद्वीप या जातियां पृथक्-पृथक् दिशाओंसे, विभिन्न रूपोंके द्वारा और अलग-अलग भावके साथ उस लक्ष्यकी ओर अग्रसर होती हैं। अंतिम भागवत उद्देश्यकी आधारभूत एकताको न जाननेके कारण वे एक दूसरेके साथ युद्ध करती हैं और दावा करती हैं कि केवल उन्हींका मार्ग मनुष्यजातिके लिये यथार्थ मार्ग है। एकमात्र वास्तविक और पूर्ण सभ्यता वही है जिसमें उनका जन्म हुआ है, अन्य सब सभ्यताओंको या तो मिट जाना होगा या अपना महत्त्व खो देना होगा। पर सच पूछो तो वास्तविक और पूर्ण सभ्यता अभी खोजे जानेकी प्रतीक्षा कर रही है, क्योंकि मनुष्यजातिके जीवनमें आज भी दसमें नौ हिस्सा तो बर्बरता है और केवल एक हिस्सा ही संस्कृति है। यूरोपीय मनोवृत्ति संघर्षके द्वारा विकास करनेके सिद्धांतको प्रथम स्थान देती है, वह संघर्षके द्वारा ही किसी प्रकारके सामंजस्यतक पहुंचती है। परंतु स्वयं यह सामंजस्य भी प्रतियोगिता, आक्रमण तथा और आगेके संघर्षके द्वारा विकास साधित करनेके लिये एक प्रकारका संगठन ही होता है, इससे अधिक कुछ नहीं। वह एक ऐसी शांति होता है जो, स्वयं अपने अंदर भी निरंतर विघटित होकर सिद्धांतों, विचारों, स्वार्थों, जातियों और वर्गोंके नये कलहका रूप धारण करती रहती है। वह एक ऐसा संगठन होता है जिसका आधार और केंद्र अनिश्चित स्थितिमें होते हैं क्योंकि वह उन अधूरे सत्योंपर आधारित होता है जो ह्रासको प्राप्त होकर पूर्ण असत्योंमें परिणत हो जाते हैं, परंतु उसमें अभीतक निरंतर सफलता प्राप्त करनेकी शक्ति है या रही है तथा वह अभीतक सबल रूपसे विकसित होने और भक्षण तथा आत्मसात् करनेमें समर्थ है या रही है। भारतीय संस्कृति सामंजस्यके एक ऐसे सिद्धांतको लेकर अग्रसर हुई जिसने एकतामें ही अपना आधार पानेकी चेष्टा की और उससे आगे किसी महत्तर एकत्वतक पहुंचनेका प्रयास किया। उसका ध्येय एक ऐसे स्थायी संगठनका निर्माण करना था जो संघर्षके तत्त्वको कम कर दे या यहांतक कि उसका बहिष्कार ही हो जाय। किंतु अंतमें वह वर्जन और विभाजनके द्वारा एवं एक निष्क्रिय स्थितिके द्वारा केवल एक प्रकारकी शांति और गतिहीन व्यवस्था ही ला सकी, उसने अपने चारों ओर सुरक्षाका एक ऐंद्रजालिक घेरा बना लिया और अपने-आपको सदाके लिये उसमें बंद कर दिया। अंतमें उसकी आक्रमण-शक्ति खो गयी, आत्मसात् करनेकी सामर्थ्य क्षीण हो चली और इसके फलस्वरूप अपनी चौहद्दीके भीतर ही ह्रासको प्राप्त होने लगी। जो सामंजस्य स्थितिशील और सीमाबद्ध होता है, जो न सदा विस्तृत होता है और न नमनीय, वह हमारी त्रुटिपूर्ण मानवीय अवस्थामें एक कारागार या निद्रागृह बन जाता है। सामंजस्य, अपने बाह्य रूपमें, एक अपूर्ण और सामयिक वस्तुके सिवा और कुछ नहीं हो सकता और वह अपनी जीवनी-शक्तिकी सुरक्षा तथा अपने अंतिम लक्ष्यकी पूर्ति केवल तभी कर सकता है जब वह सदा ही अवस्थानुसार परिवर्तित होता रहे, विस्तृत और विकसित

२

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

पहला अध्याय

जब हम किसी संस्कृतिका मूल्यांकन करनेका यत्न करते हैं, और जब वह संस्कृति ऐसी होती है जिसमें हम पल-पुसकर बड़े हुए हैं या जिससे हम अपने सर्वोपरि आदर्श ग्रहण करते हैं और इसलिये जिसकी त्रुटियोंको बहुत ही कम करके दिखला सकते हैं अथवा उसके जो पक्ष या मूल्य एक अनभ्यस्त दृष्टिको एकदम आकृष्ट कर लेंगे वे, अतिपरिचयके कारण, हमारी दृष्टिसे छूट भी सकते हैं—ऐसी दशामें यह जानना कि दूसरे लोग उसे किस दृष्टिसे देखते हैं सदा ही उपयोगी और मनोरंजक होता है। इसमें हम अपने दृष्टिकोणको बदलकर दूसरोंका दृष्टिकोण अपनाने नहीं जायेंगे, बल्कि इस प्रकारके अनुशीलनसे हमें एक नया प्रकाश मिल सकता है और उससे हमारे आत्मनिरीक्षणमें सहायता प्राप्त हो सकती है। परंतु एक विदेशी सभ्यता और संस्कृतिको देखनेकी कई अलग-अलग दृष्टियां होती हैं। एक दृष्टि होती है सहानुभूति और सबोधिकी तथा विषयवस्तुके साथ एकाकार होकर गभीर गुणान्वेषण करनेकी यह दृष्टि हमें बहन निवेदिताकी 'भारतीय जीवनका ताना-बाना' या श्रीफिल्डिंगकी बर्मा-विषयक पुस्तक या सर जान उड्रफकी तन्त्र-संबंधी पुस्तक जैसी कृति प्रदान करती है। ये ऐसे प्रयत्न हैं जो सभी ढकनेवाले पर्दोंको एक ओर हटाकर एक जातिकी आत्माको प्रकाशमें लानेके लिये किये गये हैं। यह बहुत संभव है कि ये हमें सभी निर्विवाद बाह्य तथ्य न दें, किंतु इनमें हमें एक ऐसी गभीरतर वस्तुका पता चलता है जिसमें एक महत्तर सत्य निहित होता है। उस वस्तुको हम यहां, जीवनकी न्यूनताओंके बीच, उसका जैसा रूप है उसमें नहीं पाते, बल्कि उसके आदर्श अर्थको पाते हैं। आत्मा, अर्थात् मूल आंतर स्वरूप एक वस्तु है और इस विषम मानवीय जगत्‌में वह आत्मा जो रूप ग्रहण करती है वे दूसरी चीज हैं और वे प्रायः ही अपूर्ण या विकृत होते हैं, यदि हम समग्र दृष्टि प्राप्त करना चाहें तो इन दोनोंमेंसे किसीकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर एक विवेकशील और निष्पक्ष आलोचककी दृष्टि है जो वस्तुको उसके मूल आशय और यथार्थ रूप दोनोंमें देखनेकी चेष्टा करती है, प्रकाश और छाया दोनोंका भाग निश्चित करने, गुण और दोष तथा सफलता और विफलताको तौलने, जो चीज गुणग्राही सहानुभूतिको

पक दृष्टिसे सपूर्ण रूपमें देख सके। परतु आर्चरके वर्णनमे तीन बाते है जो उसके कथनको दूषित बनाती हैं। प्रथम, इसके पीछे एक परोक्ष, एक राजनीतिक उद्देश्य था, यह इस भावको लेकर चला था कि भारतके स्व-शासनके दावेको क्षुण्ण या निर्मूल करनेके लिये उसे पूर्ण रुपसे बर्बर सिद्ध करना होगा। इस प्रकारका बाह्य उद्देश्य तुरत ही उसकी सारी बहसको गैरकानूनी बना देता है, क्योकि इसका तो अर्थ हुआ एक भौतिक स्वार्थकी सिद्धि-के लिये तथ्यको जानबूझकर निरतर विकृत करना, और यह चीज संस्कृतियोकी तुलना और समीक्षाके पक्षपातहीन बौद्धिक उद्देश्योके लिये सर्वथा विजातीय है।

वास्तवमें यह पुस्तक कोई समालोचना नही है, यह तो एक साहित्यिक या यू कहे कि एक अखबारी घूसेबाजी है। तिसपर भी यह अपने ढगकी अजीव है, यह तो भारतकी सामान्य बाहरी मूर्तिपर क्रोधपूर्वक घूसे जमाना है, मिथ्या वर्णन और अतिरजनका लबा और जोशीला नाच दिखाकर, अपनी मर्जीके मुताबिक उस पुतलेको ठोकर मार पटक देना है इस आशाप्ते कि अज्ञ दर्शकोको यह विश्वास हो जाय कि कौशल दिखानेवालेने एक बलशाली प्रतिपक्षीको चित कर दिया है। इनमें सुविचार, न्याय और सयमको तो बट्टे खाते डाल दिया गया है बस एक ही दृश्य दिखानेका उद्देश्य सामने रखा गया है और वह यह कि प्रहार-पर-प्रहार पडते हुए मालूम होने चाहियें और सो भी ऐसे जो दुर्घर्ष और धर्रा देने-वाले हो, और इस उद्देश्यके लिये कोई भी चीज उसकी दृष्टिमें उपयोगी बन जाती है,— तथ्योका उल्लेख बिलकुल गलत रूपमें किया गया है या फिर उनका एक भद्दा व्यग्य-चित्र उपस्थित किया गया है, अत्यत साधारण और निराधार सकेत ऐसी भाव-भगीके साथ सामने रखे गये हैं मानो वे सर्वथा प्रत्यक्ष ही हो, जहा कही बाहरी रूपमें बाजी मार ले जानेकी सभावना थी वहा ही अत्यत युक्तिविरुद्ध असगतियोको ग्रहण कर लिया गया है। यह सब किसी ऐसे जानकार समालोचककी क्षणिक मनमौज नही है जो मानसिक चिडचिडापनके दौरेसे पीडित है और उस चिडचिडाहटको बाहर निकालने और उससे मुक्त होनेके लिये एक ऐसे विषयके सबधमें, जिससे उसे सहानुभूति नही है, अपरिमित बौद्धिक कलाबाजी, दायित्वहीन कपोलकल्पना या शत्रुतापूर्ण रुद्र-नृत्य करनेको प्रेरित होता है। यह एक प्रकार-की अति है, जो कभी-कभी स्वीकार्य होती है और रोचक तथा मनोरजक हो सकती है। एक रोमन कविके कथनानुसार यथास्थान और यथासमय मूर्खकी नाई कार्य करना प्रिय और मधुर होता है (dulce est desipere in loco)। परतु मिस्टर आर्चरका निरतर च्युत होकर युक्तिविरुद्ध अतिमें जा गिरना किसी प्रकार भी यथास्थान (in loco) नही है। हमें बहुत शीघ्र पता चल जाता है कि उसके अनुचित उद्देश्य और स्वेच्छाकृत अन्यायके अतिरिक्त उसमें एक तीसरा प्रधान दोष है जो अत्यत निकृष्ट है और वह यह कि जिन चीजोको वह निश्चित रूपमें दोषावह घोषित कर रहा है उनके बारेमें वह अधिकाशमें कुछ भी नही जानता। उसने बस यही किया है कि भारतके विषयमे उस-

न था भी प्रतिकूल टिप्पणियां पढ़ रखी थीं उन सबको अपने मनमें इकट्ठा करके उनमें कहीं-कहीं अपनी धारणाएं जोड़कर उन्हें बढ़ा दिया है और इस हानिकारक एवं निःसार मिश्रणको अपनी मौलिक कृतिके रूपमें प्रस्तुत कर दिया है यद्यपि उसकी एकमात्र वास्तविक और निजी देन यह है कि उसे अपनी उधार ली हुई सम्मतियोंकी निश्चिततापर पूरा विश्वास और प्रसन्नता है। यह पुस्तक अपकारी होता है सच्ची समालोचनात्मक रचना नहीं।

स्पष्ट ही लेखकका दर्शनपर कुछ कहनेका जरा भी अधिकार नहीं था वह तो इसे मानव मनका दुरुपयोग कहकर इसकी निन्दा करता है और फिर भी भारतीय दर्शनके मूल्योंके विषयमें विस्तारपूर्वक एक नियम-व्यवस्थाका प्रतिपादन करता है। वह एक ऐसा युक्तिवादी था जिसकी दृष्टिमें धर्म एक भ्रम एवं मानसिक रोग है तर्क-बुद्धिके प्रति एक पाप है तथापि वह यहां धर्मोंके तुलनात्मक दावोंके बारेमें अपना निर्णय देता है ईसाईधर्मको प्राय विजयीका स्थान देता है और मालूम होता है इसका मात्र कारण यह है कि ईसाई लोग अपने धर्ममें गंभीरतापूर्वक विश्वास नहीं करते—पाठक हंसें नहीं इस पुस्तकमें यथोचित गंभीरताके साथ यह आश्चर्यजनक युक्ति दी गयी है—और फिर वह हिन्दू-धर्मको सबसे नीचे स्थान देता है। वह स्वीकार करता है कि संगीतके बारेमें वह कुछ कहनेके योग्य नहीं है फिर भी वह भारतीय संगीतको अत्यन्त हीन श्रेणीमें रखनेसे बाज नहीं आता। कला और स्थापत्यपर उसका मत अत्यन्त ही संकीर्ण कोटिका है परन्तु वस्तुओंके मूल्योंको निश्चित रूपसे बतानेमें वह बहुत ही उदार है। नाटक और साहित्यके विषयमें हम उससे कुछ अच्छी चीजोंकी आशा कर सकते थे परन्तु यहां उसकी कसौटियों और युक्तियोंकी विस्मयजनक तुच्छता देखकर हमें आश्चर्य होता है कि आगन्तुक नाटक और साहित्यिक आलोचकके रूपमें उसे प्रसिद्धि कैसे प्राप्त हो गयी हम समझते हैं कि या तो यूरोपीय साहित्यके विवेचनमें उसने एक अत्यंत भिन्न शैलीका प्रयोग किया होगा या फिर इंगलैंडमें इस प्रकारकी प्रसिद्धि प्राप्त करना अत्यन्त सहज होगा। सम्पोषक न जानने विश्वास-निश्चयसे जिन वस्तुओंका अध्ययन करनेकी उसने परवाह ही नहीं की उनपर बिना विचारे निर्णय देनेका दुःसाहस ही मानो उसे भारतीय संस्कृतिपर लिखने और इसे बर्बरताका स्तूप कहकर प्रामाणिक रूपसे खारिज कर देनेका न्याय्य अधिकार प्रदान करता है।

अतएव मिस्टर विलियम आर्चरकी ओर जो मैंने दृष्टि डाली है वह भारतीय सभ्यताके सम्बन्धमें एक युक्तियुक्त विरोधीका दृष्टिकोण या एक मानप्रद विरोधी आलोचनाका वर्णन करनेके लिये नहीं। फिर जो लोग किसी संस्कृतिमें पालितपोषित होते हैं वे ही उसकी कृतियोंका आभ्यंतरिक मूल्य आंक सकते हैं क्योंकि केवल वे ही उसकी आत्माके भीतर पूर्ण रूपसे पैठ सकते हैं। किसी विदेशी समालोचककी शरण भी हम ले सकते हैं पर केवल तुलनात्मक सम्मति स्थिर करनेमें सहायता पानेके लिये—और इस प्रकारकी सम्मति बनाना भी अनिवार्य रूपसे

आवश्यक होता है। परतु, इन चीजोके बारेमें यदि सुनिश्चित विचार बनानेके लिये हमें किसी कारण विदेशीय मतपर निर्भर करना भी पडे, तो यह स्पष्ट है कि प्रत्येक क्षेत्रमें हमें उन्ही लोगोकी ओर मुडना होगा जिन्हे उसके सबधमें कहनेका कुछ अधिकार हो। मेरे लिये इस बातका बहुत ही कम महत्त्व है कि मिस्टर आर्चर या डाक्टर गफ, या सर जान उड्रफके अज्ञातनामा अग्रेज प्रोफेसर भारतीय दर्शनके विषयमे क्या कह सकते है, मेरे लिये यही जानना काफी है कि इमर्सन या शोपनहावर या नीत्सेको,—जो इस क्षेत्रमें तीन सर्वथा भिन्न प्रकारके मनीषी है और तीनो ही अत्यत शक्तिशाली है,—अथवा कजिन और श्लीगल (Schlegel) जैसे विचारकोको इस विषयमें क्या कहना है, या फिर मेरे लिये यह देखना ही काफी है कि भारतीय दर्शनकी कुछ एक परिकल्पनाओका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ रहा है और प्राचीनतर यूरोपीय चिंतनमे भी विचारकी महान् समानातर धाराए थी और साथ ही अत्यत अर्वाचीन अनुसधान-अन्वेषणके परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान-के पोषक प्रमाण प्राप्त हो रहे है। न मै धर्म-विषयक समीक्षाके लिये मि हैरल्ड बेगबी (Harold Begbie) के पास जाऊगा और न अपनी आध्यात्मिकतापर फतवा लेनेके लिये किसी यूरोपीय नास्तिक या युक्तिवादीकी शरण लूगा, वरच यह देखूगा कि धार्मिक बोध और अनुभव रखनेवाले उदारचेता व्यक्तियोपर, जो इस विषयके एकमात्र निर्णायक हो सकते है, उदाहरणार्थ, टाल्स्टाय जैसे किसी आध्यात्मिक और धार्मिक विचारकपर, हमारे धर्म और आध्यात्मिकताकी क्या छाप पडी है। अथवा, यहातक कि थोडे बहुत पक्षपातकी अनिवार्य रूपसे गुजाइश स्वीकार करता हुआ मै इस विषयका भी परिशीलन कर सकता हू कि एक अधिक सुसस्कृत ईसाई मिशनरीका हमारे धर्मके सबधमें क्या वक्तव्य है—एक ऐसे धर्मके सबधमे जिसे वह अध और बर्बरतापूर्ण अधविश्वास कहकर खारिज तो नही कर सकता। कलामें मै एक औसत यूरोपवासीकी सम्मति जाननेकी ओर प्रवृत्त नही हूगा, क्योकि वह तो भारतीय स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिविद्याके मूल-भाव, आशय या शिल्प-कौशलके सबधमें कुछ भी नही जानता। इनमेंसे स्थापत्यके लिये मै फर्गुसन (Ferguson) जैसे किसी माने हुए अधिकारी विद्वान्का मत लूगा, फिर चित्रकला और मूर्तिविद्याके लिये यदि मिस्टर हैवेल (Havell) जैसे आलोचकोको पक्षपाती मानकर त्याग देना हो, तो कम-से-कम मै ओकाकुरा (Okakura) या मि लारेन्स बिनयन (Laurence Binyon) से तो कुछ-न-कुछ अवश्य सीख सकता हू। साहित्यके सबधमे मै थोडी दुविधामें पड जाऊगा, क्योकि मुझे स्मरण नही आता कि पश्चिमके किसी प्रतिभाशाली लेखक या समालोचकके रूपमें सुविख्यात समालोचकको सस्कृत साहित्य या प्राकृत भाषाओका किसी प्रकारका सीधा, मूललब्ध ज्ञान हो, और अनुवादोंके आधारपर किया गया निर्णय केवल मूलभावका ही विवेचन कर सकता है,—और वह भी भारतीय कृतियोंके अधिकतर अनुवादोंमे केवल निर्जीव भाव ही है जिसमेंसे जीवनी-शक्ति पूर्ण रूपसे विलुप्त हो गयी है। तथापि,

यहां भी भाकुंडसपर गेटेकी सुप्रसिद्ध रुसमय लघु-कवितामात्र गुणो यह दिखानेके लिये काफी होगी कि समस्त भारतीय इतियां यूरोपीय रचनाकी तुलनामें अर्थस्पतापूर्ण हीन कोटिकी नहीं है। और शायद यहां-वहां हमें कोई ऐसा विद्वान् भी मिल जाय जिसमें कुछ साहित्यिक रुचि और निर्णय-शक्ति दोनों हों—यद्यपि इन दोनोंका संयोग कोई अत्यंत साधारण वस्तु नहीं है—और ऐसा व्यक्ति हमारे लिये सहायक होगा। निःसंदेह इस प्रकारका और सफल हमें मूल्योंकी एक पूर्णतः विश्वसनीय योजना तो नहीं देगा पर कम-से-कम गफों आर्चरों और बेगबियों (Goughs, Archers and Begbies) की नीची भूमिपर रहने वाली जातिकी शरण लेनेकी अपेक्षा हम अधिक सुरक्षित रहेंगे।

इसपर भी यदि मैं इन साहित्य प्रवर्तक रचनाओंकी ओर ध्यान देना आवश्यक या उपयोगी समझता हूं तो यह किसी और ही उद्देश्यके लिये। किंतु उस उद्देश्यके लिये भी मिस्टर आर्चर जो कुछ लिखते हैं वे सब बातें उपयोगी नहीं हैं उनमेंसे बहुत-सी बातें तो इतनी मयुक्तियुक्त असंबद्ध या अविवेकपूर्ण सुझाव देती हैं कि व्यक्ति केवल उनपर नजरभर डालकर आगे बढ़ सकता है। उदाहरणके लिये जब वह अपने पाठकोंको यह विश्वास दिलाता है कि भारतीय दार्शनिकोंके विचारमें टांगपर टांग रखकर बैठना और अपनी नाभिपर ध्यान लगाना ही विश्वके सत्यको जाननेका सर्वोत्तम मार्ग है और उनका वास्तविक लक्ष्य आलस्यपूर्ण अकर्मण्यता तथा धर्मात्माओंकी भिक्षापर निर्वाह करना ही होता है तब आत्म-समाहित ध्यानके केवल एक आसनका इस प्रकार वर्णन वह इस उद्देश्यसे करता है कि उसके अंग्रेज पाठकोंकी बुद्धिमें यह बात जमकर बैठ जाय कि स्वयं ध्यानका वास्तविक स्वरूप जड़ मूढ़ता और स्वार्थपूर्ण आलस्य ही होता है। यह उसकी विवेक-शून्यताका एक दृष्टांत है जो पूर्व स्वयं उसके अपने युक्तिवादी मनके पंखोंको फैलानेमें सहायता पहुंचाता है किंतु इसके सिवा उसका और कोई उपयोग नहीं। जब वह यह माननेसे इनकार करता है कि हिंदूधर्ममें किसी प्रकारकी वास्तविक नैतिकताका अस्तित्व है अथवा यह कहता है कि हिंदूधर्मने कभी यह दावा नहीं किया कि नैतिक शिक्षण भी इसका एक कार्य है (ये दोनों ही कथन उल्टे ठीक विपरीत हैं) जब वह इससे भी आगे बढ़कर यहांतक कह डालता है कि हिंदूधर्म हिंदू जातिमें स्वाभाविक ही भ्रष्टाचार है और जब यह बात 'जो कुछ भी' राष्ट्रीय और अस्वास्थ्यकर है उसकी ओर एक उदात्त प्रवृत्तिको सूचित करती है तब इससे हम केवल यही परिणाम निकाल सकते हैं कि मिस्टर विलियम आर्चरने जिन नैतिक गुणोंको आचरणमें लाना आवश्यक समझा था उनमें सत्यभाषण शामिल नहीं है या कम-से-कम यह किसी युक्तिवादीकी धर्म संबंधी आलोचनाका कोई आवश्यक अंग नहीं है।

परन्तु नहीं यह सब होते हुए भी मि आर्चर सत्यकी वेदीपर अनिच्छापूर्वक अपनी भेंट अवश्य चढ़ाते हैं क्योंकि वह उसी सांसमें यह भी स्वीकार करते हैं कि हिंदूधर्म सदाचारकी बात अधिक चर्चा करता है और वह मानते हैं कि हिंदू ग्रंथोंमें सदाचारके विषयमें बहुतसे

सराहनीय सिद्धांत है। परंतु यह बात तो केवल यह सिद्ध करती है कि हिंदू दर्शन तर्क-विरुद्ध है,—नैतिकताका वर्णन उसमें अवश्य है, पर वह होना नहीं चाहिये, इसका वहां होना मि आर्चरके विषयके अनुकूल नहीं। बलिहारी है! युक्तिवादके इस योद्धाका तर्क और युक्तिसंगतता देखते ही बनती है! साथ ही, यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि हिंदूजातिकी एक प्रधान धर्मपुस्तक मानी जानेवाली रामायणपर उसका एक आक्षेप यह है कि इसके आदर्श पात्र, राम और सीता, जो उच्चतम भारतीय पुरुषत्व और नारीत्वके प्रबल दृष्टांत है, उसकी रुचिके लिये आवश्यकतासे अत्यंत ही अधिक पुण्यात्मा है। राम इतने अधिक साधु स्वभावके है कि मानवप्रकृतिकी पहुचके परे है। सच पूछो तो मुझे नहीं मालूम कि राम ईसा या सेंट फ्रांसिससे अधिक साधुप्रकृति है, मेरे मनमें तो सदा यही विचार आता रहा है कि ये मानव-प्रकृतिकी परिधिके भीतर ही है, किंतु शायद यह समालोचक इसका यह उत्तर देगा कि चाहे ये मानव-परिधिके परे न भी हों तो भी इनके अपरिमित गुण, कम-से-कम, हिंदू मतके नित्य कर्मोंकी ही भांति—उदाहरणार्थ, हम कह सकते है कि सावधानीके साथ बाहरी पवित्रता और व्यक्तिगत स्वच्छता बनाये रखना तथा प्रतिदिन पूजा और ध्यानके द्वारा ईश्वरकी ओर मन लगाना आदि कर्मोंकी भांति—"उन्हें सभ्यताके घेरेसे बाहर बैठानेके लिये पर्याप्त है।" क्योंकि, वह हमे बताता है कि सतीत्व और पतिव्रता-धर्मकी प्रतिमूर्ति सीतामें अपने इस गुणकी इतनी अधिकता है कि वह "अनैतिकताकी सीमातक पहुच जाती है।" निरर्थक उग्र वक्तव्य जब इस प्रकार मूर्खताकी सीमाको छू देता है तब समझो कि वह अपनी चरम सीमाको पहुच गया है। मुझे 'मूर्ख'की उपाधिका व्यवहार करते हुए उसी तरह खेद हो रहा है जिस तरह भारतकी "बर्बरता"का राग अलापते हुए मि आर्चरको होता है। परंतु वास्तवमें और कोई चारा ही नहीं है, "यही उपाधि इस स्थितिका सच्चा स्वरूप प्रकट करती है।" यदि सभी बातें इसी श्रेणीकी होतीं,—इस श्रेणीकी चीजोंकी ही बहुतायत है और यह शोचनीय है,—तो घृणापूर्ण मौन ही एकमात्र संभव उत्तर होता। परंतु भाग्यवश अपोलो अपना धनुष सदा इस प्रकार ही नहीं खींचता कि टूटनेकी नौबत आ जाय, मि आर्चरके भी सभी बाण इस प्रकारकी लंबी उड़ान भरनेवाले नहीं है। उसकी रचनामें ऐसी बातें भी बहुत सी है जो एक भद्दे ढंगसे पर फिर भी काफी ठीक रूपमें यह प्रकट करती है कि एक सामान्य पश्चिमी मन भारतीय संस्कृतिकी अनुपम विशेषताओंपर प्रथम दृष्टिपात करते ही कैसी जुगुप्सा अनुभव करता है और यह एक ऐसी बात है जो ध्यान देने और तौलकर देखने लायक है, इसे समझना और इसका मूल्य जानना आवश्यक है।

यही उस पुस्तककी उपयोगिता है जिसे मै ग्रहण करना चाहता हू, क्योंकि यह एक उपयोगिता ही नहीं बल्कि इससे भी अधिक कुछ है। औसत मनुष्यके मनके द्वारा ही हम सर्वोत्तम रूपसे उन मनोवैज्ञानिक भेदोंकी तहतक पहुच सकते है जो हमारी सामान्य मानवता-के बड़े-बड़े समुदायोंको एक-दूसरेसे अलग करते हैं। एक सुसंस्कृत मनुष्यकी प्रवृत्ति इन

पक्षपातोंका बल कम करने या कम-से-कम भेद और विरोधमें भी साम्य या संबंधके सूत्रका विकास करनेकी ओर होती है। औसत मनुष्यके मनमें हम इन भेदोंको इनके स्वाभाविक रूपमें देखनेका सुयोग प्राप्त करते हैं और वहीं हम इनकी पूरी शक्ति और अभिप्रायका ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकते हैं। यहां हमें मि आर्चरसे जो सहायता मिलती है वह सराहनीय है। इसका अर्थ यह नहीं कि अपनी अभीष्ट वस्तुतक पहुंचनेके लिये हमें बहुत अधिक कूड़ा-करकट साफ नहीं करना पड़ेगा। मैं तो मतभेदकी एक ऐसी पुस्तिकाका विवेचन करना अधिक पसंद करता जिसका क्षेत्र इतना ही व्यापक होता पर जिसके वर्णनमें सच्चाई और सरलता तो अधिक होती और धृष्टतापूर्ण भाषाकी तथा अमानवीय विद्वेष कम किंतु ऐसी कोई पुस्तिका प्राप्य ही नहीं है। अतएव हम मि आर्चरकी पुस्तिकाको ही लें और उनकी कुछेक पक्षपातपूर्ण धारणाओंका विश्लेषण करके उनके भीतर मनोभावतक पहुंचनेका यत्न करें। तब संभवतः हमें पता चलेगा कि इस सब अप्रिय और भद्दी सामग्रीके द्वारा हम दो महाद्वीपोंके एक ऐतिहासिक मतभेदके सारमर्मतक पहुंच सकते हैं। यहांतक कि उसका यथार्थ बोध हमें एक प्रकारके समन्वयकी ओर अग्रसर होनेमें सहायता भी पहुंचा सकता है।

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

दूसरा अध्याय

सबसे पहले इस बातका ठीक-ठीक विचार कर लेना अत्युत्तम होगा कि जिस समालोचकसे हम सास्कृतिक विरोधोका आनुमानिक ज्ञान प्राप्त करने जा रहे हैं वह किस श्रेणीका है। हमारे सामने जो विचार हैं वे भारतीय सस्कृतिपर एक औसत और ठीक पाश्चात्य मनके हैं, ऐसे मनुष्यके हैं जो काफी शिक्षित और बहुत अधिक पढा हुआ तो है पर उसमें कोई प्रतिभा या असाधारण क्षमता नही है, हैं केवल साधारण कोटिकी सफलीभूत योग्यता, उसके मनमें न तो नमनीयता है न उदार सहानुभूति, हैं कुछ निश्चित किये हुए कठोर मत, जिन्हें वह प्रभावशाली ढगसे नाना प्रकारकी, पर सर्वदा सही-सही नही, जानकारियोका व्यवहार करनेकी अपनी आदतके द्वारा पुष्ट करता और वजनदार बनानेकी चेष्टा करता है। यही वास्तवमें कुछ योग्यता रखनेवाले औसत अग्रेजकी दृष्टि और मनोवृत्ति है जो पत्रकारिताका अभ्यास करते-करते बनती है। यह ठीक वही चीज है जिसे हम चाहते हैं ताकि हम उस विरोध-भावके स्वरूपको समझ सके जिससे प्रेरित होकर मि रुडयार्ड किपलिंग (Rudyard Kipling) ने,—जो स्वय एक महा-पत्रकार (Super-journalist) और एक "बढे-चढे अस्वाभाविक" औसत मनुष्य हैं, एक प्रकारकी गदी और बर्बर प्रतिभाकी चमचमाहटसे ऊपर उठे हुए, पर फिर भी अपनी कक्षाके भीतर ही बने रहनेवाले औसत मनुष्य हैं,—यह मत स्थापित किया है कि पूर्व और पश्चिमका विरोध चिरदिन बना रहेगा। अब हम जरा यह देखें कि भारतीय मन और इसकी सस्कृतिमें वह कौन-सी चीज है जो ऐसी मनोवृत्तिको विलक्षण और घृणास्पद प्रतीत होती है यदि हम समस्त व्यक्तिगत राग-द्वेषकी भावनाको त्यागकर निष्पक्षभावसे इस विषयको देखें तो हमें पता चलेगा कि इसका अनुशीलन मनोरजक और ज्ञानप्रद है।

इस बातपर एक प्रकारका आक्षेप किया जा सकता है कि हमने इस विषयके अध्ययनके लिये राजनीतिक पक्षपातसे युक्त एक युक्तिपथी आलोचकको, उस वर्तमानके एक मनको, जो अब भूतकाल बन रहा है, इतने व्यापक क्षेत्रके प्रतिनिधिके रूपमें क्यो चुना है, क्योकि ऐसे आलोचकका मन, अधिक-से-अधिक, एक क्षणस्थायी वर्तमानमें ही सबब रखता

अपने-आपको तीन रूपोमे प्रकट करती है। उसका एक रूप होता है विचार, आदर्श, ऊर्ध्व-मुख सकल्प और आत्मिक अभीप्साका, दूसरा रूप है सर्जनशील आत्म-अभिव्यजनाकी शक्ति और गुणग्राही सौदर्यबोधका, मेघा और कल्पनाका, और तीसरा होता है व्यावहारिक और वाह्य रूप-सघटनका। किसी जातिका दर्शन और उच्चतर चिंतन हमारे सामने उसकी जीवन-विषयक चेतना और जगत्-विषयक सक्रिय दृष्टिका एक अत्यत शुद्ध और उसके मनके द्वारा गठित विस्तृत और व्यापक रूप उपस्थित करता है। उसका धर्म उसके ऊर्ध्वमुख सकल्पके तीव्रतम रूपको प्रकट करता है, उसके सर्वोच्च आदर्श और सवेगकी परिपूर्तिके लिये उठनेवाली उसकी आत्माकी अभीप्साको अभिव्यक्त करता है। उसकी चित्र-कला, उसका काव्य और साहित्य हमारे समक्ष उसकी सबोधि, कल्पना, प्राणिक प्रवृत्ति और सृष्टिक्षम बुद्धिकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति और विशेषता प्रस्तुत करते हैं। उसका समाज और राजनीति अपने रूपोमे हमें एक वाह्य ढाचा प्रदान करती है जिसमें वाह्यतर जीवन उसके अनुप्रेरक आदर्श और उसके विशेष स्वभाव और चारित्र्यको, पारिपार्श्विक कठिनाइयो-के अधीन, यथाशक्ति कार्यान्वित करता है। हम देख सकते है कि जीवनके स्थूल उपादान-का कितना अश उस जातिने अपने हाथमे लिया है, उसके साथ इसने क्या व्यवहार किया है, किस प्रकार उसने इस उपादानके यथासभव अधिकतम भागको अपनी मार्गदर्शक चेतना और गभीरतर आत्माकी किसी प्रतिमूर्त्तिमें परिणत कर डाला है। उसके धर्म, दर्शन, कला और समाज आदिमेंसे कोई भी पीछे अवस्थित आत्माको पूर्ण रूपसे प्रकाशित नही करता किंतु वे सभी अपने मुख्य विचार और अपनी सास्कृतिक विशेषता उसीसे ग्रहण करते हैं। वे सब मिलकर उसकी आत्मा, मन और देहका गठन करते हैं। भारतीय सभ्यतामे दर्शन और धर्म—धर्मद्वारा क्रियाशील बना हुआ दर्शन और दर्शनद्वारा आलोकित धर्म—ही नेतृत्व करते आये हैं और शेष सभी चीजें (कला, काव्य आदि) यथासभव उत्तम रूपमें उनका अनुसरण करती रही हैं। नि सदेह, भारतीय सभ्यताकी पहली विलक्षण विशेषता यही है। यह विशेषता अधिक उन्नत एशियाई जातियोमें भी पायी जाती है, किंतु भारतीय सभ्यताने इसे सर्वांगपूर्ण व्यापकताकी असाधारण सीमातक पहुचा दिया है। जब उसे 'ब्राह्मणोकी सभ्यता' के नामसे पुकारा जाता है तब उसका वास्तविक अभिप्राय यही होता है। इस नामका सच्चा अर्थ किसी प्रकारके पुरोहितवादका आधिपत्य कभी नही हो सकता यद्यपि भारतीय संस्कृतिके कुछ हीनतर रूपोमें पुरोहितवादी मन आवश्यकतासे अत्यधिक प्रधान रहा है, क्योकि संस्कृतिकी महान् धाराओका निर्माण करनेमें उस तरह पुरोहितका कोई हाथ नही रहा। परतु यह सत्य है कि इसके प्रधान प्रेरक भावोको दार्शनिक विचारको और धार्मिक मनीषियोने ही रूप प्रदान किया है,—और वे सबके सब ब्राह्मण-कुलमें ही नही उत्पन्न हुए थे। यह ठीक है कि एक ऐसे वर्गका विकास हुआ है जिसका काम जातिकी आध्यात्मिक परपराओकी, उसके ज्ञान तथा पवित्र शास्त्रकी रक्षा करना था,—क्योकि यही

ब्राह्मणका वास्तविक कार्य था न कि केवल पुरोहिताईका व्यवसाय —और यह भी सत्य है कि यह वर्ग सहस्रों वर्षोंतक जातीय मन और अंतःकरणके संरक्षण और सामाजिक सिद्धांतों और आचार-व्यवहारोंके मार्गदर्शनका अधिकांश कार्य करता रह सका पर फिर भी इसने उसपर अपना एकाधिकार स्थापित नहीं किया पर यह तथ्य तो केवल एक विशिष्ट बातका सूचक है। इसके पीछे विद्यमान यथार्थ बात यह है कि भारतीय संस्कृति आरंभसे ही एक आध्यात्मिक एवं अंतर्मुख धार्मिक-दार्शनिक संस्कृति रही है और बराबर ऐसी ही बनी आयी है। उसमें और जो कुछ भी है वह सब इस एक प्रधान और मौलिक विशेषतासे ही उद्भूत हुआ है अथवा वह किसी न किसी प्रकार इसपर आश्रित या इसके अधीन ही रहा है यहां-तक कि बाह्य जीवनको भी आत्माकी आभ्यंतरिक दृष्टिके ही अधीन रखा गया है।

हमारे समालोचकने इस केंद्रीय बातका महत्व समझा है और इसे अपने अत्यंत उद्धत आक्रमणका लक्ष्य बनाया है अन्य क्षेत्रोंमें वह कुछ रियायतें कर सकता है आक्षेपोंको हलका कर सकता है पर यहां वह ऐसी कोई चीज नहीं कर सकता। यहां तो प्रधान विचारों और उद्देश्योंके निज स्वरूपके ही कारण सब कुछ किसी सच्चे हितके लिये बुरा और हानिकारक है अथवा घातक नहीं तो बेकार अवश्य है। यह एक महत्वपूर्ण मनोवृत्ति है। इसमें संदेह नहीं कि इसके साथ एक विवादात्मक उद्देश्य भी विद्यमान है। भारतीय मन और इसकी सभ्यताके संबंधमें हम जिस चीजका दावा करते हैं वह है एक उच्च आध्यात्मिकता एक ऐसी आध्यात्मिकता जो चिंतन और धर्मके सभी शिखरोंपर उच्च-ताको पहुंची हुई है जो कला और साहित्यमें तथा धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक विचारों-में व्यापी हुई है और यहांतक कि साधारण मनुष्यके जीवनविषयक मनोभावपर भी प्रभाव डालती है। यदि इस दावेको स्वीकार कर लिया जाय जैसा कि इस सभी सहानुभूतिपूर्ण और निष्पक्ष जिज्ञासु जीवन-संबंधी भारतीय दृष्टिकोणको न मानते हुए भी स्वीकार करते हैं तब तो भारतीय संस्कृतिकी स्थिति सुदृढ़ हो जाती है भारतीय सभ्यताको जीनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। और साथ ही इसे युक्तिपंथी आधुनिकतावादको चुनौती देने और यह कहनेका अधिकार भी प्राप्त हो जाता है कि "पहले तुम आध्यात्मिकताके उस स्तरतक पहुंचो जहांतक मैं पहुंची हुई हूं उसके बाद कहीं तुम मुझे भ्रष्ट एवं पदच्युत करने या मुझसे यह अनुरोध करनेका दावा कर सकते हो कि मैं अपनेको तुम्हारी ही भावनाके अनुसार पूर्ण रूपसे आधुनिक बना लूं। इस बातकी कोई परवाह नहीं कि स्वयं मैं हालमें अपनी चोटि-योंसे नीचे गिर पड़ी हूं अथवा मेरे वर्तमान विधि-विधान मानवताके भावी मनकी सभी आव-श्यकताओंको पूरा नहीं कर पाते मैं फिरसे ऊपर चढ़ सकती हूं शक्ति तो मुझमें है ही। संभवतः फिर मैं एक आध्यात्मिक आधुनिकतावादका विकास करनेके योग्य भी बन सकती हूं जो तुम्हें अपने-आपको अतिक्रम करने तथा एक बृहत्तर सामंजस्यतक पहुंचनेके प्रयत्नमें सहा-यता पहुंचायगा और भूतकालमें तुमने जो सामंजस्य प्राप्त किये हैं या वर्तमानमें तुम जितनी

कल्पना कर सकते हो उन सबकी अपेक्षा वह सामजस्य कही अधिक महान् होगा।" विद्वेष-पूर्ण समालोचक अनुभव करता है कि उसे इस दावेका जड-मूलसे खडन करना होगा। वह भारतीय दर्शनको अध्यात्महीन दर्शन तथा भारतीय धर्मको लकडी-पत्थर पूजनेवाला तर्क-विरोधी और भयकर अजूबा सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। उसका यह प्रयत्न सत्यको सिरके बल खडा करके इस बातके लिये विवश करता है कि वह तथ्योको बिलकुल उलटे रूपमें देखे, इस प्रयत्नमें वह विरोधाभासपूर्ण मूर्खता और असगत प्रलापके धरातलपर उतर आता है जो महज अत्युक्ति ही के कारण उसके पक्षको निर्मूल कर डालते है। परतु इस गडबडझालेसे भी दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं जो सर्वथा स्वाभाविक हैं। प्रथम, हम यह पूछ सकते है कि जीवनसबधी आध्यात्मिक एव धर्मप्रधान-दार्शनिक दृष्टिकोण और उसीके विचारो एव प्रेरणाओंके द्वारा सभ्यताका नियत्रण और जीवनसबधी युक्तिवादी और बहिर्मुख दृष्टि-कोण तथा बौद्धिक और व्यावहारिक तर्कके द्वारा नियत्रित प्राणिक सत्ताका सुखोपभोग इन दोनोमेंसे कौन मनुष्यजातिका सर्वोत्तम मार्गदर्शक हो सकता है। और जीवनसबधी आध्या-त्मिक दृष्टिकोणका मूल्य और प्रभाव स्वीकार करते हुए हम पूछ सकते है कि क्या भारतीय सस्कृतिने इसे जो रूप प्रदान किया है उससे उत्तम रूप और कोई नही हो सकता और क्या वही मानवजातिके लिये उसके उच्चतम स्तरकी ओर विकसित होनेमें सर्वाधिक सहायक है। इस एशियाई या प्राचीन मानस और यूरोपीय या आधुनिक बुद्धिके बीच ये ही वास्तविक विवादास्पद प्रश्न है।

ठेठ पाश्चात्य मन आज भी अठारहवी और उन्नीसवी सदियोकी मनोवृत्तिको सुरक्षित रखे हुए है और यह प्राय पूर्णतया दूसरे दृष्टिकोणसे ही गठित है, यह प्राणात्मवादी बौद्धिक विचारके साचेमें ढला हुआ है। यूनानी-रोमन सस्कृतिके एक छोटेसे कालको छोडकर और कभी भी इसकी जीवन-विषयक भावना जगत्-सबधी दार्शनिक दृष्टिकोणसे नियत्रित नही हुई और उस कालमें भी वह नियत्रण चिंतनशील और सुसस्कृत विचारकोंके एक छोटेसे वर्गतक ही सीमित था, वैसे इसकी जीवन-भावनापर सदा ही परिस्थितिजन्य आवश्यकता और व्याव-हारिक बुद्धिका ही प्रभुत्व रहा है। साथ ही, यह उन युगोको भी पार कर आया है जिनमें पूर्वसे आकर आध्यात्मिक और धार्मिक विचारोने इसपर आक्रमण किया तथा इसकी प्राणात्म-वादी एव तर्कप्रधान प्रवृत्तिपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा की, इसने व्यापक रूप-में उनका निराकरण किया या फिर उन्हे एक कोनेमें ढकेल दिया। इसका धर्म है जीवनका धर्म, पृथ्वी और पार्थिव मानवताका धर्म, बौद्धिक विकास, प्राणिक दक्षता, शारीरिक स्वास्थ्य और उपभोग, एक युक्तिसगत समाज-व्यवस्थाका आदर्श। यह मन भारतीय सस्कृतिके सम्मुख उपस्थित होते ही एकदम उससे पीछे हट आता है, इसका पहला कारण तो यह है कि वह इसके लिये अपरिचित और नवीन प्रतीत होती है, दूसरे, इसे उसमें एक तर्कविरुद्ध असामान्यताका अनुभव होता है तथा उसका दृष्टिकोण अपने दृष्टिकोणसे पूर्णतया भिन्न और

प्रायः एकदम विपरीत मालूम होता है और तीसरे, उसमें इसे दुर्बोध विधि-विधानोंकी अधिकता और बहुलता दिखायी देती है। ये विधि-विधान इस अतिप्राकृतिक तत्त्वोंसे और अतएव इसके विचारके अनुसार, मिथ्या तत्त्वोंसे परिपूर्ण दिखायी देते हैं। यहांतक कि इसके विचारमें इनके अंदर अस्वाभाविक चीजें भी विद्यमान हैं, इनमें सर्वसामान्य आदर्श यथार्थ विधि और युक्तियुक्त साधनका बार-बार उल्लंघन किया गया है, इनमें वस्तुओंका एक ऐसा ढांचा है जिसके अंदर, मि चेस्टरटन (Chesterton) के शब्दोंमें प्रत्येक चीजका आकार ही गलत है। अस्वाभाविक पुराना कट्टर ईसाई दृष्टिकोण इस संस्कृतिको एक नारकीय वस्तु किंवा दानवीय रचना समझेगा, आधुनिक कट्टर युक्तिपंथी दृष्टिकोण इसे एक ऐसा ढांचा समझता है जो तर्कहीन ही नहीं वरन् तर्कविरोधी भी है, वह इसे एक विकराल वस्तु, पुरानी विशृंखला अथवा अधिक-से-अधिक पूर्वके भूतकालका एक अलंकारपूर्ण मनमौजी मान मानता है। निःसंदेह यह एक चरम मनोवृत्ति है—यह मि आर्चरकी है—पर नासमझी और कुरुचि ही इसका नियामक विधान है। जो मनुष्य समझने तथा सहानुभूति प्रकट करनेका यत्न करते हैं उनमें भी हम निरंतर इन भावोंके चिह्न पाते हैं, किंतु एक सामान्य पश्चिमवासीके लिये जो अपने प्रथम अपरिपक्व स्वाभाविक संस्कारोंसे ही संतुष्ट रहता है सब कुछ एक भूपाकार गड़बड़झाला ही है। उसके निकट भारतीय दर्शन एक दुर्बोध्य और सूक्ष्म शास्त्रीय कल्पना-जाल है, भारतीय धर्म उसकी दृष्टिको मूर्खतापूर्ण वैराग्य तथा उससे भी अधिक मूर्खतापूर्ण स्थूल अनैतिक और अंधविश्वासपूर्ण बहुदेवतावादका मिश्रण प्रतीत होता है। भारतीय कलामें उसे स्थूलता विकृत या स्वच्छंद रूपोंका और अनंत सत्ता-संबंधी निरर्थक असंभव अनुसंधानका उन्माद दीखता है—जब कि समस्त सच्ची कला-को स्वाभाविक और सादगी ही सुंदर और युक्तियुक्त प्रतिकृति या उत्कृष्ट कल्पनात्मक प्रतिमूर्ति होना चाहिये। वह भारतीय समाजकी उन चीजोंकी निंदा करता है जो पुरानी दुनिया और मध्ययुगके विचारों और विधि-व्यवस्थाओंके काल-विरोधी एवं अर्द्ध-बर्बर अवशेष हैं। हाल ही में इस विचारमें कुछ परिवर्तन आया है और यद्यपि इस भाव कुछ कम ऊंचे स्वरमें तथा कम विश्वासके साथ प्रकट किया जाता है तथापि यह अभीतक जीवित है। और यही है मि आर्चरके निंदापूर्ण वक्तव्यका संपूर्ण आधार।

भारतीय सभ्यतापर उसने जितने भी आक्षेप किये हैं उन सबके स्वरूपसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। जब तुम उनपरसे पक्षपातोचित असंस्कारोंका पर्दा हटाओगे तो तुम्हें पता चलेगा कि वे आधार एक ऐसी संस्कृतिके प्रति बहिर्मुख प्राण एवं व्यावहारिक मनुष्यके इस स्वाभाविक विरोधसे ही चालित होते हैं जो सुनिश्चित अतिबौद्धिक आध्यात्मिकताके तथा जीवन और कर्मको उससे अधिक महान् किसी वस्तुके लोकके अधीन रखती है। दर्शन और धर्म भारतीय संस्कृतिकी आत्मा हैं, इन्हें एक-दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता और साथ ही ये एक-दूसरेके अंदर व्याप्त भी हो गये हैं। भारतीय दर्शनका संपूर्ण ध्येय इसने

अस्तित्वका संपूर्ण हेतु ही (Raison d'être) है आत्माका ज्ञान प्राप्त करना, उसे अनुभव करना तथा आध्यात्मिक जीवनका यथार्थ मार्ग उपलब्ध करना, इसका अनन्य लक्ष्य धर्मके उच्चतम सारमर्मसे एकदम मिलता-जुलता है। भारतीय धर्म अपना सारा विशिष्ट मूल्य-महत्त्व आध्यात्मिक दर्शनसे ही प्राप्त करता है, जो उसकी परमोच्च अभीप्साको आलोकित करता है और यहांतक कि धार्मिक अनुभवके निम्न स्तरसे आहरण की हुई वस्तुओंमेंसे भी बहुतोंको अपने रंगमें रंग देता है। परंतु मि आर्चरके आक्षेप हैं क्या? सर्वप्रथम, भारतीय दर्शनपर उसके क्या आक्षेप हैं? उसका पहला आक्षेप केवल यह है कि यह अत्यधिक दार्शनिक है। उसका दूसरा आरोप यह है कि उस निकम्मी चीज, तत्त्वज्ञानात्मक दर्शन, के रूपमें भी यह अतीव आध्यात्मिक है। उसका तीसरा दोषारोपण—जो अत्यंत निश्चयात्मक है तथा युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है—यह है कि निराशावाद, वैराग्यवाद, कर्म और पुनर्जन्मकी मिथ्या धारणाओंके द्वारा यह व्यक्तित्व तथा संकल्पशक्तिको क्षीण और विनष्ट कर देता है। इनमेंसे प्रत्येक श्रेणीके आक्षेपके अंतर्गत उसने जो आलोचना की है उसपर विचार करनेसे हमें ज्ञात होगा कि वास्तवमें वह कोई निष्पक्ष बौद्धिक आलोचना नहीं है, बल्कि मानसिक घृणा और स्वभाव तथा दृष्टिकोणके आधारभूत भेदकी एक अतिरंजित अभिव्यक्ति है।

मि आर्चर इस बातसे इन्कार नहीं कर सकते कि दार्शनिक चिंतनमें भारतीय मानसने अनुपम कार्य और सफलता प्रदर्शित की है, इस बातसे यदि उन्होंने इन्कार किया तो वे मूर्खतापूर्ण स्थापनाएं करनेकी अपनी अतुलनीय क्षमताकी सीमाको भी लांघ जायंगे। वे इस बातसे इन्कार नहीं कर सकते कि तत्त्वज्ञानसंबंधी विचारोंकी अभिज्ञता तथा किसी तत्त्वज्ञानविषयक समस्यापर कुछ सूक्ष्मताके साथ विचार करनेकी क्षमता किसी अन्य देशकी अपेक्षा भारतमें अत्यधिक व्यापक रूपसे पायी जाती है। यहांतक कि भारतका एक साधारण बुद्धिशाली व्यक्ति इस प्रकारके प्रश्नोंको समझ सकता तथा इनका विवेचन कर सकता है जब कि उसीके समान सस्कृत और योग्य एक पश्चिमी विचारक अपने-आपको उसी प्रकार एकदम उथला अनुभव करेगा जिस प्रकार हमें इन पृष्ठोंमें मि आर्चर दीख पड़ते हैं। परंतु वे इस बातसे इन्कार करते हैं कि यह अभिज्ञता और यह सूक्ष्मता "आवश्यक रूपसे" महान् मानसिक क्षमताका एक प्रमाण है—मेरी समझमें उन्होंने "आवश्यक रूपसे" ये शब्द इसलिये जोड़ दिये हैं कि कोई उनपर यह दोष न लगा बैठे कि आपके कथनानुसार तो प्लेटो, स्पिनोजा या बर्कलेने भी कोई महत् मानसिक क्षमता नहीं प्रकट की। हां तो, शायद यह "आवश्यक रूपसे" कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, परंतु प्रश्नोंकी एक महान् परंपरामें, मनकी शक्तियों और रुचियोंके एक विस्तृत और विशेष कठिन क्षेत्रमें यह अभिज्ञता और सूक्ष्मता एक अद्भुत और अनुपम व्यापक विकासको अवश्य प्रदर्शित करती है। अर्थशास्त्र और राजनीतिके प्रश्नोंपर अथवा, जहांतक मैं जानता हूं, कला, साहित्य और नाटकपर कुछ

विचारोंकी निपुणताके साथ विचार करनेकी यूरोपीय पत्रकारकी क्षमता "आवश्यक रूपसे" किसी महत् मानसिक क्षमताका प्रमाण नहीं है, हां, सामान्य रूपसे यूरोपीय मनके महान् विकास, अपने कर्मके इन क्षेत्रोंमें उसकी व्यापक अभिज्ञता तथा स्वाभाविक क्षमताको यह अवश्य प्रदर्शित करती है। उसकी सम्मतियोंकी स्थूलता और अपने विषयोंका उसका सिर्फ चल किसी विवेचनाका कभी-कभी कुछ "बर्बर" प्रतीत हो सकता है, परंतु स्वयं यह चीज इस बातका प्रमाण है कि उसमें संस्कृति और सभ्यता है, एक महान् बौद्धिक और पौरोचित प्राप्ति है और है उस प्राप्तिमें एक पर्याप्त जनव्यापी रुचि। मि. आर्चर भारतके संबंधमें एक अन्य सूक्ष्मतर और निकृष्टतर क्षेत्रमें इस प्रकारके निष्कर्षोंपर पहुंचनेसे बचना चाहते हैं। इसके लिये वे दर्शनकी उपयोगितासे ही इन्कार कर देते हैं। भारतीय मनकी यह क्रिया-प्रवृत्ति उनके निकट अज्ञेयको जानने और अचिन्त्यका चिंतन करनेकी एक अप्रतिम चेष्टा मात्र है। पर यह सब क्यों? हां तो बात यह है कि दर्शन एक ऐसे स्तरसे संबंध रखता है जहां 'सूक्ष्मोंकी खोज" करना संभव ही नहीं और ऐसे स्तरमें स्वयं विचारका भी या तो कुछ मूल्य नहीं हो सकता या फिर नहींके बराबर ही मूल्य हो सकता है क्योंकि यह केवल एक अनुमान ही होता है जिसकी सत्यता प्रमाणित नहीं की जा सकती।

यहां हम दृष्टिकोणोंके एक स्वभावगत विरोधपर आ पहुंचे हैं जो सचमुच ही मनोरंजक है, इससे भी बढ़कर यहां हम मनकी मौलिकतम भेद पाते हैं। जिस रूपमें यहां युक्ति प्रस्तुत की गयी है उस रूपमें यह एक नास्तिक एवं अज्ञेयवादीकी संदेहसंकुल युक्ति है किंतु वस्तुतः यह उस मनोवृत्तिका केवल एक चरम तार्किक निरूपण है जो सामान्य यूरोपीय विचारधारामें सर्वत्र देखनेमें आती है और जो आभ्यंतरिक रूपसे एक प्रत्यक्षवादी मनोवृत्ति है। यूरोपमें सर्वोच्च मनीषियोंने दर्शनका अनुशीलन किया है और उससे महान् एवं उदात्त बौद्धिक फल प्राप्त हुए हैं पर यह अनुशीलन जीवनसे बहुत कुछ पृथक् ही रहा है, उच्च और भव्य वस्तु होनेपर भी यह प्रभावहीन ही रहा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहां भारत और चीनमें दर्शनने जीवनपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा है, सभ्यतापर एक गुरुतर क्रियात्मक प्रभाव डाला है तथा यह प्रभावित विचार और कर्मकी नस-नसमें व्याप्त हुआ है, वहां यूरोपमें यह ऐसा महत्त्व प्राप्त करनेमें कभी सफल नहीं हुआ। जिन दिनों स्टोइक (Stoic) संप्रदाय और एपीक्यूरस (Epicurus) के मतका प्राधान्य था उन दिनों इसने कुछ प्रमुखता अवश्य प्राप्त किया था पर तब भी केवल अत्यंत सुसंस्कृत व्यक्तियों-के बीच ही। वर्तमान समयमें भी इस प्रकारकी एक अभिनव प्रवृत्ति हमें दृष्टिगोचर हो रही है। नीत्शेका प्रभाव पड़ा है, उधर फ्रांसमें भी कई जैव विचारकोंने जेम्स और बर्गसाँके दर्शनोंने कुछ अंशमें जनताकी रुचिको आकृष्ट किया है किंतु पश्चिमके दर्शनकी अमोघ शक्तिकी तुलनामें यह सब कोरे शून्यके समान है। औसत यूरोपवासी अपने मार्गदर्शक विचार दार्शनिक नहीं बल्कि प्रत्यक्षवादी एवं व्यावहारिक बुद्धिसे ही आहरण करता है। यह

मि आर्चरकी न्याई दर्शनकी नितात अवहेलना तो नही करता, परतु वह इसे एक "मनुष्य-निर्मित भ्रम" न सही, पर एक प्रकारकी अपेक्षाकृत दूरकी, धुधलीसी और निष्प्रभाव प्रवृत्ति अवश्य समझता है। वह दार्शनिकोका सम्मान अवश्य करता है, परतु उनकी कृतियोको वह सभ्यताके पुस्तकालयके सबसे उपरले आलेमें रख देता है, यह सोचकर कि इन्हे नीचे उतारनेकी कोई आवश्यकता ही नही और न असाधारण प्रवृत्तिवाले कुछ एक विचारकोको छोडकर और किसीको इन्हे देखनेकी जरूरत ही है। वह उनकी सराहना तो करता है लेकिन उनपर विश्वास नही करता। प्लेटोका यह विचार कि दार्शनिक ही समाजके सच्चे शासक और श्रेष्ठ मार्गनिर्देशक है, उसे सभी धारणाओमें सर्वाधिक ऊटपटाग और अव्यवहार्य प्रतीत होता है, ठीक विचारोमें विचरण करनेके ही कारण दार्शनिकका यथार्थ जीवनपर किसी प्रकारका प्रभुत्व नही हो सकता। इसके विपरीत, भारतीय मनकी मान्यता यह है कि ऋषि, अर्थात् आध्यात्मिक सत्यका चिंतक एव द्रष्टा धार्मिक और नैतिक ही नही बल्कि व्यावहारिक जीवनका भी सर्वोत्तम मार्गदर्शक होता है। ऋषि समाजका सच्चा परिचालक होता है, ऋषियोको ही वह अपनी सभ्यताके आदर्शो और मार्गनिर्देशक अत स्फुरणाओका मूल मानता है। अपिच, जो कोई भी व्यक्ति उसे अपने जीवनमें सहायता पहुचानेवाला आध्यात्मिक सत्य प्रदान कर सके या धर्म, नीति, समाज और यहातक कि राजनीतिपर प्रभाव डालनेवाली रचनात्मक परिकल्पना एव प्रेरणा दे सके उसे 'ऋषि' नामसे अभिहित करनेके लिये वह आज भी बहुत उद्यत रहता है।

कारण, भारतवासीको यह विश्वास है कि अतिम सत्य आत्माके ही सत्य है और आत्मा-के सत्य हमारी सत्ताके अत्यत आधारभूत एव अत्यत कार्यक्षम सत्य है जो आतरिक जीवन-का ओजस्वी रूपमें निर्माण कर सकते है तथा बाह्य जीवनका हितकारक सुधार कर सकते है। यूरोपवासीकी दृष्टिमें अतिम सत्य प्राय ही विचारणात्मक बुद्धि, विशुद्ध तर्कबुद्धिके सत्य होते है, परतु वे चाहे बौद्धिक हो या आध्यात्मिक, वे मन, प्राण और शरीरके साधारण कार्यसे परेके स्तरसे ही सबध रखते है जब कि उनके "मूल्योकी परीक्षा" करनेवाली कोई भी दैनदिन कसौटिया केवल मन, प्राण और शरीरके स्तरमें ही होती है। ये परीक्षाए बाह्य तथ्यके जीवत-जाग्रत् अनुभव और प्रत्यक्षवादी एव व्यावहारिक बुद्धिके ही द्वारा की जा सकती है। शेष सब परीक्षाए तो कल्पनामात्र है और उनका वास्तविक स्थान विचारोके जगत्में है, जीवनके जगत्में नही। यह बात हमें दृष्टिकोणके उस भेदतक ले आती है जो मि आर्चरके दूसरे आक्षेपका सार है। उनका मत है कि समस्त दर्शन एक कल्पना एव अनुमान है, तब तो हमें यह मान लेना होगा कि सामान्य तथ्यका, बाह्य जगत् और उसके प्रति हमारे प्रत्युत्तरोका, भौतिक विज्ञान और उसपर आधारित मनोविज्ञानका सत्य ही एकमात्र ऐसा सत्य है जिसकी यथार्थता सिद्ध की जा सकती है। वे भारतीय दर्शनको इस बातके लिये धिक्कारते है कि उसने अपनी कल्पनाओको गभीर भावके साथ ग्रहण किया है, कल्पनाको धर्ममतके वेषमें प्रस्तुत किया है, एक ऐसी "अनाध्यात्मिक" आदत डाल ली है जो भ्रमवश टटोलनेकी देखना तथा

अनुमान करनेका आदत्ता समझती है—मैं समझता हूं कि इसके स्थानपर उसमें वह आध्या-
त्मिक आदत होनी चाहिये थी जो इन्द्रियगोचर वस्तुको ही एकमात्र ज्ञेय मानती है तथा देह
के ज्ञानको आत्मा और अध्यात्म-सत्ताका ज्ञान समझती है। इस विचारपर वे तीखा व्यंग्य
कसते हैं कि तत्त्वचिंतनात्मक ध्यान और योग प्रकृतिके सत्य और विश्वकी रचनाको जानने
का सर्वोत्तम साधन है। मि आर्चरके भारतीय दर्शन-संबंधी सभी वर्णन उस दर्शनके विचार
और मूल भावका स्थूल-अज्ञानयुक्त मिथ्या निरूपण हैं किंतु अपने सार-रूपमें वे उस दृष्टिकोणका
प्रतिनिधित्व करते हैं जिसे पश्चिमका सामान्य प्रत्यक्षवादी मन अनिवार्य रूपसे ग्रहण करता है।

वास्तविक तथ्य यह है कि भारतीय दर्शन कोरे अनुमान और कल्पनाको अत्यंत शंकाकी
दृष्टिसे देखता है। यूरोपीय समालोचक उपनिषदों दर्शनों और बौद्धधर्मके विचारों एवं परि
णामोंके संबंधमें सदा ही इन शब्दोंका प्रयोग करते हैं परंतु भारतीय दार्शनिक इन्हें अपनी
पद्धतिके न्याय्य वर्णनके रूपमें बिलकुल स्वीकार नहीं करेंगे। यदि हमारा दर्शन एक अंतिम
और अज्ञेय परम सत्ताको स्वीकार करता है तो वह उस परम गुह्यका कोई निश्चयात्मक
वर्णन या विश्लेषण करनेकी उस मूर्खतासे कुछ भी संबंध नहीं रखता जिसका कि आरोप
युक्तिपथी उसपर करता है वह तो केवल उसीसे संबंध रखता है जो कुछ कि हमारे अनु
भवकी उच्चतम भूमिकामें तथा इसके निम्न स्तरोंपर हमारे लिये चिंत्य एवं ज्ञेय है। यदि
वह अपने निष्कर्षोंको धार्मिक विश्वासके विशिष्ट अंग बनानेमें समर्थ हुआ है—जिन्हें
यहां धर्ममत (dogmas) कहा गया है—तो इसका कारण यह है कि उन्हें वह एक ऐसे
अनुभवपर प्रतिष्ठित करनेमें सफल हुआ है जिसकी सत्यताकी जांच कोई भी व्यक्ति कर
सकता है यदि वह आवश्यक उपायोंका अवलंबन करे तथा एकमात्र संभवनीय कसौटियोंका
प्रयोग करे। भारतीय मानस इस बातको स्वीकार नहीं करता कि वस्तुओंका मूल्य या
उनकी वास्तविकता बाह्य एवं वैज्ञानिक परीक्षा ही से अर्थात् भौतिक प्रकृतिकी सूक्ष्म छान
बीनकी कसौटी ही से जांची जा सकती है न वह यह मानता है कि हमारा जो स्थूल मनो
विज्ञान विशाल गुप्त अवचेतन और अतिचेतन ऊंचाइयों गहराइयों और विस्तारोंपर होने-
वाली केवल एक क्षुद्र सतिमात्र है उसके प्रतिदिनके सामान्य तथ्य ही एकमात्र कसौटी हो
सकते हैं। इन अधिक सामान्य या अन्तर्मुख सत्योंकी कसौटियां भला क्या हैं? स्पष्ट ही
ये हैं—अनुभव परीक्षणात्मक विश्लेषण और संश्लेषण तर्क और अन्तर्ज्ञान—क्योंकि मेरी
समझमें आधुनिक दर्शन और विज्ञान आजकल अन्तर्ज्ञानका महत्त्व स्वीकार करते हैं। इस
अन्य गुह्यतर क्षेत्रके सत्योंकी कसौटियां भी यही हैं अनुभव परीक्षणात्मक विश्लेषण और
संश्लेषण तर्क और अन्तर्ज्ञान। हां इतना अवश्य है कि चूंकि ये चीजें आत्मा और
अध्यात्म सत्ताके सत्य हैं अतः अवश्य ही वह अनुभव मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक होना
चाहिये वह परीक्षण विश्लेषण और संश्लेषण मनोवैज्ञानिक तथा मनो-भौतिक होना चाहिये
वह अन्तर्ज्ञान भी ऐसा विचारपर होना चाहिये जो हमारे उच्चतर स्तरों सत्यों और संभा-

चनाओंके भीतर दृष्टि डाले, वह तर्क भी ऐसा होना चाहिये जो अपनेसे परेके किसी तत्त्वको अगीकार करे, ऊपर अतिबौद्धिककी ओर दृष्टिपात करे और, जहातक बन पडे, मानव-बुद्धि-को उसका विवरण देनेका यत्न करे। स्वय योग भी, जिसे त्यागनेके लिये मि आर्चर इतने आग्रहके साथ हमसे अनुरोध करते है, अनुभवके इन महत्तर स्तरोको खोलनेका एक सुपरी-क्षित साधन ही है, और कुछ नही।

मि आर्चर और उनके ढगके अन्य विचारकोसे इन चीजोके जाननेकी आशा नही की जा सकती, ये तो तथ्यो और विचारोंके उस छोटे-से सकुचित क्षेत्रसे परेकी चीजें है जो कि उनकी दृष्टिमें ज्ञानका सपूर्ण क्षेत्र है। परतु यदि मि आर्चर इन्हे जान भी ले तो भी इससे उनकी दृष्टिमें कोई अतर नही पडेगा, वे इनके विचारतकको घृणायुक्त अधीरताके साथ त्याग देंगे, पर कोई अज्ञात सत्य भी सभव हो सकता है इस बातकी किसी प्रकारकी जाच-पडताल करके वे अपने महान् युक्तिवादीय बडप्पनपर कलक नही लगने देंगे। उनकी इस मनोवृत्तिमें सामान्य प्रत्यक्षवादी मन उनका साथ देगा। ऐसे मनको इस प्रकारके विचार अपने स्वरूपमें ही मूर्खतापूर्ण तथा दुर्बोध प्रतीत होते है,—उन ग्रीक और हिब्रू भाषाओंसे भी गये-बीते मालूम होते है जिनके अत्यत सम्माननीय और कीर्तिभाजन उपाध्याय विद्यमान है, परतु ये तो सकेत-लेखन है जिनका समर्थन केवल यह कहकर किया जा सकता है कि इन सकेतोका रहस्योद्घाटन भारतीय, थियोसोफिस्ट और गुह्यवादी विचारक आदि बदनाम लोग ही कर सकते है। आध्यात्मिक सत्य-सबधी मतवाद और कल्पना, पुरोहित और बाइबल—ये सब चीजें तो प्रत्यक्षवादी मनकी समझमें आ सकती है, भले ही वह इनमें विश्वास न भी करे अथवा केवल लोकाचारके वश ही इन्हे स्वीकृति प्रदान करे, पर गभीरतम प्रमाण-योग्य आध्यात्मिक सत्य, सुनिर्धार्य आध्यात्मिक मूल्य! इनकी तो परिकल्पना ही ऐसे मनके लिये एक विजातीय वस्तु है और वह इसे एक बे-सिरपैरकी बात मालूम होती है। एक क्षमताशाली धर्मकी, "मै इसलिये विश्वास करता हू कि तर्कत यह असभव है"—ऐसे भावसे स्वीकार करने योग्य धर्मकी बात तो इसकी समझमें आ सकती है, चाहे वह उसका निराकरण ही क्यो न कर डाले, परतु धर्मका गभीरतम रहस्य, दार्शनिक चिंतनका उच्चतम सत्य, मनोवैज्ञानिक अनुभवकी चरम-परम खोज, आत्मान्वेषण और आत्म-विश्लेषणका व्यव-स्थित और विधिवद्ध परीक्षण, आत्म-पूर्णताकी एक रचनात्मक आभ्यतरिक सभावना, इन सबको एक ही परिणामपर पहुचना, एक दूसरेके निष्कर्षोंसे सहमत होना, आत्मा और बुद्धि तथा सपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रकृति और इसकी गभीरतम आवश्यकताओंमें सामजस्य स्थापित करना,—भारतीय सस्कृतिकी इस महान् प्राचीन अटल खोज और विजयसे पश्चिमका सामान्य प्रत्यक्षवादी मन चकरा जाता और खीज उठता है। जिस ज्ञानको पश्चिम अबतक केवल टटोलता ही रहा पर कभी पा नही सका, उसे भारतीय सस्कृतिमें पाकर यह घबडा जाता है। क्षुब्ध, विमूढ और घृणाकुल होकर यह अपनी हीनतर विभक्त सस्कृतिकी

अपेक्षा ऐसे सामंजस्यकी उत्कृष्टताको माननेसे इन्कार कर देता है। क्योंकि यह केवल एक ऐसे धार्मिक अनुसंधान और अनुभवका सम्बन्ध है जो विज्ञान और दर्शनसे शत्रुता रखता है अथवा जो तर्कविरुद्ध विश्वास और विक्षुब्ध या स्वप्न-विलासी संदेहवादके बीच झूलता रहता है। यूरोपमें दर्शन कभी-कभी धर्मका नौकर बनकर रहा है भाई नहीं किन्तु प्रायः ही उसने शत्रुतापूर्वक या घृणाके साथ अक्षम होकर धार्मिक विश्वाससे मुंह फेर लिया है। धर्म और विज्ञानका युद्ध यूरोपीय संस्कृतिकी प्रायः प्रमुख घटना रहा है। यहांतक कि दर्शन और विज्ञान भी कभी एकमत नहीं हो सके वे भी झगड़ते रहे हैं और एक-दूसरेसे अलग रहे हैं। ये शक्तियां यूरोपमें अब भी एक साथ विद्यमान हैं पर ये एक सुखी परिवारके रूपमें निवास नहीं करतीं गृहयुद्ध ही इनका स्वाभाविक वातावरण बना हुआ है।

कुछ आश्चर्य नहीं यदि प्रत्यक्षवादी विचारक जिसे यह वस्तुस्थिति स्वाभाविक प्रतीत होती है चिंतन और ज्ञानकी एक ऐसी प्रणालीसे मुंह मोड़ ले जिसके अंदर दर्शन और धर्म-में एक प्रकारका सामंजस्य एकमतता और एकता विद्यमान है और एक क्रमबद्ध सुपरीक्षित मनोवैज्ञानिक अनुभव है। वह सहज ही ज्ञानके इस विजातीय रूपकी चुनौतीसे बचनेके लिये प्रेरित होता है और इस उद्देश्यसे वह तुरंत ही भारतीय मनोविज्ञान धर्म और दर्शनका यह कहकर खंडन कर डालता है कि भारतीय मनोविज्ञान आत्म-सम्मोहकारी भ्रांतियोंका एक जंगल है भारतीय धर्म तर्कविरोधी अंधविश्वासोंकी अत्यधिक वृद्धि है भारतीय दर्शन विचार कल्पनाका एक सुदूर स्वप्नलोक है। इस स्वसंतुष्ट मनोवृत्तिसे जो मानसिक शांति प्राप्त होती है उसके लिये तथा मि आर्चरकी सुगम और सर्वनाशी आलोचना प्रणालीके प्रमादके लिये यह दुर्भाग्यकी बात है कि पश्चिम भी हालमें चिंतन और अन्वेषणके इन पथोंकी ओर अभिप्रेरित हुआ है और इस बातकी भीषण संभावना दिखायी दे रही है कि ये पथ अप्रिय बर्बरताके इस समस्त स्तूपको युक्तिसंगत सिद्ध कर देंगे तथा स्वयं यूरोपको भी ऐसी ही भयंकर विचार प्रणालीके अधिक निकट ले जायंगे। यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि दार्शनिक विवेचनके रूपमें जो कुछ भी विचारा गया है या विचारा जा रहा है उस का अधिकांश भारतीय दर्शनको अपने ढंगसे पहलेसे ही ज्ञात है। यहांतक कि हम देखते हैं कि वैज्ञानिक विचार भी अपने अनुसंधानके मानदंडके दूसरे छोरसे भारतके अत्यंत प्राचीन सिद्धांतोंकी ही फिरसे घोषणा कर रहा है। मि आर्चरने भारतीय सृष्टिविज्ञान और शरीर क्रिया-विज्ञानके साथ-साथ भारतीय मनोविज्ञानका भी यों कहकर खंडन कर डाला है कि यह एक निराधार वर्गीकरण और अनुरक्तापूर्ण अनुमान है, पर यह और कुछ भी हो एक ऐसा वर्गीकरण एवं अनुमान तो नहीं ही है क्योंकि यह कठोरतापूर्वक अनुभवपर आधारित है इसके विपरीत आज जो भी नयीसे नयी मनोवैज्ञानिक खोजें हो रही हैं वे सभी अधिकाधिक इसका समर्थन कर रही हैं। भारतीय धर्मके मूलभूत विचार अपनी विजयके इतने निकट पहुंच गये लगते हैं कि इस बातकी भीषण आशंका उत्पन्न हो गयी है कि वे एक नवीन

और सार्वभौम धार्मिक मनोभाव एवं आध्यात्मिक जिज्ञासाकी प्रमुख भावना और विचारधारा बन जायगे। तब भला कौन कह सकता है कि यदि पश्चिममें "टटोलने और अनुमान करने" की कतिपय पद्धतियोंको कुछ और आगे ढकेल दिया जाय तो भारतीय योगका मनो-दैहिक विज्ञान भी युक्तियुक्त नहीं सिद्ध हो जायगा? और यहांतक कि शायद भारतका यह सृष्टि-विज्ञानसबंधी विचार कि जड-प्रकृतिके इस सहज-गोचर साम्राज्यसे भिन्न सत्ताके अन्य स्तर भी है, निकट भविष्यमें पुन अपने पदपर प्रतिष्ठित नहीं हो जायगा? परतु यह सब होनेपर भी प्रत्यक्षवादी मन दृढ साहस दिखा सकता है क्योंकि उसका प्रभुत्व अभी भी प्रबल है, आज भी वह बुद्धिवादका कट्टर अनुयायी होनेका दावा करता है और प्रभुत्व स्थापित करनेका अधिकार पाने योग्य समान अभीतक उसे प्राप्त है, अतएव पहले अनेक धाराओंको उमडना और एक साथ मिल जाना होगा और तब कहीं वह उनके महाप्रवाहमें बह जायेगा और एकीकारक विज्ञारकी ज्वार तीव्र वेगके साथ मानवताको आत्माके गुप्त तटोंकी ओर ले जायगी।

आक्रमण करनेका एक महान् सुयोग प्राप्त हो जाता है। इस क्षणस्थायी सुयोगसे बल पाकर वे शिकारियोंके पाशमें फंसी हुई बीमार और आहत सिंहनीपर अपने खुरोंसे आसपासकी धूल और कीचड उछालनेका महान् एव उदारतापूर्ण साहस दिखा सकते है और ससारको यह विश्वास दिलानेका यत्न कर सकते है कि उसमे कभी किसी प्रकारकी शक्ति एव गुण नही रहे है। मोलोक (Moloch)[1] का काम करनेवाली तर्क-बुद्धि, अर्थ-देवता और विज्ञानकी महान् सस्कृतिके इस युगमे ऐसा करना आसान है जब कि महान् 'सफलता' देवीकी तडक-भडकवाली मूर्तिकी ऐसी पूजा की जाती है जैसी कि इससे पूर्व कभी सुसभ्य मनुष्योद्वारा नही की गयी। परतु उन्हे इससे भी बढकर एक और सुयोग प्राप्त है, वह यह कि वे जगत्के समक्ष उसका चित्रण, उसकी सभ्यताके एक अधकारग्रस्त युगमे कर रहे है जब कि अत्यत उज्ज्वल एव बहुमुखी सास्कृतिक कर्मठताके कम-से-कम दो सहस्र वर्षोंके पश्चात् वह कुछ समयके लिये अपना सर्वस्व खो चुका है, हा, केवल एक ही चीज बाकी रह गयी है और वह है अपने अतीतकी और अपनी उस धार्मिक भावनाकी स्मृति जो दीर्घ कालसे ढकी और दबी हुई है लेकिन फिर भी सदा-सर्वदा जीवित रही है और अब तो प्रबल रूपमें पुनरुज्जीवित हो रही है।

इस असफलता और इस अल्पकालिक निस्तेजताके गूढार्थका मैंने अन्यत्र उल्लेख किया है। मुझे शायद बहुत जल्द ही फिरसे इस बातकी चर्चा करनी पडे, क्योकि इसे भारतीय सस्कृति और भारतीय आध्यात्मिकताकी उपयोगितापर एक आक्षेपके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। अभी इतना ही कहना काफी होगा कि सस्कृतिका मूल्य भौतिक सफलताके द्वारा नही जाचा जा सकता, आध्यात्मिकताको तो इस कसौटीपर कसना और भी कम सभव है। दार्शनिक, सौंदर्यप्रेमी, काव्यप्रिय और बुद्धिशाली यूनान असफल रहा और पराजित हो गया जब कि सैन्य-शिक्षाप्राप्त और युद्धप्रिय रोमने सफलता और विजय प्राप्त की, किंतु इसी कारण उस विजयी और साम्राज्यशाली राष्ट्रके सिरपर एक महत्तर सभ्यता एव उच्चतर सस्कृतिका सेहरा बाधनेका किसीको स्वप्नमें भी ख्याल नही आता। जूडियाकी धार्मिक सस्कृति यहूदी राज्यके विनाशके कारण असत्य या हीन नही सिद्ध हो जाती, जैसे कि, यहूदी जातिके देश-देशातरोमें फैलकर व्यापारिक कुशलता दिखलानेके कारण वह न तो सत्य सिद्ध होती है और न अधिक मूल्यवान् ही हो जाती है। परतु, प्राचीन भारतीय विचारकोंके समान मैं भी यह स्वीकार करता हू कि भौतिक तथा आर्थिक क्षमता और समृद्धि मानव सभ्यताके समग्र प्रयासके आवश्यक अग है, भले ही ये उसके उच्चतम या प्रधानतम अग न हो। इस बातमें भारत सास्कृतिक प्रवृत्तिके अपने सारे लबे युगमें किसी भी प्राचीन या मध्यकालीन देशके समकक्ष होनेका दावा कर सकता है। आधुनिक युगसे पहले किसी भी

---

[1] कैनान देशका एक देवता जिसे नरबलि दी जाती थी।—अनुवादक

जातिने धन-संपत्ति, व्यापारिक समृद्धि, भौतिक पद-प्रतिष्ठा तथा सामाजिक संगठनमें इससे ऊंचा गौरव नहीं प्राप्त किया। यह बात इतिहास तथा प्राचीन भारतके ग्रंथोंमें अंकित है और तत्कालीन यात्रियोंने भी इसका उल्लेख किया है। इससे इन्कार करना अद्भुत दुःसाहस, दृष्टिकी अंधता तथा कल्पनाद्वारा या इस कल्पनाहीनता नहीं, अतीत तथ्यमें वर्तमान तथ्यके मिथ्या दर्शनका प्रमाण देना है। एशियाई और उसके समान ही भारतीय ऐश्वर्यका प्रभाव पूर्वीय देशोंका ओरमज और इण्ड (Ormuz and Ind) का धन-वैभव, स्वर्णमंडित बर्बर द्वार' (Barbaricæ portes squalentes auro)—इनको कभी कम समृद्धि शाली पश्चिम बर्बरताका चिह्न कहकर कलंकित किया करता था। पर आज अवस्थाएं विचित्र रूपसे पलट चुकी हैं, समृद्धिशाली बर्बरता और ऐश्वर्यका अपेक्षाकृत बहुत ही कम कलात्मक प्रदर्शन आज लंदन, न्यूयार्क और पेरिसमें दिखायी देता है और भारतकी नग्नता और उसकी दरिद्रताका ढोल उसकी संस्कृतिकी मूल्यहीनताके प्रमाणके रूपमें उसके मुंहपर बजाया जाता है।

भारतकी प्राचीन और मध्ययुगीन राजनीतिक, प्रशासनीय, सैनिक और आर्थिक व्यवस्था कोई निकृष्ट प्राप्ति नहीं थी, तत्संबंधी अभिलेख विद्यमान हैं और अशिक्षित लोगोंके अज्ञान तथा पत्र-पत्रिकाओंके आलोचक या पक्षपातपूर्ण राजनीतिज्ञकी लच्छेदार भाषाका खंडन करने-का कार्य उनपर छोड़ा जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि उसमें विफलता और न्यूनताका तत्त्व भी विद्यमान था, पर इतने बड़े पैमानेपर जो समस्या उपस्थित थी उस सारीमें तथा उस समयकी अवस्थाओंमें वह प्रायः अनिवार्य ही था। किंतु उसे बढ़ा-चढ़ाकर भारतकी सभ्यताके विरुद्ध अभियोगका रूप दे देना एक अजीब ढंगकी कठोर आलोचना होगी और यदि सभ्यताओंका आद्योपांत पर्यवेक्षण किया जाय तो उनमेंसे शायद ही कोई ऐसी आलो-चनाके आगे टिक सके। हां, अंतमें उसे असफलता मिली पर वह अपनी संस्कृतिके ह्रासके कारण न कि उसके अंदर विद्यमान वस्तुओंके परिणामस्वरूप। आगे चलकर उसकी सभ्यताके अधिक सारभूत तत्त्वोंका जो विक्षोभ हुआ वह उनकी मूल उपयोगिताका खंडन नहीं कर सकता। भारतीय सभ्यताको मुख्य रूपसे उसकी सहस्रों वर्षोंकी संस्कृति और महानताके द्वारा परखना होगा न कि उसकी थोड़ी-सी सदियोंकी अज्ञानता और दुर्बलताके द्वारा। किसी संस्कृतिकी परीक्षा तीन कसौटियोंसे करनी चाहिये, प्रथम उसकी मूल भावनासे, दूसरे, उस की सर्वोत्तम प्राप्तियोंसे और अंतमें उसकी अपेक्षाकृत दीर्घजीवन और नवीकरणकी शक्तिसे एवं अपने-आपको जातिकी चिरंतन आवश्यकताओंके नये रूपोंके अनुकूल बनानेकी सामर्थ्यसे। अल्पकालीन अवनतिके युगकी दरिद्रता, विशृंखलता एवं अव्यवस्थामें एक विद्वेषपूर्ण साक्षीकी दृष्टि उस रक्षक शिवमय आत्माको देखने या पहचाननेसे इन्कार करती है जो इस सभ्यताको आजतक जीवित रखे हुए है और इसके शाश्वत आदर्शकी महत्ताके ओजस्वी और सजीव पुनरुत्थानकी आशा बंधाता है। इसकी दबाये जानेपर उछलनेकी सुदृढ़ और नमनीय शक्ति

आवश्यकतानुसार अपनेको गढ़ लेनेकी इसकी पुरानी अपरिमेय शक्ति फिरसे अपने कार्यमें लग गयी है, यहांतक कि यह पहलेकी तरह केवल अपना बचाव ही नहीं कर रही है बल्कि साहसपूर्वक आक्रमण भी कर रही है। भविष्य केवल बचे रहनेकी ही नहीं बल्कि विजय और प्रभुत्व प्राप्त करनेकी आशा भी इसमें रखता है।

परंतु हमारा आलोचक भारतीय सभ्यताकी आत्माकी उस उच्चाशयता एवं महानतासे इन्कार करता है जो कि इतनी ऊंचाईपर स्थित है कि इस प्रकारके अर्ज और पक्षपातयुक्त आक्रमणके द्वारा आक्रांत हो ही नहीं सकती। इतना ही नहीं, वह इसके प्रधान विचारोंपर शंका उठाता है, जीवनके लिये इसकी व्यावहारिक उपयोगितासे इन्कार करता है, इसके फलोंकी, इसकी प्रभावशालिता एवं विशिष्टताकी निंदा करता है। क्या इस निंदाका कोई आलोचनात्मक मूल्य है, अथवा क्या यह उस भ्रांतिकी स्वभावानुगत अभिव्यक्तिमात्र है जो जीवनके विषयमें अत्यंत भिन्न दृष्टिकोण रखने तथा हमारी प्रकृतिके उच्चतम मर्मो एवं सत्योंका मूल्य नितांत विपरीत ढंगसे आंकनेके कारण स्वभावतः ही उत्पन्न हुई है? यदि हम इस आक्रमणके स्वरूप तथा इसके तार्किक वचनोंपर विचार करें तो हम देखेंगे कि यह जीवनके साधारण मूल्य-मानोंमें आसक्त प्रत्यक्षवादी विचारकके द्वारा एक ऐसी संस्कृतिके सर्वथा विभिन्न मानदंडोंपर किये गये दोषारोपणके सिवा और कुछ नहीं है जो मनुष्यके सामान्य जीवनके परे दृष्टिपात करती है, इसके पीछे अवस्थित किसी महत्तर वस्तुकी ओर इंगित करती है तथा इसे किसी नित्य, चिरंतन और अनंत वस्तुकी प्राप्तिका मार्ग बनाती है। हमें बताया जाता है कि भारतमें आध्यात्मिकता है ही नहीं,—क्या ही अद्भुत कल्पना है, इसके विपरीत, कहा जाता है कि वह समस्त बुद्धिसंगत और ओजपूर्ण आध्यात्मिकताके अंकुरोंका नाश करनेमें सफल हुआ है। स्पष्ट ही, मि आर्चर 'आध्यात्मिकता' शब्दको अपना निजी अर्थ, एक अनोखा, मनोरंजक तथा अत्यंत पश्चिमीय अर्थ, देते हैं। अबतक आध्यात्मिकताका अर्थ रहा है—मन और प्राणसे महान् किसी वस्तुको अंगीकार करना, अपनी सामान्य मानसिक और प्राणिक प्रकृतिके परे विद्यमान एक शुद्ध, महान् और दिव्य चेतनाके लिये अभीप्सा करना, मनुष्यकी अंतरात्माका हमारे निम्न भागोंकी क्षुद्रता और बंधनग्रस्ततामेंसे निकलकर उसके अंदर छुपी हुई एक महत्तर वस्तुकी ओर उमड़ना और ऊपर उठना। यही कम-से-कम वह विचार, वह अनुभव है जो भारतीय विचारधाराका सारमर्म है। परंतु युक्तिपंथी इस अर्थमें आत्मामें विश्वास नहीं करता, प्राण-शक्ति, मानवसुलभ संकल्पबल और तर्कबुद्धि उसके सर्वोच्च देवता हैं। तो फिर आध्यात्मिकताको—जब उस चीजको ही अस्वीकार कर दिया गया है जिसपर यह आश्रित है, तब कहीं अधिक सीधी और युक्तिसंगत बात यही होती कि इस शब्दका ही त्याग कर दिया जाता—एक और ही अर्थ देना होगा,—इसका अर्थ होगा, एक ऐसा उत्कट आवेग, हृद्गत भावोंका तथा संकल्प-शक्ति और तर्क-बुद्धिका एक ऐसा प्रयास जिसका लक्ष्य हो सांत, न कि अनंत, अनित्य पदार्थ न कि

नित्य तत्त्व नश्वर जीवन न कि कोई ऐसी महत्तर सद्वस्तु जो जीवनकी स्थूल कल्पनाओंसे अतीत है और इसे आश्रय देती है। हमें बताया जाता है कि जो वेदना और विचारणा होमरके आनन्दी मस्तिष्कको फुरती और कुतरती हैं उसीमें युक्तिसंगत और ओजपूर्ण आध्यात्मिकता निहित है। अज्ञान और दुःखपर विजय पानेवाले बुद्धकी शांति और करुणा 'सनातन' के साथ योगमें समाहित और विचार-शक्तिकी जिज्ञासाओंसे ऊपर, परम ज्योतिके साथ तादात्म्यमें उठे हुए मनीषीकी ध्यान-धारणा शुद्ध अंतःकरणके प्रेमके द्वारा विश्वसे परे और विश्वमें फैले हुए 'प्रेम' के साथ एकीभूत संतका आनंदातिरेक अहंकारमय कामना और वासनासे ऊपर उठकर दिव्य विश्वव्यापी 'संकल्प-शक्ति' की निर्व्यक्तिकतामें पहुंचे हुए कर्मयोगीकी संकल्प-शक्ति—ये चीजें जिन्हें भारतने सर्वोच्च मूल्य प्रदान किया है और जो उसकी महान्-से-महान् आत्माओंका परम ध्येय रही हैं युक्तिसंगत और ओजपूर्ण नहीं हैं। हम कह सकते हैं कि यह आध्यात्मिकताके विषयमें एक अत्यंत पश्चिमी तथा आधुनिक विचार है। क्या हम यों कहें कि अब होमर, शेक्सपियर, राफेल (Raphael) स्पिनोजा काट शार्लेमाञ्न अब्राहम लिंकन लेनिन और मुसोलिनी केवल महान् कवियों और कलाकारों या विचार और कर्मके महारथियोंके रूपमें ही नहीं बल्कि आध्यात्मिकताके हमारे यथार्थ वीरों और आदर्श-पुरुषोंके रूपमें हमारे सामने आयेंगे बुद्ध भी नहीं ईसा चैतन्य सेंट फ्रांसिस और रामकृष्ण भी नहीं। ये या तो अर्धबर्बर पूर्वीय लोग हैं अथवा पूर्वीय धर्मके स्वैच उन्मादसे प्रभावित व्यक्ति हैं। भारतीय मानसपर इस बातका वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा कि एक सुसंस्कृत बुद्धिशाली पुरुषपर उस समय पड़ता है जब उससे यह कहा जाता है कि अच्छी रसोई बनाना अच्छे ढंगसे कपड़े पहनना अच्छा मकान बनाना अच्छी तरह पढ़ाना आदि सच्चा सौंदर्य है तथा इनका अनुशीलन ही यथार्थ विवेकपक्व एवं ओजपूर्ण सौंदर्य भावना है और साहित्य स्थापत्य मूर्तिविद्या एवं चित्रकला तो बस व्यर्थमें कागज काला करना पागलोंकी तरह पत्थर खुरचना और निरर्थक कपड़ेपर रंग पोतना है तब तो वोबान (Vauban) पेस्तोलोत्सी (Pestolozzi) डा पार (Dr Parr) वाताल (Vatal) और बो ब्रूमल (Beau Brummel) ही कलात्मक सृजनके सच्चे नायक हैं न कि दा वेंची (Da Vinci) आंजेलो (Angelo) सोफोक्लिज (Sophocles) दांते (Dante) शेक्सपियर या रोदें (Rodin)। भारतीय आध्यात्मिकताके विरुद्ध मि आर्चरने जो विशेषण प्रयुक्त किये हैं तथा उसपर जो दोष लगाये हैं उनकी तुलना उक्त कथनसे की जा सकती है या नहीं यह विज्ञ जन स्वयं निर्णय कर लें। परंतु इस बीच हम दृष्टिकोणके विरोधपर और ध्यान दें और पश्चिम तथा भारतके विरोधका आंतरिक कारण समझनेकी कोशिश करें।

भारतीय दर्शनके विरुद्ध मुख्यतः विरुद्ध अभियोग लगानेका कारण यह है कि यह जीवन प्रकृति और प्राणगत इच्छाशक्तिसे तथा मनुष्यके ऐहलौकिक पुरुषार्थसे मुंह मोड़ना

है। यह जीवनको कुछ भी मूल्य नही प्रदान करता, यह प्रकृतिके अध्ययनकी ओर नही बल्कि उससे दूर ले जाता है। यह समस्त इच्छाप्रधान व्यक्तित्वका उन्मूलन करता है, यह जगत्‌के मिथ्यात्व, ऐहिक लाभोके प्रति अनासक्ति, अतीत और अनागत जीवनोकी अनत श्रृखलाकी तुलनामें वर्तमान जीवनकी तुच्छताकी शिक्षा देता है। यह एक दुर्बलकारी तत्त्व-ज्ञान है जो निराशावाद, वैराग्य, कर्म और पुनर्जन्मकी मिथ्या धारणाओंके साथ उलझा हुआ है,—ये सभी विचार परम आध्यात्मिक वस्तु, सकल्पप्रधान व्यक्तित्वके लिये घातक है। यह भारतीय सस्कृति और दर्शनके विषयमें भद्दे ढगसे अतिरजित एव मिथ्याभूत धारणा है जो भारतीय मनके केवल एक ही पक्षपर वल देते हुए उसे उदासी-भरे और अधकारमय रग-में प्रस्तुत करनेसे पैदा होती है और इस धारणाको जिस ढगसे प्रस्तुत किया गया है वह मेरी समझमें मि आर्चरने यथार्थवादके आधुनिक गुरुओसे सीखा है। परतु अपने सार और भावनामें यह उन धारणाओका बहुत सही निरूपण है जो यूरोपीय मनने भूतकालमें, कभी तो अज्ञानवश और कभी प्रमाणकी अवज्ञा करते हुए, भारतीय विचार और सस्कृतिके स्वरूप-के विषयमें निर्मित की है। यहातक कि कुछ समयके लिये तो यह शिक्षित भारतीयोके मनपर इस भ्रातिकी एक गहरी छाप जमानेमें भी सफल हुई। अत सबसे अच्छा यह होगा कि इस चित्रके रग-रूपका, इसकी छाया और आलोकका मेल पहले ही ठीक-ठीक बैठा लिया जाय, ऐसा कर लेनेपर हम मनोवृत्तिके उस विरोधकी अधिक अच्छी तरह जाच कर सकेगे जो इस समालोचनाका मूल आधार है।

यह कहना कि भारतीय दर्शनने लोगोको प्रकृतिके अध्ययनसे विमुख किया है, सफेद झूठ है और भारतीय सभ्यताके भव्य इतिहासकी अवहेलना है। यदि यहा प्रकृतिका अर्थ भौतिक प्रकृति हो तो स्पष्ट सत्य यह है कि आधुनिक युगके पूर्व किसी भी राष्ट्रने प्राचीन भारतके समान दूरतक और वैसी अपूर्व सफलताके साथ वैज्ञानिक खोज नही की। यह एक ऐसा सत्य है जो इतिहासके पृष्ठोपर अकित है और जिसे सभी लोग पढ सकते है, भारतके विख्यात विद्वानो और वैज्ञानिकोने इसे अत्यत ओजस्वी रूपमें और अपरिमित विस्तारके साथ प्रतिपादित किया है, परतु यूरोपके जिन मनीषियोने इस विषयमें तुलनात्मक अध्ययन करनेका कष्ट किया था वे भी इसे जानते और मानते थे। इतना ही नही कि गणित, ज्योतिष, रसायन, चिकित्साशास्त्र और शल्यतत्रमें, प्राचीन कालमें भौतिक ज्ञानकी जितनी भी शाखाओका अनुशीलन किया जाता था उन सभीमें भारत अग्रगण्य था, अपितु यूनानियो ही के समान वह भी अरववासियोका गुरु था जिनसे यूरोपने वैज्ञानिक जिज्ञासाकी अपनी खोई हुई आदत पुन प्राप्त की और वह आधार उपलब्ध किया जिसके सहारे आधु-निक विज्ञान अपने मार्गपर अग्रसर हुआ। अनेक दिशाओमें भारतको ही खोजका प्रथम श्रेय प्राप्त हुआ,—इसके अनेकानेक दृष्टातोमेंसे हम यहा केवल दो ज्वलत दृष्टात लेते हैं, एक तो है गणितमें दशमलव-पद्धति और दूसरा यह ज्ञान कि ज्योतिषमें पृथ्वी एक गतिशील

प्रकृतिमे वनस्पति और पशुके रूपसे मनुष्यके रूपकी ओर आत्माके विकासकी प्रस्थापना की थी, दार्शनिक अतर्ज्ञान और आध्यात्मिक एव मनोवैज्ञानिक अनुभवके आधारपर उन सब अनेक सत्योका प्रतिपादन किया था जिन्हे आधुनिक विज्ञान ज्ञान-प्राप्तिके अपने निजी दृष्टि-कोणसे पुन प्रस्थापित कर रहा है। ये चीजें भी सारहीन और अनुर्वर तत्त्वज्ञानके परिणाम नही थी, नाभिपर दृष्टि जमानेवाले निस्तेज स्वप्नदर्शियोंके आविष्कार नही थी।

इसी प्रकार, यह कहना कि भारतीय संस्कृति जीवनको कुछ भी महत्त्व नही देती, पार्थिव लाभोंसे विलग करती और वर्तमान जीवनकी तुच्छतापर जोर देती है, एक मिथ्या वर्णन है। यूरोपवासियोकी ये आलोचनाए पढकर कोई यह सोचेगा कि समस्त भारतीय विचारमें बौद्धधर्मकी शून्यवादी विचारधारा तथा शकरके अद्वैतात्मक मायावादको छोडकर और कुछ भी नही है और समस्त भारतीय कला, साहित्य और सामाजिक चिंतन वस्तुओकी असारता एव मिथ्यात्वके प्रति अपने वैराग्यके निरूपणके सिवा कुछ नही है। यह सही है कि औसत यूरोपवासीने भारतके विषयमें जो बाते सुन रखी है अथवा इसकी विचारधारामें यूरोपीय विद्वान्‌को जो चीजें अत्यधिक पसद आती या प्रभावित करती है वे यही है, तथापि इसका यह अर्थ नही कि ये ही भारतकी सपूर्ण चिंतनधारा है, चाहे इनका प्रभाव कितना ही अधिक क्यो न रहा हो। भारतकी प्राचीन सभ्यताने अपना आधार अत्यत स्पष्ट रूपमें चार मानवीय पुरुषार्थोंपर रखा था, उनमेंसे पहला था कामना और उपभोग, दूसरा, मन और शरीरके भौतिक, आर्थिक तथा अन्य उद्देश्य एव आवश्यकताए, तीसरा, वैयक्तिक और सामाजिक जीवनका नैतिक आचार-व्यवहार एव यथार्थ धर्म, और अतिम, आध्यात्मिक मुक्ति, **काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष।** संस्कृति और सामाजिक सगठनका काम था इन विषयोंमें मनुष्य-का मार्गदर्शन करना, इनकी पूर्ति और पुष्टि करना तथा उद्देश्यो और बाह्य आचारोंमें किसी प्रकारका सामजस्य स्थापित करना। अत्यत विरले व्यक्तियोको छोडकर शेष सबके लिये मोक्षसे पहले तीन सासारिक उद्देश्योकी पूर्ति कर लेना आवश्यक था, जीवनके अति-क्रमणसे पहले जीवनकी परिपूर्णता प्राप्त करना आवश्यक था। पितृ-ऋण, समाज-ऋण और देव-ऋणकी उपेक्षा नही की जा सकती थी, पृथ्वीको उसका उचित भाग और सापेक्ष जीवनको उसकी क्रीडाका अवसर देना जरूरी था, यद्यपि यह माना जाता था कि इसके परे ही स्वर्गका महान् सुख या निरपेक्षकी शाति विद्यमान है। सर्वसाधारणको गुहा और तपो-वनमें भाग जानेका उपदेश नही दिया जाता था।

प्राचीन भारतकी सुव्यवस्थित जीवनधारा और उसके साहित्यका जीवत वैचित्र्य किसी नितात पारलौकिक प्रवृत्तिके साथ मेल नही खाते। संस्कृतका विपुल साहित्य मानवजीवन-का ही साहित्य है, यह ठीक है कि कुछ एक दार्शनिक और धार्मिक कृतिया जीवनके त्याग-का प्रतिपादन करती है, किंतु ये भी साधारणत इसके मूल्यकी अवज्ञा नही करतीं। यद्यपि

मानसिक और प्राणिक सत्तासे महान् है, हमारे अहंसे भी महान् है। उसने सदैव, उस निकटम्थ एव अतर्यामी सनातनके आगे अपने हृदय और मस्तिष्कको झुकाया है जिसमे इस कालगत जीवका अस्तित्व है और मनुष्यके अदर स्थित जिस सनातनकी ओर यह जीव उत्तरोत्तर आत्म-अतिक्रमणके लिये मुडता है। अद्भुत गायक और भगवती माताके भाव-विभोर भक्त एक बगाली कविकी यह भावना कि—

"एमन मानव जमीन रइलो पतित
आबाद करले फलतो सोना।"

अर्थात्—"अहा, कैसा समृद्ध है यह मनुष्य-रूपी खेत जो यहा बजर पडा है! यदि इसे जोता जाय तो यह सुनहली फसलसे लहलहा उठेगा,'—मानवजीवनके सबधमे वास्तविक भारतीय भावको व्यक्त करती है। परतु भारतीय मन उन महत्तर आध्यात्मिक सभावनाओसे अत्यत आकृष्ट होता है जो पार्थिव जीवोंमेंसे केवल मनुष्यमे ही निहित है। प्राचीन आर्य सस्कृति समस्त मानव सभावनाओको मान्यता देती थी, पर आध्यात्मिक सभावनाओको वह सर्वोच्च स्थान प्रदान करती थी और अपनी चार वर्णों तथा चार आश्रमोकी प्रणालीमें उसने जीवनको एकके बाद एक आनेवाले स्तरोंके अनुसार क्रमबद्ध किया था। बौद्धधर्मने सबसे पहले सन्यासके आदर्श और भिक्षु-प्रवृत्तिको अतिरंजित और विपुल रूपमें प्रसारित किया, स्तरपरपराको मिटा डाला और सतुलनको भग कर दिया। इसकी विजयी विचार-धाराने केवल दो ही आश्रमोको जीवित रहने दिया, गृहस्थ और सन्यासी, साधु और साधारण मनुष्य, इसने एक ऐसा प्रभाव डाला जो आजतक विद्यमान है। धर्ममे इस प्रकारकी उलट-पलट करनेके कारण ही, हम देखते हैं कि, विष्णु पुराणमें एक नीति-कथाके बहाने इसपर प्रचड आक्रमण किया गया है, क्योकि अपनी तीव्र अति और परस्पर-विरोधी सत्योकी कठोर प्रणालीके द्वारा इसने समाजके जीवनको अतमें दुर्बल कर दिया। परतु बौद्ध-धर्मका भी एक और पक्ष था जो कर्म और सृजनकी ओर मुडा हुआ था, जिसने जीवनको एक नया प्रकाश और नया अर्थ दिया, नयी नैतिक और आदर्श शक्ति प्रदान की। इसके बाद भारतीय सस्कृतिकी दो प्रसिद्धतम सहस्राब्दियोके अतमें शकरका महान् मायावाद आया। तबसे जीवनकी यह कहकर अत्यधिक अवहेलना की जाने लगी कि यह एक मिथ्या या आपेक्षिक चीज है और, अतत, जीने लायक नही है, इस योग्य नही है कि इसे हम अपनी स्वीकृति दें और इसके उद्देश्योपर अडे रहे। परतु यह सिद्धात सबने स्वीकार नही किया, बिना सघर्ष किये यह प्रवेश ही नही पा सका, यहातक कि शकरके प्रतिपक्षियोने उन्हे प्रच्छन्न बौद्ध कहकर उनकी निंदा भी की। परवर्ती भारतीय मनपर उनके मायावादी सिद्धातका अत्यत प्रबल प्रभाव पडा है, किंतु जनसाधारणके विचार और भावका पूर्ण रूपसे निर्माण इसने कभी नही किया। जनतापर तो उन भक्ति-

भारतीय मनने आध्यात्मिक मुक्तिको सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया—और अध्यात्मवादी मनो-वृत्तिवाला व्यक्ति चाहे कुछ भी क्यों न कहे किसी-न-किसी प्रकारकी आध्यात्मिक मुक्ति ही मानव-आत्माकी उच्चतम संभावना है—तथापि उसकी दिलचस्पी केवल इसीमें नहीं थी। वह नीति विधि-विधान (Law) राजनीति समाज विभिन्न विज्ञान कला-कौशल और शिल्प-विद्या मानवजीवनसे संबंध रखनेवाली सभी चीजोंकी ओर आध्यात्मिक मुक्तिके समान ही ध्यान देता था। इन विषयोंपर उसने खूब गहराई और छानबीनके साथ विचार किया और अधिकारके साथ ओजस्वी भाषामें इनका निरूपण किया। एक ही उदाहरण काफी होगा शुक्रनीति राजनीतिक और प्रशासनिक प्रतिभाका कितना उत्कृष्ट स्मारक है! एक महान् सभ्य जातिके क्रियात्मक समझका कैसा दर्पण है! भारतीय कला सदा देवालयोंकी ही वस्तु नहीं रही—यह ऐसी इस कारण प्रतीत होती थी कि इसका महत्तम कार्य देवालयों और गुहा-मंदिरोंमें ही बचा रहा किंतु पुराना साहित्य इस बातका साक्षी है और राजपूत तथा मुगल चित्रकारियोंसे भी हमें पता चलता है कि भारतीय कला राजदरबार और नागरिक तथा जातिके जीवन और सांस्कृतिक विचारोंकी सेवामें भी उतनी ही तत्पर थी जितनी कि मठ-मंदिरों और धार्मिक उद्देश्योंकी सेवामें। भारतमें स्त्रियों और पुरुषोंको जो शिक्षा दी जाती थी वह आधुनिक युगसे पहलेकी और किसी भी शिक्षा प्रणालीसे अधिक समृद्ध व्यापक और बहुमुखी थी। जो लेख इन बातोंको प्रमाणित करते हैं वे आज सुलभ हैं और उन्हें जो चाहे पढ़ सकता है। अब समय आ गया है जब कि यह तोता रटन कि भारतीय सभ्यता अपने स्वरूपसे ही अव्यावहारिक दार्शनिक निवृत्तिमार्गी और जीवन-विरोधी है बंद हो जानी चाहिये और इसे अपना स्थान एक सच्चे और समझदारीके साथ किये गये मूल्यांकनको दे देना चाहिये।

परन्तु यह पूर्णतः सत्य है कि भारतीय संस्कृतिने समष्टिके अंदरकी उस चीजको जो लौकिक एवमात्र ऊपर उठ जाती है सदैव सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया है। इसने परलोक और कष्टसाध्य स्व-अतिक्रमणके ध्येयको मानव प्रयासके शिखरके रूपमें माना है। इसकी दृष्टिमें आध्यात्मिक जीवन बाहरी शक्ति-सामर्थ्य और उपभोगके जीवनसे अधिक उदात्त वस्तु है चिंतनशील व्यक्ति कर्मीकी अपेक्षा और आध्यात्मिक मनुष्य विचारककी अपेक्षा महान् है। ईश्वरमें निवास करनेवाली आत्मा केवल बाह्य मनमें निवास करनेवाली या केवल मनोमय और प्राणमय देहकी मांगों और उसके सुखोंके लिये जीनेवाली आत्मासे अधिक पूर्ण है। विशिष्ट पश्चिमीय और विशिष्ट भारतीय मनोवृत्तियोंमें जो भेद है वह इसी बातमें है। पश्चिमने धार्मिक मनोवृत्ति अभ्यासके द्वारा प्राप्त की है यह उसके स्वभावका अंग नहीं है और इसे उसने सदा कुछ शिथिलताके साथ ही धारण किया है। भारत सदैव उन पीछेकी और अवस्थित लोकोंमें विश्वास करता आया है जिनका एक बाह्य रूप मात्र यह स्थूल जगत् है। उसने सदा ही हमारे अंदर एक आत्माको देखा है जो

हमारा वर्तमान जीवन उस ऐकातिक महत्त्वको खो देता है जो इसे हम तब देते है जब हम इसको कालचक्रके भीतर केवल एक ऐसी क्षणस्थायी सत्ता समझते हे जिसे फिर कभी नही दुहराना है या इसे अपना एक ऐसा अनन्य सुयोग मानते है जिसके परे कोई पारलौकिक अस्तित्व नही है। परतु वर्तमानपर जो सकीर्ण और अतिरजित बल दिया जाता है वह मानव आत्माको वर्तमान क्षणकी कारामें कैद कर देता है वह कर्मको क्षुब्ध तीव्रता भले ही प्रदान करे पर आत्माकी शाति, प्रसन्नता और महत्ताका वह वैरी है। नि सदेह, यह विचार कि हमारे वर्तमान दु ख-कष्ट हमारे अपने अतीत कर्मके ही फल है, भारतीय मनको एक ऐसी शाति, सहिष्णुता और नति प्रदान करता है जिन्हे समझना या सहन करना चचल पश्चिमी बुद्धिको कठिन प्रतीत होता है। यह विचार महान् राष्ट्रीय दुर्बलता, अवसाद और दुर्भाग्यके कालमें ह्रासको प्राप्त होकर निवृत्तिमार्गी दैववादके रूपमे परिणत हो सकता है जो एक सुधारके प्रयत्नकी आगको बुझा सकता है। परतु इसका इस दिशाकी ओर मुडना अवश्यभावी नही है, और अपनी सस्कृतिके अधिक तेजस्वी अतीतके इतिहासमें भी हम देखते है कि उस समय इसे जो मोड दिया गया था वह यह नही है। सुर तो वहा कर्मका, तपस्याका ही है। हा, इस विश्वासको एक और मोड भी प्रदान किया गया था जिसका कालक्रमसे विस्तार होता गया, वह था बौद्ध धर्मका यह सिद्धात कि पुनर्जन्मोकी परपरा तो असलमें एक कर्म-श्रृखला है जिससे मुक्त होकर जीवको शाश्वत नीरवतामें प्रवेश करना होगा। इस धारणाने हिंदूधर्मको प्रबल रूपसे प्रभावित किया है, परतु इसमें जो चीज अवसाद उत्पन्न करनेवाली है वह वास्तवमें पुनर्जन्मके सिद्धातसे नही बल्कि उन दूसरे तत्त्वोंसे सबध रखती है जिन्हें यूरोपके प्राणात्मवादी विचारकोंने वैराग्यमय निराशावाद कहकर निंदित ठहराया है।

निराशावाद भारतीय मनकी ही कोई निराली विशेषता नही है यह सभी उन्नत सभ्यताओके विचारका अग रहा है। यह ऐसी सस्कृतिका चिह्न होता है जो पुरानी हो चुकी हो, एक ऐसे मनका फल होता है जिसने बहुत लबा जीवन बिताया हो, बहुत अधिक अनुभव किया हो, जीवनकी थाह ली हो और उसे दु खोंसे परिपूर्ण पाया हो, सुख और सफलताकी थाह लेकर यह अनुभव किया हो कि सब कुछ नि सार है, आत्माका सिरदर्द है और इस सूर्य-चादके राज्यमें कुछ भी नया नही है, अथवा यदि है भी तो उसकी नवीनता केवल चार दिनकी चादनी है। भारतके समान ही यूरोपमें भी निराशावादका बोलबाला रहा है और, निश्चय ही, यह एक अजीब बात है कि सबसे अधिक जडवादी जाति भारतीय आध्यात्मिकतापर यह लाछन लगाये कि इसने जीवनके मूल्योको गिरा दिया है। क्योकि, जो जडवादी विचार मानवजीवनको सर्वथा भौतिक और नाशवान् समझता है, उससे बढकर निराशाजनक और क्या हो सकता है ? सच पूछा जाय तो भारतीय विचारके अत्यत वैराग्यवादी स्वरमें भी कोई ऐसी चीज नही है जो यूरोपीय निराशावादके कुछ मतोमें पाये गये

के परे प्रत्येक मनुष्यके लिये भगवान्‌के शाश्वत सामीप्यकी सभावना देखते है। भगवान्‌की ओर ज्योतिर्मय आरोहणको सदा ही एक ऐसी परिणति समझा जाता था जो मनुष्यकी पहुचके भीतर ही है। इसे जीवन-सबधी विषादजनक या निराशावादी सिद्धात नही कहा जा सकता।

वैराग्यका थोडा-बहुत अश हुए बिना कोई भी सस्कृति महान् एव पूर्ण नही हो सकती, क्योकि वैराग्यका अर्थ है आत्मत्याग और आत्मविजय जिनके द्वारा मनुष्य अपने निम्न आवेगोका दमन करके अपनी प्रकृतिके महत्तर शिखरोकी ओर आरोहण करता है। भारतीय वैराग्यवाद न तो दु ख-कष्टकी विषादपूर्ण शिक्षा है और न अस्वास्थ्यकर कृच्छ्र साधनाके द्वारा शरीरका दु खदायी निग्रह है, बल्कि वह तो आत्माके उच्चतर हर्ष एव पूर्ण स्वामित्वकी प्राप्तिके लिये एक उदात्त प्रयत्न है। आत्मविजयका महान् हर्ष, आतरिक शातिका निश्चल हर्ष, परम आत्म-अतिक्रमणका शक्तिशाली हर्ष आदि उसके अनुभवका सार-तत्त्व है। देहद्वारा विमोहित या बाह्य जीवन तथा उसके चचल प्रयत्न एव अस्थायी सुखोमें अति आसक्त मन ही वैरागीके प्रयत्नकी श्रेष्ठता या आदर्शवादी उच्चतासे इन्कार कर सकता है। किंतु सभी आदर्शोको अतियो और पथभ्रष्टताओके शिकार भी होना पडता है। जो आदर्श मानवताके लिये अत्यत कठिन होते है वे सबसे अधिक इनके शिकार होते है, और वैराग्यवाद एक अमर्याद आत्म-यत्रणाका, प्रकृतिके कठोरतापूर्ण दमन, जगत्‌से ऊबकर पलायन या जीवनके सघर्षके आलस्यपूर्ण त्याग और हमारे पुरुषत्वसे जिस प्रयासकी माग की जाती है उससे दुर्बलतापूर्ण निवृत्तिका रूप ग्रहण कर सकता है। जब इसका अनुसरण केवल वे अपेक्षाकृत थोडेसे लोग ही नही करते जिन्हे इसके लिये पुकार प्राप्त हुई है, बल्कि जब इसका उपदेश इसके चरम रूपमें सभीको दिया जाता है और हजारो अयोग्य व्यक्ति इसका अवलबन करते है, तब इसका मूल्य-महत्त्व गिर सकता है, जाली सिक्के बढ जा सकते है और समाजकी जीवन-शक्ति अपनी नमनशीलता और आगे बढनेकी क्षमता गवा सकती है। यह दावा करना निरर्थक होगा कि भारतमें ऐसे दोष एव अनिष्ट परिणाम नही उत्पन्न हुए। वैराग्यके आदर्शोको मै मानवजीवनकी समस्याका अतिम हल नही मानता। परतु इसके अतिरजित रूपोके पीछे भी प्राणात्मवादी अतिरजनोकी अपेक्षा, जो कि पश्चिमी सस्कृतिके उस छोरके दोष है, कही महत्तर भावना विद्यमान है।

जो हो, वैराग्यवाद और मायावादके प्रश्न गौण विषय है। जिस बातपर बल देनेकी जरूरत है वह यह है कि भारतीय आध्यात्मिकता अपने महत्तम युगोमें तथा अपने अतरतम अर्थमें कोई क्लातिपूर्ण वैराग्य या रूढ़िभूत सन्यासधर्म नही रही है, बल्कि वह कामना और प्राणिक सतुष्टिके जीवनसे ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्थिरता, महत्ता, शक्ति, प्रकाश, भागवत उपलब्धि, दृढ़प्रतिष्ठ शाति और आनदकी पराकाष्ठाको प्राप्त करनेके लिये मानव आत्माके एक उच्च प्रयासके रूपमें रही है। भारतकी सस्कृति और आधुनिक

के परे प्रत्येक मनुष्यके लिये भगवान्‌के शाश्वत सामीप्यकी सभावना देखते हैं। भगवान्‌की ओर ज्योतिर्मय आरोहणको सदा ही एक ऐसी परिणति समझा जाता था जो मनुष्यकी पहुंचके भीतर ही है। इसे जीवन-सबधी विषादजनक या निराशावादी सिद्धात नहीं कहा जा सकता।

वैराग्यका थोडा-बहुत अश हुए बिना कोई भी सस्कृति महान् एव पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि वैराग्यका अर्थ है आत्मत्याग और आत्मविजय जिनके द्वारा मनुष्य अपने निम्न आवेगोका दमन करके अपनी प्रकृतिके महत्तर शिखरोकी ओर आरोहण करता है। भारतीय वैराग्यवाद न तो दु ख-कष्टकी विषादपूर्ण शिक्षा है और न अस्वास्थ्यकर कृच्छ्र साधनाके द्वारा शरीरका दु खदायी निग्रह है, बल्कि वह तो आत्माके उच्चतर हर्ष एव पूर्ण स्वामित्वकी प्राप्तिके लिये एक उदात्त प्रयत्न है। आत्मविजयका महान् हर्ष, आतरिक शातिका निश्चल हर्ष, परम आत्म-अतिक्रमणका शक्तिशाली हर्ष आदि उसके अनुभवका सार-तत्त्व है। देहद्वारा विमोहित या बाह्य जीवन तथा उसके चचल प्रयत्न एव अस्थायी सुखोमें अति आसक्त मन ही वैरागीके प्रयत्नकी श्रेष्ठता या आदर्शवादी उच्चतासे इन्कार कर सकता है। किंतु सभी आदर्शोको अतियो और पथभ्रष्टताओके शिकार भी होना पडता है। जो आदर्श मानवताके लिये अत्यत कठिन होते हैं वे सबसे अधिक इनके शिकार होते हैं, और वैराग्यवाद एक बर्माघ आत्म-यत्रणाका, प्रकृतिके कठोरतापूर्ण दमन, जगत्‌से ऊबकर पलायन या जीवनके सघर्षके आलस्यपूर्ण त्याग और हमारे पुरुषत्वसे जिस प्रयासकी माग की जाती है उससे दुर्बलतापूर्ण निवृत्तिका रूप ग्रहण कर सकता है। जब इसका अनुसरण केवल वे अपेक्षाकृत थोडेसे लोग ही नही करते जिन्हे इसके लिये पुकार प्राप्त हुई है, बल्कि जब इसका उपदेश इसके चरम रूपमें सभीको दिया जाता है और हजारो अयोग्य व्यक्ति इसका अवलबन करते है, तब इसका मूल्य-महत्त्व गिर सकता है, जाली सिक्के बढ जा सकते है और समाजकी जीवन-शक्ति अपनी नमनशीलता और आगे बढनेकी क्षमता गवा सकती है। यह दावा करना निरर्थक होगा कि भारतमें ऐसे दोष एव अनिष्ट परिणाम नही उत्पन्न हुए। वैराग्यके आदर्शको मैं मानवजीवनकी समस्याका अतिम हल नही मानता। परतु इसके अतिरजित रूपोंके पीछे भी प्राणात्मवादी अतिरजनोकी अपेक्षा, जो कि पश्चिमी सस्कृतिके उस छोरके दोष है, कहीं महत्तर भावना विद्यमान है।

जो हो, वैराग्यवाद और मायावादके प्रश्न गौण विषय हैं। जिस बातपर बल देनेकी जरूरत है वह यह है कि भारतीय आध्यात्मिकता अपने महत्तम युगोमें तथा अपने अतरतम अर्थमें कोई क्लातिपूर्ण वैराग्य या रूढिभूत सन्यासधर्म नही रही है, बल्कि वह कामना और प्राणिक सतुष्टिके जीवनसे ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्थिरता, महत्ता, शक्ति, प्रकाश, भागवत उपलब्धि, दृढप्रतिष्ठ शाति और आनदकी पराकाष्ठाको प्राप्त करनेके लिये मानव आत्माके एक उच्च प्रयासके रूपमें रही है। भारतकी सस्कृति और आधुनिक

सबके उत्कट भौतिक कर्मवादके बीच प्रश्न यह है कि ऐसा प्रयास मानवकी उच्चतम पूर्णताके लिये आवश्यक है या नहीं। और यदि आवश्यक है तो फिर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या इसे किसी-किसी विरली आत्माओंतक सीमित एक असाधारण शक्ति ही बनना है या इसे एक महान् एवं पूर्ण मानव-सभ्यताकी मुख्य प्रेरणाप्रद चालक-शक्ति भी बनाया जा सकता है।

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

चौथा अध्याय

जीवनकी दृष्टिसे भारतीय दर्शनके मूल्यका ठीक-ठीक निर्णय तभी किया जा सकता है जब उसी दृष्टिसे भारतीय धर्मके मूल्यको ठीक-ठीक आका जाय, इस संस्कृतिमें धर्म और दर्शन इतने घनिष्ठ रूपमें मिले हुए हैं कि उन्हे एक-दूसरेसे अलग नही किया जा सकता। भारतीय दर्शन अधिकाश यूरोपीय दर्शनके समान हवामें अनुमान और तर्क-वितर्क करनेका कोई कोरा बौद्धिक व्यायाम नही है, न वह विचारो और शब्दोका जाल बुननेकी कोई अति सूक्ष्म प्रक्रिया ही है, वह तो उस सबका सुव्यवस्थित बुद्धिमूलक सिद्धात या उस सबको क्रमबद्ध करनेवाला अतर्ज्ञानात्मक बोध है जो भारतीय धर्मकी आत्मा है, इसका विचार, क्रियाशील सत्य, सारभूत अनुभव और बल है। भारतीय आध्यात्मिक दर्शन कर्म और अनुभवके अदर जो रूप ग्रहण करता है वही भारतीय धर्म है। हम जिसे हिंदूधर्म कहते है उस विशाल, समृद्ध, सहस्रमुखी, अत्यधिक नमनीय पर फिर भी सुदृढ रूपसे गठित धर्म-प्रणालीके धार्मिक विचार और आचारमें जो भी चीजें ऐसी है जिनकी मूल भावना उक्त परिभाषाके अदर नही आती, उनका व्यावहारिक रूप चाहे कुछ भी हो, वे या तो सामाजिक ढाचा है या कर्मकाडको सहारा देनेवाले बाहरी रूप या फिर पुराने आश्रयो एव परिवर्द्धनोका अवशेष है। अथवा वे कोई अस्वाभाविक सृजन या किसी विकारका उभाड है, असस्कृत मनमें धर्मके सत्य और अर्थका ह्रास है, उन हीन मिश्रणोंके अग है जो समस्त धार्मिक चितन और अनुष्ठानको आक्रांत किया करते है। अथवा, कुछ प्रसगोंमें, वे ऐसी निर्जीव आदतें है जो प्रस्तरीकरण (Fossilisation) के युगोमें सिकुडनेकी प्रक्रियाके द्वारा पत्थर-सी हो गयी है, या फिर वे अपूर्ण रूपमें आत्मसात् किया हुआ बाह्य द्रव्य है जो इस बृहत् देहमें एकत्र हो गया है। सभी धार्मिक प्रणालियोंमें सर्वाधिक सहिष्णु और ग्रहणशील हिंदूधर्मका आभ्यतरिक तत्त्व ईसाइयत या इस्लामकी धार्मिक भावनाकी न्याईं तीव्र रूपसे एकागी नही है, जहातक अपनी विशिष्ट शक्तिशाली प्रकृतिको और अपनी सत्ताके विधान-को खोये बिना सभव हो सकता था वहातक वह समन्वयात्मक, अर्जनशील और समावेशकारी रहा है। सदा ही उसने सब ओरसे अपने अदर ग्रहण किया है और अपने आध्यात्मिक

हृदयमें एवं अपने आत्मस्वभाव केंद्रके प्रखर तापमें प्रज्वलित हो रही सात्म्यकरणकी शक्ति-पर इस बातके लिये विश्वास किया है कि वह अत्यंत निराशाप्रद पदार्थोंको भी अपनी आत्माके लिये उपयुक्त रूपोंमें परिणत कर देगी।

परंतु यह देखनेकी चेष्टा करनेसे पहले कि भारतके धार्मिक दर्शनमें ऐसी कौनसी चीज है जो हमारे प्रतिपक्षी पाश्चात्य आलोचकको इतने प्रचंड रूपमें क्रुद्ध और क्षुब्ध करती है यह विचार कर लेना अच्छा होगा कि इस प्राचीन तिथि-मिति-हीन और असीतक शक्ति-शालिताके साथ जीने बढ़ने और सबको आत्मसात् करनेवाले हिंदूधर्मके और पहलुओंके बारे में उसे क्या कहना है। क्योंकि उसे बहुत कुछ कहना है जिसमें न तो संयम-मर्यादा है और न जिसका कोई हद-हिसाब ही है। उसमें निंदाका वह अमित उन्माद और मिथ्या साक्षी घृणा एवं मनुवादलाका तथा सभी पतनकारी अनाध्यात्मिक और अपवित्र वस्तुओं-का वह वमन तो नहीं है जो इस विषयपर लिखे गये एक विशेष प्रकारके "ईसाई साहित्य" का विशिष्ट लक्षण है—सर जान उडरूफने मि हैरल्ड बेगबीकी पुस्तकसे इस अनिष्टकारी निंदनका जो सर्वोत्कृष्ट नमूना पेश किया है वह इसका एक दृष्टांत है—वह शायद दुख-त्वपूर्ण भले ही हो—यदि उग्रता ही दुष्टतापूर्ण मानी जाय—पर निश्चय ही बुद्धिमत्ता-पूर्ण तो नहीं है। यह एक अपरिमित निंदाका स्तूप है। जहां उसे जरा भी आधार मिल सका है वहां तो यह खूब ही खिल उठा है अतिरंजन और जानबूझकर मिथ्या वर्णन करने-की प्रखरता और प्रफुल्लतामें यह स्पष्ट रूपसे युक्ति और न्यायसे उलटा चलता है। तथापि इस भद्दी सामग्रीमेंसे भी उन प्रमुख और विशिष्ट विरोधोंको खोज निकालना संभव है जो इसे अनालोचक व्यक्तियों और बहुत-से आलोचक व्यक्तियोंके सम्मुख भी उचित ठहराते हैं और इन विरोधोंको ही ढूंढ़ निकालना उपयोगी होगा।

इस आक्रमणका मुख्य विषय यह है कि हिंदूधर्म नितांत यक्तिहीन है। मि आर्चर कहीं-कहीं यह स्वीकार करते ही हैं कि भारतके धर्ममें दार्शनिक और इसलिये हम समझ सकते हैं कि युक्तिसंगत तत्त्व विद्यमान हैं परंतु वह इस धार्मिक दर्शनके प्रधान विचारोंको जैसा समझते या मानते हैं कि मैं समझता हूं उस रूपमें वह उन्हें मिथ्या और निश्चितरूपेण हानिकारक बताकर उनका तिरस्कार और निराकरण करते हैं। वह हिंदूधर्मके तथाकथित व्यापक तर्कहीन स्वरूपकी व्याख्या इस बातके द्वारा करते हैं कि भारतवासी सदा ही सार तत्त्वकी अपेक्षा कहीं अधिक बाह्य रूपकी ओर तथा मूल भावकी अपेक्षा कहीं अधिक शब्द-की ओर ही आकृष्ट हुए हैं। कोई भी सोच सकता था कि इस प्रकारका आकर्षण मानव मनकी एक यथेष्ट सार्वभौम विशेषता है और यह केवल धर्ममें ही नहीं बल्कि समाज राज-नीति कला साहित्य और यहांतक कि विज्ञानमें भी पायी जाती है। प्रत्येक कल्पनीय मानव क्रिया-कलापमें बाह्य रूपकी पूजा करने और आत्माको भूल जाने रीति-रिवाज आडंबर और विचारशून्य सिद्धांतों और मृत नामोंकी ही मानव मनकी एक सर्वसामान्य प्रवृत्ति चीज

से पेरू (अमेरिका) तक प्रवाहित होती रही है और यह अपने रास्तेमें यूरोपको अछूता नही छोड देती और जिस यूरोपमें, लोगोंने चर्चकी सरकारके सिद्धातो, शब्दो, धार्मिक कृत्यो और विधि-विधानोंके लिये मानव मूढता और क्रूरताके द्वारा कल्पनीय प्रत्येक तरीके-से निरतर युद्ध और वध किया है, लोगोंको जिन्दा जलाया, यातनाए दी, जेलमे डाला और उत्पीडित किया है, जिस यूरोपमें इन सब चीजोने ही आध्यात्मिकता और धर्मका काम किया है, उस यूरोपका इतिहास ऐसा नही है जो इसे पूर्वके मुखपर यह कलक लगानेका अधिकार दे। परतु हमसे कहा जाता है कि यह आकर्षण भारतीय धर्मको किसी भी अन्य धर्ममतकी अपेक्षा अपना अधिक शिकार बनाता है। यह कहा जा सकता है कि कुछ एक छोटे-छोटे सुधारक सप्रदायोको छोडकर शायद और कही भी उच्चतर हिंदूधर्मका अस्तित्व नही है और सामान्य हिंदूधर्म भयावह पौराणिक कथाओका धर्म है जो कल्पना-शक्तिका दमन और क्षय करनेवाला है,—यद्यपि यहा भी कोई समझ सकता है कि भारतीय मनपर यदि कोई दोष लगाया जा सकता है तो वह सर्जनशील कल्पनाकी अतिशयता है न कि उस-का क्षय। जड-चैतन्यवाद और इद्रजाल हिंदूधर्मकी प्रधान विशेषताए है। भारतजाति-ने तर्कबुद्धिको आच्छन्न करने और धर्मको अनुष्ठानात्मक और भौतिक बनाकर अधोगतिकी ओर ले जानेमें प्रतिभाका प्रदर्शन किया है। यदि भारतमें महान् विचारक हुए हो तो भी उसने उसके विचारोंसे तर्कसगत और उन्नतिकारक धर्मका सकलन नही किया है स्पेन या रूसके किसानकी भक्ति अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसगत और आलोकित है। तर्कहीनता, तर्क-विरुद्धता, यही इस श्रमसिद्ध और अतिरजित दोषारोपणकी अविराम रट है, यही आर्चरके रागका प्रधान स्वर है।

जिस तथ्यने आलोचकके मनमें आश्चर्य और असतोष उत्पन्न किया है वह यह है कि भारतमें पुरानी धार्मिक भावना तथा विशाल प्राचीन धार्मिक आदर्श अभीतक आग्रहपूर्वक जीवित है और वे आधुनिकताकी बाढ और इसके विध्वसकारी उपयोगितावादी स्वतत्र विचार-के प्रवाहमें डूबे नही। वे हमें बताते है कि भारत अब भी उस चीजसे चिपका हुआ है जिसे न केवल पश्चिमी जगत् अपितु चीन और जापान भी युगोंसे अतिक्रात कर चुके है। भारतीय धर्म एक अधविश्वास है जिसमें पुण्यकर्मोकी भरमार है और ये कर्म आधुनिक मनुष्य-के स्वतत्र और प्रबुद्ध लौकिक मनके लिये घृणाजनक है। इसके नित्य कर्म इसे सभ्यताकी सीमासे सर्वथा बहिष्कृत कर देते है। यदि यह अपने अनुष्ठानोको शिष्ट रूपमें चर्चके रविवारके समारोहो, विवाह और अत्येष्टि सस्कारो तथा भोजनसे पहलेकी प्रार्थनाओतक ही सीमित रखता तो शायद इसे मानवीय और सहनीय माना जा सकता था। पर अपने वर्तमान स्वरूपमें यह आधुनिक जगत्‌की एक अन्यत युगविरोधी वस्तु है। तीस सदियोसे इसकी कभी सफाई नही की गयी, यह एक मूर्तिपूजावाद (Paganism) है, यह एक सर्वथा अपरिशोधित मूर्तिपूजावाद है, पवित्रीकरणकी अपेक्षा मलिनताकी ओर इसकी प्रवृत्ति

इसे जगत्‌के धर्मोंकी पंक्तिमें सबसे नीचा स्थान प्रदान करती है जिसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। इसका एक चातुरीपूर्ण इलाज प्रस्तुत किया गया है। यूरोपमें ईसाइयतने मूर्तिपूजाचारका उच्छेद किया था अतएव चूंकि संदेहवादी स्वतंत्र विचारकी कोई अविवेक या अत्यंत द्रुत विजय एक ऐसा भूकंप एवं आकस्मिक परिवर्तन होगा जो पूर्ण रूपसे संभव नहीं हो सकता हम अज्ञानयुक्त कल्पित और अपवित्र हिंदुओंको सलाह दी गयी है कि हमें कुछ समयके लिये ईसाइमतको अपने वर्तमान स्वरूपमें बुद्धिविरोधी विचारी ईसाइयत को स्वीकार कर लेना चाहिये भले ही वह प्रत्यक्षवादी बुद्धिके विपुल प्रकाशमें अधमर मृत और विकृत दिखायी देती हो क्योंकि ईसाइयत और विशेषकर प्रोटेस्टेंट ईसाइयत (Protetant Chrustianity) नास्तिकवाद और अज्ञेयवादकी श्रेष्ठ स्वर्णिम और निष्कलंक पवित्रताकी ओर कम-से-कम एक अच्छा आरंभिक पग होगी। परंतु दुर्भिक्षके समय बड़ी संख्यामें धर्मपरिवर्तन करनेपर भी यदि इस छोटेसे परिणामको बाधा न की जा सके तो कम-से-कम हिंदुधर्मको किसी-न-किसी प्रकार अपनेको विशुद्ध कर लेना होगा और जबतक यह स्वास्थ्यकारी प्रक्रिया संपन्न नहीं हो जाती तबतक भारतको सभ्य देशोंके साथ समान स्तरपर न्यायपूर्ण नहीं प्राप्त होना चाहिये।

प्रसंगवश हम देखते हैं कि तर्कहीनताके इस आरोप और इसके सहचारी प्रतिमा-पूजनके आरोपका समर्थन करनेके लिये हमारे तथा हमारी धार्मिक संस्कृतिके विरुद्ध एक तीसरा तथा अधिक अनिष्टकारक अभियोग लगाया गया है हमारे अंदर समस्त नैतिक मूल्य और सदाचार-तत्त्वका अभाव घोषित किया गया है। आज यूरोपमें भी इस बातको अधिका-धिक अनुभव किया जा रहा है कि तर्क ही मानव मनकी अंतिम शक्ति नहीं है सत्यप्राप्ति-का एकमात्र और अद्वितीय राजपथ नहीं है और निश्चय ही धार्मिक एवं आध्यात्मिक सत्य-का एकमात्र निर्णायक नहीं है। मूर्तिपूजाका दोष लगानेसे भी प्रश्न हल नहीं होता क्योंकि अनेकों सुसंस्कृत व्यक्ति भलीभांति यह देख सकते हैं कि प्राचीन धर्मोंमें ऐसी बहुतसी महान्‌ सत्य और सुन्दर वस्तुएं थीं जिन्हें अज्ञानी ईसाइयोंने एक साथ एकत्र कर पैगनिज्म (Pa-garuum)—'अंधविश्वास' का अनुपयुक्त व्यंग्य-नाम दे दिया था और जगत्‌ इन उच्च प्राचीन शास्त्राचारों एवं प्रेरणाओंको खोकर पूर्ण रूपसे लाभान्वित नहीं हुआ है। परंतु मनुष्योंका वास्तविक आचरण कैसा भी क्यों न हो—और इस बातमें सामान्य मनुष्य सर्वत्र पर सर्वथा प्रभावशून्य ठीक साधारण कोटिके आदर्शयोग्य नैतिक बनते हुए मानव और अपने-आपको धोखा देनेवाले अर्ध-कपटी फरीसी (Pharisec)[1] का अपूर्व मिश्रण है—कोई भी व्यक्ति इस विषयमें सदैव तथाकथित नैतिक अनुपमकी बलपूर्वक दुहाई दे सकता

[1] 'फारिसी' नामक एक प्राचीन यहूदी सम्प्रदायके अनुयायी जो रूढ़िग्रस्त और दिखावा करनेके लिये प्रसिद्ध थे।—अनु

है। सभी धर्म नैतिकताकी ध्वजाको ऊंचा उठाते हैं और शास्त्र-विरोधियों, समाज-विद्रोहियों और दुरात्माओंको छोड़कर सभी लोग, चाहे वे धर्मपरायण हों या संसारपरायण, अपने जीवनोंमें उस उच्च आदर्शका अनुसरण करने या कम-से-कम उसे स्वीकार करनेका दावा करते हैं। अतएव यह अभियोग लगभग सबसे अधिक हानिकारक आरोप है जो किसी धर्मपर लगाया जा सकता है। अपने-आप बना हुआ यह अभियोग लगानेवाला न्यायाधीश, जिसकी निंदात्मक वक्तृताकी हम जांच कर रहे हैं, बिना संकोच और संयमके ऐसा आरोप लगाता है। इसने आविष्कार किया है कि हिंदूधर्म कोई ऊपर उठानेवाला या यहांतक कि नैतिक दृष्टिसे सहायता पहुंचानेवाला धर्म भी नहीं है, यदि उसने सदाचारकी बहुत चर्चा की है तो नैतिक शिक्षाको उसने कभी अपने एक कर्मके रूपमें नहीं घोषित किया है। जो धर्म सदाचारकी तो अत्यधिक चर्चा करता है पर नैतिक शिक्षणका कार्य नहीं करता वह एक ऐसे वर्ग (Square) जैसा प्रतीत होता है जो चतुर्भुज होनेका दावा नहीं कर सकता, पर इस बातको जाने दें। यदि हिंदू स्थूलतर पश्चिमी बुराइयोंसे अपेक्षाकृत अधिक मुक्त है,—और ऐसा अभीतक है, केवल और केवल तभीतक जबतक कि वह ईसाइयतको अपनाकर या और किसी तरहसे "सभ्यताके घेरे" में प्रवेश नहीं करता,—तो इसका कारण यह नहीं है कि उसके स्वभावमें कोई नैतिक प्रवृत्ति है वरन् यह है कि ये बुराइयां उसके मार्गमें आती ही नहीं। उसकी समाजव्यवस्थाने, जो धर्मके अर्थात् दिव्य और मानवीय, विश्वगत और व्यक्तिगत तथा नैतिक और सामाजिक विधानके बर्बर विचारपर आधारित है, और पद-पदपर इसीके ऊपर अवलंबित है, उसे नैतिकताका त्याग करनेका अवसर प्रदान करनेकी मूर्खतापूर्वक उपेक्षा की है जो पश्चिमी सभ्यताने इतनी उदारताके साथ प्रदान किया है! फिर भी, हमें शांतिपूर्वक बताया जाता है कि हिंदूधर्मका संपूर्ण स्वभाव, जो हिंदूजातिका ही स्वभाव है, सभी बीभत्स और अस्वास्थ्यकर वस्तुओंकी ओर विषादमय प्रवृत्तिको ही सूचित करता है! असंयत निंदाके इस उच्चतम तालपर ही हम मि० आर्चर-के बीभत्स और अस्वास्थ्यकर निंदापरक नृत्यको छोड़ दें और इसमेंसे उनकी घृणा और क्रोधके स्वभावगत स्रोतोंको ढूंढ़ निकालनेकी ओर मुड़ें।

दो चीजें विशेष रूपसे सामान्य यूरोपीय मनका परिचय देती हैं,—क्योंकि कुछ महान् आत्माओं और कुछ महान् विचारकों अथवा असामान्य धार्मिकताके कुछ क्षणों या युगोंको एक ओर छोड़कर हमें प्रधान प्रवृत्तिपर ही दृष्टिपात करना होगा। इसकी दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं—जिज्ञासा और परिभाषा करनेवाली कार्यक्षम व्यावहारिक बुद्धिका सिद्धांत और जीवनविषयक सिद्धांत। यूरोपीय सभ्यताकी महान् उच्च धाराएं, यूनानी संस्कृति, कान्स्टैंटाइन (Constantine) से पहलेका रोमन जगत्, नवजागरण (Renaissance), अपनी दो महान् प्रतिभाओं, व्यवसायवाद और भौतिक विज्ञानके सहित आधुनिक युग—ये सभी पश्चिमके पास इस दोहरी शक्तिके ऊपर उठनेवाले आवेगपर सवार होकर

प्राप्त करना चाहती है। किसी एक पक्षपर जोर देनेवाला जगत् अपनी एकरूपता और एक ही संस्कृतिकी नीरसताके कारण अपेक्षाकृत दरिद्र हो जायगा, जबतक हम आत्माकी उस अनततामें अपना सिर ऊंचा नहीं उठा लेते जिसमें इतना विशाल प्रकाश विद्यमान है जो सब कुछको, सोचने, अनुभव करने और जीनेकी उच्चतम प्रणालियोंको, एकत्र लाकर समन्वित कर सकता है, तबतक प्रगतिके विभिन्न मार्गोंकी आवश्यकता रहेगी ही। यह एक ऐसा सत्य है जिसे जडवादी यूरोपपर उग्र आक्रमण करनेवाला भारतीय अथवा एशियाई या भारतीय संस्कृतिका घृणापूर्ण शत्रु या विद्वेषमय निंदक दोनों ही एकसमान उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं। वास्तवमें यहां बर्बरता और सभ्यताका कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि मनुष्योंके सभी समुदाय बर्बर हैं और वे अपनेको सभ्य बनानेका यत्न कर रहे हैं। हां॰ उनमें जो भेद देखनेमें आता है वह उन क्रियात्मक भेदोंमेंसे एक है जो मानव-संस्कृतिके वर्द्धनशील वृत्त (Orb) की पूर्णताके लिये आवश्यक है।

इस बीच, उक्त विभेद दुर्भाग्यवश धर्ममें तथा अन्य अनेक विषयोंमें दृष्टिकोणोंके एक सतत सघर्षरत विरोधको जन्म देता है, और वह विरोध एक-दूसरेको समझनेमें कम या अधिक असमर्थता और यहांतक कि एक स्पष्ट शत्रुता या घृणाको अपने साथ लाता है। पश्चिमी मन जीवनपर, सर्वाधिक बाह्य जीवनपर, ग्राह्य, दृश्य और स्थूल वस्तुओंपर बल देता है। आतर जीवनको वह बाह्य जगत्का एक बुद्धिगत प्रतिबिंबमात्र समझता है जिस-में बुद्धि वस्तुओंको आकार देनेका एक सुदृढ साधन है, प्रकृतिके द्वारा प्रस्तुत बाह्य सामग्री-की विज्ञ आलोचक है, उसे गठित और परिष्कृत करनेवाली है। वर्तमान कालमें जीवन-का उपयोग करना, पूर्ण रूपसे इसी जीवनमें तथा इसी जीवनके लिये जीना यूरोपका सपूर्ण काम-धधा है। व्यक्तिका वर्तमान जीवन और मानवजातिका अविच्छिन्न भौतिक अस्तित्व तथा इसका विकसनशील मन और ज्ञान ही उसका एकमात्र तन्मयकारी प्रिय विषय है। पश्चिम धर्मसे भी स्वभाववश यही माग करता है कि यह अपने लक्ष्य या प्रभावको वर्तमान प्रत्यक्ष जगत्के इस प्रयोजनके अधीन कर दे। यूनानी और रोमवासी धर्ममतको नगर (Polis) के जीवनके लिये अनुमति-स्वरूप या राज्यसत्ता (State) की समुचित दृढता एव स्थिरताके लिये शक्तिस्वरूप समझते थे। मध्ययुग, जब ईसाई विचार अपने चरमोत्कर्षपर था, अराजकत्वका काल था, यह वह समय था जब पश्चिमी मन अपने भावा-वेग और बुद्धिमें प्राच्य आदर्शको आत्मसात् करनेका यत्न कर रहा था। परतु इसे दृढता-पूर्वक जीवनमें उतारनेमें वह कभी सफल नहीं हुआ और अतमें उसे इसका परित्याग करना या फिर उसे इसकी केवल शाब्दिक उपासना करनेके लिये ही रख छोडना पडा। उसी प्रकार वर्तमान समय एशियाके लिये अराजकत्वका काल है जिसमें वह आत्मा और स्वभावके विद्रोह-के होते हुए भी अपनी बुद्धि और अपने प्राणमें पश्चिमी दृष्टिकोण और इसके पार्थिव आदर्शको आत्मसात् करनेके प्रयत्नसे अभिभूत है। और, यह भविष्यवाणी निःशक होकर

वादी अनुभव करता है, बल्कि इसके घेरेको तोडफोडकर तथा उससे बाहर निकलकर नीचे प्राणिक क्रीडाकी उल्लासपूर्ण स्वतत्रतामें प्रवेश करती है। इस विकासमें धर्मको एक ओर छोड दिया गया, वह विश्वास और क्रियाकाडकी एक ऐसी दुर्बल प्रणालीमात्र रह गया जिसे स्वीकार करने या न करनेके लिये हर कोई स्वतत्र था और इससे मानव मन और प्राणकी प्रगतिमें कोई विशेष अन्तर नही पडता था। चीजोंके अदर पैठने तथा उन्हे अपने रगमें रग देनेकी उसकी शक्ति क्षीण होकर अत्यत मद पड गयी, सिद्धात और भाव-भावना-पर उसका एक ऊपरी रग ही इस तीव्र प्रक्रियाके बाद शेष बच रहा।

इतना ही नही, बल्कि अबतक उसे जो छोटासा दीन-हीन कोना मिला हुआ था उसे भी बुद्धिवाद (Intellectualism) ने यथासभव तर्कके प्रकाशसे प्लावित कर देनेका आग्रह किया। उसकी प्रवृत्ति धार्मिक भावनाके अवबौद्धिक ही नही बल्कि अतिबौद्धिक आश्रय-स्थलोको भी न्यूनसे न्यून कर देनेकी रही है। समस्त प्रकृतिमें प्राण और जड-तत्त्व-के एक-एक अणुमें, सपूर्ण जीव-जगत्में और मनुष्यकी समस्त मानसिक क्रियाओमें एक दिव्य सत्ता और अतिभौतिक जीवन एव शक्तिके विद्यमान होनेके प्राचीन विचारको पुराने मूर्त्ति-पूजक बहुदेवतावादी प्रतीकवादने अपने सुन्दर रूपकोका परिधान पहनाया था, परतु यह विचार, जो लौकिक बुद्धिके लिये केवल एक बुद्धिभावापन्न जड-चैतन्यवाद है, पहले ही निर्दय-तापूर्वक बहिष्कृत कर दिया गया था। भागवत सत्ता भूतलको छोड चुकी थी और अन्य लोकोमें, सतो और अमर आत्माओके स्वर्गलोकमे बिलकुल अलग-थलग और अत्यत दूर रहने लगी थी। परन्तु कोई अन्य लोक भला होने ही क्यो चाहियें? प्रगतितत्पर बुद्धिने चिल्लाकर कहा, मैं तो केवल इस जड जगत्को ही स्वीकार करती हू जिसके अस्तित्वकी साक्षी हमारी बुद्धि और इद्रिया देती हैं। आध्यात्मिक सत्ताके एक अनिश्चित और शून्य-से अमूर्त्त रूपको, जिसका न कोई निवासधाम है और न जिसके साथ सक्रिय सामीप्य प्राप्त करनेका कोई साधन ही है, पुरानी आध्यात्मिक अनुभूति या पुरानी अद्भुत भ्रातिके निरु-त्साही अवशेषोको सतुष्ट करनेके लिये छोड दिया गया। एक रिक्त और मदोत्साह आस्तिक-वाद बाकी रह गया या फिर एक युक्ति-सिद्ध ईसाइयत बच रही जिसमें न ईसाका नाम शेष रहा और न उनकी उपस्थिति। अथवा बुद्धिका आलोचक प्रकाश भला इसे भी क्यो रहने दे? एक तर्कबुद्धि या शक्ति, जिसे किसी अधिक अच्छे नामके अभावमें 'ईश्वर' कहकर पुकारा जाता है और इस जड जगत्में नैतिक एव भौतिक नियम ही जिसका प्रति-निधि है, किसी तर्कप्रधान मनुष्यके लिये सर्वथा पर्याप्त है, और इस प्रकार हम ईश्वर-वाद (Deism) या एक शून्य बौद्धिक सूत्रपर पहुचते हैं। अथवा कोई ईश्वर भी भला क्यो हो? स्वय बुद्धि और इद्रिया ईश्वरके विषयमें कोई प्रमाण नही देती, अधिक-से-अधिक वे उनके विषयमें एक युक्तिसगत अनुमान भर कर सकती है। परतु एक नि सार अनुमान-की जरूरत ही क्या है, क्योकि प्रकृति ही अपने-आपमें पर्याप्त है और यही वह एकमात्र

वस्तु है जिसकी हमें जानकारी है। इस प्रकार एक अवश्यम्भावी प्रक्रियाके द्वारा हम लौकिकतासे नास्तिकतावादी या अज्ञेयवादी सिद्धांतपर पहुंच जाते हैं जो प्रत्यक्षवादी बुद्धिके द्वारा किये जानेवाले निषेधकी पराकाष्ठा है और है इस बुद्धिका चरम शिखर। यहां तर्कबुद्धि और जीवन आगके लिये अपना आधार रख सकते हैं तथा खूब संतुष्ट होकर विजित वस्तु पर शासन कर सकते हैं—पर हां यदि वह पीछेकी ओर अवस्थित असुविधाजनक आध्यात्मिक अनन्त अनिर्वचनीय सत्ता भविष्यके लिये उन्हें स्वतंत्र रहनेकी छूट दे दे तो।

अवश्य ही इस प्रकारका स्वभाव एवं दृष्टिकोण अतिबौद्धिक और अनन्तकी प्राप्तिके सच्चे प्रयत्न जैसी किसी भी चीजसे अधीर हो उठेगा। यह इन सूक्ष्म मर्मोंकी किसी मर्यादित क्रीडाको अनुमानात्मक मत या कलात्मक कल्पनाकी निर्दोष तृप्तिके रूपमें सहन कर सकता है बशर्ते कि वह अत्यंत गंभीर न हो उठे तथा जीवनमें बलात् घुस न जाये। परन्तु वैराग्य और पारलौकिकता तर्कबुद्धिके स्वभावके लिये घृणास्पद तथा इसके दृष्टिकोणके लिये घातक हैं। जीवन एक ऐसी वस्तु है जिसे हमें अपनी सामर्थ्यके अनुसार युक्तिपूर्वक या बलपूर्वक अधिकृत करना तथा भोगना चाहिये किंतु इस पार्थिव जीवनको हम एकमात्र वस्तु को ही जिसे हम जानते हैं और जो हमारा अनन्य क्षेत्र है। अधिक-से-अधिक एक मध्यम बौद्धिक एवं नैतिक वैराग्य अर्थात् सरल जीवन सादा रहन-सहन और उच्च विचार ही मान्य हो सकते हैं किंतु एक सार्वभौम आध्यात्मिक वैराग्य बुद्धिके निकट एक पाप है लगभग एक अपराध ही है। प्राचीनवादी इसके निराशावादको अपने भाव और अपने मर्मोंका उपभोग करने दिया जा सकता है। क्योंकि वह स्वीकार करता है कि जीवन एक बुराई है पर इसमेंसे गुजरना ही होगा और वह इस जीवनकी जड़ नहीं काट डालता। परन्तु स्पष्ट ही यथार्थ दृष्टिकोण यह है कि जीवन जैसा है वैसा अपनाया जाय और या तो व्यावहारिक दृष्टिसे इसकी किसी खूबी भलाई और बुराईका अधिक-से-अधिक अच्छा रूपमें सदुपयोग करनेके लिये या आदर्शकी दृष्टिसे एकदम शांति प्राप्त करनेकी कोई आशा किये इसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया जाय। यदि आध्यात्मिकता कोई अर्थपूर्ण वस्तु बनना है तो इसे केवल उस उन्नत बुद्धि तर्कसंगत [illegible] सीमित सौन्दर्य और नैतिक [illegible] या उच्च प्रयासका ही प्रकट करना चाहिये या इस वर्तमान जीवनका सर्वोत्तम उपयोग करनेका मार्ग [illegible] रूपमें किसी अमानवीय अज्ञेय असीम या परम पूर्णताकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये। यदि धर्मको जीवित रहना हो तो उसको भी इस प्रकार आध्यात्मिक सत्यकी सेवा करना, आचार-व्यवहारका नियमन करना, हमारे जीवनमें सौन्दर्य की [illegible] ही होना चाहिये परन्तु उसे इन [illegible] तथा [illegible] आध्यात्मिकताकी ही सेवा करनी चाहिये और [illegible] एवं पार्थिव [illegible] ही रहना चाहिये। नि[illegible] [illegible] दे [illegible] और किसी [illegible] या दूसरी [illegible]

होनेवाले व्यतिक्रमोकी उपेक्षा करता है, परन्तु समस्त मानव-प्रकृतिमें व्यतिक्रम तो होने ही चाहियें और वे बहुधा चरम कोटिके होते हैं। परन्तु मेरी समझमें यह पश्चिमी स्वभाव और उसके दृष्टिकोणके दृढ आधार एव विशिष्ट झुकावका तथा उसकी बुद्धिकी सामान्य स्थितिका कोई अनुचित या अतिरजित वर्णन नही हैं। यही बुद्धिकी आत्म-तुष्ट निश्चल स्थिति तबतक रहती है जबतक वह उस व्यतिक्रम या आत्म-अतिक्रमणकी ओर अग्रसर नही होती जिसकी ओर मनुष्य, अपनी सामान्य प्रकृतिके शिखरपर पहुचनेके बाद अनिवार्य रूपसे प्रेरित होता है। कारण, उसमें प्रकृतिकी एक शक्ति निहित है जिसे या तो विकसित होना होगा या फिर निश्चेष्ट होकर विघटित और विलुप्त हो जाना होगा, और जबतक वह अपने-आपको पूर्ण रूपसे प्राप्त नही कर लेता तबतक उसे कोई स्थिर जीवन और उसकी आत्मा-को कोई स्थायी धाम नही प्राप्त हो सकता।

अब जब कि यह पश्चिमी मन भारतीय धर्म, विचार और संस्कृतिकी अभीतक बची हुई जीवित शक्तिके सम्मुख उपस्थित होता है तो यह देखता है कि उसमें इसके सभी मान-दडोका या तो निषेध और अतिक्रमण किया गया है या उनकी अवहेलना कर दी गयी है, जिन चीजोका यह मान करता है उन सबको गौण स्थान दिया गया है, जिन चीजोका इस-ने त्याग कर दिया है उन सबका उसमें अभीतक सम्मान किया जाता है। यहा उसे एक ऐसा दर्शन दिखायी देता है जो अनतकी साक्षात् वास्तविकतापर तथा निरपेक्षके प्रबल दावे-पर आधारित है। और यह कोई अनुमान करनेकी वस्तु नही है, बल्कि एक वास्तविक उपस्थिति एव शाश्वत शक्ति है जो मनुष्यकी अतरात्माकी माग करती तथा उसे अपनी ओर बुलाती है। यहा उसे एक ऐसी मनोवृत्ति दिखायी देती है जो प्रकृतिमें, मनुष्य और पशुमें तथा जड पदार्थमें भगवान्को देखती है, आदि, मध्य और अतमें, यत्र-तत्र-सर्वत्र भग-वान् ही के दर्शन करती है। और यह सब कल्पनाकी कोई ऐसी स्वीकार्य काव्यमय क्रीडा नही है जिसे अत्यत गभीरतापूर्वक लेना जीवनके लिये आवश्यक न हो, बल्कि इसे एक ऐसी वस्तुके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है जिसे जीवनमें उतारना, चरितार्थ करना, यहातक कि बाह्य कर्मके पीछे बनाये रखना और विचार, अनुभव तथा व्यवहारके उपादानमें परिणत कर डालना आवश्यक है। और पूरी-की-पूरी साधन-पद्धतिया इसी उद्देश्यके लिये सुव्यवस्थित की गयी हैं, जिनका लोग आज भी पालन करते हैं। और सारा जीवन परम पुरुष, जगदीश्वर, एकमेव, निरपेक्ष एव अनतकी इस खोजमे ही होम दिया जाता है। और इस अपार्थिव लक्ष्यका अनुसरण करनेके लिये आज भी मनुष्य बाह्य जीवन, समाज, घर, परिवार तथा अपने अत्यत प्रिय विषयोको एव उस सबको, जो तर्कप्रधान मनके लिये सच्चा तथा ठोस मूल्य रखता है, त्याग देनेमें सतोष अनुभव करते हैं। यहा एक ऐसा देश है जिसपर अभी-तक सन्यासीकी पोशाकका गेरुआ रग खूब पक्का चढा हुआ है, जहा अभीतक परात्परका एक सत्यके रूपमें प्रचार किया जाता है और मनुष्य अन्य लोको तथा पुनर्जन्ममें और प्राचीन

की बाहरी सत्ता और उसकी सीमाओंके परे वर्द्धित होने या उसके बंधनोको तोडकर ऊपर उठ जानेपर बल दिया गया है। मानसिक और प्राणिक अहका विकास करना या अधिक-से-अधिक इसे समाजके विशाल अहके अधीन रखना ही पश्चिमका सास्कृतिक आदर्श है। परतु यहा अहको आत्माकी पूर्णतामे मुख्य बाधा समझा जाता है और यह प्रस्ताव किया जाता है कि इसका स्थान स्थूल सामाजिक अहको नही बल्कि किसी आतरिक, अमूर्त्त, विश्वातीत वस्तुको, किसी अतिमानसिक, अतिभौतिक एव परम वास्तविक वस्तुको लेना चाहिये। पश्चिमका स्वभाव है राजसिक, प्रवृत्तिमय, व्यावहारिक एव सक्रिय, इसकी दृष्टिमें विचार सदा कर्मकी ही ओर मुडता है और वह कर्मको या मनकी क्रीडा एव उत्साहशीलताकी सूक्ष्म तृप्तिको छोडकर और किसी चीजके लिये उपयोगी नही है। परतु यहा जिस प्रकारके स्वभावको स्तुत्य प्रतिपादित किया गया है वह उस जितात्मा सात्त्विक मनुष्यका स्वभाव है जिसके लिये शात विचार, आध्यात्मिक ज्ञान और आभ्यतरिक जीवन ही सबसे अधिक महत्त्व रखते है और कर्म मुख्यतया अपने निजके लिये एव अपने फलो एव पुरस्कारोंके लिये नही वरन् आतरिक प्रकृतिके विकासपर पडनेवाले अपने प्रभावकी खातिर महत्त्व रखता है। यहा एक विनाशकारी निवृत्तिमार्ग भी है जो एक शाश्वत ज्योति और शातिमे समस्त विचार और कर्मके निरोध या निर्वाणकी आशा करता है। यदि बद्ध मनवाला कोई पाश्चात्य आलोचक इन वैपम्योपर अत्यधिक असतोप, विद्वेषपूर्ण जुगुप्सा तथा निष्ठुर घृणाके साथ दृष्टिपात करे तो इसमें कोई आश्चर्य नही।

किंतु, चाहे कुछ भी हो, चाहे ये चीजें उसकी बुद्धिको कितनी ही दूर क्यो न प्रतीत होती हो, फिर भी इनमे कोई उच्च और श्रेष्ठ तत्त्व निहित है। इन्हे वह मिथ्या, बुद्धि-विरुद्ध और विषादजनक कहकर इनकी अवहेलना कर सकता है पर इन्हे बुरी और नीच बताकर निंदनीय नही घोषित कर सकता। अथवा वह उस प्रकारके मिथ्या वर्णनोके बल-पर ही ऐसा कर सकता है जैसे कि हम कहीं-कहीं मि आर्चरके अधिक दायित्वशून्य आक्षेपो-में देख चुके है। ये चीजें पुराकालीन या अप्रचलित मनोवृत्तिके चिह्न हो सकती है, पर ये किसी बर्बर सस्कृतिके फल तो कदापि नही हो सकती। परतु जब वह धर्मके उन आचार-अनुष्ठानोका पर्यवेक्षण करता है जिन्हे ये आलोकित और अनुप्राणित करती है तो उसे ऐसा अवश्य दिखायी देता है मानो वह एक निरी बर्बरता, असभ्य और अज्ञानयुक्त गडबडघोटालेके सामने उपस्थित हो। कारण, यहा उन सभी चीजोकी भरमार है जिनसे वह अपनी सस्कृतिमें धर्मको इतने दीर्घकालसे दृढतापूर्वक पृथक् करता रहा है और उस पृथक्करणको सुधार, ज्ञानालोक, और वस्तुओका तर्कसगत सत्य कहनेमे अत्यत सतोष मानता रहा है। यहा वह देखता है—एक विराट् बहुदेवतावाद, जो चीजें उसकी बुद्धिको पूर्ण मात्रामें अधविश्वास प्रतीत होती हैं उनकी अतिप्रचुरता, जो वस्तुए उसके निकट अर्थहीन या अविश्वसनीय है उनमें विश्वास करनेकी असीम तत्परता। हिंदू तीस करोड और इस-

से भी अधिक देवताओंको माननेके लिये संसारभरमें प्रसिद्ध है, उनके लिये भूमंडलके इस एक प्रायद्वीप भारतमें जितने मनुष्य रहते हैं उतने ही उन अनेकों स्वर्गलोकोंमें देवता भी निवास करते हैं और जरूरत पड़नेपर, इस बड़ी भारी संख्यामें वृद्धि करनेमें भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं। यहां भारतमें हैं मंदिर, मूर्तियां, पुरोहितगिरी, दुर्बोध रीति-रिवाजों और आचार-अनुष्ठानोंका समूह, संस्कृतके मंत्रों और प्रार्थनाओंका नित्य-पाठ जिनमेंसे कुछ तो ऐतिहासिक कालसे पहलेकी रचनाएं हैं, सब प्रकारकी अतिभौतिक सत्ताओं और शक्तियोंमें विश्वास, संत, ध्रुव, पवित्र दिन, व्रत, पूजा, यज्ञ, मर्त्य जीवोंके जीवनका नियमन करनेवाले एकमात्र भौतिक नियमोंपर तार्किक एवं वैज्ञानिक ढंगसे निर्भर रहनेके बजाय जीवनका सर्वत्र सर्वदा उन शक्तियों और प्रभावोंके साथ स्थापित करना जिनका कोई भौतिक प्रमाण सम्भव ही नहीं है। उसके लिये यह एक दुर्बोध गड़बड़झाला है, यह जड़ चैतन्यवाद है, यह एक बीभत्स परम्परागत धर्म है। भारतीय विचारक इन चीजोंको जो अर्थ प्रदान करते हैं वह, अर्थात् इनका आध्यात्मिक अर्थ उसकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है अथवा उसे जानकर भी वह अविश्वासी बना रहता है। फिर वह उसके मनको एक निःसार एवं अत्यंत मूर्खतापूर्ण प्रतीकवाद प्रतीत होता है, सूक्ष्म, व्यर्थ और निरुपयोगी। इतना ही नहीं कि इस जातिका धर्ममत और विश्वास पुरातन और मध्ययुगीन ढंगका है, बल्कि वह अपने समुचित स्थानपर विन्यस्त भी नहीं है। धर्मको एक संकुचित और प्रभावशून्य कोनेमें रखनेके स्थानपर भारतीय मन संपूर्ण जीवनको इससे परिपूरित कर देनेका दावा, एकदम अज्ञानपूर्ण दावा करता है जिसे युक्तिप्रधान मनुष्य सदाके लिये अतिक्रम कर चुका है।

सामान्य यूरोपवासीकी अति प्रत्यक्षवादी बुद्धिको—जो धार्मिक मनोवृत्तिको अतिक्रान्त कर चुकी है अथवा युक्तिपंथी जड़वादके अभीतक बचे हुए विशाल विस्थापनके बाद उस मनोवृत्तिकी ओर पुनः लौटनेके लिये केवल संघर्ष कर रही है—यह विश्वास दिलाना कठिन है कि भारतके इन धार्मिक आचार-अनुष्ठानोंमें कोई गंभीर सत्य या अर्थ निहित है। यथा ही अच्छा कहा गया है कि ये आत्माकी स्वरलहरियां हैं, परंतु जो मनुष्य आत्माको नहीं देख पाता वह निश्चय ही आत्मा और उसके ताल-छंदके परस्पर-संबंधको भी नहीं देख पायगा। जैसा कि प्रत्येक भारतीय जानता है, इस पूजाके पात्र देवता एकमेव अनन्त व शक्तिशालीके नाम, बिम्ब, रूप, क्रियाशील व्यक्तित्व एवं जीवन्त स्वरूप हैं। प्रत्येक देव परम त्रिमूर्ति (Trinity) का एक रूप है या उससे पैदा हुई सत्ता या उसपर आश्रित शक्ति है, प्रत्येक देवी विश्व-शक्ति, चिच्छक्ति या परमा शक्तिका एक रूप है। परंतु तार्किक यूरोपीय मनके लिये एकेश्वरवाद, बहुदेवतावाद, विश्वेश्वरवाद ऐसे सिद्धांत हैं जो एक समन्वय-सूत्रमें नहीं बंधते और परस्पर झगड़ते रहते हैं, एक-त्व, बहु-त्व, सर्व-त्व सभी मन अवश्य परस्पर-भिन्न रूप नहीं हैं और न हो ही सकते हैं बल्कि ये उससे सुसमन्वित रूप हैं। जिसके परे अनिर्वचनीय किसी ऐसी एकमेव दिव्य सत्तामें विश्वास करना जो स्वयं

यह समस्त विश्व है और जो देवाधिदेवके अनेक रूपोंमें निवास करती है, विचारोंका एक घपला, घोटाला और गडबडझाला है, क्योंकि समन्वय, अतर्ज्ञानात्मक दृष्टि, आतर अनुभूति इस अतीव बहिर्मुख, विश्लेषक और तार्किक मनकी विशेषताए नही है। हिंदूके लिये प्रतिमा अतिभौतिक सत्ताका एक भौतिक प्रतीक एव आलबन है, मनुष्यका देहबद्ध मन एव इद्रिय और वह अतिभौतिक बल, शक्ति या उपस्थिति जिसकी वह पूजा करता है और जिसके साथ वह सपर्क स्थापित करना चाहता है—इन दोनोंके मिलनके लिये मूर्त्ति एक आधार-का काम करती है। परतु औसत यूरोपवासीको अमूर्त्त सत्ताओंमें बहुत ही कम आस्था होती है और यदि हो भी तो उन्हे वह एक अलग श्रेणी एव एक अन्य सबधरहित लोकमें, सत्ताके एक पृथक् स्तरमे रख देना चाहेगा। भौतिक और अतिभौतिकके बीचकी ग्रथि, उसकी दृष्टिमें, एक निरर्थक सूक्ष्मता है जिसके लिये केवल कल्पनात्मक काव्य और उपन्यास-में ही जगह दी जा सकती है।

हिंदूधर्मके रीति-रिवाज, आचार-अनुष्ठान, इसकी पूजा और उपासनाकी प्रणाली केवल तभी समझमें आ सकती है यदि हम इसके मूल स्वरूपको ध्यानमें रखें। सर्वप्रथम, यह कट्टरतासे रहित एक सर्व-समावेशी धर्म है, और यदि इस्लाम और ईसाइयत समावेशकी प्रक्रियाको सहन करते तो यह उन्हे भी अपने अदर मिला लेता। इसके मार्गमें जो कुछ भी आया है वह सब इसने अपने अदर ले लिया है, और यदि वह अतिभौतिक लोकोंके सत्य तथा अनतके सत्यके साथ अपने रूपोंका कोई यथार्थ सबध स्थापित कर सका तो वह उतनेसे ही सतुष्ट रहा है। और फिर, अपने अतस्तलमें इसे सदैव यह ज्ञान रहा है कि यदि धर्मको कुछ एक सतो और विचारकोंके लिये ही नही बल्कि जन-साधारणके लिये एक वास्तविक वस्तु बनना हो तो उसे हमारी सारीकी सारी सत्ताको, केवल अतिबौद्धिक और बौद्धिक भागोको ही नही बल्कि अन्य सभी भागोको अपनी पुकार सुनानी होगी। कल्पना, भावावेग और सौंदर्यबुद्धिको, यहातक कि अर्द्ध-अवचेतन भागोंकी निज सहज-प्रवृत्तियोंको भी अपने प्रभावमें लाना होगा। धर्मको अतिबौद्धिक एव आध्यात्मिक सत्यकी प्राप्तिमें मनुष्यका मार्गदर्शक बनना होगा और अपने मार्गमें इसे आलोकित बुद्धिकी सहायता लेनी होगी, परतु वह हमारी जटिल प्रकृतिके शेष भागोको भगवान्‌की ओर पुकारनेसे नही चूक सकता। और इसे फिर प्रत्येक मनुष्यको, जहा वह स्थित है वहींसे, हाथमें लेना होगा और वह जो कुछ भी अनुभव कर सकता है उसीके द्वारा उसे आध्यात्मिक बनाना होगा, न कि उसपर तुरत कोई ऐसी चीज थोप देनी होगी जिसे वह अभी एक सच्ची और सजीव शक्तिके रूपमें हृदयगम नही कर सकता। यही हिंदूधर्मके उन अगोका अभिप्राय और उद्देश्य है जिन्हे प्रत्यक्षवादी बुद्धि तर्कहीन या तर्कविरुद्ध कहकर विशेष रूपसे कलकित करती है। परतु यूरोपीय मन इस सीधी-सादी आवश्यकताको समझनेमें असफल रहा है अथवा उसने इसे तुच्छताकी दृष्टिसे देखा है। वह धर्मको आत्माके द्वारा नही वरन् बुद्धिके द्वारा "शुद्ध

करने पर आत्माका त्याग नहीं वरन् बुद्धिके द्वारा 'सुधारने' पर जोर देता है। और हम देख चुके हैं कि यूरोपमें इस प्रकारके पवित्रीकरण और सुधारके क्या परिणाम हुए हैं। इस अज्ञानपूर्ण चिकित्साका अचूक परिणाम प्रथम तो धर्मको दुर्बल बनाना और फिर धीरे धीरे मार डालना ही हुआ है यानी रोगीका निवारण हो गया है जब कि वह रोगसे भली भांति मुक्त होकर दीर्घजीवी हो सकता था।

नैतिक तत्त्वके अभावका दोष लगाना एक घोर असत्य है यह तो सत्यके ठीक उलटी बात है परंतु इसकी व्याख्या हमें एक प्रकारकी विशेष गलतफहमीमें ढूंढ़नी होगी क्योंकि यह दोषारोपण नया नहीं है। हिंदू विचार एवं साहित्यपर प्रायः ही यह दोष लगाया जा सकता है कि इसमें सर्वत्र नैतिकताकी ओर इतना अधिक झुकाव है कि हर जगह नैतिकता-का स्वर बार-बार बजता है। ज्ञानके विचारके बाद धर्मका विचार ही इसका प्रधान स्वर है आत्माके बाद धर्म ही इसमें जीवनका आधार है। ऐसा कोई नैतिक विचार नहीं जिसपर इसने बल न दिया हो जिसे इसने उसके अत्यंत उच्च एवं अनुलंघनीय रूपमें उप-स्थित न किया हो जिसको आवेग कथानक कलात्मक कृति और रचनात्मक दृष्टांतोंके द्वारा प्रस्थापित न किया हो। सत्य सम्मान राजभक्ति विश्वासपात्रता साहस शुचिता प्रेम सहिष्णुता आत्मत्याग अहिंसा क्षमा करुणा हितैषिता दानशीलता परोपकार इसके सामान्य विषय हैं इसकी दृष्टिमें ये यथार्थ मानवजीवनके वास्तविक उपादान हैं मनुष्यके धर्मका सारतत्त्व हैं। अपने महान् और उदात्त आचार-शास्त्रसे युक्त बौद्धधर्म आत्मनिग्रहके कठोर आदेशसे समन्वित जैनधर्म धर्मके सभी पक्षोंके भव्य दृष्टांतोंसे विभूषित हिंदूधर्म नैतिक शिक्षा और आचरणमें किसी भी धर्म या संप्रदायसे कम नहीं है बल्कि सच पूछो तो इनका स्थान सब धर्मोंसे अधिक ऊंचा है और इनका प्रभाव भी सबसे अधिक सबल रहा है। प्राचीन समयमें इन गुणोंके अभ्यासके विषयमें स्वदेशीय और विदेशीय प्रमाण प्रचुर रूपमें पाये जाते हैं। अत्यधिक ह्रासके होनेपर भी अभीतक इनकी काफी छाप मौजूद है यद्यपि कई अपेक्षा-कृत पुरुषोचित गुण जो स्वतंत्रताके क्षेत्रमें ही अपने पूर्णतम वैभवके साथ पनपते हैं कुछ हद तक अवश्य गये हैं। इससे उलटी कहानी ईसाइयतके पक्षपाती उन अंग्रेज विद्वानोंके मनमें उद्भूत हुई जिन्हें भारतीय दर्शनके मुक्तिके साधनके रूपमें कर्मकी अपेक्षा ज्ञानपर अधिक बल देनेके कारण भ्रम हो गया। कारण वे सभी भारतीय अध्यात्म-साधकोंके परिचित इस नियमको नहीं देख पाये या इसका अर्थ नहीं समझ सके कि शुद्ध सात्त्विक मन और जीवन दिव्य ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रथम पग माने गये हैं—गीता कहती है कि दुष्कर्म करने-वाले मुझे नहीं पाते। और वे अंग्रेज विद्वान् समझनेमें असमर्थ थे कि भारतीय मनके लिये सत्यके ज्ञानका अर्थ बौद्धिक स्वीकृति या अभिज्ञता नहीं बल्कि आत्माके सत्यके अनु-सार नयी चेतना और नव जीवनको प्राप्त करना है। पश्चिमी मनके लिये नैतिकता अधि-कांशमें बाह्य आचारकी वस्तु है परंतु भारतीय मनके लिये बाह्य आचार आत्मिक स्थिति

की अभिव्यक्तिका एक साधन एवं चिह्न मात्र है। हिंदूधर्म केवल प्रसंगवश ही कुछ आदेशो-को एक सूत्रमें पिरो देता है, नैतिक नियमोकी एक तालिका दे देता है, पर अधिक गहरे रूपमें वह मनकी एक आध्यात्मिक या नैतिक शुद्धताका आदेश देता है और कर्म उस शुद्ध-ताका केवल एक बाह्य लक्षण है। वह काफी बलपूर्वक, प्राय अत्यत बलपूर्वक कहता है, "तुझे हिंसा नही करनी चाहिये," परतु इस आदेशपर अधिक दृढताके साथ बल देता है कि "तुझे घृणा नही करनी होगी, लोभ, क्रोध या द्वेषके वशमें नही होना होगा," क्योकि ये ही हिंसाके मूल हेतु हैं। और, हिंदूधर्म सापेक्ष मानदडोको स्वीकार करता है जो एक ऐसा ज्ञान है जो यूरोपीय बुद्धिके लिये अत्यत गहन है। हिंसा न करना उसका सर्वोच्च नियम है, **अहिंसा परमो धर्म** , तथापि वह इसे योद्धाके लिये एक स्थूल नियमके रूपमें प्रस्थापित नही करता, बल्कि उससे युद्ध न करनेवाले, दुर्बल, निरस्त्र, पराजित, बदी, आहत और पलायनकारीके प्रति दया, सरक्षण और आदर-भावके व्यवहारकी आग्रहपूर्वक माग करता है, और इस तरह समस्त जीवनके लिये एक अत्यत निरपेक्ष नियमकी अव्यवहार्यता-से बच जाता है। इस अतर्मुखता और इस बुद्धिमत्तापूर्ण सापेक्षताको समझनेकी भूल ही, सभवत, अत्यधिक मिथ्या वर्णनके लिये उत्तरदायी है। पाश्चात्य नीतिशास्त्री पूर्णताके उपदेशके रूपमें एक उच्च मानदड स्थापित करना चाहता है और यदि उस मानदडका आदर उसके अनुसरणकी अपेक्षा उसके उल्लघनसे ही अधिक हो तो भी उसे इसकी कोई विशेष परवा नही, भारतीय आचारशास्त्र उतना ही ऊचा और प्राय उससे भी ऊचा मानदड स्थापित करता है, परतु जीवनके सत्यकी अपेक्षा ऊचे-ऊचे दावोंसे कम सबध रखनेके कारण यह उन्नतिकी क्रमिक अवस्थाओको स्वीकार करता है और निचली अवस्थाओमे यह उन लोगोको यथासभव नैतिक बनानेसे ही सतुष्ट रहता है जो अभी उच्चतम नैतिक विचारो और आचार-व्यवहारके योग्य नही है।

अतएव हिंदूधर्मकी ये सब आलोचनाए या तो वास्तवमें मिथ्या हैं अथवा ये अपने स्व-रूपमें ही अप्रामाणिक है। एक और, अधिक प्रचलित तथा अनिष्टकारी आरोप यह है कि भारतीय सस्कृति प्राणशक्तिको अवसन्न तथा सकल्पबलको पगु कर देती है तथा यह मानवजीवनको कोई महान् या ओजस्वी शक्ति, कोई उच्च प्रेरणा या उत्साहवर्द्धक एव उन्नति-कारक उद्देश्य नही प्रदान करती। इसपर विचार करना अभी बाकी है कि यह पूर्णत या अशत युक्तियुक्त है या नही।

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

पांचवां अध्याय

हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या हमारे सामान्य मानवजीवनको शक्तिशाली और समृद्ध करनेके लिये भारतीय संस्कृतिमें पर्याप्त शक्ति है। इसके लोकोत्तर उद्देश्योंके अतिरिक्त क्या इसका कोई व्यावहारिक प्रवृत्तिमार्गीय एवं क्रियाशील मूल्य भी है जीवनके विस्तार और यथार्थ नियंत्रणके लिये क्या इसमें कोई शक्ति है? यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। क्योंकि यदि इस संस्कृतिमें हमें जगत्के लिये इस प्रकारकी कोई चीज न हो तो फिर इसकी अन्य महत्ता कुछ भी क्यों न हो यह जी नहीं सकती। जैसे कोई विशेष सुन्दर पौधा अपने विशेष उष्ण-गृहमें ही जीवित रहता है वैसे ही यह संस्कृति हिमालयके इस पारके अपने उष्ण प्रायद्वीपके एकान्तमें ही जीवित रह सकती है किंतु जीवनके आधुनिक सम्पर्कके तीव्र और विकट वातावरणमें विनष्ट हो जायगी। कोई भी प्राणविरोधी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती। तीव्र प्राणिक प्रेरणा और उत्साहसे रहित अतीव बौद्धिक या अतीव पारलौकिक सभ्यता रस और रक्तके अभावमें क्षीण हो जायगी। कोई भी संस्कृति मनुष्यके लिये स्थायी और पूर्ण रूपमें उपयोगी तभी हो सकती है जब कि वह उसे समस्त पार्थिव जीवन-मूल्योंके अतिक्रमणार्थ एक प्रकारका दुर्लभ एवं विश्वातीत ऊर्ध्वमुखी प्रवेग देनेके अतिरिक्त कुछ और भी प्रदान करे। इसे पुष्कल परिपक्व और परोपकारी समाजकी चिरस्थायिता और व्यवस्थित सुख-समृद्धिको साथ विज्ञान और दार्शनिक जिज्ञासाके महान् कौतूहलके द्वारा या कला काव्य और स्थापत्यकी समृद्ध ज्योति एवं प्रभाके द्वारा विभूषित करनेसे भी अधिक कुछ करना होगा। अतीत कालमें भारतीय संस्कृतिने एक महान् उद्देश्यके लिये यह सब कुछ किया था। परन्तु इसे विकास पाती हुई जीवन-शक्तिकी कसौटियोंपर भी खरा उतरना चाहिये। मनुष्यके पार्थिव प्रयासके लिये कुछ और प्रेरणा अवश्य होनी चाहिये विकासके लिये एक उद्देश्य एक प्रेरणा एक शक्ति और जीवन प्राप्त करनेके लिये एक [illegible] अवश्य होनी चाहिये। चाहे हमारा चरम निःस्वरूपीकरण तथा निर्वाण आध्यात्मिक लय या भौतिक मृत्यु हो या न हो पर इतना निश्चित है कि स्वयं यह जगत् एक विशाल प्राण-पुरुषका महान् प्रयास है और मनुष्य इस भूतलपर

उसके प्रयास या नाटकका वर्तमान संदिग्ध मुकुट एवं संघर्षरत पर अभीतक असफल आधुनिक नायक एवं अगणी है। एक महान् संस्कृतिको इस सत्यके किसी पूर्ण रूपको अवश्य देखना चाहिये, उसे इस ऊर्ध्वमुखी प्रयत्नको चरितार्थ करनेके लिये कोई चेतन एवं आदर्श शक्ति प्रदान करनी चाहिये। जीवनके लिये एक स्थिर आधार स्थापित करना ही काफी नहीं है, इसे सजाना-संवारना ही पर्याप्त नही है, इसके परेके शिखरोकी ओर बहुत ऊंची उड़ान भरना ही काफी नही है, भूतलपर मानवजातिकी महानता और विकास भी समान रूपसे हमारा ध्येय होना चाहिये। इस महान् मध्यवर्ती सत्यमें चूक जाना एक प्रधान त्रुटि है और यह स्वयं अपने-आपमे ही असफलताकी एक छाप है।

हमारे आलोचक यह कहना चाहेंगे कि भारतीय संस्कृतिके संपूर्ण अगपर ठीक ऐसी ही असफलताकी छाप अंकित है। पाश्चात्य लोगोंके मनमें यह धारणा बैठी हुई है कि हिंदू-धर्म एक सर्वथा दार्शनिक एवं पारलौकिक धर्म है जो परेकी वस्तुओंके स्वप्न देखता रहता है, इहकाल और इहलोकको भुलाये रहता है जीवनके मिथ्यात्वका अवसादजनक भाव या अनंतकी मादकता इसे मानव अभीप्सा और जागतिक प्रयासकी किसी भी उच्चता, सजीवता और महानतासे विमुख कर देती है। इसका दर्शन महिमाशाली हो सकता है, इसकी धार्मिक भावना उत्साहपूर्ण तथा इसकी प्राचीन समाज-व्यवस्था सुदृढ, सुसमंजस तथा स्थायी हो सकती है, इसका साहित्य और इसकी कला अपने ढगसे उत्तम हो सकती है, किंतु जीवनका रस इसमें नही है, संकल्पशक्तिके स्पंदन और जीवंत प्रयासकी शक्तिका इसमें सर्वथा अभाव है। यह नया पत्रकार अपोलो, हमारा आर्चर, जो भारतीय बर्बरता-रूपी अजगरकी कुंडलियोको बाणोंसे छेदनेपर उतारू है, इस प्रकारकी घोषणाएं करनेमें उस्ताद है। परन्तु यदि ऐसा हो तो, स्पष्ट ही, भारत कोई महान् कार्य नही कर सका है, मानवजीवनको कोई प्राणप्रद शक्ति नही दे सका है, कोई प्रबल संकल्पशाली पुरुष, कोई क्षमतासंपन्न व्यक्तित्व, कोई शक्तिशाली सार्थक मानवजीवन, कला और काव्यके क्षेत्रमें कोई प्राणवंत व्यक्ति उत्पन्न नही कर सका है, किसी महत्त्वपूर्ण वास्तु-कला और मूर्तिविद्याकी सृष्टि नही कर पाया है। और यही बात हमारा छिद्रान्वेषी अपने सुन्दर शब्दोंके द्वारा हमें बताता है। वह कहता है कि इस धर्म और दर्शनमें जीवन और प्रयासका मूल्य साधारणतया कम कर दिया गया है। जीवनको बिना कूल-किनारेका एक विशाल क्षेत्र समझा जाता है जिसमें पीढ़ियोका उसी प्रकार असहाय और निरुद्देश्य उत्थान-पतन होता रहता है जिस प्रकार समुद्रके बीच तरंगें उठती-गिरती है, व्यक्तिको सर्वत्र हीन किया गया और उसका मूल्य घटा दिया गया है, केवल एक महान् पुरुष गौतम बुद्ध, जो "शायद कभी हुए ही नही," विश्वके देव-मंदिर-में भारतकी एकमात्र देन है, अथवा दूसरे एक है—निस्तेज, वैशिष्ट्यहीन अशोक। नाटको और काव्योके पात्र या तो निर्जीव अतिरंजित चरित्र है या अतिप्राकृतिक शक्तियोकी कठ-पुतलियां है, कला वास्तविकतासे शून्य है, इस सभ्यताका संपूर्ण इतिहास ही एक धूमिल,

जीर्ण-शीर्ण और विषादजनक चित्र उपस्थित करता है। इस धर्म और इस दर्शनमें जीवन-की कोई शक्ति नहीं है इस इतिहासमें जीवनका कोई स्पंदन नहीं है इस कला और काव्य-में जीवनका कोई चिह्न नहीं है यही है भारतीय संस्कृतिका सारा परिणाम। जिस किसी-ने भी भारतका साहित्य सीधे मूल रूपमें देखा-पढ़ा है तथा इसका सविस्तर ज्ञान प्राप्त किया है भारतके इतिहासका अनुशीलन तथा उसकी सभ्यताका अध्ययन किया है वह देख सकता है कि यह सब एक कटु मिथ्या वर्णन है एक तीक्ष्ण व्यंग्य-चित्र एक मूर्खतापूर्ण असत्य है। पर साथ ही यूरोपीय मनपर बहुधा जो प्रभाव पड़ता है उसका निरूपण करनेका यह परम तथा संकोचहीन तरीका है और पहलेकी तरह यहां भी हमें यह देखना होगा कि क्यों भि-भिन्न दृष्टियां एक ही वस्तुको ऐसे विभिन्न रंगोंमें देखती हैं। यही एक प्राथमिक भ्रांति इसका भी मूल कारण है। भारतने जीवन यापन किया है और समृद्ध समुज्ज्वल और महान् रूपमें जीवन यापन किया है किंतु उसका जीवनसंबंधी संकल्प यूरोपसे भिन्न था है। उसकी जीवनविषयक भावना और योजना उसके स्वभावके अनुसार विशिष्ट प्रकार-की मौलिक और अद्वितीय रही है। उसके मूल्योंको समझ सकना किसी विदेशीके लिये सुगम नहीं है और अज्ञानी जन उसकी उच्चतम चीजोंका सहज ही द्वेषपूर्ण मिथ्या निरूपण कर सकते हैं इसका कारण ठीक यही है कि ये सामान्य एवं अर्धसंस्कृत मनके लिये बेहद ऊंची हैं और इसकी सीमाओंसे परे उड़ान लेनेकी प्रवृत्ति रखती हैं।

किसी संस्कृतिके जीवन-मूल्यकी जांच करनेके लिये हमें उसकी तीन शक्तियोंको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। उनमेंसे पहली है जीवन-विषयक उसके मौलिक विचारकी शक्ति दूसरी है उन रूपों भावों और गतिच्छंदोंकी शक्ति जो उसने जीवनको प्रदान किये हैं अंतिम है उसके उद्देश्योंकी प्राणवंत कार्यान्विविके लिये प्रेरणा उत्साह और शक्ति जो उस-के प्रभावमें फलने-फूलनेवाले मनुष्योंके तथा समाजके वास्तविक जीवनमें प्रकट होती है। यूरोपकी जीवनसंबंधी परिकल्पनासे हम भारतवासी आज खूब परिचित हैं क्योंकि हमारा वर्तमान चिंतन और प्रयास उस परिकल्पनाकी उपस्थितिसे यदि ओतप्रोत नहीं तो कम-से-कम उसकी छायासे आच्छन्न अवश्य है। कारण हम उसके कुछ अंशको आत्मसात् करने-के लिये यहांतक कि अपने-आपको और विशेषकर अपने राजनीतिक आर्थिक और बाह्य आचार-व्यवहारको उसके विधि-विधानों एवं मतिच्छवोंके किसी प्रतिरूपमें ढालनेके लिये निरंतर दौड़-धूप करते रहे हैं। यूरोपीय विचार एक ऐसी 'शक्ति' की परिकल्पना है जो इस जड़ जगत्में अपने-आपको व्यक्त करती है और साथ ही यह इस संसारमें एक ऐसे 'जीवनतत्त्व' की परिकल्पना है जिसका ज्ञान एकमात्र पाने योग्य अर्थ मनुष्य ही है। हालमें विज्ञानने निश्चेतन यांत्रिक प्रकृतिकी बृहत् शून्य व्यवस्थापर जो बल दिया है उससे भी जगत्-विषयक इस विचारमें जो मनुष्य ही को हर चीजका केंद्र मानता है कुछ परि-वर्तन नहीं हुआ। और मनुष्यमें जो प्रकृतिके जड़ प्रवाहके बीच एक ऐसी निराली सत्ता

है, 'जीवन'के संपूर्ण प्रयत्नका उद्देश्य है—बोधग्राही और व्यवस्थापक बुद्धिके किसी प्रकाश और सामंजस्यको, बुद्धिमूलक कार्यदक्ष शक्ति, प्रसाधक सौंदर्य, प्रबल उपयोगिता, प्राणिक उपभोग एवं आर्थिक उन्नतिको प्राप्त करना। इसके लिये वैयक्तिक अहंकी स्वतंत्र शक्ति, समष्टिगत अहंकी संगठित इच्छाशक्ति, ये दो महान् आवश्यक शक्तियां हैं। मनुष्यके अपने पृथक् व्यक्तित्वका विकास और संगठित समुन्नत राष्ट्रीय जीवन—यही दो चीजें यूरोपीय आदर्शमें महत्त्व रखती हैं। इन दोनों शक्तियोंने अपना विकास किया है, संघर्ष किया है और कभी-कभी ये अपनी सीमातक पहुंच गयी हैं और यूरोपकी ऐतिहासिक उथल-पुथलमें जो चंचल और प्रायः प्रचंड प्राणवत्ता और उसके साहित्य एवं कलामें जो ओजस्विता दिखायी देती है उसका कारण इन्हीं शक्तियोंका प्रबल प्रभाव है। जीवन और सामर्थ्य-का उपभोग, अहंभावमय लालसा और प्राणिक तुष्टिकी घुड़दौड़ ही यूरोपीय जीवनके ऊंचे और स्थायी स्वर हैं, ये ही सतत उद्‌घोषित उद्देश्य हैं। इनके विरुद्ध एक अन्य इनसे उलटा प्रयत्न भी देखनेमें आता है, वह है जीवनको तर्कबुद्धि, विज्ञान, नीतिशास्त्र और कला-के द्वारा संचालित करनेका प्रयत्न, यहां नियामक और सामंजस्यसाधक उपयोगिता ही सर्व-प्रधान उद्देश्य है। विभिन्न समयोंमें विभिन्न शक्तियोंने नेतृत्व किया है। ईसाई धार्मिक-ता भी बीचमें आयी है और उसने नये स्वरोंको जोड़ा है, कुछ प्रवृत्तियोंको परिवर्तित किया तथा किन्हीं दूसरी प्रवृत्तियोंको अधिक गहरा बनाया है। प्रत्येक युग और कालने सहायक धाराओं और शक्तियोंका भांडार बढ़ाया है और समग्र परिकल्पनाकी जटिलता एवं विशाल-तामें हाथ बंटाया है। वर्तमान समयमें समष्टिगत जीवनकी भावनाका बोलबाला है और महान् बौद्धिक एवं भौतिक प्रगतिका तथा विज्ञानके द्वारा नियंत्रित एक समुन्नत राजनीतिक और सामाजिक राज्यका विचार इस भावनाकी सहायता करता है। आज या तो विवेक-पूर्ण उपयोगिता, स्वतंत्रता और समानताका आदर्श देखनेमें आता है या फिर सुदृढ़ संगठन और कार्यदक्षताका तथा सर्वजनीन हितके लिये अविराम प्रयास करनेके लिये शक्तियोंको पूर्णतः एकत्र कर और सावधानीके साथ व्यवस्थित कर एकताके सूत्रमें बांधनेका आदर्श। यूरोपका यह प्रयास भीषण रूपसे बाह्य और प्रत्यक्षतः यांत्रिक बन गया है, किंतु एक अधिक मानवतावादी विचारकी कोई पुनर्जीवित शक्ति फिरसे अपना मार्ग बनानेका यत्न कर रही है और संभवतः शीघ्र ही मनुष्य अपनी विजयी मशीनरीके पहियेपर बांधे जाने और अपने ही यंत्रोपकरणोंके द्वारा विजित होनेसे इन्कार कर सकता है। जो हो, हमें उस अवस्थापर अत्यधिक बल देनेकी जरूरत नहीं जो अवस्था शायद क्षणस्थायी ही हो सकती है। जीवनके संबंधमें यूरोपका व्यापक और स्थायी विचार तो विद्यमान है ही और यह अपनी सीमाओंके भीतर एक महान् और शक्तिप्रद परिकल्पना है,—अपूर्ण, तंग शिखरवाली, एक भारी आवरणके नीचे आच्छन्न, अपने क्षितिजोंमें दीन-हीन और अत्यधिक पार्थिव होनेपर भी इसके अंदर एक ऐसा भाव है जो उदात्त और ओजस्वी है।

जीवनसंबंधी भारतीय विचार एक अधिक गहरे केंद्रसे उठता है तथा कम बाह्य प्रणालियोंका अनुसरण कर एक अत्यंत भिन्न लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है। भारतीय विचारणाकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह रूपके आरपार देखता है यहांतक कि शक्तिके भी आरपार देखता है और सर्वत्र वस्तुओंके अंतर्निहित आत्माकी खोज करता है। जीवनसंबंधी भारतीय संकल्पकी विशेषता यह है कि जबतक उसे आत्माका सत्य प्राप्त नहीं हो जाता और वह उसमें निवास नहीं करने लग जाता तबतक उसे ऐसा लगता है कि वह इसमें नहीं हुआ उसे पूर्णताका संपर्क नहीं प्राप्त हुआ उसे किसी मध्यवर्ती संतुष्टिमें बस जाना उचित नहीं जंचता। जगत् प्रकृति और सत्ताके विषयमें भारतीय विचार भौतिक नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक है। आत्मा अंतरात्मा और चेतना जड़ प्रकृति तथा निश्चेतन शक्तिसे केवल महान् ही नहीं हैं अपितु वे इन निम्नतर वस्तुओंके आदि और मूल कारण भी हैं। समस्त बल-सामर्थ्य एक निगूढ़ आत्माकी शक्ति या साधन है। जगत्को धारण करनेवाली शक्ति एक सचेतन संकल्प-शक्ति है और प्रकृति उसका कार्यवाहक शक्ति-रूप यंत्र है। जड़तत्त्व अपने अंदर छुपी हुई चेतनाका शरीर या क्षेत्र है और यह जड़ जगत् आत्माका बाह्य रूप और क्रिया-व्यापार है। स्वयं मनुष्य कोई ऐसा प्राण और मन नहीं है जो जड़तत्त्वसे उत्पन्न हुआ हो और सदाके लिये भौतिक प्रकृतिके अधीन हो बल्कि वह एक आत्मा है जो प्राण और शरीरका उपयोग करता है। जगत्-विषयक इस विचारमें जो एक संधान रहता है इसे जीवनमें कार्यान्वित करनेका जो एक प्रयत्न है उस उच्च प्रयासकी जो कला और पद्धति है और अंतमें प्राण और जड़तत्त्वके साथ बंधे हुए इस मनके घेरेसे बाहर निकलकर महत्तर अध्यात्म-चेतनामें प्रविष्ट होनेकी जो अभीप्सा है यही भारतीय संस्कृतिका अंतरतम मर्म है। यही उस भारतीय आध्यात्मिकताका स्वरूप है जिसकी इतनी अधिक चर्चा सुननेमें आती है। स्पष्ट ही यह प्रमुख यूरोपीय विचारसे अत्यंत दूर है जीवनविषयक ईसाई विचारको जो रूप यूरोपने दिया है उससे भी यह भिन्न है। परंतु इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि भारतीय संस्कृति जीवनकी कोई वास्तविकता नहीं स्वीकार करती किन्हीं भौतिक या प्राणिक लक्ष्यों एवं वृत्तियोंका अनुसरण नहीं करती अथवा हमारे वर्तमान मानवजीवनके लिये कुछ भी करनेकी परवाह नहीं करती। अतएव यह तर्क नहीं उठाया जा सकता कि इस प्रकारका विचार मनुष्यके मानवीय प्रयासको कोई ओजस्वी और उत्प्रेरक उद्देश्य नहीं प्रदान कर सकता निःसंदेह इस विचारमें जड़तत्त्व, प्राण बुद्धि और बाह्य रूप केवल आत्माकी शक्तियां हैं और ये अपने लिये नहीं बल्कि अपने अंतरस्थ आत्माके लिये आत्मार्थम् मूल्यवान् हैं उपनिषद् कहती है कि इनका अस्तित्व आत्माके ही लिये है और निश्चय ही इन वस्तुओंके प्रति भारतीय मनोभाव यही है। परंतु यह इनका मूल्य कम नहीं करता न इन्हें अपने मूल्यसे वंचित ही करता है बल्कि यह इनके महत्त्वको चौगुना बढ़ा देता है। यदि बाह्य रूप और देह आत्माके जीवनके अंग

प्राणित अनुभूत हों और यदि इन्हे उसके कार्य-व्यापारके लय-तालका अवलबन समझा जाय तो इनका महत्त्व अत्यधिक बढ जाता है। प्राचीन भारतीय विचारमें मानवजीवन कोई निकृष्ट और अयोग्य वस्तु नही था, पुराणमें दृढतापूर्वक कहा गया है कि यह हमारी जानकारीमें सबसे महान् वस्तु है, स्वर्गके देवता भी इसकी आकाक्षा करते है। अपने मनो, हृदयो, अपनी प्राणशक्ति और अपने शरीरोकी समृद्धतम या सबलतम शक्तियोको गभीर और उन्नत बनाना वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा स्व-उपलब्धिकी ओर तथा अपनी अनत स्वाधीनता और शक्ति-सामर्थ्यकी पुन प्राप्तिकी ओर बढ सकता है। कारण, जब मन, हृदय और बुद्धि अपनी महत्तम ज्योतियो और शक्तियोतक ऊचे उठ जाते है तब ये देहबद्ध जीवनको ऐसे बिंदुपर ले आते है जहा यह इनसे परेकी एक और भी महत्तर ज्योति और शक्तिकी ओर उन्मुक्त हो सकता है, वहा व्यक्तिगत मन एक विशाल विश्व-चेतनाके रूपमें विस्तृत हो जाता है और एक उच्च आध्यात्मिक परात्परताकी ओर उठ जाता है। ये, कम-से-कम, विषाद और बध्यताको पैदा करनेवाले विचार नही है, ये मनुष्यके जीवनको ऊचा उठाते और इसके युक्तिसगत परिणामके रूपमें देवत्व-जैसी कोई चीज उत्पन्न करते है।

वैदातिक विचारने और भारतीय संस्कृतिके प्राचीन सर्वोत्कृष्ट युगोंके विचारने मानव-जीवनको जो गरिमा प्रदान की वह मानवता-विषयक पश्चिमी विचारकी किसी भी परि-कल्पनासे कही बढकर थी। पश्चिममें मनुष्य सदा ही प्रकृतिका एक क्षणिक जीवमात्र रहा है अथवा वह एक ऐसी आत्मा रहा है जिसे जन्मके समय मनमौजी स्रष्टा अपनी मन-मानी इच्छाके द्वारा रचता है और मोक्ष पानेके लिये सर्वथा प्रतिकूल अवस्थाओमे रख देता है, पर कही अधिक सभावना यही होती है कि उसे एक नितात असफल व्यक्तिकी भाति नरकके जलते हुए कूडेके ढेरमें फेंक दिया जाय। अधिक-से-अधिक उसे यही श्रेय प्राप्त है कि उसमें एक तर्क-वितर्क करनेवाला मन और सकल्प-शक्ति है और ईश्वर या प्रकृतिने उसे जैसा बनाया है उससे अच्छा बननेका वह प्रयास करता है। परतु भारतीय संस्कृतिने हमारे सामने जो परिकल्पना रखी है वह इससे कही अधिक उन्नतिकारी एव प्रेरणाप्रद है और साथ ही एक महान् विचारकी प्रेरक शक्तिसे परिपूर्ण है। भारतीय विचारके अनु-सार मनुष्य एक अध्यात्म-सत्ता है जो शक्तिके कार्योंमे छुपी हुई है, आत्म-उपलब्धिकी ओर बढ रही है और देवत्वको प्राप्त करनेमें समर्थ है। वह एक अतरात्मा है जो प्रकृतिके भीतरसे होती हुई सचेतन आत्म-स्थितिकी ओर विकसित हो रही है, वह एक देवता और एक शाश्वत सत्ता है, वह भगवत्-सिंधुमें नित्य लहरानेवाली एक तरग है, परम अग्नि-की कभी न बुझनेवाली चिनगारी है। यहातक कि, अपनी सर्वोच्च सत्तामें वह उस अनि-र्वचनीय परात्पर सत्तासे अभिन्न है जिससे वह प्रादुर्भूत हुआ था और उन देवताओंसे भी महान् है जिनकी वह पूजा करता है। कुछ समयके लिये वह जो एक प्राकृत अर्द्ध-

पशु-रूप प्राणी प्रतीत होता है वह उसकी संपूर्ण सत्ता कदापि नहीं है और न वह किसी प्रकार उसकी वास्तविक सत्ता ही है। उसकी अंतरतम सत्ता भागवत आत्मा या कम-से-कम इसका एक क्रियाशील सनातन अंश है और इसे प्राप्त करना तथा अपनी बाह्य प्रतीयमान एवं प्राकृत सत्ताका अतिक्रम करना वह महत्ता है जिसका अधिकारी पार्थिव जीवोंमेंसे केवल वही है। मानवताके परमोच्च एवं असाधारण शिखरतक पहुंचनेकी आध्यात्मिक क्षमता उसके अंदर विद्यमान है और भारतीय संस्कृति उसके सामने जो प्रथम लक्ष्य रखती है वह यही है। अविकसित मानवताकी जिस प्रथम असंस्कृत अवस्थाके साथ आज भी अधिकतर मनुष्य संबंध रखते हैं उसमें अब और निवास न कर, न पशु प्रकृतिकी कठ- वह मुक्त सिद्ध और देवतुल्य पुरुष बन सकता है। उसकी मुक्त आत्मा भगवान्‌के साथ एकीभूत विश्व-पुरुषके साथ एकात्मा हो सकती है अथवा वह एक ऐसी ज्योति एवं विशालतामें उठ सकती है जो विश्वसे परे है उसकी प्रकृति विश्व प्रकृतिकी क्रियाशील शक्तिके साथ एकीभूत या परात्पर विज्ञान-ज्योतिके साथ एकमय हो सकती है। अपने अहंमें ही सत्ताके लिये बंद रहना उसकी अंतिम पूर्णता नहीं है वह एक विश्वमय आत्मा बन सकता है परम 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ दूसरोंके साथ सर्वभूतोंके साथ एक हो सकता है। उसकी मानवतामें छुपा हुआ उच्च अर्थ एवं संकेत यही है कि वह इस पूर्णता और परात्परताके लिये अभीप्सा कर सकता है। और इसे वह अपनी किसी भी एक या सभी स्वाभाविक शक्तियोंके द्वारा प्राप्त कर सकता है यदि वे मुक्त होना स्वीकार करें, अर्थात् इसे वह अपने मन बुद्धि और विचार तथा इनके आलोकोंके द्वारा अपने हृदय तथा इसकी प्रेम और सहानुभूतिकी असीम शक्तिके द्वारा अपनी इच्छाशक्तिके तथा प्रमुख और यथार्थ कर्मकी ओर इसकी क्रियाशील प्रवृत्तिके द्वारा अपनी नैतिक प्रकृति और सार्वभौम कल्याणके लिये इसकी भूखके द्वारा अपने सौंदर्यबोध और इसकी आनंद एवं सौंदर्यविषयक लोलोंके द्वारा अथवा अपनी अंतरात्माके और इसकी पूर्ण आध्यात्मिक स्थिरता विशालता एवं एवं शांतिकी शक्तिके द्वारा प्राप्त कर सकता है।

यही उस आध्यात्मिक मुक्ति और सिद्धिका अर्थ है जो प्राचीनतम वैदिक युगसे भारतीय विचारधारा और आंतरिक साधनामें बराबर ओतप्रोत रही है। यह लक्ष्य कितना ही ऊंचा और दुःसाध्य क्यों न हो फिर भी जब एक बार आध्यात्मिक उपलब्धिने अपना मार्ग खोज लिया है तो यह इसे इतना ही संभव और यहांतक कि एक प्रकारसे निकट और स्वाभाविक प्रतीत हुआ है। प्रत्यक्षवादी पश्चिमी मन इस परिकल्पनाको एक जीवंत और बुद्धिगम्य विचारका पद देनेमें कठिनाई महसूस करता है। सिद्ध 'भागवत' और मुक्तकी स्थिति इसे एक निर्मूल मनोकल्पना प्रतीत होती है। इसके ईसाई संस्कारोंको उन ईश्वरकी ऐकांतिक महत्ताके सामने यह एक अपवित्र भावना मालूम होती है जिनके नाममें मनुष्य एक रेंगनेवाला कीड़ामात्र है, सामान्य मनके प्रति इसकी घोर आसक्तिको यह

व्यक्तित्वका निषेध और एक घृणाजनक भयावह वस्तु प्रतीत होती है और उसके ससारबद्ध युक्तिवादको एक स्वप्न, आत्म-समोहक भ्राति या विभ्रामक उन्माद प्रतीत होती है। तथापि प्राचीन यूरोपमें स्टोइक सप्रदायके तथा प्लेटो और पाइथागोरसके अनुयायियोंने इस अभीप्सा-की ओर कुछ प्रगति की थी और उसके बाद भी कुछ विरली आत्माओंने इसे अपना लक्ष्य बनाया या गुह्य पद्धतियोके द्वारा इसका अनुशीलन किया है। और अब यह पुन पाश्चात्य कल्पनाके भीतर छन-छनकर पहुचना आरभ कर रही है, पर एक क्रियाशील जीवनोद्देश्यके रूपमें उतनी नही जितनी काव्यमें तथा सामान्य चिंतनके कुछ एक रूपोमें या थियोसोफी जैसे उन आदोलनोके द्वारा जो प्राचीन और प्राच्य स्रोतोसे अपनी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। पाश्चात्य विज्ञान, दर्शन और धर्म अभीतक इसे घृणापूर्वक एक भ्रमके रूपमें, उदासीनता-पूर्वक एक स्वप्नके रूपमें या निदापूर्वक एक म्लेच्छोचित गर्वके रूपमें देखते हैं। भारतीय सस्कृतिकी विलक्षणता यही है कि उसने इस महान् सक्रिय आशाको अविकृत किया है, इसे एक सजीव और व्यवहार्य वस्तुके रूपमें सुरक्षित रखा है और सर्वांगपूर्ण जीवनकी इस आध्या-त्मिक प्रणालीतक पहुचनेके सभी समव मार्गोंको खोज निकाला है। भारतीय विचारने इस महान् वस्तुको प्रत्येक मानवजीवनमें विराजमान अतरात्माके सर्वसामान्य उच्चतम ध्येय और सार्वभौम आध्यात्मिक भवितव्यताका रूप प्रदान किया है।

जीवनविषयक भारतीय विचारका मूल्य उन सबधो और क्रम-परपराओपर निर्भर करता है जिनके द्वारा वह इस दुष्प्राप्य और दूरस्थ पूर्णताको हमारे सामान्य जीवन तथा वर्तमान दैनदिन स्वभावके साथ जोडता है। यदि उस पूर्णताके आदर्शको किसी सबधके बिना या इसतक ले जानेवाली और इसे सभव बनानेवाली किन्ही क्रम-परपराओके बिना ही सामान्य जीवन और स्वभावके सम्मुख खडा कर दिया जाय तो यह या तो उच्च और दुष्प्राप्य आदर्श प्रतीत होगा या इनी-गिनी असाधारण आत्माओका अनासक्त सुदूर भावावेग। अथवा, आध्यात्मिक सत्ता और हमारी अपनी दीन-हीन अपूर्ण प्रकृतिके बीचके बडे भारी वैषम्यके कारण यह हमारे प्राकृतिक जीवनके स्रोतोको निरुत्साहिततक कर सकता है। अभी पिछले युगमें कुछ ऐसी बात हुई भी है, भारतीय धर्म और दर्शनके आत्यतिक वैराग्यवाद और पारलौकिकताके विषयमें पश्चिमकी प्रचलित धारणा उस बढती हुई खाईपर ही आधारित है जिसे परवर्ती चिंतनने मनुष्यकी आध्यात्मिक सभावनाओ और उसकी ऐहलौकिक अवस्थाके बीच पैदा कर दिया है। परतु हमें आत्यतिक प्रवृत्तियोंके कारण या ह्रासके कालमें इनपर दिये गये अत्यधिक बलके कारण भ्रममें नही पड जाना चाहिये। यदि हम जीवनविषयक भारतीय विचारका वास्तविक तात्पर्य समझना चाहें तो हमें इसके सर्वश्रेष्ठ युगकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये। और हमें दर्शनके इस या उस सप्रदाय या उसके किसी एक पहलूको ही सपूर्ण भारतीय विचार नही समझ लेना चाहिये, सारे-के-सारे प्राचीन दार्शनिक चिंतन, धर्म, साहित्य, कला और समाजको हमें अपनी खोजका क्षेत्र बनाना चाहिये। भार-

ये विचारक अपनी प्रारंभिक स्वस्थ स्थितिमें ऐसी कल्पना करनेकी भूल कभी नहीं की कि धाराके एक छोरसे उसके विपरीत छोरतक तीव्र और असहिष्णु रूपमें तथा अविवेक छलांग लगाकर यह महान् कार्य किया जा सकता है या करना उचित भी है। यहांतक कि अत्यन्त मायावादी दर्शन भी इतनी दूरतक नहीं गये। भारतीय मनके एक पक्षके लिये तो इस विश्वमें होनेवाले परमात्माके कार्य-कलाप वास्तविक सत्य थे और दूसरे पक्षके लिये केवल एक अर्ध-सत्य एक आत्म-प्रकाशक लीला या भ्रमात्मक माया थे। एकके निकट यह जगत् अनन्त शक्तिका कार्य-विशेष था और दूसरेके निकट सनातनकी किसी गौण विशेष-भावात्मक चेतनाकी मायाकी एक मिथ्या रचना। परंतु भारतीय चिंतनके किसी भी संप्रदायने एक मध्यवर्ती सत्यके रूपमें जीवनसे कभी इन्कार नहीं किया। भारतीय विचारने इस बातको स्वीकार किया था कि मनुष्यके सामान्य जीवनके उद्देश्यकी पूर्तिके हेतु एक प्रथम प्रयास करते हुए हमें इसमेंसे गुजरना ही होगा। इसकी शक्तियोंको हमें ज्ञानपूर्वक विकसित करना होगा इसकी रीति-नीतियोंका हमें निरीक्षण करना होगा उनकी व्याख्या करनी होगी तथा उनकी थाह लेनी होगी इसके मूल्योंको निर्धारित करके अधिकृत करना तथा जीवनमें चरितार्थ करना होगा इसके सुखोंका उनके अपने धरातलपर पूर्ण रूपसे उपभोग करना होगा। उसके बाद ही कहीं हम आत्म-जीवन या अति-जीवनकी ओर जा सकते हैं। जिस आध्यात्मिक पूर्णताका मार्ग मनुष्यके सामने खुला पड़ा है वह जीवन और प्रकृतिमें आत्माके सुदीर्घ धैर्यपूर्ण और सहस्रों वर्ष चलनेवाले विकासका सर्वोच्च शिखर है। इस लोकमें होनेवाली क्रमिक आध्यात्मिक उन्नति एवं विकासमें इस प्रकारका विश्वास होना ही निश्चित वह गूढ़ रहस्य है जिसके कारण पुनर्जन्मके सत्यको भारतमें प्रायः सार्वजनीन मान्यता प्राप्त हुई है। विश्वमें अवस्थित निगूढ़ आत्मा जो अचेतनोंमें भी चेतन है चेतन अचेतनम् निम्न योनियोंमें सहस्रों बार जन्म लेकर ही मानवयोनितक पहुंचा है सैकड़ों या हजारों यहांतक कि शायद लाखों मानवजीवनोंके द्वारा ही मनुष्य अपनी दिव्य अध्यात्म-सत्तामें विकसित हो सकता है। प्रत्येक जीवन एक पग है जिसे वह पीछे या आगेकी ओर उठा सकता है अत्यन्त प्रारंभिक अवस्थाओंसे लेकर अंतिम परात्परतामें पहुंचनेतक प्रत्येक जीवनगत कर्म जीवनगत सम्बन्ध उसका विचार और ज्ञान जिनके द्वारा वह अपने जीवनका नियंत्रण और परिचालन करता है उसके भावी अस्तित्व या जीवनका निर्धारण करते हैं। यथाकर्म यथाश्रुतम्।

यही विश्वास जीवन-विषयक भारतीय विचारकी धुरी है कि आत्माका क्रमिक विकास होता है और अंतमें वह एक ऊर्ध्वगति या लोकोत्तर स्थितिको प्राप्त होता है तथा मानव-जीवन इसे प्राप्त करनेका सबसे प्रत्यक्ष साधन एवं बारंबार मिलनेवाला अवसर है। यह बात हमारे जीवनको एक पुरुषाकार या चमत्कार शक्तिके साथ होनेवाले आरोहणका रूप दे देती है और इस आरोहणकी सुदीर्घ गतिको मानव ज्ञान मानव कर्म मानव अनुभवके

परिपूरित करना होता है। इसके भीतर सभी पार्थिव-उद्देश्यो, कर्मों और अभीप्साओंके लिये अवकाश है, इस आरोहणमें सब प्रकारके मानवीय चरित्र और स्वभावके लिये स्थान है। कारण, विश्वगत आत्मा सैकडो रूप धारण करता है और अनेक प्रवृत्तियोका अनुसरण करता तथा अपनी लीलाको अनेक आकार प्रदान करता है। ये सभी हमारे आवश्यक अनुभवकी सपूर्ण समष्टिके अग है, इनमेंसे प्रत्येककी अपनी सार्थकता है, प्रत्येककी सत्ताका अपना स्वाभाविक या सच्चा विधान और हेतु है, इस लीला और इस प्रक्रियामें प्रत्येककी अपनी उपयोगिता है। इद्रियोंके सुखभोगके दावेकी उपेक्षा नही की गयी थी, इसे इसका उचित महत्त्व दिया गया था। परिश्रम और वीर-कर्म करनेकी आत्माकी आवश्यकताका गला नही घोटा गया था, इसे अपनी पूर्णतम क्रिया और स्वतत्रतम क्षेत्रकी प्राप्तिके लिये प्रोत्साहित किया गया था। ज्ञानके अनुशीलनके सैकडो रूपोको अपनी गतिविधिके लिये पूर्ण स्वतत्रता दी गयी थी, भावावेगोकी क्रीडाके लिये अनुमति दी गयी थी, उन्हे तबतक परिष्कृत और सुशिक्षित किया जाता था जबतक वे दिव्य स्तरोंके योग्य नही बन जाते थे, सौंदर्यग्राही शक्तियोकी मागको उसके उच्चतम एव दुर्लभतम रूपोमें तथा जीवनके सामान्यतम ब्योरोमें भी प्रोत्साहित किया जाता था। भारतीय सस्कृतिने मानवजीवनकी महान् क्रीडाके वैभवको न तो विकृत किया न क्षीण, इसने हमारी प्रकृतिकी प्रवृत्तियोको कभी अवसन्न या पगु नही बनाया। बल्कि, सामजस्य और नियत्रणके एक विशेष सिद्धातके अधीन, इसने उन्हे उनका पूर्ण और प्राय ही उनका चरम मूल्य प्रदान किया। मनुष्यको अपने मार्गमें समस्त अनुभवकी थाह लेने, अपने चरित्र और कर्मको विशाल स्वातन्त्र्य और वीरोचित परिमाण प्रदान करने और जीवनको प्रचुरताके साथ रग-रूप, सौंदर्य और सुख-भोगसे भर देनेकी छूट दी गयी थी। भारतीय विचारके इस जीवनसबधी पहलूकी छाप महाकाव्यो और उच्च कोटिके साहित्यपर खूब उभरी हुई दीख पडती है। निःसदेह, यह बडे आश्चर्यकी बात है कि आख या दिमाग रखनेवाला कोई व्यक्ति रामायण और महाभारतको, नाटको, साहित्यिक महाकाव्यो तथा आख्यायिकाओको, और सस्कृत तथा बादकी भाषाओमें विरचित अतिविपुल सूक्ति-काव्य और गीति-काव्यको (अन्य सास्कृतिक कृतियो और सामाजिक एव राजनीतिक शास्त्र और चिंतनकी अपार राशिकी हम यहा कुछ भी चर्चा नही करते) पढकर भी इस विशालता, समृद्धि और महत्ताको न देख पाया हो। उसने अवश्य ही देखनेवाली आख या समझनेवाली बुद्धिके बिना ही पढा होगा, सच पूछा जाय तो बहुत-से विरोधी आलोचकोने तो अध्ययन या अनुशीलन किया ही नही है, बल्कि केवल अपनी पूर्वकल्पित धारणाओको ही एक तीव्र या उच्छृखल तथा अज्ञानयुक्त विश्वासके साथ विकीर्ण कर दिया है।

परतु जहा मानवजीवनको समृद्ध, विस्तारित और उत्साहित करना सस्कृतिका एक उदार कार्य है, वहा उसे प्राणिक शक्तियोंको एक मार्गदर्शक नियम भी प्रदान करना चाहिये,

में अपना मनबहलाव किया है, परंतु यह झुकाव जिसे अनुचित रूपसे 'पेगेनिज्म' (Paganism) का नाम दिया गया है,—क्योंकि यूनानी या पेगन बुद्धि विधान, सामजस्य और आत्म-शासनके विषयमें उदात्त विचार रखती थी,—भारतीय भावनाके लिये एक विजातीय वस्तु है। इद्रियोकी पुकारको भारतने यूनान, रोम या आधुनिक यूरोपसे कम नही अनुभव किया है, उसने जडवादी जीवनकी सभावनाको खूब अच्छी तरहसे अनुभव किया था और इसके आकर्षणने कुछ विचारको पर प्रभाव डालकर चार्वाकोंके दर्शनको जन्म दिया, परतु यह अपना पूरा अधिकार नही जमा सका और न थोडे समयके लिये भी अपना कोई प्रभुत्वशाली आधिपत्य स्थापित कर सका। यद्यपि बहुत बडे परिमाणपर बिताये जानेपर इस जीवनमें भी हम एक प्रकारकी विकृत महानता देख सकते है तथापि एकमात्र मन और इद्रियोंके जीवनमे आसक्त रहनेवाले विराट् अहभावको भारत असुर और राक्षसका स्वभाव मानता था। यह आसुरिक, राक्षसिक या पैशाचिक कोटिकी भावना है जो अपने स्तरमें तो रहने दी जा सकती है पर जो मानवजीवनके लिये समुचित धर्म नही है। मनुष्यपर तो एक और ही शक्ति स्वत्व रखनेका दावा करती है जो कामना, स्वार्थ और स्वेच्छासे ऊपर उठी हुई है और वह है धर्मकी शक्ति।

धर्म एक साथ ही कर्मका धार्मिक नियम और हमारी प्रकृतिका गभीरतम विधान है, वह कोई ऐसा सिद्धात, धर्ममत या आदर्श नही है जो नैतिक और सामाजिक नियममात्रकी प्रेरणा देता हो जैसा कि पश्चिमी विचारमें उसे माना जाता है, वह तो हमारे जीवनके सभी अगोंके कार्य-व्यापारका यथार्थ विधान है। अपने जीवन-यापनके न्याय्य और पूर्ण विधानका अनुसधान करनेकी मनुष्यकी प्रवृत्ति धर्ममें ही अपनी सत्यता और सार्थकता लाभ करती है। निश्चय ही, प्रत्येक वस्तुका अपना धर्म, अर्थात् अपने जीवनका विधान होता है जो उसकी प्रकृतिके द्वारा उसपर लादा जाता है, परन्तु मनुष्यके लिये धर्म है अपने सभी अगोपर आदर्श जीवन-यापनके नियमको सचेतन रूपमें लागू करना। अपने सार-रूपमें तो धर्म एक स्थिर वस्तु है, किंतु फिर भी वह हमारी चेतनामें अभिवर्द्धित एव विकसित होता है और उसकी कुछ क्रमिक अवस्थाए होती हैं, अपनी प्रकृतिके उच्चतम विधानकी खोज करते समय हमारे आध्यात्मिक और नैतिक आरोहणके कुछ स्तर होते हैं। सब मनुष्य सभी चीजोंमें एक ही सार्वभौम और अपरिवर्तनीय नियमका अनुसरण नही कर सकते। जीवन इतना जटिल है कि इसमें उस स्वच्छद आदर्शभूत सरलताको प्रवेश नही मिल सकता जिसे कि सबको नैतिक बनानेवाला सिद्धाती पसद करता है। सबकी प्रकृतिया भिन्न-भिन्न है, हमारे अपने पद तथा हमारे अपने कर्मके अपने दावे और मानदड होते है, लक्ष्य एव प्रवृत्ति, जीवनकी पुकार, अतरस्थ आत्माकी पुकार प्रत्येक आदमीके लिये एक-सी नही होती विकास-का परिमाण और रुख, तथा क्षमता अर्थात् अधिकार एकसमान नही होते। मनुष्य समाजमें तथा समाजके द्वारा जीवन यापन करता है, और प्रत्येक समाजका एक अपना सर्व-

जनीन धर्म होता है और प्रत्येक व्यक्तिके जीवनकी गतिविधिको जागतिक प्रवृत्तिके इस व्यापकतर धर्मके अंदर ठीक बैठ जाना चाहिये। किंतु यहां भी समाजमें व्यक्तिका भाग उस की प्रकृति तथा उसकी योग्यता और स्वभावकी आवश्यकताएं अलग-अलग अनेकविध और नाना स्तरोंकी होती हैं सामाजिक धर्मको इस विविधताके लिये कुछ अवकाश देना होगा सभीके लिये कठोर रूपसे एक ढाँचेपर तो वह अपनी हानि ही करेगा। ज्ञानी शूरवीर, उत्पादक और धनोपार्जक मनुष्य पुरोहित विद्वान् कवि कलाकार शासक योद्धा व्यापारी कृषक कारीगर श्रमिक और सेवकको एकसी शिक्षा देना उपयोगी नहीं हो सकता उन्हें एक ही साँचेमें नहीं ढाला जा सकता वे सभी समान जीवन प्रणालीका अनुसरण नहीं कर सकते। सबको एक ही नियमावलिके अधीन नहीं रखना चाहिये क्योंकि वह एक निरर्थक ज्यामितिक कठोरता होगी जो जीवनके नमनीय सत्यको विकृत कर देगी। प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृतिका अपना एक प्रकार होता है और उस प्रकारकी पूर्णताके लिये कोई नियम अवश्य होना चाहिये प्रत्येकका अपना विशेष कार्य होता है और उस कार्यके लिये कोई नियम और आदर्श होना ही चाहिये। सभी वस्तुओंमें कार्य करनेका कोई ज्ञानयुक्त और शोभापूर्ण मानदंड तथा पूर्णताका कोई विचार और कोई उचित नियम अवश्य होना चाहिये—यही धर्मके लिये एकमात्र आवश्यक वस्तु है। कामना स्वार्थ और सहजप्रवृत्तिके नियमहीन आवेगको मानवीय चरित्रका नेतृत्व नहीं करने दिया जा सकता कामना स्वार्थ और सहज प्रवृत्तिके सम्बन्धमें उनके अनुसरणमें भी एक नियामक प्रतिबंधक और निर्देशक रेखा होनी चाहिये एक मार्गदर्शन होना चाहिये। एक नीतिशास्त्र या विज्ञान अभीष्ट पदार्थके सत्यसे पैदा होनेवाला एक नियम एवं एक क्षेम पूर्णताका एक आदर्शमान एक व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये। मनुष्यके प्रकार और कार्यके भेदके अनुसार भिन्न-भिन्न होते हुए भी ये विशेष धर्म उस महत्तर धर्म एवं सत्यकी ओर उठने वाले जो अन्य धर्मोंको अपने अंदर लिये हुए और उनसे ऊपर है तथा सार्वभौम रूपसे प्रभावशाली है। सो यह था धर्म जो विशेष व्यक्ति विकासकी विशेष अवस्था जीवनके विशेष उद्देश्य या कर्मके वैयक्तिक क्षेत्रके लिये विशेष था पर व्यापक कार्यप्रणालियोंमें जो सबके लिये अनुसरणीय होती हैं वह सार्वभौम भी था।

भारतीय विचारमें सार्वभौम सर्व-समावेशी धर्म मनुष्यके विकासशील मन और अंतरात्माके लिये एक आदर्श पूर्णताका धर्म है यह उन कुछ ऐसे उच्च या व्यापक सार्वभौम गुणोंके ओज और तेजमें विकसित होनेके लिये आह्वान करता है जो एक-दूसरेके साथ समस्वर होकर एक उच्चतम श्रेणीके मनुष्यका निर्माण करते हैं। भारतीय विचार और जीवनमें यह श्रेष्ठ मनुष्यका आदर्श था आर्य या सज्जन पुरुषका धर्म या अपनेको पूर्ण बनानेवाले व्यक्ति साधु के लिये निर्धारित अनुशासन था। यह आदर्श कोरा नैतिक या सदाचार संबंधी विचारमात्र नहीं था भले ही वह सदा उसमें प्रबल रहा हो यह बौद्धिक धार्मिक

सामाजिक और सौंदर्यबोधात्मक भी था, सर्वांग-सपन्न आदर्श मानवका विकास, समग्र मानव-प्रकृतिका पूर्णत्व भी था। 'श्रेष्ठ' और 'आर्य' की जो भारतीय परिकल्पना है उसमें अत्यत विभिन्न गुणोका समावेश था। हृदयमें हितैषिता, परोपकारिता, प्रीति, करुणा, परार्थभावना, सहिष्णुता, उदारता, दयालुता, धीरता, चरित्रमें साहस, शौर्य, तेज, स्वामिभक्ति, जितेन्द्रियता, सत्य, सम्मान, न्याय, श्रद्धा, योग्य स्थानपर आज्ञापालन और आदर-सत्कार, साथ ही शासन और सचालन करनेकी शक्ति भी, एक सुदर विनयशीलता और फिर भी प्रवल स्वातन्त्र्य-भावना और उदात्त आत्माभिमान, मनमें प्रज्ञा, मनीषा, विद्याप्रेम, समस्त श्रेष्ठतम विचारोका ज्ञान, काव्य, कला और सौंदर्यके प्रति उन्मुखता, कर्ममें शिक्षालब्ध योग्यता और कुशलता, आभ्यतरिक सत्तामें तीव्र धार्मिक भावना, पुण्यशीलता, ईश्वरप्रेम, 'परम' की खोज, आध्यात्मिक झुकाव, सामाजिक सबधो और आचार-व्यवहारमें पिता, पुत्र, पति, भाई, सबधी, मित्र, शासक या शासित, स्वामी या सेवक, पुरोहित या योद्धा या कर्मी, राजा या ऋषि, जाति या वर्णके सदस्यके रूपमें सब सामाजिक धर्मोका कठोर पालन यह आर्य, अर्थात् उच्च कुल और श्रेष्ठ प्रकृतिवाले मनुष्यका समग्र आदर्श था। यह आदर्श प्राचीन भारतके दो सहस्राब्दियोके इतिहासमें स्पष्ट रूपसे चित्रित है और यह हिन्दू नीतिशास्त्रका वास्तविक प्राण है। यह एक ऐसे मनकी उपज था जो एक साथ ही आदर्श-स्वरूप और युक्तिपूर्ण भी था, अध्यात्मकुशल और व्यवहारकुशल भी था, गहरे रूपमें धार्मिक, श्रेष्ठ रूपमें नैतिक, दृढ और फिर भी नमनशील रूपमें बौद्धिक, वैज्ञानिक और सौंदर्योपासक, जीवनकी कठिनाइयो और मानवीय दुर्बलताओके प्रति वीर और सहनशील, पर आत्म-अनुशासनमें कठोर भी था। यही मन भारतीय सभ्यताके मूलमें था और सपूर्ण सस्कृतिपर इसकी अपनी विशिष्ट छाप थी।

परतु यह भी उस अन्य उच्चतम वस्तुका मात्र आधार और उपक्रम था जो अपनी उपस्थितिसे मानव-जीवनको उससे परे किसी आध्यात्मिक और दिव्य वस्तुकी ओर उठा ले जाती है। भारतीय सस्कृति कामना, स्वार्थ और सतुष्ट प्रवृत्तिवाले स्थूल पाशविक जीवनमें धर्मके नियमक्रम और उच्च ध्येयोका सचार करके उसे अपने प्रथम आशयसे परे एक उत्कृष्ट आत्म-अतिक्रमण और सुदर सामजस्यतक उठा ले गयी। परतु इसका गभीरतर विशिष्ट ध्येय था अपने-आपको पूर्ण बनानेवाले मनुष्यके इस उत्कृष्टतर जीवनको भी इसके अपने उद्देश्यसे ऊचा उठाकर एक सबलतम आत्म-अतिक्रमण और स्वातत्र्यतक ले जाना और इस ध्येयमें यह अद्वितीय थी, इसने इसे आध्यात्मिक स्वातत्र्य और सिद्धि, मुक्ति, मोक्षके महान् लक्ष्यसे अनुप्राणित करनेका यत्न किया। धर्म और उसका पालन करना न तो मनुष्यका आदि है न अत, धर्मके क्षेत्रसे परे चेतनाका एक बृहत्तर स्तर है जिसमें आरोहण करता हुआ वह एक महान् आध्यात्मिक स्वातत्र्यको प्राप्त हो जाता है। उदात्त पर सदा मरणशील मनुष्यत्व ही मानव-पूर्णताकी पराकाष्ठा नहीं है, अमरता, स्वतत्रता और दिव्यता भी उसकी पहुचके भीतर है। प्राचीन भारतीय सस्कृतिने इस उच्चतम लक्ष्यको सदैव आत्माकी

अंतर्दृष्टिके सामने रखा और जीवनविषयक संपूर्ण विचारको इसकी संभावना और ज्योतिसे निरंतर अनुप्राणित किया। इस लक्ष्यसे व्यक्तिका संपूर्ण जीवन महत् बन गया था और समाजकी संपूर्ण व्यवस्था इस परमोच्च शिखरकी ओर ले जानेवाले क्रमिक आरोहणकी एक क्रमपरंपरामें ढाल दी गयी थी।

व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवनकी सुनियंत्रित प्रणालीको सदा ही सर्वप्रथम भारतीय विचारके द्वारा स्वीकृत तीन प्रमुख शक्तियोंकी व्यवस्था होना चाहिये। उसमें स्वाभाविक कार्य-व्यापारोंकी मांग पूर्ण रूपसे स्वीकृत होनी चाहिये वैयक्तिक और सामाजिक रुचिके अनुसरणको तथा मानवी आवश्यकताओंकी भांति मानवी कामनाओंकी तुष्टिको भी पर्याप्त रूपमें स्वीकार करना चाहिये और इन उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये ज्ञान और पुरुषार्थका समस्त सयोग होना चाहिये। परंतु सबको धर्मके आदर्शके द्वारा निर्मित महत्तर अर्थोंकी ओर प्रवृत्त तथा विस्तारित होना होगा। और यदि जैसा कि भारत विश्वास करता है एक ऐसी उच्चतर अध्यात्म चेतना भी है जिसकी ओर मनुष्य आरोहण कर सकता है तो उस आरोहणको जीवनके परम ध्येयके रूपमें सदा-सर्वदा अपनी दृष्टिके सामने रखना होगा। भारतीय संस्कृतिकी व्यवस्था मनुष्यकी प्रकृतिको एक साथ ही तुष्टिका अवसर देती और संयमित भी करती थी यह उसे उसके सामाजिक कर्तव्यके योग्य बनाती थी यह उसके मनमें एक ऐसी सुसंस्कृत मानवताके उदार आदर्शकी छाप बैठाती थी जो अपनी सभी क्षमताओंमें परिमार्जित और सुसमन्वित तथा अपने सभी अंगोंमें समुन्नत होती थी परंतु यह उसके सामने उच्चतर रूपांतरके सिद्धांत और साधनामार्गको भी उपस्थित करती थी उसे आध्यात्मिक जीवनकी परिकल्पनासे अवगत कराती थी और उसके अंदर देवत्व तथा 'अनंत' के लिये भूख पैदा करती थी। उसके धर्मके प्रतीक इस ओर ले जानेवाले संकेतोंसे परिपूर्ण थे पग-पगपर उसे पीछे या आगेके जीवनोंकी तथा इस जड़ जगत्‌के परे विद्यमान लोकोंकी याद दिलायी जाती थी उसे उस आत्माके सान्निध्य [illegible] उसके आह्वान और दबाव के निकट लाया जाता था जो इस जीवनसे जिसे वह मर्यादित करता है अधिक महान् है साथ ही उसे अंतिम कदम उच्च संभवनीय अमरता स्वतंत्रता भागवत्चेतना और दिव्य प्रकृतिके भी समीप पहुंचाया जाता था। मनुष्यको यह बात भुलाने नहीं दी जाती थी कि उसमें एक उच्चतम आत्मा है जो उसके क्षुद्र व्यक्तिगत अहंसे परे है और वह तथा सभी पदार्थ सदा ईश्वरमें सनातन तथा परमात्मामें ही रहते-सहते चलते-फिरते और अपना अस्तित्व रखते हैं। ऐसे बहुतेरे साधन और नियम-व्यवस्थाएं बतायी गयी थीं जिनके द्वारा वह इस योगयुक्त सत्यको अनुभव कर सकता था अथवा कम-से-कम अपनी क्षमता और प्रकृति अधिकार के अनुसार इस उच्चतम लक्ष्यकी ओर मुड़ सकता तथा कुछ दूरतक इस-का अनुसरण भी कर सकता था। अपने चारों ओर वह इन साधनाओंके शक्तिशाली आध्यात्मिक और महान् पुरुषोंको देखता था और उनके प्रति आदर भाव रखता था।

प्राचीन कालमें ये लोग उसके यौवनके शिक्षक, उसके समाजके मूर्धन्य पुरुष, उसकी सभ्यताके अनुप्रेरक और मूलस्रोत तथा उसकी संस्कृतिके महान् ज्योतिस्तंभ थे। आध्यात्मिक स्वातंत्र्य एवं आध्यात्मिक पूर्णत्वको एक सुदूर और अवास्तव आदर्शके रूपमें चित्रित नहीं किया गया था, बल्कि मनुष्यके उच्चतम लक्ष्यके रूपमें प्रस्तुत किया गया था जिसकी ओर सभीको अंतत विकसित होना होगा और जीवन और धर्मके प्रथम व्यवहार्य आधारके द्वारा तथा धर्मके द्वारा उस स्वातंत्र्य और पूर्णत्वको मनुष्यके प्रयासके लिये निकटस्थ और संभवनीय बनाया गया था। यह आध्यात्मिक विचार एक महान् सभ्य जातिके अन्य सभी जीवन-हेतुओंको नियंत्रित, आलोकित तथा अपने चारों ओर एकत्रित करता था।

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

छठा अध्याय

ये हैं वे मुख्य उपादान जिनके आधारपर भारतीय सभ्यताका ढांचा स्थापित किया गया था और यही इसके जीवनसंबंधी विचारकी शक्तिका गठन करती हैं। मेरी समझमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें अन्य मानव-संस्कृति या जीवनविषयक किसी भी ऐसे प्रचलित विचारकी अपेक्षा कुछ हीनता है जिसने ऐतिहासिक कालमें मनुष्यके मनपर अपना अधिकार जमाया हो। इसमें ऐसी कोई चीज नहीं जिसके बारेमें यह कहा जा सके कि वह जीवन और उसके विकासको निरुत्साहित करती है अथवा उसे प्रवेग, उत्कर्ष और महत् प्रेरक-भावसे वंचित करती है। इसके विपरीत इसमें समस्त मानवजीवनको उसकी पूरी विविधता, विस्तार और शक्तिके साथ पूर्ण और स्पष्ट रूपमें स्वीकार किया गया और परखा गया है, उसके यथायथ संचालनके लिये इसमें एक स्पष्ट ज्ञानपूर्ण और उदात्त विचार है और उसे ऊपरकी ओर प्रेरित करनेवाली आदर्श प्रवृत्ति तथा संभवनीय उच्चतम पूर्णता और महत्ताकी ओर भव्य पुकार। यही हैं संस्कृतिके गंभीर उपयोग, यही हैं वे चीजें जो मनुष्यके जीवनको असंस्कृत एवं आदिम बर्बरतासे ऊपर उठाती हैं। यदि किसी सभ्यताके गुण दोषकी परीक्षा उसके विचारोंकी शक्तिके द्वारा तथा इन महान् उपयोगोंके लिये उन विचारोंकी क्षमताके द्वारा करनी हो तो भारतीय सभ्यता किसीसे भी हीन नहीं थी। निश्चय ही यह पूर्ण, अंतिम या सर्वांगीण नहीं थी, क्योंकि यह तो किसी भी अतीत या वर्तमान सांस्कृतिक विचार या प्रणालीके विषयमें नहीं कहा जा सकता। मनुष्य अपनी अंतरतम आत्मामें एक अनंत सत्ता है, अपने मन और प्राणमें भी, वह चाहे जितने स्खलनों और दीर्घ पतनोंके भीतरसे क्यों न गुजर रहा हो, वह निरंतर विकसित हो रहा है और वह विचारोंकी किसी एक ही प्रणाली या जीवनके किसी एक ही ढांचेमें सदाके लिये बंधा नहीं रह सकता। जिन ढांचोंमें वह निवास करता है वे अपूर्ण और सामयिक होते हैं, यहांतक कि जो अत्यंत व्यापक प्रतीत होते हैं वे भी अपनी टिकनेकी सामर्थ्य खो बैठते हैं और कालके द्वारा अपर्याप्तताके दोषी ठहराये जाते हैं तथा उन्हें पदच्युत या परिवर्तित करना पड़ता है। परंतु भारतीय विचारके संबंधमें कम-से-कम यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि इसने

मनुष्यकी संपूर्ण सत्ताके मुख्य सत्यो और आवश्यकताओंको, उसके मन, प्राण और शरीरको, उसकी प्रकृतिके कलात्मक, नैतिक और बौद्धिक भागोको, उसकी अतरात्मा और अध्यात्म-सत्ताको अद्भुत गहराई तथा व्यापकताके साथ हृदयगम किया था, और उन्हे सूक्ष्म और उदार, गभीर तथा विशाल और उच्च एव ज्ञानमय, सहानुभूतिपूर्ण और फिर भी उत्कृष्टतया आयासमय पथप्रदर्शन प्रदान किया था। किसी भी विगत या वर्तमान संस्कृतिके सबधमें इससे अधिक कुछ नही कहा जा सकता।

परतु पूर्णताको लक्ष्य बनानेवाली किसी भी संस्कृतिमे केवल महान् और उत्कृष्ट नियामक एव प्रेरक विचार ही नही होने चाहियें, बल्कि बाह्य रूपो और गतिच्छदोका सामजस्य, तथा एक ऐसा साचा भी होना चाहिये जिसमें विचार और जीवन प्रवाहित हो सकें तथा स्थिर रूप धारण कर सके। इस क्षेत्रमे हमें न्यूनतर पूर्णता एव महत्तर अपूर्णताके लिये भी तैयार रहना चाहिये। और इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा अपने विचारोंसे अधिक विशाल है उसी प्रकार विचार भी अपने बाह्य रूपो, साचो और लयतालोंसे अधिक विशाल है। रूपमें एक विशेष निश्चितता होती है जो सीमा बाध देती है, कोई भी रूप अपनेको जन्म देनेवाले विचार या शक्तिकी क्षमताओको निःशेष या पूर्ण रूपसे व्यक्त नही कर सकता। न कोई विचार ही, चाहे वह कितना ही महान् क्यो न हो, और न शक्ति या रूपकी कोई सीमित क्रीडा ही अनत आत्माको बाध सकती है पृथ्वीकी परिवर्तन और विकासकी आवश्यकताका यही रहस्य है। विचार तो आत्माका केवल आशिक प्रकाश होता है। यहातक कि अपनी सीमाओके भीतर तथा अपनी दिशाओमें भी उसे सदा अधिक नमनीय बनना चाहिये, अन्य विचारोंसे अपने-आपको परिपूर्ण करना, नये प्रयोगोकी ओर उठना तथा फैलना चाहिये, और प्राय ही अपने अर्थके उन उन्नायक रूपातरोमें अपनेको खो देना चाहिये जो उसके अर्थको विशालतर अर्थोंमें परिणत कर देते है या फिर उसे नये तथा अधिक समृद्ध समन्वयोमें अपनेको घुला-मिला देना चाहिये। अतएव सभी महान् संस्कृतियो-के इतिहासमें हम देखते हैं कि उन्हे तीन कालोमेंसे गुजरना पड़ा है, क्योकि इन कालोमेंसे गुजरना वस्तुओके इस सत्यका एक आवश्यक परिणाम है। पहला काल होता है विस्तृत और शिथिल रचनाका, दूसरा काल वह होता है जिसमें हम रूपो, साचो और छदोको निर्धारित होते देखते है, और अतिम या सकटपूर्ण काल होता है वार्धक्य, शक्तिक्षीणता और विघटनका। यह अतिम अवस्था सभ्यताके जीवनमे अत्यत सकटपूर्ण होती है, यदि वह अपना रूपातर न कर पाये तो वह एक धीमे तथा लबे कालतक चलनेवाले ह्रासकी अवस्थामें प्रवेश करती है अथवा वह उन शक्तियो या रचनाओकी तीव्र टक्करसे उत्पन्न मृत्यु-वेदनाको भोगते हुए नष्ट हो जाती है जो अधिक प्रबल एव अधिक प्रत्यक्षत जीवत होती है, परतु यह आवश्यक नही है कि ये शक्तिया अधिक महान् या अधिक सच्ची हो। परतु यदि वह सीमित करनेवाले रूपोको झाड फेंककर अपने-आपको उनसे मुक्त करने, अपने विचारोको

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

छठा अध्याय

ये हैं वे मुख्य रूपरेखाएं जिनके आधारपर भारतीय सभ्यताका ढांचा स्थापित किया गया था और यही इसके जीवनसंबंधी विचारकी शक्तिका गठन करती हैं। मेरी समझमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें अन्य मानव-संस्कृति या जीवनविषयक किसी भी ऐसे प्रचलित विचारकी अपेक्षा कुछ हीनता है जिसने ऐतिहासिक कालमें मनुष्यके मनपर अपना अधिकार जमाया हो। इसमें ऐसी कोई चीज नहीं जिसके बारेमें यह कहा जा सके कि वह जीवन और उसके विकासको निरुत्साहित करती है अथवा उसे प्रबल उत्कर्ष और महत् प्रेरक-भावसे वंचित करती है। इसके विपरीत इसमें समस्त मानवजीवनको उसकी पूरी विविधता विस्तार और शक्तिके साथ पूर्ण और स्पष्ट रूपमें स्वीकार किया गया और परखा गया है उसके यथायथ संचालनके लिये इसमें एक स्पष्ट ज्ञानपूर्ण और उदात्त विचार है और है उसे ऊपरकी ओर इंगित करनेवाली आदर्श प्रवृत्ति तथा संभवनीय उच्चतम पूर्णता और महानताकी ओर भव्य पुकार। यही है संस्कृतिके गंभीर उपयोग यही हैं वे चीजें जो मनुष्य के जीवनको असंस्कृत एवं आदिम बर्बरतासे ऊपर उठाती हैं। यदि किसी सभ्यताके गुण-दोषकी परीक्षा उसके विचारोंकी शक्तिके द्वारा तथा इन महान् उपयोगोंके लिये उन विचारों-की क्षमताके द्वारा करनी हो तो भारतीय सभ्यता किसीसे भी हीन नहीं थी। निश्चय ही यह पूर्ण अंतिम या सर्वांगीण नहीं थी क्योंकि यह तो किसी भी अतीत या वर्तमान सांस्कृतिक विचार या प्रणालीके विषयमें नहीं कहा जा सकता। मनुष्य अपनी अंतरतम आत्मामें एक अनंत सत्ता है अपने मन और प्राणमें भी वह चाहे जितने स्खलनों और दीर्घ पतनोंके भीतरसे क्यों न गुजर रहा हो वह निरंतर विकसित हो रहा है और वह विचारों-की किसी एक ही प्रणाली या जीवनके किसी एक ही ढांचेमें सदाके लिये बंधा नहीं रह सकता। जिन ढांचोंमें वह निवास करता है वे अपूर्ण और सामयिक होते हैं यहांतक कि जो अत्यंत व्यापक प्रतीत होते हैं वे भी अपनी टिकनेकी सामर्थ्य खो बैठते हैं और कालके द्वारा अपर्याप्तताके दोषी ठहराये जाते हैं तथा उन्हें पदच्युत या परिवर्तित करना पड़ता है। परंतु भारतीय विचारके संबंधमें कम-से-कम यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि इसने

मनुष्यकी संपूर्ण सत्ताके मुख्य सत्यों और आवश्यकताओंको, उसके मन, प्राण और शरीरको, उसकी प्रकृतिके कलात्मक, नैतिक और बौद्धिक भागोंको, उसकी अंतरात्मा और अध्यात्म-सत्ताको अद्भुत गहराई तथा व्यापकताके साथ हृदयंगम किया था, और उन्हें सूक्ष्म और उदार, गंभीर तथा विशाल और उच्च एवं ज्ञानमय, सहानुभूतिपूर्ण और फिर भी उत्कृष्टतया आयाससमय पथप्रदर्शन प्रदान किया था। किसी भी विगत या वर्तमान संस्कृतिके संबंधमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

परंतु पूर्णताको लक्ष्य बनानेवाली किसी भी संस्कृतिमें केवल महान् और उत्कृष्ट नियामक एवं प्रेरक विचार ही नहीं होने चाहियें, बल्कि बाह्य रूपों और गतिच्छंदोंका सामंजस्य, तथा एक ऐसा सांचा भी होना चाहिये जिसमें विचार और जीवन प्रवाहित हो सकें तथा स्थिर रूप धारण कर सकें। इस क्षेत्रमें हमें न्यूनतर पूर्णता एवं महत्तर अपूर्णताके लिये भी तैयार रहना चाहिये। और इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा अपने विचारोंसे अधिक विशाल है उसी प्रकार विचार भी अपने बाह्य रूपों, सांचों और लयतालोंसे अधिक विशाल है। रूपमें एक विशेष निश्चितता होती है जो सीमा बांध देती है, कोई भी रूप अपनेको जन्म देनेवाले विचार या शक्तिकी क्षमताओंको निःशेष या पूर्ण रूपसे व्यक्त नहीं कर सकता। न कोई विचार ही, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, और न शक्ति या रूपकी कोई सीमित क्रीडा ही अनंत आत्माको बांध सकती है पृथ्वीकी परिवर्तन और विकासकी आवश्यकताका यही रहस्य है। विचार तो आत्माका केवल आंशिक प्रकाश होता है। यहांतक कि अपनी सीमाओंके भीतर तथा अपनी दिशाओंमें भी उसे सदा अधिक नमनीय बनना चाहिये, अन्य विचारोंसे अपने-आपको परिपूर्ण करना, नये प्रयोगोंकी ओर उठना तथा फैलना चाहिये, और प्रायः ही अपने अर्थके उन उन्नायक रूपांतरोंमें अपनेको खो देना चाहिये जो उसके अर्थको विशालतर अर्थोंमें परिणत कर देते हैं या फिर उसे नये तथा अधिक समृद्ध समन्वयोंमें अपनेको घुला-मिला देना चाहिये। अतएव सभी महान् संस्कृतियों-के इतिहासमें हम देखते हैं कि उन्हें तीन कालोंमेंसे गुजरना पड़ा है, क्योंकि इन कालोंमेंसे गुजरना वस्तुओंके इस सत्यका एक आवश्यक परिणाम है। पहला काल होता है विस्तृत और शिथिल रचनाका, दूसरा काल वह होता है जिसमें हम रूपों, सांचों और छंदोंको निर्धारित होते देखते हैं, और अंतिम या संकटपूर्ण काल होता है वार्धक्य, शक्तिक्षीणता और विघटनका। यह अंतिम अवस्था सभ्यताके जीवनमें अत्यंत संकटपूर्ण होती है, यदि वह अपना रूपांतर न कर पाये तो वह एक धीमे तथा लंबे कालतक चलनेवाले ह्रासकी अवस्थामें प्रवेश करती है अथवा वह उन शक्तियों या रचनाओंकी तीव्र टक्करसे उत्पन्न मृत्यु-वेदनाको भोगते हुए नष्ट हो जाती है जो अधिक प्रबल एवं अधिक प्रत्यक्षतः जीवंत होती हैं, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि ये शक्तियां अधिक महान् या अधिक सच्ची हों। परंतु यदि वह सीमित करनेवाले रूपोंको झाड़ फेंककर अपने-आपको उनसे मुक्त करने, अपने विचारोंको

भारतीय संस्कृतिपर एक युक्तिवादी आलोचक

छठा अध्याय

ये हैं वे मुख्य रूपरेखाएं जिनके आधारपर भारतीय सभ्यताका ढांचा स्थापित किया गया था और यही इसके जीवनसंबंधी विचारकी शक्तिका गठन करती हैं। मेरी समझमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें अन्य मानव-संस्कृति या जीवनविषयक किसी भी ऐसे प्रचलित विचारकी अपेक्षा कुछ हीनता है जिसने ऐतिहासिक कालमें मनुष्यके मनपर अपना अधिकार जमाया हो। इसमें ऐसी कोई चीज नहीं जिसके बारेमें यह कहा जा सके कि वह जीवन और उसके विकासको निरुत्साहित करती है अथवा उसे प्रबल उत्कर्ष और महत् प्रेरक-भावसे वंचित करती है। इसके विपरीत इसमें समस्त मानवजीवनको उसकी पूरी विविधता विस्तार और शक्तिके साथ पूर्ण और स्पष्ट रूपमें स्वीकार किया गया और परखा गया है उसके यथायथ संचालनके लिये इसमें एक स्पष्ट ज्ञानपूर्ण और उदात्त विचार है और है उसे ऊपरकी ओर प्रेरित करनेवाली आदर्श प्रवृत्ति तथा संभवनीय उच्चतम पूर्णता और महत्ताकी ओर सच्ची पुकार। यही है संस्कृतिके गंभीर उपयोग यही हैं वे चीजें जो मनुष्य-के जीवनको असंस्कृत एवं आदिम बर्बरतासे ऊपर उठाती हैं। यदि किसी सभ्यताके गुण-दोषकी परीक्षा उसके विचारोंकी शक्तिके द्वारा तथा इन महान् उपयोगोंके लिये उन विचारों-की क्षमताके द्वारा करनी हो तो भारतीय सभ्यता किसीसे भी हीन नहीं थी। निश्चय ही वह पूर्ण अंतिम या सर्वांगीण नहीं थी क्योंकि यह तो किसी भी अतीत या वर्तमान सांस्कृतिक विचार या प्रणालीके विषयमें नहीं कहा जा सकता। मनुष्य अपनी अंतरतम आत्मामें एक अनंत सत्ता है अपने मन और प्राणमें भी वह चाहे कितने स्खलनों और दीर्घ पतनोंके भीतरसे क्यों न गुजर रहा हो वह निरंतर विकसित हो रहा है और वह विचारों-की किसी एक ही प्रणाली या जीवनके किसी एक ही ढांचेमें सदाके लिये बंधा नहीं रह सकता। जिन ढांचोंमें वह निवास करता है वे अपूर्ण और सामयिक होते हैं यहांतक कि जो अत्यंत व्यापक प्रतीत होते हैं वे भी अपनी टिकनेकी सामर्थ्य खो बैठते हैं और कालके द्वारा अपर्याप्तताके दोषी ठहराये जाते हैं तथा उन्हें पदच्युत या परिवर्तित करना पड़ता है। परंतु भारतीय विचारके संबंधमें कम-से-कम यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि इसने

अनुसरण यह संभवत अपने रूपांतरके समय कर सकती है तो हमें, इसके पुनरुज्जीवनके सविक्षणकी अभी विशृंखल गतियोंके नीचे विद्यमान तथ्योंकी तहमें जानेका यत्न करना होगा। वास्तवमें, इनमेंसे किन्हीको भी एक-दूसरेसे सर्वथा पृथक् नही किया जा सकता, क्योंकि किसी एक कालमें जो कुछ विकसित हुआ उसका पूर्वानुभव और सूत्रपात उससे पूर्ववर्ती युगमें हो गया था किंतु फिर भी किसी व्यापक एवं अनिश्चित परिमाणमें हम ये भेद कर सकते हैं और एक सूक्ष्म-दर्शिनी विश्लेषक दृष्टिके लिये ये आवश्यक भी हैं। परन्तु इस समय हमें उन विकसित रूपों तथा मुख्य लय-तालोंसे ही मतलब है जो इसके महत्तर युगोंमें निरंतर स्थिर रहे।

भारतीय संस्कृतिको जो समस्या हल करनी थी वह उस दृढ बाह्य आधारको प्राप्त करनेकी थी जिसपर वह अपने मूल भाव और जीवनसबंधी अपने विचारके क्रियात्मक विकासको प्रतिष्ठित करे। मनुष्यके प्राकृत जीवनको हम किस रूपमें ले और, इसे पर्याप्त क्षेत्र, वैविध्य और स्वातंत्र्य प्रदान करते हुए भी, किस प्रकार एक विधान, नियम या धर्म—कर्तव्यसबधी धर्म, श्रेणीसबधी धर्म, प्रत्येक वास्तविक अनादर्श मानवप्रकृतिके धर्म और उच्चतम आदर्श भावनाके धर्मके भी अधीन रखें? और फिर कैसे उस धर्मको इस मार्गका निर्देश दें कि वह आध्यात्मिक जीवनकी सुरक्षित स्वाधीनतामें अपने अनुशासनात्मक प्रयोजनको पूर्ण और समाप्त करके अपने-आपको अतिक्रम कर जाय? भारतीय संस्कृतिने, प्रारंभिक अवस्थासे ही, अपने मार्गदर्शनके लिये एक दोहरे विचारको अपनाया जिसे इसने समाजकी चौखटमें वैयक्तिक जीवनकी आधारभूत प्रणालीका रूप दे डाला। यह चार वर्णों और चार आश्रमोंकी दोहरी प्रणाली थी,—चार वर्ण समाजके चार क्रमबद्ध वर्ग और चार आश्रम विकसनशील मानवजीवनकी चार क्रमानुगत अवस्थाएं थे।

प्राचीन चातुर्वर्ण्यका मूल्य उसकी परवर्ती टूटी-फूटी पतनकी अवस्था और स्थूल निरर्थक व्यंग्य रूप अर्थात् जाति-प्रथाके द्वारा नही आंकना चाहिये। परन्तु यह ठीक वह वर्ग-प्रणाली भी नही थी जिसे हम अन्य सभ्यताओंमें पाते हैं, पुरोहितवर्ग, कुलीन-वर्ग, व्यापारी-वर्ग और दास या श्रमिकगण। हो सकता है कि बाहरी तौरपर इसका आरंभ इसी प्रकार हुआ हो, पर इसे एक अत्यंत भिन्न और प्रकाशप्रद अर्थ दिया गया था। प्राचीन भारतीय विचार यह था कि मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार चार प्रकारके होते हैं। इनमें सर्वप्रथम और सर्वोच्च है विद्या और चिंतन एवं ज्ञानसे संपन्न मनुष्य, दूसरा है, शक्तिशाली और कर्मप्रधान मनुष्य, शासक, योद्धा, नेता, प्रशासक, इस क्रममें तीसरा है, आर्थिक मनुष्य, उत्पादक और धनोपार्जक, व्यापारी, शिल्पी, कृषक ये सब द्विज थे जिन्हें दीक्षा प्राप्त होती थी, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। अंतिम था कम विकसित श्रेणीका मनुष्य जो अभी सीढीके इन सोपानोंपर आरोहण करनेके योग्य नही था, बुद्धिहीन और निःशक्त था, सृजन या कौशलपूर्ण उत्पादनमें असमर्थ था, कौशलहीन शारीरिक श्रम और निम्न सेवा-कार्यके योग्य मनुष्य था

नया रूप देने और अपनी भावनाको नया क्षेत्र प्रदान करनेमें समर्थ हो यदि वह नूतन प्रगतियों और आवश्यकताओंको समझने तथा अधिकृत एवं आत्मसात् करनेके लिये उत्सुक हो तो उसका पुनर्जन्म हो जाता है उसे जीवन और विस्तारका एक नया अधिकार प्राप्त हो जाता है उसका सच्चा पुनर्जन्म हो जाता है।

भारतीय सभ्यता अपने बहुविध और धीर-स्थिर ढंगसे इन सब अवस्थाओंमेंसे गुजरी। इसकी पहली अवस्था एक महान् आध्यात्मिक विकासकी थी जिसमें कि आकार कोमल, लचकीले तथा इसकी मूल भावनाका स्वतंत्रतापूर्वक प्रत्युत्तर देनेवाले थे। यह तरल गति प्रबल बौद्धिकताके युगमें परिणत हो गयी जिसमें सब चीजोंको विभिन्न काफी जटिल पर विशद रूपसे विवेचित और फिर भी नमनीय रूपों तथा रूप-तालोंमें स्थिर कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप एक अत्यधिक घनीभूत कठोरताका काल आया जिसमें यह कठोरता जटिल परिस्थितियोंके कारण डगमगा उठती थी और उन परिस्थितियोंका सामना कुछ अंशमें विचारोंके परिवर्तन तथा रूपोंके संयोजनके द्वारा किया जाता था। परंतु निश्चत आकारोंको कठोरतापूर्वक बांध देनेकी क्रिया अंतमें विजयी हुई और अनुप्रेरक भावनाका ह्रास जीवन शक्तिका गतिरोध और बाह्य रचनाका उत्तरोत्तर क्षय होने लगा। ह्रासके साथ ही अन्य संस्कृतियोंसे टक्कर हुई और उसके कारण कुछ समयके लिये उस ह्रासका वेग एकाएक रुक गया पर अंतमें वह फिर तीव्र हो उठा। आज हम एक प्रबल और निर्णायक संकटके बीच उपस्थित हैं जो पश्चिमके तथा जिन वस्तुओंका वह प्रतिनिधि है उन सबके भारतमें टूट पड़नेसे उत्पन्न हुआ है। इसके परिणामस्वरूप एक भारी उथल-पुथल हुई जिसने शुरू-शुरूमें हमारी संस्कृतिकी पूर्ण मृत्यु और अप्रतिकार्य विनाशकी धमकी दी किंतु इसके विपरीत अब उसकी गतिधारा एक महान् पुनरुज्जीवन परिवर्तन और नवजागरणकी बलवती आशा-के द्वारा उसकी ओर मुड़ गयी है। इन तीनोंमेंसे प्रत्येक अवस्था संस्कृतिके विद्यार्थीके लिये अपना विशेष महत्त्व रखती है। यदि हम भारतीय सभ्यताकी मूल भावनाको समझना चाहें तो हमें इसके प्रथम रचनात्मक काल इसके वेद और उपनिषदोंके आरंभिक युग इसके वीरतापूर्ण सर्जनशील बीज-कालकी ओर लौटना होगा। यदि हम इसकी भावनाके निश्चित रूपोंका अध्ययन तथा उस वस्तुका अवलोकन करना चाहें जिसे इसने अपने जीवनकी आधार भूत ढांचेके रूपमें अलग उपलब्ध किया तो हमें शास्त्रों और सर्वोत्तम साहित्यिक ग्रंथोंके परवर्ती मध्ययुगपर, अर्थात् दर्शन और विज्ञान विधि-व्यवस्थापन और राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धान्त तथा बहुमुखी आलोचनात्मक चिंतन धार्मिक विधि-विधान शिल्प मूर्तिकला चित्र विद्या वास्तु-कलाके युगपर पूरी आंखोंसे दृष्टिपात करना होगा। यदि हम उन सीमाओं उन रूपोंको जानना चाहें जिनपर यह एकाएक रुक गयी और अपनी संपूर्ण या सच्ची भावनाका विकास नहीं कर सकी तो हमें इसके अवनति-कालके दुःखदायी रहस्योंका सूक्ष्मता पूर्वक निरीक्षण करना होगा। अंतमें यदि हम उन विभागोंको मालूम करना चाहें जिनका

अनुसरण यह संभवत अपने रूपांतरके समय कर सकती है तो हमें, इसके पुनरुज्जीवनके सर्वेक्षणकी अभी विशृंखल गतियोंके नीचे विद्यमान तथ्योंकी तहमें जानेका यत्न करना होगा। वास्तवमें, इनमेंसे किन्हींको भी एक-दूसरेसे सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी एक कालमें जो कुछ विकसित हुआ उसका पूर्वानुभव और सूत्रपात उससे पूर्ववर्ती युगमें हो गया था किंतु फिर भी किसी व्यापक एव अनिश्चित परिमाणमें हम ये भेद कर सकते है और एक सूक्ष्म-दर्शिनी विश्लेषक दृष्टिके लिये ये आवश्यक भी है। परतु इस समय हमें उन विकसित रूपो तथा मुख्य लय-तालोसे ही मतलब है जो इसके महत्तर युगोंमें निरतर स्थिर रहे।

भारतीय संस्कृतिको जो समस्या हल करनी थी वह उस दृढ बाह्य आधारको प्राप्त करनेकी थी जिसपर वह अपने मूल भाव और जीवनसबधी अपने विचारके क्रियात्मक विकासको प्रतिष्ठित करे। मनुष्यके प्राकृत जीवनको हम किस रूपमें ले और, इसे पर्याप्त क्षेत्र, वैविध्य और स्वातत्र्य प्रदान करते हुए भी, किस प्रकार एक विधान, नियम या धर्म—कर्तव्यसबधी धर्म, श्रेणीसबधी धर्म, प्रत्येक वास्तविक अनादर्श मानवप्रकृतिके धर्म और उच्चतम आदर्श भावनाके धर्मके भी अधीन रखें? और फिर कैसे उस धर्मको इस मार्गका निर्देश दें कि वह आध्यात्मिक जीवनकी सुरक्षित स्वाधीनतामें अपने अनुशासनात्मक प्रयोजनको पूर्ण और समाप्त करके अपने-आपको अतिक्रम कर जाय? भारतीय संस्कृतिने, प्रारंभिक अवस्थासे ही, अपने मार्गदर्शनके लिये एक दोहरे विचारको अपनाया जिसे इसने समाजकी चौखटमें वैयक्तिक जीवनकी आधारभूत प्रणालीका रूप दे डाला। यह चार वर्णों और चार आश्रमोकी दोहरी प्रणाली थी,—चार वर्ण समाजके चार क्रमबद्ध वर्ग और चार आश्रम विकसनशील मानवजीवनकी चार क्रमानुगत अवस्थाए थे।

प्राचीन चातुर्वर्ण्यका मूल्य उसकी परवर्ती टूटी-फूटी पतनकी अवस्था और स्थूल निरर्थक व्यग्य रूप अर्थात् जाति-प्रथाके द्वारा नहीं आकना चाहिये। परतु यह ठीक वह वर्ग-प्रणाली भी नहीं थी जिसे हम अन्य सभ्यताओंमें पाते है, पुरोहितवर्ग, कुलीन-वर्ग, व्यापारी-वर्ग और दास या श्रमिकगण। हो सकता है कि बाहरी तौरपर इसका आरभ इसी प्रकार हुआ हो, पर इसे एक अत्यत भिन्न और प्रकाशप्रद अर्थ दिया गया था। प्राचीन भारतीय विचार यह था कि मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार चार प्रकारके होते है। इनमें सर्वप्रथम और सर्वोच्च है विद्या और चिंतन एव ज्ञानसे सपन्न मनुष्य, दूसरा है, शक्तिशाली और कर्मप्रधान मनुष्य, शासक, योद्धा, नेता, प्रशासक, इस क्रममें तीसरा है, आर्थिक मनुष्य, उत्पादक और धनोपार्जक, व्यापारी, शिल्पी, कृषक ये सब द्विज थे जिन्हे दीक्षा प्राप्त होती थी, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। अतिम था कम विकसित श्रेणी का मनुष्य जो अभी सीढीके इन सोपानोपर आरोहण करनेके योग्य नहीं था, बुद्धिहीन और निःशक्त था, सृजन या कौशलपूर्ण उत्पादनमें असमर्थ था, कौशलहीन शारीरिक श्रम और निम्न सेवा-कार्यके योग्य मनुष्य था

अर्थात् शूद्र। समाजकी आर्थिक व्यवस्था इन चार श्रेणियोंके स्वरूप और रूपमें ढाली गयी थी। ब्राह्मण-वर्गसे समाजको इसके पुरोहित विचारक विद्वान् विधान-रचयिता पंडित धार्मिक नेता और मार्गदर्शक प्रदान करनेके लिये कहा जाता था। क्षत्रिय-वर्ग इसे इसके राजा योद्धा राज्यपाल और प्रशासक प्रदान करता था। वैश्य-वर्ग इसे इसके उत्पादक कृषिविद् कारीगर शिल्पी वणिक और व्यवसायी देता था। शूद्र-श्रेणी इसकी नौकर चाकरोंकी आवश्यकताको पूरा करती थी। यहाँतक तो इस व्यवस्थामें इसकी असाधारण स्थायित्वके सिवा और, शायद इसके अंदर धर्म चिंतन और ज्ञानकी सर्वोच्च स्थितिके सिवा और कोई विशेष बात नहीं थी इनकी यह सर्वोच्च स्थिति केवल वर्ण-परंपराके शिखरपर ही नहीं थी—क्योंकि इसका दृष्टांत तो दो-एक अन्य सभ्यताओंमें भी दिया जा सकता है—बल्कि सभी वर्णोंके बीच एक प्रभुत्वपूर्ण शक्तिके रूपमें थी। भारतीय विचारने अपने विशुद्ध रूपमें इस व्यवस्थाके अंतर्गत मनुष्यकी स्थिति जन्मके द्वारा नहीं वरन् उसकी क्षमताओं और आंतरिक प्रकृतिके द्वारा निश्चित की थी और यदि इस नियमका कठोरतापूर्वक पालन किया गया होता तो यह विशिष्टताकी एक अत्यंत स्पष्ट निशानी एवं एक अनुपम कोटिकी उत्कृष्टता होती। परंतु अच्छे-से-अच्छा समाज भी सदैव कुछ अंशोंमें एक मशीन-सा होता है और यह भौतिक चिह्न और प्रतिमानकी ओर आकृष्ट होता है और इस सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक आधारपर समाज-व्यवस्थाको अच्छे रूपमें प्रतिष्ठित करना उस युगमें एक दुष्कर और निरर्थक प्रयत्न होता। क्रियात्मक रूपमें हम देखते हैं कि जन्म ही वर्णका आधार बन गया। अतएव जिस प्रबल विशिष्ट गुणने इस समाज-रचनाको एक पृथक् तथा अपने ढंगकी अद्वितीय वस्तु बना डाला है उसकी खोज हमें कहीं और ही करनी होगी।

निःसंदेह किसी भी समय एकदम पूर्ण रूपमें आर्थिक नियमका अनुसरण नहीं किया गया। प्राचीन युग पर्याप्त नमनीयताको प्रदर्शित करते हैं जो एक बंधा-बंधाया आकार धारण करने की जटिल प्रक्रियामें सर्वथा खो नहीं गयी थी। और, बादकी जाति-प्रथाकी अत्यधिक कठोरतामें भी व्यवहारतः आर्थिक कार्योंमें गड़बड़घोटाला हुआ है। एक बलशाली समाजकी जीवन-शक्ति पग-पगपर मीमांसात्मक मनके द्वारा निर्धारित नमूने और परंपराके संकेतोंका अनुसरण नहीं कर सकती। फिर, व्यवस्थाके आदर्श सिद्धांत और उसके स्थूलतर आदर्शच्युत व्यवहारमें सदा ही भेद था। कारण किसी विचार या व्यवस्थाके भौतिक पहलूमें उसके अच्छे-से-अच्छे युगमें भी सदैव अपनी कुछ कमजोरियाँ होती हैं और इस प्रकारकी सभी व्यवस्थाओंका अंतिम दोष यह होता है कि वे एक निश्चित क्रमपरंपराका कठोर रूप धारण कर लेती हैं जो अपनी पवित्रताको या अपनी उस उपयोगिताको जिसके लिये वह अभिप्रेत थी स्थायी रूपसे सुरक्षित नहीं रख सकती। जब उस व्यवस्थाका औचित्य सिद्ध करनेवाले उसके उपयोग अब और अस्तित्वमें नहीं रहते तो वह एक आत्माहीन आकार बन जाती है और विकृति अधोगति या अत्याचारपूर्ण अनुष्ठान-प्रियताकी

अवस्थामें अपनेको बनाये रखती है। जब उसकी रीति-नीतिको मानवताकी प्रगतिकी विकसनशील आवश्यकताओंके साथ अब और सुसगत नही बनाया जा सकता तब भी रूढिबद्ध व्यवस्था बनी रहती है और वह जीवनके सत्यको विकृत करती तथा प्रगतिमें बाधा डालती है। भारतीय समाज भी इस सर्वसामान्य नियमसे नही बचा, वह इन त्रुटियोंसे घिरकर वस्तुओके उस असली अभिप्रायको खो बैठा जिसे लेकर वह अपनेको रूपायित करने चला था और जात-पातकी अस्तव्यस्ततामें जा गिरा तथा ऐसी बुराइया पैदा की जिन्हे दूर करनेमें हमें आज इतनी परेशानी उठानी पड रही है। परतु अपने समय में यह एक सुचिंतित और आवश्यक योजना थी, इसने समाजको एक दृढ और सुघटित स्थिरता प्रदान की जिसकी उसे अपने सास्कृतिक विकासकी सुरक्षाके लिये जरूरत थी,—वह एक ऐसी स्थिरता थी जिसका दृष्टात किसी अन्य सस्कृतिमे शायद ही मिले। और, जैसी कि भारतीय विद्वानोने व्याख्या की है, यह उस निरे बाह्य आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक यत्रसे कही महान् वस्तु बन गयी थी जिसका उद्देश्य सामूहिक जीवनकी आवश्यकताओ और सुविधाओका प्रबध करना होता है।

कारण, भारतीय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी वास्तविक महत्ता आर्थिक कर्तव्योंके सुव्यवस्थित विभाजनमें नही थी, इसकी सच्ची मौलिकता और इसका स्थायी मूल्य तो उस नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वमें था जिसे समाजके विचारको और निर्माताओंने इन रूपोंके अदर ढाला था। यह आभ्यतरिक तत्त्व इस विचारको लेकर चला था कि व्यक्तिका बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास ही मानवजातिकी प्रधान आवश्यकता है। स्वय समाज भी इस विकासके लिये एक आवश्यक ढाचामात्र है, वह सबधोकी एक प्रणाली है जो इसे इसका अपेक्षित माध्यम, क्षेत्र, अवस्थाए और सहायक प्रभावोका एक केंद्र प्रदान करती है। समाजके अदर व्यक्तिके लिये एक ऐसा सुरक्षित स्थान प्राप्त करना आवश्यक था जहासे वह इन सबधोकी सेवा कर सके जो समाजको कायम रखने तथा इसे उसका कर्तव्य और सहयोग-रूपी ऋण चुकानेमें सहायक होते है, और साथ ही सामाजिक जीवनसे सभवनीय सर्वोत्तम सहायता पाकर अपने आत्म-विकासकी ओर अग्रसर हो सके। व्यवहारमें जन्मको प्रथम स्थूल और स्वाभाविक सकेत माना जाता था, क्योकि आनुवशिकताको सदा ही भारतीय मन एक अत्यत महत्त्वपूर्ण तथ्य मानता रहा है यहातक कि बादकी विचारधारामें इसे उस प्रकृतिका चिह्न और उन परिस्थितियोका सूचक माना गया जिन्हें व्यक्ति अपने पिछले जन्मोंमें अपने विगत आतरात्मिक विकासके द्वारा अपने लिये तैयार कर चुका है। परतु जन्म वर्णकी एकमात्र कसौटी नही है और न हो ही सकता है। मनुष्यकी बौद्धिक क्षमता, उसके स्वभावका रुझान, उसकी नैतिक प्रकृति, उसकी आध्यात्मिक उच्चता—ये आवश्यक तत्त्व हैं। अतएव कौटुबिक जीवनके एक नियम, वैयक्तिक धर्मानुष्ठान और आत्म-अनुशासनकी एक पद्धति, शिक्षण और पालन-पोषणकी एक शक्तिकी स्थापना की गयी थी जो इन मूल तत्त्वो-

को प्रकट और गठित कर। व्यक्तिको उसकी क्षमताओं अभ्यासों और गुणोंकी सावधानता-पूर्वक शिक्षा दी जाती थी और सम्मान तथा कर्तव्यकी उस भावनाका अभ्यासी बनाया जाता था जो उसके निर्दिष्ट जीवन-कार्यकी पूर्तिके लिये आवश्यक थी। जो कार्य उसे करना होता था उसकी विधा 'धर्म' के रूपमें उसमें सफल होने और अपने कार्योंके वे चाहे आर्थिक राजनीतिक पुरोहितीय साहित्यिक एवं वैज्ञानिक हों और चाहे और कोई हों—उच्चतम नियम विधान और मान्य पूर्णत्वको प्राप्त करनेकी सर्वोत्तम पद्धति उसे सतर्कताके साथ सिखायी जाती थी। यहांतक कि अत्यंत अधम धन्धोंकी भी अपनी शिक्षा होती थी उनका भी अपना नियम और विधान होता था उनमें सफलता प्राप्त करनेकी अपनी महत्त्वाकांक्षा उन्हें पूरा करने और सावधानीके साथ अच्छी तरह संपन्न करनेमें आत्मसम्मानकी एक अपनी भावना तथा पूर्वलोक एक नियत मापदण्डका अपना गौरव होता था। और चूंकि उन धंधोंमें ये सब चीजें होती थीं इसीलिये नीच-से-नीच तथा कम-से-कम आकर्षक कार्य भी कुछ दरतक आत्म-उपलब्धि और व्यवस्थित आत्म-तुष्टिका साधन बन सकता था। इस विशेष कार्य और शिक्षणके अतिरिक्त कुछ सर्वसामान्य प्राप्तव्य चीजें विद्याएं, कलाएं, जीवनकी श्री-सुषमाएं भी होती थीं जो मानवप्रकृतिकी बौद्धिक सौंदर्य-बोधात्मक तथा सुखभोगकारी शक्तियोंको संतुष्ट करती हैं। प्राचीन भारतमें ये चीजें अनेक और नानाविध थीं सूक्ष्मता पूर्णता और यथार्थताके साथ सिखायी जाती थीं और सभी सुसंस्कृत मनुष्योंके लिये सुलभ थीं।

परन्तु जब कि इन सब चीजोंके लिये प्रबंध था और वह जीवन-भावनाकी सजीव उदार ता और व्यवस्थाकी उत्कृष्ट भावनाके साथ किया जाता था तब भी भारतीय संस्कृतिकी आत्मा अन्य प्राचीन संस्कृतियोंकी भांति यहीं रुक नहीं गयी। उसने व्यक्तिसे कहा "यह तो केवल नींवका आधार है निःसंदेह यह अनिवार्य रूपसे महत्त्वपूर्ण है पर फिर भी यह अंतिम और सबसे बड़ी वस्तु नहीं है। जब तुम समाजको अपना ऋण चुका देते हो उसके जीवनमें अपने स्वत्वकी पूर्ति अच्छी तरह और सराहनीय रूपसे कर चुकते हो उसके रक्षण और स्वामित्वमें सहयोग दे चुकते हो और उससे अपना न्याय्य तथा अभीष्ट सुख-संतोष प्राप्त कर लेते हो तब भी सबसे महान् वस्तु बची ही रह जाती है। तब भी तुम्हारी अपनी आत्मा तुम्हारी आंतरिक सत्ता तुम्हारी अन्तरात्मा जो अनंतका एक आध्यात्मिक अंश है तथा अपने सारतत्त्वमें सनातन ब्रह्मके साथ एक है अभी अप्राप्य ही रह जाती है। अपने अंदरकी इस सत्ताको इस अंतरात्माको तुम्हें प्राप्त करना होगा इसीके लिये तुम इहलोकमें आये हो और जीवनमें मैंने तुम्हें जो स्थान दिया है उससे तथा इस शिक्षा दीक्षासे ही तुम इस प्राप्त करना आरम्भ कर सकते हो। क्योंकि प्रत्येक वर्गको मैंने उसके उपयुक्त मनुष्यत्वका उच्चतम आदर्श प्रदान किया है वह उच्चतम आदर्श मार्ग प्रदान किया है जिसका अनुसरण तुम्हारी प्रकृति कर सकती है। अपने जीवन और प्रकृतिको अपने

'स्वधर्म'के अनुसार उस पूर्णताकी ओर ले चलकर तुम केवल उस आदर्शकी ओर विकसित तथा विश्व-प्रकृतिके साथ समस्वर ही नहीं हो सकते, अपितु भगवान्‌की महत्तर प्रकृतिका सामीप्य और सस्पर्श भी लाभ कर सकते हो और साथ ही परात्परताकी ओर भी अग्रसर हो सकते हो। यही तुम्हारा सच्चा लक्ष्य है। तुम्हे मैं जो जीवन-आधार प्रदान करती हू उससे तुम उस मुक्तिप्रद ज्ञानकी ओर उठ सकते हो जिससे आध्यात्मिक मोक्षकी प्राप्ति होती है। तब तुम इन सब सीमित अवस्थाओको अतिक्रात कर सकते हो जिनके अतर्गत तुम्हे शिक्षा दी जा रही है, तुम धर्मको पूरा करके और इसे पार करके अपनी आत्माकी नित्यतामें, अमर आत्माकी पूर्णता, स्वतत्रता, महत्ता और आनदमें विकसित हो सकते हो, क्योंकि अपनी प्रकृतिके पर्देके पीछे प्रत्येक मनुष्यका स्वरूप यही है। जब तुम यह सब कर लोगे तब तुम स्वतत्र हो जाओगे। तब तुम सब धर्मोके परे चले जाओगे, तब तुम विश्व-मय आत्मा बन जाओगे, भूतमात्रके साथ एक हो जाओगे, और तुम या तो उस दिव्य स्वा-तन्त्र्यमें रहते हुए जीवमात्रके कल्याणके लिये कार्य कर सकोगे या फिर एकातमें जाकर नित्यता और परात्परताके आनदका उपभोग करनेकी चेष्टा कर सकोगे।" चतुर्वर्णपर आधा-रित सपूर्ण समाज-व्यवस्थाको अतरात्मा, मन और प्राणकी उन्नति और विकासका एक ऐसा सुसमजस साधन बना दिया गया था जिसके द्वारा ये अर्थ और कामकी स्वाभाविक खोजसे ऊपर पहले तो हमारी सत्ताके विधान, धर्म, की पूर्णताकी ओर और अतमें उच्चतम आध्या-त्मिक स्वतत्रताकी ओर विकसित हो सकें। क्योंकि जीवनमें मनुष्यका सच्चा लक्ष्य सदैव अपनी अमर आत्माकी यह उपलब्धि, इसके अनत एव शाश्वत जीवनरूपी रहस्यमें यह प्रवेश ही होना चाहिये।

भारतीय प्रणालीने इस कठिन विकासको पूर्ण रूपसे व्यक्तिके अपने अकेले आतरिक प्रयासपर ही नहीं छोड दिया था। इसने उसके लिये एक ढाचा प्रस्तुत किया था, इसने उसे उसके जीवनके लिये एक श्रेणी-परपरा एव स्तर-परपरा प्रदान की थी जिसे उस विकासकी दृष्टिसे एक प्रकारकी चढती हुई सीढीका रूप दिया जा सकता था। यह उत्तम सुविधा प्रदान करना ही चार आश्रमोका उद्देश्य था। जीवन चार स्वाभाविक कालोंमें विभाजित था और उनमें-से प्रत्येक काल जीवन-यापन-सबधी इस सास्कृतिक विचारको क्रियान्वित करनेकी एक अवस्था-को परिलक्षित करता था। पहला था विद्यार्थी-जीवनका काल, दूसरा, गृहस्थ-जीवनका काल, तीसरा एकातसेवी या वानप्रस्थका काल और चौथा स्वतत्र, समाजसे ऊपरके मनुष्य अर्थात् परि-व्राजकका काल। विद्यार्थी-जीवनका गठन उस सबकी भित्ति स्थापित करनेके लिये किया गया था जो कुछ कि मनुष्यको जानना, करना और बनना होता था। यह आवश्यक कलाओं और विद्याओ तथा ज्ञानकी नाना शाखाओंकी पूर्ण शिक्षा प्रदान करता था, परतु यह नैतिक प्रकृतिके अनुशासनपर और भी अधिक बल देता था तथा और भी प्राचीन युगमें आध्यात्मिक ज्ञानके वैदिक सूत्रकी सागोपाग शिक्षा देना भी इसका एक अनिवार्य अग था।

पुरातन कालमें यह शिक्षा शहरोंके जीवनसे अत्यंत दूर अनुकूल वातावरणमें दी जाती थी और शिक्षक ऐसा ही व्यक्ति होता था जो स्वयं जीवन चक्रकी इस क्रम-परंपरामेंसे गुजर चुका होता था और यहांतक कि प्रायः ही वह एक ऐसा व्यक्ति होता था जो आध्यात्मिक ज्ञानकी कोई विशिष्ट अनुभूति प्राप्त कर चुका होता था। परंतु आगे चलकर शिक्षा अधिक बौद्धिक और सांसारिक बन गयी वह नगरों और विश्वविद्यालयोंमें दी जाने लगी और उस-का लक्ष्य चरित्र तथा ज्ञानकी आंतरिक तैयारीकी अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिको जानकारियां और शिक्षा देना ही अधिक होता था। परंतु आरंभमें आर्य पुरुषको वस्तुतः अपने जीवनके चार महान् लक्ष्यों अर्थ काम धर्म और मोक्षके लिये कुछ अंशमें तैयार किया जाता था। अपने ज्ञानको जीवनमें चरितार्थ करनेके लिये गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश कर वह वहां पहले तीन मानवीय लक्ष्योंको पूरा करनेमें समर्थ होता था वह जीवनका सुख लेनेके लिये अपनी प्राकृत सत्ता और इसके स्वार्थों एवं इसकी कामनाओंको तृप्त करता था वह समाज और इस-की मांगोंके प्रति अपना ऋण चुकाता था और जिस ढंगसे वह अपने जीवन-कर्तव्योंको संपन्न करता था उसके द्वारा वह अपनेको अपने जीवनके अंतिम और सबसे महान् लक्ष्यके लिये तैयार करता था। अपने जीवनकी तीसरी अवस्थामें वह वनमें जाकर एकांतवास करता और अपनी आत्माके सत्यको जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करता था। वहां वह कठोरतर सामाजिक बंधनोंसे मुक्त होकर जीवन यापन करता था किंतु यदि वह चाहता तो अपने चारों ओर युवकोंको एकत्र कर या जिज्ञासु और साधकका स्वागत कर एक शिक्षक या आध्यात्मिक गुरुके रूपमें अपना ज्ञान नयी उदीयमान पीढ़ीके लिये छोड़ सकता था। जीवन की अंतिम अवस्थामें वह इस बातके लिये स्वतंत्र होता था कि हर एक बचे-खुचे बंधनको उतार फेंके और सामाजिक जीवनकी समस्त रीति-नीतियोंसे नितांत आध्यात्मिक अनासक्ति रखता हुआ जगत्में भ्रमण करे, केवल अनिवार्यतम आवश्यकताओंको ही पूरा करता हुआ विश्वात्माके साथ अंतर्मिलन लाभ करे और अपनी आत्माकी शाश्वतताकी प्राप्तिके लिये तैयार करे। यह चक्र सबके लिये अनिवार्य नहीं था। बहुत बड़ी संख्यामें लोग पहली दो अवस्थाओंके परे कभी नहीं जाते थे बहुतसे लोग वानप्रस्थ-अवस्थामें ही स्वर्ग सिधार जाते थे। केवल इने-गिने विरले आदमी ही यह चरम-परम अभियान करते थे एवं परिव्राजक संन्यासीका जीवन अपनाते थे। परंतु बुद्धिके साथ स्थिर किया हुआ यह चक्र एक ऐसी योजना प्रस्तुत करता था जिसमें मानव-आत्माकी संपूर्ण विकासधाराको दृष्टिमें रखा गया था सभी लोग अपने-अपने वास्तविक विकासके अनुसार इससे लाभ उठा सकते थे और जो लोग इस चक्रको पूर्ण करनेके लिये अपने वर्तमान जन्ममें पर्याप्त विकसित हो जाते थे वे इसमें पूर्णतया आत्मार्पित हो सकते थे।

इस प्रथम दृढ़ और श्रेष्ठ आधारपर भारतीय सभ्यता अपने परिपक्व रूपमें विकसित होकर एक समृद्ध तेजस्वी और अद्वितीय वस्तु बन गयी थी। यहां उसने हमारी दृष्टिको

एक परम आध्यात्मिक उत्कर्षके अंतिम उच्च दृश्यसे परिपूरित किया था, वहा उसने धरातलपरके जीवनकी भी उपेक्षा नही की थी। वह नगरके व्यस्त जीवन और ग्राम दोनोंके बीच, जगलकी स्वाधीनता एव निर्जनता और ऊपर छाये हुए अंतिम असीम आकाशके बीच निवास करती थी। जीवन और मृत्युके बीच दृढतापूर्वक विचरण करते हुए उसने इन दोनोंके परे दृष्टि डाली और अमरत्वकी ओर जानेवाले सैंकडो राजपथ बना दिये। वह बाह्य प्रकृतिको विकसित करके अतरात्माकी ओर खींच ले जाती थी, वह जीवनको आत्मा-में उठा ले जानेके लिये समृद्ध करती थी। ऐसे आधारपर प्रतिष्ठित और इस प्रकार प्रशिक्षित होकर प्राचीन भारत-जाति संस्कृति और सभ्यताके आश्चर्यजनक शिखरोंतक पहुच गयी थी, उसने एक श्रेष्ठ, सुप्रतिष्ठित, विशाल और शक्तिशाली व्यवस्था और स्वतन्त्रताके साथ जीवन यापन किया, उसने महान् साहित्यका, विद्याओ, कलाओ, शिल्पो और उद्योगो-का विकास किया, वह ज्ञान और संस्कृतिके, दुष्प्राप्य महत्ता और वीरताके, दया, उपकार-शीलता, मानव-सहानुभूति और एकताके सभवनीय उच्चतम आदर्शो तथा उत्कृष्ट अभ्यासतक ऊपर उठी, उसने अद्भुत आध्यात्मिक दर्शनोका एक अत प्रेरित आधार स्थापित किया, उसने बाह्य प्रकृतिके रहस्योकी छानबीन की और अत सत्ताके नि सीम और आश्चर्यजनक सत्योको ढूढ निकाला तथा जीवनमें उतारा, उसने आत्माकी थाह ली तथा जगत्को समझा और अधिकृत किया। जैसे-जैसे उसकी सभ्यता समृद्ध और जटिल होती गयी वैसे-वैसे वह अवश्य ही अपनी आदिम व्यवस्थाकी प्रथम महान् सरलताको खोती गयी। बुद्धि उच्च और विशाल हो गयी, पर अतर्ज्ञान क्षीण हो गया अथवा उसने सतो, सिद्धो और गुह्यवेत्ताओंके हृदयोंमें शरण ली। केवल प्राण और मनकी सब चीजोंमें ही नही बल्कि आत्माकी चीजोंमें भी वैज्ञानिक प्रणाली, यथार्थता और क्रम-व्यवस्थापर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया जाने लगा, अतर्ज्ञानकी अबाध धाराको कटे-छटे मार्गोमें प्रवाहित होनेके लिये बाध्य किया गया। समाज अधिक कृत्रिम और जटिल बन गया, वह पहले जैसा स्वतत्र और उदात्त नही रहा, वह व्यक्तिके लिये बधनस्वरूप ही अधिक था और उसकी आध्यात्मिक क्षमताओंके विकासका क्षेत्र कम। पुराने उत्कृष्ट सर्वांगीण सामजस्यके स्थानपर उसके मूल अवयवोमेंसे किसी एक या दूसरेपर अतिरजित बल दिया जाने लगा। अर्थ और कामको, कुछ दिशाओमें, धर्मकी बलि देकर भी विकसित किया गया। धर्मकी रूपरेखाओको इतनी कठोर बधी-बधाई चीजोसे भर दिया गया और उनकी उसपर छाप डाल दी गयी कि वह आत्माकी स्वतत्रताके मार्गमें रोडा बन गया। आध्यात्मिक मोक्षका अनुसरण जीवनके विरोधमें किया जाने लगा, न कि इसकी पूर्ण विकसित परिणति और उच्च शिखरके रूपमें। फिर भी भारतकी आत्माको अनुप्राणित एव समस्वरित करने तथा जीवित रखनेके लिये प्राचीन ज्ञानका एक दृढ आधार बचा रहा। जब भ्रष्टता आयी और धीरे-धीरे ह्रास होने लगा, जब समाजका जीवन पथराकर जडीकृत अज्ञान और अस्तव्यस्ततामें जा गिरा तब भी प्राचीन आध्यात्मिक लक्ष्य एव परपरा भारत-

वासियोंको उनके बुरे-से-बुरे दिनोंमें भी सरल और मृदुल बनाने तथा उनकी रक्षा करनेके लिये बची रही। कारण हम देखते हैं कि यह जीवनदायिनी शक्तिकी नयी तरंगों और उच्च विस्फोटोंके रूपमें जातिको पुनः पुनः वेगपूर्वक आप्लावित करती रही या फिर आध्यात्मीकृत मन या हृदयकी प्रखर लपटोंके रूपमें फूटती रही जैसे कि आज भी यह एक महान् नवजागरणकी प्रेरणा देनेके लिये अपने पूरे बलके साथ एक बार फिर उठ रही है।

३

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पहला अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

मैंने भारतीय विचारधाराकी रूप-रेखाका वर्णन बौद्धिक समालोचनाके दृष्टिकोणसे ही किया है, क्योंकि यही दृष्टिकोण उन समालोचकोंका है जो इसका मूल्य घटानेकी चेष्टा करते हैं। मैंने यह दिखाया है कि इस विजातीय दृष्टिकोणसे भी हमें यह निर्णय करना होगा कि यह सस्कृति एक विशाल और उदात्त भावनाके द्वारा ही सृष्ट हुई है। अपनी सत्ताके अतस्तलमें, एक उच्च सिद्धातके द्वारा अनुप्राणित होकर, व्यष्टिगत मानवत्व, उसकी शक्तियों तथा उसकी सभवनीय पूर्णताकी एक हृदयग्राही और उन्नायक भावनासे आलोकित होकर तथा सामाजिक रचनाकी एक विस्तृत योजनाके साथ सलग्न होकर यह केवल प्रबल दार्शनिक, बौद्धिक और कलात्मक सर्जनशीलताके द्वारा ही नही, वरन् एक महान्, जीवन-दायिनी और फलप्रद जीवनी शक्तिके द्वारा भी समृद्ध हुई। परतु केवल यही बात इसकी सच्ची भावना या इसकी महानताको ठीक-ठीक नही प्रकट करती। इस दृष्टिकोणसे तो हम यूनानी या रोमन सभ्यताका भी वर्णन कर सकते हैं और महत्त्वकी बात शायद ही कोई छूट सकेगी। परतु भारतीय सभ्यता केवल एक महान् सास्कृतिक प्रणाली ही नही थी, बल्कि वह तो मानवात्माका एक विराट् धार्मिक प्रयास भी थी।

भारतीय और यूरोपीय सस्कृतिमें जो भेद है उसकी सारी जड भारतीय सभ्यताके आध्यात्मिक उद्देश्यसे उत्पन्न होती है। यह उद्देश्य इस सभ्यताके सभी बाह्य रूपों और लय-तालोंकी समस्त समृद्ध और बहुविध विभिन्नताको जो एक मोड दे देता है वही मोड इसे इसकी अपनी विलक्षण विशेषता प्रदान करता है। क्योंकि जो चीज इसमें अन्य सस्कृतियों-की जैसी है उसपर भी इस मोडके कारण एक विशिष्ट मौलिकता तथा विरल महत्ताकी छाप पड जाती है। इस सस्कृतिकी प्रधान शक्ति, इसकी विचारधाराका सारतत्त्व, इसका प्रबल आवेग बस आध्यात्मिक अभीप्सा ही थी। इसने न केवल आध्यात्मिकताको जीवनका उच्चतम उद्देश्य माना, बल्कि मानवजातिकी भूतकालीन परिस्थितियोंमें जहातक करना सभव

था यहांतक इसने समस्त जीवनको आध्यात्मिकताकी ओर मोड़ देनेका प्रयास भी किया। परंतु आध्यात्मिक प्रवृत्तिका मनुष्यके मनमें सबसे पहला अपूर्ण ही सही पर स्वाभाविक रूप धर्म होता है और इसलिये आध्यात्मिक विचारकी प्रधानता होने तथा जीवनपर अपना अधिकार जमानेका इसका प्रयास होनेके कारण यह आवश्यक हो गया कि चिंतन और कर्मको धार्मिक सांचेमें ढाल दिया जाय और जीवनसंबंधी प्रत्येक बातको स्थायी रूपसे धार्मिक भावनासे भर दिया जाय फिर इस कार्यको पूरा करनेके लिये एक व्यापक धर्म-दार्शनिक संस्कृतिकी आवश्यकता महसूस हुई। निःसंदेह सर्वोच्च आध्यात्मिकता जिज्ञासाकी उस निम्नतर अवस्थासे जो धार्मिक आचार और सिद्धांतसे परिचालित होती है बहुत ऊपर एक मुक्त और विस्तृत वायुमंडलमें विचरण करती है वह उनकी सीमाओंको सहज ही अपने ऊपर नहीं लेती और जब उन्हें स्वीकार करती भी है तब भी वह उनको पार कर जाती है वह एक ऐसे अनुभवमें निवास करती है जो अनुष्ठानप्रिय धार्मिक मनके लिये दुर्बोध होता है। परंतु उस उच्चतम आंतरिक उच्चतापर मनुष्य तुरत-फुरत नहीं जा पहुंचता और यदि उससे तुरत इसकी मांग की जाय तो वह वहां कभी नहीं पहुंचेगा। आरंभमें उसे आरोहणके निम्न आधारों और अवस्थाओंकी आवश्यकता पड़ती है वह सिद्धांत पूजा रूपक संकेत आकार या प्रतीक-रूपी किसी मचान की निश्चित अर्द्ध प्राकृत प्रेरकभावकी किसी तुष्टि एवं अनुमतिकी अपेक्षा करता है जिसके आधारपर वह अपने अंदर आत्माके मंदिरका निर्माण करते समय स्थित हो सके। केवल मंदिरके पूरा बन जानेके बाद ही आधारोंको हटाया जा सकता है तथा मचानको दूर किया जा सकता है। जिस धार्मिक संस्कृतिको हम आज हिंदूधर्मके नामसे पुकारते हैं उसने इस उद्देश्यको केवल पूरा ही नहीं किया अपितु, कई अन्य साम्प्रदायिक धर्मोंके विपरीत वह संस्कृति अपने उद्देश्यको जानती भी थी। उसने अपना कोई नाम नहीं रखा क्योंकि उसने स्वयं कोई साम्प्रदायिक सीमा नहीं बांधी उसने सारे संसारको अपना अनुयायी बनानेका दावा नहीं किया किसी एकमात्र निर्दोष सिद्धांतकी प्रस्थापना नहीं की मुक्तिका कोई एक ही संकीर्ण पथ या द्वार निश्चित नहीं किया वह कोई मत या पंथकी अपेक्षा कहीं अधिक मानव आत्माके ईश्वरोन्मुख प्रयासकी एक सतत-विस्तारशील परंपरा थी। आध्यात्मिक आत्म-निर्माण और आत्म-उपलब्धिके लिये एक बहुमुखी और बहु-अवस्थात्मिका विशाल व्यवस्था होनेके कारण उसे अपने विषयमें 'सनातन धर्म' के उस एकमात्र नामसे जिसे वह जानती थी चर्चा करनेका कुछ अधिकार था। यदि भारतीय धर्मके इस भाव और भावनाका हम समुचित और यथार्थ मूल्य आंक सकें तो ही हम भारतीय संस्कृतिके सच्चे भाव और भावनाको समझ सकते हैं।

अब ठीक यहीं वह पहली चकरा देनेवाली कठिनाई उपस्थित होती है जिसपर यूरोपीय मन लड़खड़ा जाता है! क्योंकि वह हिंदूधर्मका तात्पर्य समझनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। वह पूछता है—कहां है इसकी आत्मा? कहां है इसका मन और स्थिर विचार और किधर

है इसके शरीरका आकार? भला कोई ऐसा धर्म कैसे हो सकता है जिसके अदर कोई ऐसे कठोर सिद्धात न हो जो अनत नरकवासकी यत्रणापर विश्वास करनेकी माग करते हो, जिसके अदर कोई ऐसे धर्मतत्त्वसबधी स्वत सिद्ध मतव्य न हो, यहातक कि कोई ऐसा निश्चित धर्म-शास्त्र एव कोई धर्मविश्वास न हो जो उसे विरोधी या प्रतिस्पर्धी धर्मोसे पृथक् करता हो? भला कोई ऐसा धर्म हो ही कैसे सकता है जिसका कोई पोप-सदृश अध्यक्ष न हो, कोई शासक धर्म-सघ न हो, कोई चर्च, उपासनालय या सभा-सगठन न हो, किसी प्रकारका अनिवार्य धार्मिक आचार न हो जिसका पालन उसके सभी अनुयायियोके लिये आवश्यक हो, जिसमें कोई एक ही शासन-व्यवस्था और अनुशासन न हो? क्योकि, हिन्दू पुरोहित तो केवल सस्कार करानेवाले कार्यकर्ता है जिनके पास न कोई धर्मसबधी अधिकार होता है और न अनुशासनात्मक सत्ता, और पडित तो महज शास्त्रके व्याख्याता होते है, वे न तो धर्मके विधायक होते है और न इसके शासक। और फिर हिन्दूधर्मको धर्म कहा ही कैसे जा सकता है जब कि यह सभी विश्वासोको स्वीकार करता है, यहातक कि एक प्रकारके उच्चाकाक्षी नास्तिकतावाद और अज्ञेयवादको भी मान्यता देता है और सभी सभव आध्यात्मिक अनुभवोको, सब प्रकारके धार्मिक अभियानोको अगीकार करता है? इसमें एकमात्र स्थिर, कठोर, स्पष्ट और सुनिश्चित वस्तु है सामाजिक विधान, और वह भी विभिन्न वर्णों, प्रदेशो और समाजोमें अलग-अलग होता है। यहा वर्णका शासन है, न कि चर्चका, परन्तु वर्ण भी किसी मनुष्यको उसके विश्वासोंके लिये दड नही दे सकता, न वह विधर्मितापर रोक लगा सकता है और न एक नये क्रातिकारी सिद्धात या नये आध्यात्मिक नेताका अनुसरण करनेसे उसे मना कर सकता है। यदि वह ईसाई या मुसलमानको समाजसे बहिष्कृत करता है तो वह उसे धार्मिक विश्वास या आचारके कारण नही वरन् इसलिये बहिष्कृत करता है कि वे सामाजिक नियम और व्यवस्थाको अमान्य करते है। परिणामत, यह बलपूर्वक कहा गया है कि 'हिन्दू-धर्म' नामकी कोई चीज ही नही है, है केवल एक हिन्दू समाज-व्यवस्था जो अपने साथ अत्यत विभिन्न धार्मिक विश्वासो और प्रथाओका गट्ठर लिये हुए है। सभवत इस विषयमें छिछले पश्चिमी मतका अतिम निर्णय यह बहुमूल्य सिद्धात है कि हिन्दूधर्म पौराणिक गाथाओका एक स्तूप है जिसपर दार्शनिक रगकी एक बेकार तह चढी हुई है।

यह भ्राति धर्मविषयक दृष्टिकोणके उस सपूर्ण भेदसे उत्पन्न होती है जो भारतीय मन और सामान्य पश्चिमी बुद्धिको विभक्त करता है। वह भेद इतना बडा है कि उसे एक नमनशील दार्शनिक शिक्षा या एक व्यापक आध्यात्मिक सस्कृतिके द्वारा ही दूर किया जा सकता है, परतु पश्चिममें धर्मके जो रूप प्रचलित है तथा दार्शनिक चिंतनकी जिन कठोर पद्धतियोका वहा अनुशीलन किया जाता है वे उक्त शिक्षा या सस्कृतिकी कोई व्यवस्था नही करती और न इसके लिये कोई अवसर ही प्रदान करती है। भारतीय मनके लिये किसी धर्मका सबसे कम आवश्यक भाग होता है उसके सिद्धातको मानना, धार्मिक भावना ही

महत्वकी वस्तु होती है, न कि धर्म-संबंधी मत-विश्वास। दूसरी ओर पश्चिमी मनके लिये एक कटा-छटा बौद्धिक विश्वास ही किसी धर्ममतका सबसे आवश्यक अंग होता है वही इसके अर्थका मर्म होता है वही वह चीज होता है जो इसे दूसरोंसे पृथक करती है। क्योंकि इसके बंधे-बंधाये विश्वास ही इसे इस कसौटीके अनुसार कि यह आलोचकके मत विश्वासके साथ मेल खाता है या नहीं सच्चा या झूठा धर्म बनाते हैं। यह धारणा चाहे कितनी ही मूर्खतापूर्ण और उथली क्यों न हो पर यह उस पश्चिमी विचारका एक आवश्यक परिणाम है जो भूलसे यह समझता है कि बौद्धिक सत्य ही सर्वोच्च सत्य है और यहांतक मानता है कि दूसरा कोई सत्य है ही नहीं। भारतीय धार्मिक विचारक जानता है कि सभी उच्चतम सनातन सत्य आत्माके सत्य हैं। परम सत्य न तो न्यायशास्त्रीय तर्कनाके कठोर निष्कर्ष हैं और न विश्वासमूलक मंतव्योंकी स्थापनाएं, बल्कि वे तो अंतरात्माकी आंतरिक अनुभूतिके फल हैं। बौद्धिक सत्य तो मंदिरके बाहरी घेरेमें प्रवेश करनेके द्वारोंमेंसे केवल एक द्वार है। और, चूंकि 'अनंत' की ओर मुड़े हुए बौद्धिक सत्यको स्वभावतः ही बहुमुखी होना चाहिये संकीर्ण रूपसे एक नहीं इसलिये अत्यंत विभिन्न बौद्धिक विश्वास भी समान रूपसे सत्य हो सकते हैं क्योंकि वे अनंतके विभिन्न पार्श्वोंको प्रतिबिंबित करते हैं। बौद्धिक दृष्टिसे कितने ही दूर-दूर होते हुए भी वे बहुत से छोटे-छोटे द्वारोंका काम करते हैं जिनके द्वारा मन परम ज्योतिसे आनेवाली किसी मंद रश्मिको प्राप्त कर सकता है। सच्चे और झूठे धर्म नहीं होते बल्कि सच पूछो तो सभी धर्म अपने-अपने ढंगसे और अपनी-अपनी मात्रामें सच्चे हैं। प्रत्येक धर्म ही एकमेव सनातनकी ओर जानेवाले हजारों रास्तोंमेंसे एक रास्ता है।

भारतीय धर्मने मानवजीवनके सामने चार आवश्यक बातोंको रखा। सर्वप्रथम इसने मनमें सत्ताकी एक ऐसी उच्चतम चेतना या अवस्थापर विश्वास रखनेपर बल दिया जो विश्वव्यापी और विश्वातीत है जिससे सब कुछ प्रादुर्भूत होता है जिसमें सब कुछ इसे बिना जाने ही रहता-सहता और चलता-फिरता है और जिसे एक दिन सब अवश्य जान लेंगे जब कि वे उस वस्तुकी ओर मुड़ेंगे जो पूर्ण सनातन और अनंत है। दूसरे, इसने व्यष्टिजीवनके सामने विकास और अनुभवके द्वारा अपने-आपको तैयार करनेकी आवश्यकताको रखा जिससे कि अंतमें मनुष्य इस महत्तर सत्ताके सत्यमें सचेतन रूपसे विकसित होनेका प्रयत्न करनेके लिये प्रस्तुत हो जाय। तीसरे, इसने उसे ज्ञान और आध्यात्मिक या धार्मिक साधनाका एक सुप्रतिष्ठित सुपरीक्षित बहु-शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त और सदा विस्तृत होनेवाला मार्ग प्रदान किया। अंतमें जो लोग अभी इन उच्चतर सोपानोंके लिये तैयार नहीं थे उनके लिये इसने वैयक्तिक और सामूहिक जीवनकी एक व्यवस्था व्यक्तिगत और सामाजिक अनुशासन और आचार-व्यवहारका मानसिक नैतिक और प्राणिक विकासका एक ढांचा प्रस्तुत किया जिसके द्वारा उनमेंसे प्रत्येक अपनी सीमाओंके भीतर तथा अपनी प्रकृतिके अनुसार इस प्रकार प्रगति करनेमें समर्थ हो कि अंतमें महत्तर जीवनके लिये तैयार हो जाय। इनमेंसे पहली तीन

बाते प्रत्येक धर्मके लिये अत्यत अनिवार्य है, परतु हिन्दूधर्मने अतिमको भी सदैव अत्यधिक महत्त्व दिया है, उसने जीवनके किसी भी अगको एकदम लौकिक तथा धार्मिक और आध्यात्मिक जीवनके लिये विजातीय वस्तु कहकर अपने क्षेत्रसे बाहर नही छोडा है। तथापि भारतीय धार्मिक परपरा केवल एक धर्म्य-सामाजिक प्रणालीका रूपमात्र नही है जैसा कि अज्ञानी आलोचक व्यर्थ ही उसे समझता है। चाहे सामाजिक व्यतिक्रमके समय इसका महत्त्व कितना ही अधिक क्यो न हो, चाहे रुढिवादी धार्मिक मन समस्त सुस्पष्ट या प्रचड परिवर्तनका कितने ही हठके साथ विरोध क्यो न करे, फिर भी हिन्दूधर्मका सारमर्म आध्यात्मिक अनुशासन है, सामाजिक अनुशासन नही। सचमुच ही हम देखते है कि सिक्खधर्म-जैसे धर्मोको भी वैदिक परिवारमें गिना गया यद्यपि उन्होने प्राचीन सामाजिक परपराको तोडकर एक नयी रीति-नीतिका आविष्कार किया, जब कि जैनो और बौद्धोको परम्पराकी दृष्टिसे धार्मिक घेरेके बाहर समझा गया यद्यपि वे हिन्दुओकी सामाजिक आचार-नीतिका पालन करते थे और हिन्दुओंके साथ विवाह आदि सबध भी रखते थे, क्योकि उनकी आध्यात्मिक प्रणाली एव शिक्षा अपने मूलमें वेदके सत्यका निषेध और वैदिक क्रमपरपराका व्यतिक्रम करती प्रतीत होती थी। हिन्दूधर्मका निर्माण करनेवाले इन चारो अगोंके विषयमें विभिन्न मतो, सप्रदायो, समाजो और जातियोंके हिन्दुओके बीच छोटे-बडे भेद अवश्य है, किंतु फिर भी भावना, मूलभूत आदर्श और आचार तथा आध्यात्मिक मनोभावमें एक व्यापक एकता भी है जो इस विशाल तरलताके अदर सयोगकी एक अपरिमित शक्ति तथा एकत्वके एक प्रबल सूत्रको उत्पन्न करती है।

समस्त भारतीय धर्मका मूल विचार एक ऐसा विचार है जो सर्वोच्च मानव चिंतनमें सर्वत्र समान रूपसे पाया जाता है। इहलोकमें जो कुछ भी है उस सबका परम सत्य है एक 'पुरुष' या एक 'सत्' जो, यहा हम जिन मानसिक और भौतिक रूपोके सपर्कमें आते है उन सबसे परे है। मन, प्राण और शरीरसे परे एक अध्यात्मसत्ता एव आत्मा है, जो सभी सात वस्तुओको और अनतको अपने अदर धारण किये हुए है, सभी सापेक्ष वस्तुओंसे अतीत है, एक परम निरपेक्ष सत्ता है जो सभी नश्वर पदार्थोंको उत्पन्न और धारण करती है, एकमेव सनातन है। एकमेव परात्पर, विश्वव्यापी, आदि और शाश्वत भगवान् या दिव्य सत्, चित्, शक्ति और आनद ही वस्तुओका आदि स्रोत, आधार और अतर्वासी है। जीव, प्रकृति और जीवन इस आत्म-सचेतन नित्य-सत्ता और इस चिन्मय सनातनकी एक अभिव्यक्ति या इसका एक आशिक रूपमात्र है। परतु सत्ताके इस सत्यको भारतीय मनने बुद्धिके द्वारा चिंतित केवल एक दार्शनिक कल्पना, धार्मिक सिद्धात या अमूर्त तत्त्वके रूपमें ही नही ग्रहण किया था। यह कोई ऐसा विचार नही था जिसमें विचारक अपने अध्ययनके समय तो निरत रहे पर वैसे जीवनके साथ जिसका कोई क्रियात्मक सबध न हो। यह कोई चेतनाका गुह्य उन्नयन नही था जिसकी जगत् और प्रकृतिके साथ मनुष्यके व्यवहारोमें उपेक्षा

विरोधी धार्मिक दर्शन सर्वसामान्य रूपसे अंगीकार करते हैं। इस बातको भी सभी स्वीकार करते हैं कि मनुष्यकी आतरिक अध्यात्मसत्ताकी, उसके अदरकी दिव्य अतरात्माकी प्राप्ति, और ईश्वर या परमात्मा या सनातन ब्रह्मके साथ मनुष्यकी अतरात्माका किसी-न-किसी प्रकारका सजीव एव ऐक्यसाधक सपर्क या पूर्ण एकत्व ही आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करनेकी शर्त है। यह मार्ग हमारे सामने खुला है कि हम भगवान्‌की कल्पना और अनुभूति निर्व्यक्तिक 'निरपेक्ष' एव 'अनत'के रूपमे करे अथवा हम उनके पास एक विश्वातीत और विश्वव्यापी सनातन 'पुरुष' के रूपमें पहुचे और इसी रूपमे उन्हे जाने तथा अनुभव करे परतु, उनके पास पहुचनेका हमारा तरीका चाहे कोई भी क्यो न हो, आध्यात्मिक अनुभवका एकमात्र प्रधान सत्य यह है कि भगवान् भूतमात्रके हृदय और केद्रमें विराजमान है और भूतमात्र उनके अदर अवस्थित हैं और उन्हे प्राप्त करना ही महान् आत्म-उपलब्धि है। धर्ममत-सबधी विश्वासोंके मतभेद भारतीय मनके लिये सबमे विद्यमान एक ही आत्मा और परमेश्वरको देखनेके अलग-अलग तरीकोसे अधिक कुछ नही है। आत्म-साक्षात्कार ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है, अतरस्थ परमात्माकी ओर खुलना, अनतमें निवास करना, सनातनको खोजना और उपलब्ध करना, भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करना—यही धर्मका सर्वसामान्य विचार और लक्ष्य है, यही आध्यात्मिक मोक्षका अभिप्राय है, यही वह जीवत सत्य है जो पूर्णता और मुक्ति प्रदान करता है। उच्चतम आध्यात्मिक सत्य और उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्यका यह क्रियात्मक अनुसरण ही भारतीय धर्मका एकीकारक सूत्र है और यही, उसके सहस्रो रूपोके पीछे, उसका एक अभिन्न और सर्वसामान्य सारतत्त्व है।

यदि भारत-जातिकी आध्यात्मिक प्रतिभाके, या आध्यात्मिक सस्कृतिके रूपमें अग्रपक्तिमें स्थित होनेके भारतीय सभ्यताके दावेके समर्थनमे कहनेके लिये और कुछ न भी हो तो भी यह इस एक ही तथ्यसे काफी हदतक प्रतिपादित हो जायगा कि इस महत्तम और व्यापकतम आध्यात्मिक सत्यको भारतमें नितात साहसपूर्ण विशालताके साथ सिर्फ देखा ही नही गया, अनुपम तीव्रताके साथ अनुभव और प्रकट ही नही किया गया तथा सब सभव पहलुओंसे केवल इसपर विचार ही नही किया गया, अपितु इसे सचेतन रूपसे जीवनका एक महान् उन्नायक विचार, समस्त चितनका अत सार, समस्त धर्मका आधार और मानवजीवनका गुप्त आशय एव घोषित चरम लक्ष्य भी बनाया गया। जिस सत्यकी घोषणा की गयी वह भारतीय चितनकी कोई निराली विशेषता नही है। सभी जगहके उच्चतम मनीषियो और महात्माओने उसका साक्षात्कार और अनुसरण किया है। परतु अन्यत्र वह केवल कुछ एक विचारको या किन्ही विरले गुह्यवेत्ताओ या असाधारण-शक्तिसपन्न अध्यात्म-प्रकृति व्यक्तियोका ही जीवत मार्गदर्शक रहा है। जनसाधारणको इस परात्पर 'कुछ'का कोई बोध या स्पष्ट अनुभव नही प्राप्त हुआ, इसकी किसी छायाकी झाकी भी नही मिली, वे धर्मके केवल निम्नतर साप्रदायिक पहलूमें, देवता-विषयक हीनतर विचारोमें या जीवनके बाह्य पार्थिव

की जा सकती हो। यह तो एक जीवंत आध्यात्मिक सत्य था, एक सत्ता, शक्ति एवं उप-स्थिति थी जिसकी खोज सभी लोग अपनी क्षमताकी मात्राके अनुसार कर सकते थे और जिसे जीवनके द्वारा तथा जीवनके परे सहस्रों मार्गोंसे आयत्त कर सकते थे। इस सत्यको जीवनमें चरितार्थ करना और यहांतक कि विचार, जीवन तथा कर्मको परिचालित करनेवाली प्रमुख भावना बनाया जाता था। सब रूपोंके पीछे विद्यमान किसी परम वस्तु या परम पुरुषको इस प्रकार स्वीकार करना और खोजना ही भारतीय धर्मका एकमात्र सर्वकालीन मूलमंत्र रहा है और यदि इसने सैकड़ों आकार ग्रहण कर लिये हैं तो इसका कारण ठीक यही है कि यह इतना अधिक जीवंत था। केवल अनंत ही सान्तकी सत्ताकी सार्थकता सिद्ध करता है और सान्त अपने-आपमें कोई पूर्णतः पृथक् मूल्य या स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता। जीवन यदि यह कोई भ्रम नहीं है तो एक दिव्य लीला है, अनंतकी महिमाकी एक अभि-व्यक्ति है। अथवा यह एक साधन है जिससे अगणित रूपों और अनेक जीवनोंके द्वारा प्रकृतिके अंदर विकसित होता हुआ जीव प्रेम, ज्ञान, श्रद्धा, उपासना और कर्ममय ईश्वरोन्मुख संकल्पके बलपर इस परात्पर पुरुष और इस अनंत सत्ताके पास पहुंच सकता है, इसे स्पर्श और अनुभव कर सकता तथा इसके साथ एकत्व लाभ कर सकता है। यह दिव्य आत्मा या यह स्वयम् पुरुष ही एकमात्र परम सद्वस्तु है और अन्य सभी चीजें या तो प्रतीतियां मात्र हैं या उसपर आश्रित होनेके कारण ही वास्तविक हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि आत्मोपलब्धि और ईश्वरोपलब्धि ही जीवधारी और विचारशील मनुष्यका महान् कार्य है। समस्त जीवन और विचार अंततोगत्वा आत्मोपलब्धि और ईश्वरोपलब्धिकी ओर प्रगति करनेके साधन हैं।

भारतीय धर्मने परम-सत्यसंबंधी बौद्धिक या पारमार्थिक विचारोंको कभी एकमात्र केंद्रीय महत्वकी वस्तु नहीं समझा। किसी भी विचार या किसी भी आकारके रूपमें उस सत्यका अनुसरण करने, आंतरिक अनुभूतिके द्वारा उसे प्राप्त करने और चेतनामें उसके अंदर निवास करनेको ही वह एकमात्र आवश्यक वस्तु मानता था। एक मत या संप्रदाय मनुष्यकी वास्त-विक आत्माको विश्वात्मा या परमात्माके साथ अविभाज्य रूपमें एक समझ सकता था। दूसरा मनुष्यको शाश्वत या भगवान्के साथ एक पर प्रकृतिमें उनसे भिन्न मान सकता था। तीसरा ईश्वर, प्रकृति और मनुष्यात्मा व्यष्टि-जीवको सत्ताकी तीन भिन्न-भिन्न शक्तियोंके रूपमें स्वीकार कर सकता था। परंतु सबके लिये आत्माका सत्य एकसमान अकाट्य सत्य था, क्योंकि भारतीय द्वैतवादीके लिये भी ईश्वर ही परम आत्मा और सद्वस्तु है जिसमें और जिसके द्वारा प्रकृति और मनुष्य रहते, चलते-फिरते और अस्तित्व रखते हैं और, यदि तुम वस्तु-विषयक उसके दृष्टिकोणसे ईश्वरको बाहर निकाल दो तो उसके निकट प्रकृति और मनुष्यका कुछ भी अर्थ और महत्त्व नहीं रह जायगा। आत्मा, विश्व-प्रकृति (चाहे उसे माया कहा जाय अथवा प्रकृति या शक्ति) और जीवधारी प्राणियोंमें विद्यमान अंत-रात्मा अर्थात् जीव—ये तीन सत्य हैं जिन्हें भारतके सबके सब धार्मिक संप्रदाय और दर्शन

से-कम भारतके निवासियोमे, यहातक कि "अज्ञानी जन-साधारण" में भी यह विशेषता है कि सदियोंके शिक्षणके द्वारा वे और कहीकी साधारण जनता या सुसस्कृत श्रेष्ठ जनोकी भी अपेक्षा आतरिक सत्योके अधिक निकट है, विश्वगत अविद्याके अपेक्षाकृत कम मोटे पर्देके द्वारा इन सत्योसे विभक्त है और भगवान् एव अध्यात्मसत्ता, आत्मा एव नित्य-सत्ताकी जीवत झाकी अधिक सुगमतासे पुन प्राप्त कर लेते है। बुद्धकी ऊची, कठोर और कठिन शिक्षा भला और कहा सर्वसाधारणके मनपर इतनी तेजीसे अधिकार कर पाती ? और कहा किसी तुकाराम, रामप्रसाद, कबीर तथा सिक्ख गुरुओके गान, और प्रखर भक्ति पर साथ ही गहरे आध्यात्मिक चितनसे युक्त तामिल सतोंके गीत इतने वेगसे गुजायमान हो पाते तथा लोक-प्रिय धार्मिक साहित्यका रूप ले पाते ? आध्यात्मिक प्रवृत्तिका यह प्रबल सचार या घनिष्ठ सामीप्य, उच्चतम सत्योकी ओर मुडनेके लिये सपूर्ण राष्ट्रके मनकी यह तत्परता एक युग-युग व्यापी, वास्तविक और अभीतक जीवित तथा परम आध्यात्मिक सस्कृतिका चिह्न और फल है।

भारतीय दर्शन और धर्मकी अतहीन विविधता यूरोपीय मनको कभी न खत्म होनेवाली, चकरा देने और उकता देनेवाली तथा निरुपयोगी प्रतीत होती है, पेड-पौधोकी समृद्धि और बहुलताके ही कारण वह वनको देखनेमें असमर्थ होता है, वह बाह्य रूपोके बाहुल्यके कारण सर्वसामान्य आध्यात्मिक जीवनको नही देख पाता। परतु, विवेकानदने उचित ही कहा था, स्वय यह अनत विविधता ही एक उत्कृष्ट धार्मिक सस्कृतिका लक्षण है। भारतीय मनने सदा ही यह अनुभव किया है कि परमोच्च सत्ता अनत है, उसने ठीक अपने आर-भिक वैदिक कालसे ही यह देखा है कि प्रकृतिगत आत्माके सम्मुख अनन्तको सदा अनततया विविध रूपोमें ही प्रकट होना चाहिये। पश्चिमी मनने चिरकालसे इस उग्र एव सर्वथा युक्तिहीन विचारका पोषण किया है कि समस्त मानवजातिके लिये एक ही धर्म होना चाहिये, एक ऐसा धर्म होना चाहिये जो अपनी सकीर्णताके ही कारण, एक ही सिद्धात-समूह, एक ही पूजा-प्रणाली, एक ही क्रिया-पद्धति, एक ही विधि-निषेध-परपरा, एक ही धार्मिक अध्यादेशके बलपर सार्वभौम सिद्ध हो। यह सकीर्ण मूढता एक ऐसे एकमात्र सच्चे धर्मके रूपमें उछल-कूद मचाती है, जिसे, यहा मनुष्योंके द्वारा सताये जानेके डरसे और अन्य लोकोमें ईश्वरके द्वारा आध्यात्मिक रूपमें त्याग दिये जाने या सदाके लिये भयानक दड दिये जानेके भयसे सभी लोगोको स्वीकार करना होगा। मानुषी तर्कहीनताकी यह भद्दी रचना, जो इतनी अधिक असहिष्णुता, क्रूरता, प्रगतिविरोधिता और उग्र धर्मांधताकी जननी है, भारतके स्वतत्र और नमनशील मनपर कभी दृढ अधिकार नही जमा सकी। सर्वत्र ही मनुष्योमें कुछ सामान्य मानव त्रुटिया होती है और असहिष्णुता एव सकीर्णता, विशेषकर धर्मकार्योंके अनुष्ठानमें, भारतमें भी रही है और है। धार्मिक शास्त्रार्थका बहुत अधिक जोरजुल्म रहा है, सप्रदायोंके असतोषपूर्ण कलह हुए है जिनमें प्रत्येकने अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता और अपने महत्तर ज्ञानका दावा किया है, और कभी-कभी तो, विशेष-

रूपोंमें ही निवास करते रहें। परंतु अन्य किसी संस्कृतिने जो कार्य नहीं किया है उसे करनेमें भारतीय संस्कृति अपनी दृष्टिकी ऊर्जस्विता अपने दृष्टिकोणकी व्यापकता अपनी जिज्ञासाकी तीव्रताके कारण अवश्य सफल हुई। वह धर्मपर वास्तविक आध्यात्मिकताके मुख्य आदर्शकी छाप लगानेमें कृतकार्य हुई यह धार्मिक क्षेत्रके प्रत्येक भागमें ठेठ उच्चतम आध्यात्मिक सत्यका कुछ सजीव प्रतिबिंब और उसके प्रभावकी कुछ भावधारा अवश्य ले आयी। इस दावेसे बढ़कर असत्य और कोई बात नहीं हो सकती कि भारतके सामान्य धार्मिक मनने भारतीय धर्मके उच्चतर आध्यात्मिक या दार्शनिक सत्योंको बिलकुल नहीं समझा है। यह कहना एकदम झूठ बोलना या जान-बूझकर भूल करना है कि वह सदा केवल रीति-रस्म मत-विश्वास और प्रथा-परंपरा-रूपी बाह्याचारोंमें ही निवास करता रहा है। इसके विपरीत भारतीय धार्मिक दर्शनके मुख्य दार्शनिक सत्य अपने निचोड़ भावनात्मक रूपमें या अपने गंभीरतया काव्यमय एवं ओजस्वी वर्णनके रूपमें भारतवासियोंके साधारण मनपर अंकित हैं। माया लीला एवं भगवान्के अंतर्यामित्वसे संबंध रखनेवाले विचार एक साधारण मनुष्य एवं मंदिरके पुजारीको भी उतने ही ज्ञात हैं जितने कि एकांतसेवी दार्शनिकको मठवासी संन्यासी और कुटीवासी संतको। जिस आध्यात्मिक सत्यको ये प्रतिभासित करते हैं जिस गंभीर अनुभूतिकी ओर ये संकेत करते हैं वह संपूर्ण जातिके धर्म साहित्य कला और यहांतक कि प्रचलित धार्मिक गानोंमें भी व्याप्त हुई है।

यह सच है कि इन चीजोंको सर्वसाधारण लोग चिंतनके अनवरत प्रयत्नकी अपेक्षा कहीं अधिक भक्तिके उत्साहके द्वारा ही अधिक सहज रूपमें अनुभव करते हैं परंतु यह तो वही है जो होना आवश्यक है और होना ही चाहिये क्योंकि मनुष्यकी बुद्धिकी अपेक्षा उसका हृदय सत्यके अधिक निकट है। यह भी सच है कि बाह्य अनुष्ठानोंपर अत्यधिक बल देनेकी प्रवृत्ति सभी कालोंमें विद्यमान रही है और इसने गंभीरतर आध्यात्मिक हेतुको आच्छादित करनेकी चेष्टा भी की है किंतु यह केवल भारतकी ही निजी विशेषता नहीं है यह तो मानव प्रकृतिका एक सार्वभौम दोष है जो यूरोपमें एशियासे कम नहीं वरन् वहीं अधिक स्पष्ट रूपमें पाया जाता है। इसी कारण आध्यात्मिक सत्यको सजीव बनाये रखने और आचार-अनुष्ठान रीति-नीति और कर्मकांडके निर्जीव बनानेवाले बोझका प्रतिरोध करनेके लिये संतों और धार्मिक विचारकोंकी अविच्छिन्न परंपरा तथा ज्ञानालोकप्राप्त संन्यासियोंकी शिक्षाकी आवश्यकता रही है। परंतु यह भी तथ्य है कि आत्माके इन संदेशवाहकोंका कभी अभाव नहीं रहा। और इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य भी विद्यमान है कि सर्वसाधारणके मनमें इनके संदेश। सुननेकी समझदारीपूर्ण तत्परता भी कभी नहीं रही। सभी देशोंकी तरह भारतमें भी साधारण अज्ञानाच्छन्न आत्मा तथा बहिर्मुख मनको नामोंसे ही अभिरुचि है। अतः हमारे भारतवासी इस विश्वव्यापी सत्यको भुलाकर इसे भारतीय मनोभावना ही तक सीमित विशेषता समझना इस उच्च यूरोपीय आलोचकके लिये कितना सहज है! परंतु हम

से-कम भारतके निवासियोमे, यहातक कि "अज्ञानी जन-साधारण" में भी यह विशेषता है कि सदियोंके शिक्षणके द्वारा वे और कहीकी साधारण जनता या सुसस्कृत श्रेष्ठ जनोकी भी अपेक्षा आतरिक सत्योंके अधिक निकट है, विश्वगत अविद्याके अपेक्षाकृत कम मोटे पर्देके द्वारा इन सत्योसे विभक्त है और भगवान् एव अध्यात्मसत्ता, आत्मा एव नित्य-सत्ताकी जीवत झाकी अधिक सुगमतासे पुन प्राप्त कर लेते है। बुद्धकी ऊची, कठोर और कठिन शिक्षा भला और कहा सर्वसाधारणके मनपर इतनी तेजीसे अधिकार कर पाती? और कहा किसी तुकाराम, रामप्रसाद, कबीर तथा सिक्ख गुरुओंके गान, और प्रखर भक्ति पर साथ ही गहरे आध्यात्मिक चिंतनसे युक्त तामिल सतोंके गीत इतने वेगसे गुजायमान हो पाते तथा लोक-प्रिय धार्मिक साहित्यका रूप ले पाते? आध्यात्मिक प्रवृत्तिका यह प्रबल सचार या घनिष्ठ सामीप्य, उच्चतम सत्योकी ओर मुडनेके लिये सपूर्ण राष्ट्रके मनकी यह तत्परता एक युग-युग व्यापी, वास्तविक और अभीतक जीवित तथा परम आध्यात्मिक सस्कृतिका चिह्न और फल है।

भारतीय दर्शन और धर्मकी अतहीन विविधता यूरोपीय मनको कभी न खत्म होनेवाली, चकरा देने और उकता देनेवाली तथा निरुपयोगी प्रतीत होती है, पेड-पौधोकी समृद्धि और बहुलताके ही कारण वह वनको देखनेमें असमर्थ होता है, वह बाह्य रूपोंके बाहुल्यके कारण सर्वसामान्य आध्यात्मिक जीवनको नही देख पाता। परतु, विवेकानदने उचित ही कहा था, स्वय यह अनत विविधता ही एक उत्कृष्ट धार्मिक सस्कृतिका लक्षण है। भारतीय मनने सदा ही यह अनुभव किया है कि परमोच्च सत्ता अनत है, उसने ठीक अपने आर-भिक वैदिक कालसे ही यह देखा है कि प्रकृतिगत आत्माके सम्मुख अनन्तको सदा अनततया विविध रूपोमें ही प्रकट होना चाहिये। पश्चिमी मनने चिरकालसे इस उग्र एव सर्वथा युक्तिहीन विचारका पोषण किया है कि समस्त मानवजातिके लिये एक ही धर्म होना चाहिये, एक ऐसा धर्म होना चाहिये जो अपनी सकीर्णताके ही कारण, एक ही सिद्धात-समूह, एक ही पूजा-प्रणाली, एक ही क्रिया-पद्धति, एक ही विधि-निषेध-परपरा, एक ही धार्मिक अध्यादेशके बलपर सार्वभौम सिद्ध हो। यह सकीर्ण मूढता एक ऐसे एकमात्र सच्चे धर्मके रूपमें उछल-कूद मचाती है, जिसे, यहा मनुष्योंके द्वारा सताये जानेके डरसे और अन्य लोकोमें ईश्वरके द्वारा आध्यात्मिक रूपमें त्याग दिये जाने या सदाके लिये भयानक दड दिये जानेके भयसे सभी लोगोको स्वीकार करना होगा। मानुषी तर्कहीनताकी यह भद्दी रचना, जो इतनी अधिक असहिष्णुता, क्रूरता, प्रगतिविरोधिता और उग्र धर्मांधताकी जननी है, भारतके स्वतत्र और नमनशील मनपर कभी दृढ अधिकार नही जमा सकी। सर्वत्र ही मनुष्योमें कुछ सामान्य मानव त्रुटिया होती हैं और असहिष्णुता एव सकीर्णता, विशेषकर धर्मकार्यके अनुष्ठानमें, भारतमें भी रही है और है। धार्मिक शास्त्रार्थका बहुत अधिक जोरजुल्म रहा है, सप्रदायोंके असतोषपूर्ण कलह हुए है जिनमें प्रत्येकने अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता और अपने महत्तर ज्ञानका दावा किया है, और कभी-कभी तो, विशेष-

विकास करता था, जो धार्मिक गुरु किसी नये सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा करता था, जो विचारक आध्यात्मिक सत्ताके बहुमुखी सत्यकी एक नवीन ढगसे प्रस्थापना करता था उन्हें उनके साधनाभ्यास या प्रचारमें कोई बडी बाधा नही दी जाती थी। अधिकसे अधिक उन्हे स्वभावसे ही प्रत्येक परिवर्तनके विरोधी पुरोहित और पडितके विरोधका सामना करना पडता था, परतु इसे तो केवल झेलकर ही पार करना आवश्यक था जिससे राष्ट्रीय धर्मके स्वतत्र और सहजनम्य आकार तथा उसकी लचकीली व्यवस्थाके अदर नये तत्त्वको ग्रहण किया जा सके।

एक सुदृढ आध्यात्मिक व्यवस्था और निर्बाध आध्यात्मिक स्वतत्रताकी आवश्यकता सदा ही दृष्टिमें रखी गयी, परतु इसकी व्यवस्था किसी एक रिवाजको पूरा करनेके बाहरी या कृत्रिम ढगसे नही बल्कि नाना प्रकारसे की गयी थी। सर्वप्रथम इसकी नीव प्रामाणिक शास्त्रोकी मान्यतापर रखी गयी थी जिनकी सख्या सदैव बढती रहती थी। इन शास्त्रोमेंसे गीता जैसे कुछ एक ग्रथ व्यापक और सर्वजनीन रूपमे प्रामाणिक माने जाते थे, अन्य ग्रथ विभिन्न मतो या सम्प्रदायोंके निजी शास्त्र थे ऐसा समझा जाता था कि वेदो जैसे कुछ एक ग्रथोकी अवश्यमान्यता तो निरपेक्ष है और अन्योकी सापेक्ष। परतु इन सबकी व्याख्याके लिये अत्यत व्यापक स्वतत्रता प्रदान की गयी थी और इसने इन प्रामाणिक ग्रथोमेंसे किसीको भी धार्मिक अत्याचार या मानव मन और आत्माकी स्वतत्रताके खडनका साधन नही बनने दिया। व्यवस्थाका एक अन्य साधन था पारिवारिक और सामाजिक परपराकी शक्ति, कुलधर्म, जो दृढ तो होता था पर अपरिवर्तनीय नही। तीसरा था ब्राह्मणोकी धार्मिक प्रामाणिकता, पुरोहितोके रूपमें वे आचार-अनुष्ठानके सरक्षकोकी भाति कार्य करते थे, पडितोंके रूपमें वे, कार्यवाहक पुरोहित वर्ग जिस पदका दावा कर सकता था उसकी अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और सम्मानित पदके साथ कार्य करते थे,—क्योकि पुरोहितगिरीको भारतमें अधिक महत्त्व नही दिया गया था, वे धार्मिक परपराके व्याख्याकारोंके पदपर अवस्थित थे और साथ ही परपरा-रक्षक एक प्रबल शक्ति भी थे। अतमें, और अत्यत विलक्षण एव अत्यत प्रबल रूपमें व्यवस्थाकी सुरक्षा गुरुओ या आध्यात्मिक शिक्षकोकी परपराके द्वारा की जाती थी जो प्रत्येक आध्यात्मिक प्रणालीकी अविच्छिन्नताकी रक्षा करते थे और इसे एक पीढीसे दूसरी पीढीको सौंपते थे, पर पुरोहित और पडितके विपरीत उन्हे इसके अर्थको स्वतत्रतापूर्वक समृद्ध करने तथा इसकी साधनाको विकसित करनेका अधिकार भी प्राप्त था। कठोर नही, बल्कि सजीव और गतिशील परपरा ही भारतके आतर धार्मिक मनकी विशिष्ट प्रवृत्ति थी। अत्यत प्राचीन कालसे वैष्णव धर्मका विकास, इसके सतो और गुरुओकी परपरा, क्रमश रामानुज, मध्व, चैतन्य और वल्लभाचार्यके द्वारा किया गया इसका अद्भुत विकास और अवसाद तथा कुछ प्रस्तरीकरणके कालके पश्चात् सजीव हो उठनेकी इसकी हालकी हलचले—ये सब युगव्यापी अविच्छिन्नता और स्थिर परपराके इस दृढ सयोगका, जिसमें शक्तिशाली एव सजीव परिवर्तनकी स्वतत्रता भी विद्यमान थी, एक अद्भुत उदाहरण है।

इससे भी अधिक विचित्र दृष्टांत था सिक्ख धर्मकी स्थापना, इसके गुरुओंकी लंबी परंपरा और इसे खालसा संप्रदायकी जनतंत्रात्मक सत्ताके रूपमें गुरु गोविन्दसिंहद्वारा दी गयी नयी दिशा और नया स्वरूप। बौद्ध संघ और उसकी परिषदें (संगीतियां) शंकराचार्यके द्वारा एक प्रकारकी विभक्त धर्माध्यक्षीय सत्ताका प्रवर्तन, ऐसी सत्ताका जो सहस्राब्दि वर्षोंसे एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीको प्राप्त होती रही और जो आज भी पूर्णतः क्षीण नहीं हुई है, सिक्खों-का खालसा पंथ, आधुनिक सुधारक संप्रदायोंद्वारा 'समाज' नामसे एक धर्मसभाका रूप ग्रहण किया जाना—ये सब एक ठोस एवं कठोर व्यवस्थाके प्रयत्नको घोषित करते हैं। परंतु यह ध्यान देने योग्य है कि इन प्रयत्नोंमें भी भारतके धर्मप्रधान मनकी स्वतंत्रता, नमनीयता और जीवंत सरलताने इसे सदैव पश्चिमकी अत्यंत बड़ी-बड़ी उन भ्रमपरंपराओं एवं स्वेच्छाचारी पोप-राज्यों जैसी किसी चीज का सूत्रपात करनेसे रोका जिन्होंने पश्चिममें मानवजातिकी आध्यात्मिक स्वाधीनतापर अपने प्रगतिविरोधी जुएका दुस्सह भार लादनेकी चेष्टा की है।

मानव कार्यकलापके किसी भी क्षेत्रमें एक साथ व्यवस्था और स्वतंत्रताके लिये सहज प्रवृत्तिका होना सदा ही उस क्षेत्रमें एक उच्च स्वाभाविक क्षमताका चिह्न होता है और जो जाति एक सदा-व्यवस्थित धार्मिक विकासके साथ असीम धार्मिक स्वतंत्रताके ऐसे संयोग-की युक्ति निकाल सकती है उसे उच्च धार्मिक क्षमताका श्रेय देना ही होगा, जैसे कि उसे इसका अवश्यंभावी फल, एक महान् प्राचीन और अभीतक जीवित आध्यात्मिक संस्कृति-रूपी फल प्राप्त करनेसे भी वंचित नहीं रखा जा सकता। विचार और अनुभवकी यह पूर्ण स्वतंत्रता और एक ऐसे ढांचेकी व्यवस्था जो स्वतंत्रताको सुरक्षित रखनेके लिये काफी लचीली एवं विविधतापूर्ण है और फिर भी एक स्थिर एवं धारावाही विकासका साधन बननेके लिये पर्याप्त दृढ़ और सुनिश्चित है—यही चीजें भारतीय सभ्यताका यह आश्चर्यजनक और सनातन प्रवीण होनेवाला धर्म प्रदान किया है जिसके पास बहुमुखी दर्शनों, महान् शास्त्रों, गंभीर धार्मिक ग्रंथों, सनातनके पास उसके अनेक सत्यके प्रत्यक्ष पार्श्वसे पहुंचनेवाले धर्मों, मानस-आध्यात्मिक साधना और आत्म-साक्षात्कारकी यौगिक प्रणालियों तथा उन अनेकानेक रीति-रस्मों, प्रतीकों और अनुष्ठानोंका अद्भुत खजाना है जो ईश्वरोन्मुख प्रयासकी भार वि-भिन्न ढंगोंकी सभी अवस्थाओंमें मनका शिक्षण करनेकी सामर्थ्य रखते हैं। इसकी सुदृढ़ भित्ति जो बिना किसी खतरेके इस व्यापक सहिष्णुता एवं आत्मसात्कारी भावनाको आश्रय देनेमें समर्थ है, इसके अनुभवकी सजीवता, तीव्रता, गंभीरता और बहुविधता, धार्मिक ज्ञान विज्ञान और अर्थ-बोध दूसरोंद्वारा किये जानेवाले अस्वाभाविक प्रभेदसे इसकी मुक्तता, इसका बुद्धि और आत्माका मनोज्ञ समन्वय, इसकी चिरस्थायिता और इसकी पुनरुज्जीवनकी अनंत क्षमता—ये सब आज इन सभी धर्म-संस्थाओंके बीच एक अत्यंत विस्तृत, समृद्ध और जीवंत धर्मके रूपमें उपस्थित करते हैं। इसीलिये नवीने इसे अनेक निषेध और सहने-द्वारा जीवन आघात पहुंचाया है किन्तु वह इसके आध्यात्मिक प्रभावको सुनिश्चित करतो

विनष्ट नही कर सकी। राष्ट्रकी जीवनशक्तिके अधिकतम ह्रासके समय इस आक्रमणके द्वारा अल्पकालके लिये कुछ क्षुब्ध होकर चकित और जरा विचलित होकर भारत, लगभग एकदम ही, फिर से जाग उठा और उसने आध्यात्मिक कर्मण्यता, जिज्ञासा, सात्म्यकरण और रचनात्मक प्रयत्नके नये विस्फोटके द्वारा प्रत्युत्तर दिया। उसमें एक महान् नये जीवनकी, एक बडे भारी रूपातर, और भी आगेके एक ऊर्जस्वी विकास, तथा आध्यात्मिक अनुभवकी अखूट अनतताओकी ओर शक्तिशाली प्रगतिकी प्रत्यक्ष रूपसे तैयारी हो रही है।

भारतके धर्ममत एव आध्यात्मिक अनुभवकी बहुमुखी नमनीयता इसके सत्य, इसकी सजीव वास्तविकता, इसकी खोज और उपलब्धिकी बधनरहित सत्यताका स्वाभाविक चिह्न है, परतु यह नमनीयता यूरोपीय मनके लिये एक सतत बाधा है। यूरोपका धार्मिक चिंतन कठोर दुर्बलताजनक परिभाषाए बनाने, वस्तुओको कठोरतापूर्वक त्यागने तथा बाहरी विचार, सगठन और आकार निश्चित करनेमें सतत सलग्न रहनेका अभ्यासी है। तार्किक या शास्त्रीय बुद्धिके द्वारा निर्मित बधा-बधाया धर्म-मत, आचार-व्यवहारको स्थिर करनेके लिये एक कठोर और सुनिश्चित नैतिक विधान, आचार-अनुष्ठानो और उत्सव-समारोहोका एक गट्ठर, एक दृढ पुरोहितीय या धर्मसभात्मक सगठन—यही है पश्चिमी धर्म। एक बार जब आत्मा इन वस्तुओमें सुरक्षित रूपसे बध जाय और इन जजीरोंसे जकड जाय तो भावोकी कुछ उमगो और यहातक कि कुछ गुह्य जिज्ञासाको भी सहा जा सकता है—पर वह भी युक्तिसगत सीमाओंके भीतर। परतु, आखिरकार, इन खतरनाक मसालोके बिना काम चलाना ही शायद अत्यत सुरक्षित है। इन विचारोकी शिक्षा पाकर यूरोपीय आलोचक भारत आता है और एक बहुदेवतावादी धर्म-मतकी, एकमेव अनतमें विश्वास ही जिसका शिरोमुकुट है, अत्यधिक वृहत्ता और जटिलताको देखकर भौचक रह जाता है। इस विश्वास-को वह भ्रमवश पश्चिमके प्रभावहीन और भावात्मक बौद्धिक विश्वेश्वरवादसे अभिन्न समझ बैठता है। वह एक हठपूर्ण पूर्वधारणाके साथ अपनी चिंतन-शैलीके विचारो और परिभाषा-ओका प्रयोग करता है, और इस अन्याय्य विदेशीय अर्थने भारतीय आध्यात्मिक विचारोंके सबधमें—दुर्भाग्यवश, "शिक्षित" भारतीयोंके मनमें भी—अनेक मिथ्या मूल्य स्थिर कर दिये हैं। परतु जहा हमारा धर्म यूरोपीय आलोचकके निश्चित मानदडोकी पहुचसे परे रह जाता है वहा वह आलोचक तुरत गलतफहमी, निंदा और अहकारपूर्ण दोषारोपणकी शरण लेता है। उधर, भारतीय मन असहिष्णु मानसिक वर्जनोका विरोधी है, क्योकि सबोधि और आतरिक अनुभवकी एक महान् शक्तिने इसे आरभसे ही वह वस्तु दी थी जिसकी ओर पश्चिमका मन, केवल हालमें ही अधोकी तरह टटोल-टटोलकर और कठिनाईके साथ अग्रसर हो रहा है,—वह वस्तु है, विश्व-चेतना, विश्व-दृष्टि। जब वह अद्वितीय एकमेवको देखता है तब भी वह उसके आत्मा और प्रकृति-रूपी द्वैत को स्वीकार करता है, वह उसके अनेक त्रैतो तथा सहस्रो रूपो के लिये अवकाश प्रदान करता है। जब वह भगवान्के एक

ही भीमाकारी रूपपर अपनेको एकाग्र करता है तथा उसके सिवा और किसी भी चीजको देखता नहीं प्रतीत होता तब भी वह, सहज स्वभाववश अपनी चेतनाके पीछे 'सर्व'की भावना और एकमेवके विचारको सुरक्षित रखता है। जब वह अपनी पूजाको अनेक पात्रोंमें विभक्त कर देता है तब भी वह उसके साथ-साथ अपनी पूजाके पात्रोंद्वारा तथा अनेकानेक देवताओंके परे परम देवकी एकताको देखता है। यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति उन गुह्यविदों या इने-गिने विद्वानों या दार्शनिक चिंतकोंकी ही विशिष्ट प्रवृत्ति नहीं है जो वेद और वेदांतके उच्च विचारोंपर आश्रित-पालित हुए हैं। यह उस आम जनताके मनमें भी व्याप्त है जो पुराण और तंत्रके विचारों रूपकों परंपराओं और सांस्कृतिक प्रतीकोंमें पली है क्योंकि ये चीजें वैदिक ग्रंथोंके समन्वयात्मक अद्वैत बहुमुखी एकेश्वरवाद और व्यापक सार्वभौम एवं विश्वजनीन मुक्तिवादके साकार वर्णन या जीवंत रूपमात्र हैं।

भारतीय धर्मने अपनी नींव काल और नाम-रूपसे अतीत परम सत्की परिकल्पनापर प्रतिष्ठित की परंतु नवीनतर जातियोंके संकीर्णतर और अक्षतर एकेश्वरवादोंकी न्याईं इसने सनातन एवं अनंतके सभी मध्यवर्ती रूपों नामों शक्तियों और व्यक्तित्वोंका निषेध या उच्छेद करनेकी प्रवृत्ति कभी नहीं अनुभव की। रंग-रूपहीन अद्वैतवाद या निस्तेज अस्पष्ट विश्वातीत ईश्वरवाद इसका आदि, मध्य और अंत नहीं था। इसमें एकमेव परमेश्वरकी सर्वके रूपमें पूजा की जाती है क्योंकि विश्वकी सभी चीजें वह परमेश्वर ही है या फिर वे उसकी सत्ता या प्रकृतिसे बनी हुई हैं। परंतु इसी कारण भारतीय धर्म विश्वेश्वरवाद नहीं बन जाता क्योंकि इस विश्वमयतासे परे यह विश्वातीत सनातनको भी स्वीकार करता है। भारतीय बहुदेवतावाद प्राचीन यूरोपमें प्रचलित बहुदेवतावादके जैसा नहीं है क्योंकि यहां अनेक देवताओंकी पूजा करनेवाला व्यक्ति उनकी पूजा करता हुआ भी यह जानता है कि उसके सभी देवता एकमेवके रूप नाम व्यक्तित्व एवं शक्तियां हैं उसके सब देव एक ही पुरुष से निकले हैं उसकी देवियां एक ही भागवत शक्तिकी अंश-शक्तियां हैं। भारतीय धर्म-मतके जो रूप एकेश्वरवादके प्रचलित रूपसे अत्यधिक मिलते-जुलते हैं वे इसके अतिरिक्त कुछ और चीज भी हैं, क्योंकि वे परमेश्वरके अनेक रूपोंको बहिष्कृत नहीं बल्कि स्वीकृत करते हैं। भारतीय मूर्तिपूजा बर्बर या अविकसित मनकी बुतपरस्ती नहीं है क्योंकि अत्यंत अज्ञानी भारतीय भी यह जानते हैं कि मूर्ति एक प्रतीक एवं अवलंबन है और इसका उपयोग समाप्त होनेपर वे इसे फेंक सकते हैं। पीछेके धार्मिक रूप जिन्होंने इस्लामी विचारके प्रभावका अत्यधिक अनुभव किया जैसे नानककी 'अकाल' अर्थात् कालातीत एककी पूजा और आजके सुधारक मत जो पश्चिमके प्रभावसे बने हैं वे भी पश्चिमी या सेमिटिक (यहूदी अरब आदि जातियोंके) एकेश्वरवादकी सीमाओंसे पृथक रहते हैं। वे इन [illegible] विचारोंमें दुर्निवार रूपमें वेदांतके अगाध सत्यकी ओर मुड़ जाते हैं। भगवान् के दैवी व्यक्तित्वपर और मनुष्यके साथ उनके दैवी संबंधोंपर वैष्णव और शैव धर्मोंने एक

अत्यत क्रियाशील सत्यके रूपमें बहुत अधिक बल दिया है, परतु इन धर्मोंका सर्वस्व इतना ही नही है, और यह दैवी व्यक्तित्व पश्चिमका सीमित, मानवका परिवर्द्धित सस्करण-रूप साकार ईश्वर नही है। भारतीय धर्मका निरूपण पश्चिमी बुद्धिकी जानी हुई परिभाषाओंमेंसे किसीके भी द्वारा नही किया जा सकता। अपने समग्र रूपमे यह समस्त आध्यात्मिक पूजा और अनुभूतिका स्वतत्र एव सहिष्णु समन्वय रहा है। एकमेव सत्यको उसके अनेको पार्श्वोंसे देखते हुए इसने किसी भी पार्श्वके लिये अपने द्वार बद नही किये। इसने न तो अपनेको कोई विशेष नाम दिया और न अपनेको किसी सीमाकारी पार्थक्यसे आबद्ध ही किया। अपने अगभूत मतो और विभागोंके लिये पृथक् नामोंको स्वीकार करता हुआ यह स्वय अपनी चिरतन जिज्ञासाके विषय ब्रह्मकी न्याई नाम-रूप-रहित, विश्वव्यापी और अनत ही बना रहा। अपने परपरागत शास्त्रों, पूजापद्धतियो और प्रतीकोंके द्वारा अन्य मत-विश्वासोंमे सुस्पष्टतया विभिन्न होता हुआ भी यह अपने मूल स्वरूपमें कोई मत-विश्वासात्मक धर्म बिलकुल नही है, बल्कि आध्यात्मिक सस्कृतिकी एक विशाल, बहुमुखी, सदा एकत्व लानेवाली और सदा-प्रगतिपरायण एव आत्म-विस्तारशील प्रणाली है।[1]

भारतीय धार्मिक मनके इस समन्वयात्मक स्वरूप और सर्वसमावेशी एकत्वपर बल देना आवश्यक है, क्योकि अन्यथा हम भारतीय जीवनके सपूर्ण अर्थ तथा भारतीय सस्कृतिके समस्त आशयको खो बैठेंगे। इस व्यापक और नमनीय स्वरूपको पहचान लेनेपर ही हम समाज और व्यक्तिके जीवनपर इसके सपूर्ण प्रभावको हृदयगम कर सकते है। और यदि हमसे पूछा जाय, 'परतु आखिरकार हिंदूधर्म है क्या, यह सिखाता क्या है, इसकी नित्यचर्या क्या है, इसके सर्वसम्मत अग कौनसे है', तो इसका उत्तर हम यह दे सकते है कि भारतीय धर्म तीन आधारभूत विचारो या यू कहे कि एक उच्चतम एव विशालतम आध्यात्मिक अनुभवके तीन मूलतत्त्वोपर प्रतिष्ठित है। पहला है वेदके उस 'एक सत्' का विचार जिसे ज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न नाम देते है, जो उपनिषदोका एकमेवाद्वितीय है जो यहा जो कुछ है वह 'सब' है, और इस सब कुछसे परे भी है, बौद्धोंके शाश्वत तत्त्वका, मायावादि के ब्रह्मका, ईश्वरवादियोंके उस परम ईश्वर या पुरुषका जो जीव और प्रकृतिको अपनी शक्तिके अदर धारण करता है,—एक शब्दमें सनातनका, अनतका। यह पहला सर्वसम्मत आधार है, परतु मानव बुद्धि इसे अनत प्रकारके सूत्रोंमें प्रकट कर सकती है और करती है।

---

[1]जिस एकमात्र धर्मको भारतने अतमें प्रत्यक्षत त्याग दिया है वह है बौद्ध धर्म, पर असलमें यह प्रत्यक्ष तथ्य एक ऐतिहासिक भ्राति है। बौद्ध धर्म अपनी पृथक्कारी शक्ति खो बैठा, क्योंकि इसके विश्वासात्मक अगोके विपरीत इसका आध्यात्मिक सारतत्त्व हिंदू भारतके धार्मिक मनने आत्मसात् कर लिया। फिर इसके होते हुए भी यह उत्तरमें जीवित रहा और इसका उन्मूलन शकराचार्य या किसी अन्य आचार्यने नही वरन् इस्लामकी आक्रामक शक्तिने किया।

इस शाश्वत इस अनंत इस सनातनकी खोजना इनके अत्यंत निकट पहुंचना तथा इनके साथ किसी प्रकारका या किसी मात्रामें एकत्व प्राप्त करना ही हमारे आध्यात्मिक अनुभवका उच्चतम शिखर एवं चरम प्रयास है। यही भारतके धार्मिक मनका प्रथम सार्वभौम 'विश्वास (Credo) है।

इस आधारको किसी भी रूपके रूपमें स्वीकार करो भारतमें माने जानेवाले सहस्रों पथोंमेंसे किसी एकके द्वारा या यहांतक कि उनसे निकलनेवाले किसी नये पथके द्वारा इस महान् आध्यात्मिक लक्ष्यका अनुसरण करो तो तुम इस धर्मके मर्मपर पहुंच जाओगे। क्योंकि इसका दूसरा मूलभूत विचार यह है कि सनातन एवं अनंतके पास मनुष्य नानाविध मार्गोंसे पहुंच सकता है। 'अनंत' अनेक अनंतताओंसे पूर्ण है और इन अनंतताओंमेंसे प्रत्येक अपने-आपमें वह सनातन ही है। और यहां सृष्टिकी सीमाओंके भीतर परमेश्वर अनेक मार्गोंसे अपने-आपको संसारमें व्यक्त और चरितार्थ करते हैं परंतु प्रत्येक मार्ग उस सनातन ही का है। क्योंकि प्रत्येक सांतमें हम अनंतको खोज सकते हैं और उनके आकारों एवं प्रतीकोंके रूपमें सभी चीजोंके द्वारा हम उनके पास पहुंच सकते हैं सब वैश्व शक्तियां उस एकमेवकी अभिव्यक्तियां हैं सब बल उसीके बल है। प्रकृतिके कार्य-व्यापारके पीछे विद्यमान देवताओंको एक ही देवाधिदेवकी शक्तियां नामों और व्यक्तित्वोंके रूपमें देखना और पूजना होगा। एक ही अनंत चित्-शक्ति कार्य-संचालक शक्ति परम संकल्पबल या विधान माया प्रकृति शक्ति या कर्म सभी घटनाओंके पीछे अवस्थित है चाहे वे हमें अच्छी लगें या बुरी स्वीकार्य लगें या अस्वीकार्य सौभाग्यपूर्ण लगें या दुर्भाग्यपूर्ण। वे 'अनंत' सृष्टि करते हैं और ब्रह्मा कहलाते हैं वे प्रतिपालन करते हैं और विष्णु कहलाते हैं वे संहार करते हैं या अपने अंदर समेट लेते हैं और रुद्र या शिव कहलाते हैं। परमा शक्ति जो स्थिति एवं रक्षाके कर्ममें दयाशील हैं जगन्माता लक्ष्मी या दुर्गा है या फिर वह इन रूपोंको धारण करती है। अथवा संहारके छद्मवेशमें भी दयाशील वे चंडी हैं या वे काली अर्थात् कृष्णवर्णा मां हैं। एकमेव परमेश्वर अपने-आपको अपने गुणोंके रूपमें नानाविध नामों और देवताओंमें प्रकट करते हैं। वैष्णवका दिव्य-प्रेममय ईश्वर और शाक्तका दिव्य-शक्तिमय ईश्वर दो विभिन्न देवता प्रतीत होते हैं पर वास्तवमें वे विभिन्न रूपोंमें एक ही अनंत देव हैं। मनुष्य इन नामों और रूपोंमेंसे किसीके भी द्वारा ज्ञानपूर्वक या अज्ञानावस्थामें उस

'भारतीय बहुदेववादकी यह व्याख्या कोई ऐसा आधुनिक आविष्कार नहीं है जो पश्चिमकी निंदात्मक आलोचनाओंका सामना करनेके लिये किया गया हो गीतामें इसका सुस्पष्ट वर्णन पाया जाता है इससे अधिक प्राचीन रूपमें उपनिषदोंका भी यही अभिप्राय है आदि-पुरातन दिनोंमें वेदके 'मानिस' कवियोंने (सच पूछो तो गंभीर गुह्य-द्रष्टाओंने) कितनी ही ऋचाओंमें इसका स्पष्ट रूपसे वर्णन किया था।

परमके पास पहुच सकता है, क्योंकि इनके द्वारा और इनके परे हम अततोगत्वा परमोच्च अनुभवकी ओर बढ सकते हैं।

परतु एक बात ध्यानमें रखनेकी जरूरत है। वह यह कि जहा आधुनिकतामें रगे हुए अनेक भारतीय धर्मवादी आधुनिक जडपथी युक्तिवादके साथ एक बौद्धिक समझौतेके तौरपर इन चीजोको प्रतीक कहकर उडा देनेकी प्रवृत्ति रखते हैं, वहा प्राचीन भारतीय धार्मिक मन, इन्हे केवल प्रतीको ही नही बल्कि जगत्-सत्योके रूपमे देखता था,—भले ये मायावादीके लिये केवल मायामय जगत्के ही सत्य क्यो न हो। क्योंकि, भारतके आध्यात्मिक और आतरात्मिक ज्ञानने उच्चतम कल्पनातीत सत्ता और हमारी भौतिक जीवन-प्रणालीके बीच दो सवधरहित विरोधी तत्त्वोकी न्याई कोई खाई नही खोद डाली थी। वह चेतना और अनुभवके अन्य मनोवैज्ञानिक स्तरोसे अभिज्ञ था और उसके लिये इन अतिभौतिक स्तरोके सत्य जड जगत्के बाह्य सत्योकी अपेक्षा कुछ कम वास्तविक नही थे। मनुष्य पहले-पहल अपनी मनोवैज्ञानिक प्रकृति, और गभीरतर अनुभवके लिये अपनी योग्यता, अर्थात् स्वभाव और अधिकारके अनुसार ही परमेश्वरके पास पहुचता है। सत्यके किस स्तर एव चेतनाकी किस भूमिकातक वह पहुच सकता है यह उसके आतरिक विकासकी अवस्थाके द्वारा निर्धारित होना है। इसीसे धर्म-सबधी नाना मत-सिद्धातोका जन्म होता है, परतु उनके द्वारा स्वीकृत तत्त्व कोई काल्पनिक रचनाए, पुरोहितो या कवियोके आविष्कार नही होते, बल्कि वे भौतिक जगत्की चेतना और ब्रह्मकी अनिर्वचनीय अतिचेतनाके बीचकी अतिभौतिक सत्ताके सत्य होते हैं।

भारतीय धर्मके मूलमें जो परम-महत्त्वपूर्ण विचार काम कर रहा है वह आतर आध्यात्मिक जीवनके लिये अत्यत शक्तिशाली है। वह यह है कि जहा परम 'तत्' या भगवान्को विश्व-चेतनामेंसे होकर और समस्त आतर एव बाह्य प्रकृतिको भेदकर तथा इन्हे पार करके प्राप्त किया जा सकता है, वहा प्रत्येक व्यष्टि-जीव अपने अदर, अपनी ही सत्ताके आध्यात्मिक भागके अदर, उन 'तत्' या भगवान्से मिल सकता है, क्योंकि उसमें कोई ऐसी वस्तु है जो एकमेव भागवत सत्ताके साथ घनिष्ठत एकीभूत या कम-से-कम घनिष्ठत सबद्ध है। भारतीय धर्मका सार एक ऐसे विकास और जीवनको लक्ष्य बनाना है जिससे हम अज्ञानको, जो इस आत्मज्ञानको हमारे मन और प्राणसे छुपाये रखता है, अतिक्रम करके अपने अत स्थित भगवान्को जान सके। ये ही तीनो चीजें एक साथ मिलकर हिंदूधर्मका सर्वस्व है, इसका मूल भाव है और, यदि किसी 'विश्वास' की जरूरत हो तो, ये ही इसका विश्वास भी है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

दूसरा अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

धर्म और आध्यात्मिकताका कार्य ईश्वर और मनुष्यमें 'नित्य' एवं 'अनंत' और इस अनित्य पर सुबद्ध सांतमें यहां अव्यक्त या अभौतिक अव्यक्त प्रकाशमय सत्य चेतना और मनके अज्ञानके बीच मध्यस्थता करना है। परंतु प्राकृत मनुष्यको जो मानवजातिका एक बहुत बड़ा भाग है आध्यात्मिक चेतनाकी महानता और उन्नायक शक्तिसे अवगत करानेसे बढ़कर कठिन काम और कोई नहीं है क्योंकि उसका मन और इंद्रियां बाहरकी ओर, जीवन और इसके उद्देश्योंकी बाह्य पुकारोंकी ओर, मुड़ी रहती हैं और उनके पीछे अवस्थित सत्की ओर कभी अंतर्मुख नहीं होतीं। यह बाह्य दृष्टि एवं आकर्षण उस विश्वव्यापी अंधतामय शक्तिका मूल रूप है जिसे भारतीय दर्शनमें अविद्या का नाम दिया गया है। प्राचीन भारतीय आध्यात्मिकता स्वीकार करती थी कि मनुष्य अविद्यामें निवास करता है और उसे इसके अपूर्ण संकेतोंके द्वारा उच्चतम अंतरतम ज्ञानकी ओर ले जाना होगा। हमारा जीवन दो लोकोंके बीच विचरण करता है एक ओर हैं हमारी आंतरिक सत्ताकी गहराइयोंपर गहराइयां और दूसरी ओर हमारी बाह्य प्रकृतिका ऊपरी क्षेत्र। अधिकतर लोग जीवनका संपूर्ण बल बाह्य सत्तापर ही देते हैं और अपनी स्थूल चेतनामें तो अत्यंत प्रबल रूपसे पर आंतरिक सत्तामें बहुत ही कम निवास करते हैं। यहांतक कि चिंतन और संस्कृतिके दबावके द्वारा सर्वसामान्य प्राणिक और भौतिक सांचेकी स्थूलतासे ऊपर उठी हुई, गिनी-चुनी आत्माएं भी साधारणतः मनकी चीजोंमें ही दृढ़तापूर्वक संलग्न रहती हैं और उससे अधिक आगे नहीं जातीं। जिस उच्चतम ऊंचाईतक वे आत्माएं उड़ान भरती हैं वह स्थूल बाह्य जीवनकी अपेक्षा कहीं अधिक मन और हृद्भावोंमें निवास करनेकी अभिरुचि है। या फिर वे इस विद्रोही प्राण-तत्त्वको बौद्धिक सत्य या नैतिक शुद्धि एवं इच्छाशक्ति या रसात्मक सौंदर्यके या एक साथ इन तीनोंके नियमके अधीन करनेका प्रयत्न करती हैं—और इन्हीं वस्तुओंको पश्चिम हमेशा आध्यात्मिकता समझनेकी भूल करता है। परंतु आध्यात्मिक ज्ञान

देखता है कि हमारे अदर एक इससे भी महान् वस्तु है, हमारी अतरतम आत्मा, हमारी वास्तविक सत्ता बुद्धि नही है, न वह सौंदर्यात्मक, नैतिक या चिंतनात्मक मन ही है, वह तो अतरमें बैठी हुई दिव्य सत्ता है, आत्मा है, और ये अन्य चीजे आत्माके यत्रमात्र है। एक निरी बौद्धिक, नैतिक एव सौदर्यात्मक सस्कृति आत्माके अतरतम सत्यतक नही जाती, वह एक अज्ञान, अर्थात् अपूर्ण, बाह्य एव स्थूल ज्ञानतक ही सीमित रह जाती है। हमारी गभीर-तम सत्ता और गुप्त आध्यात्मिक प्रकृतिकी खोज करना किसी आध्यात्मिक सस्कृतिकी पहली आवश्यकता होती है और अतरतम अध्यात्म-जीवन यापन करनेको सत्ताके लक्ष्यके रूपमें प्रतिष्ठित करना उसका विशेष लक्षण होता है।

कुछ धर्मोंमे यह प्रयत्न एक आध्यात्मिक एकागिताका रूप ग्रहण कर लेता है जो बाह्य जीवनके रूपातरका यत्न करनेकी अपेक्षा कही अधिक उससे विद्रोह ही करती है। ईसाई साधनाकी मुख्य प्रवृत्ति केवल भौतिक और प्राणिक जीवन-प्रणालीको तुच्छ समझनेकी ही नही थी अपितु हमारी प्रकृतिकी बौद्धिक प्यासको तिरस्कृत एव अवरुद्ध करने और सौंदर्यसबधी प्यासपर अविश्वास करने तथा उसे निरुत्साहित करनेकी भी थी। उनके विरोधमें इसने एक सीमित आध्यात्मिक भावप्रवणता और उसके तीव्र अनुभवोपर ही एकमात्र आवश्यक वस्तुके रूपमें बल दिया, नैतिक भावनाकी अभिवृद्धि अध्यात्म-जीवनकी एकमात्र मानसिक आवश्यकता थी तथा उसे कार्यरूपमें परिणत करना ही इसकी एकमात्र अपरिहार्य अवस्था या परिणाम था। भारतीय आध्यात्मिकता इतनी व्यापक और बहुमुखी सस्कृतिपर प्रतिष्ठित थी कि वह इस सकीर्ण प्रवृत्तिको अपने आधारके रूपमें स्वीकार नही कर सकती थी, परतु अपने अधिक निभृत शिखरोपर, कम-से-कम अपने बादके युगमें, यह एक आध्यात्मिक एकागिताकी ओर झुक गयी जो अतर्दृष्टिमें अधिक ऊची, पर और भी अधिक अलभ्य एव बढी-चढी थी। इस प्रकारकी असहिष्णु ऊर्ध्वोन्मुखी आध्यात्मिकता चाहे कितनी ही ऊचाईतक क्यो न उठ जाय तथा जीवनको शुद्ध करनेमें कितनी ही सहायक क्यो न हो अथवा किसी प्रकारके व्यक्तिगत मोक्षकी ओर क्यो न ले जाय पर वह पूर्ण वस्तु नही हो सकती। कारण, उसकी एकागिता मानवजीवनकी समस्याओके साथ सफलतापूर्वक निपटनेमें एक प्रकारकी असमर्थता ही उसके मत्थे मढ देती है, वह उसे, उसकी सर्वांगीण पूर्णताकी ओर नही ले जा सकती, न उसकी उच्चतम ऊचाइयोको उसकी विशालतम विशालताके साथ मिला ही सकती है। एक अधिक व्यापक आध्यात्मिक सस्कृतिको यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मा केवल उच्चतम और अतरतम वस्तु ही नही है, बल्कि सब कुछ आत्माकी ही अभिव्यक्ति और सृष्टि है। उसकी दृष्टि अधिक विस्तृत होनी चाहिये, उसकी व्यवहार्यताका क्षेत्र अधिक सर्व-सग्राहक होना चाहिये और यहातक कि उसके पुरुषार्थका लक्ष्य अधिक अभीप्साशील और उच्चाकाक्षी होना चाहिये। उसका लक्ष्य कुछ चुने हुए लोगोको अगम ऊचाइयोतक उठा ले जाना ही नहीं होना चाहिये अपितु सब मनुष्योको, समस्त जीवन और सपूर्ण मानव-सत्ताको ऊपरकी

ओर बीच के नाना जीवनको आध्यात्मिक बनाना और अंतमें मानवप्रकृतिको दिव्य बनाना होना चाहिये। इसे इसकी गहनतम व्यक्तिगत सत्ताको अपने अधिकारमें करनेमें ही नहीं बल्कि इसके समष्टिगत जीवनको अनुप्राणित करनेमें भी समर्थ होना चाहिये। उसे एक आध्यात्मिक परिवर्तनके द्वारा इसके सब अज्ञानमय अंगोंको ज्ञानमय अंगोंमें परिणत कर देना चाहिये मानवजीवनके सभी रूपोंको उसी दिव्य जीवनके रूपोंमें रूपांतरित कर देना चाहिये। भारतीय आध्यात्मिकताकी संपूर्ण प्रवृत्ति इसी लक्ष्यकी ओर है अपने विकासमें सभी कठिनाइयों अपूर्णताओं और उत्थान-पतनके होते हुए भी इसमें यह विशेषता बनी रही। परंतु अन्य संस्कृतियोंके समान यह सब समय तथा अपने सभी अंगों और चेष्टाओंमें अपने समग्र अर्थको सचेतन रूपसे नहीं जानती थी। यह व्यापक भावना कभी-कभी एक सचेतन समन्वयात्मक स्वच्छ दृष्टि जैसी चीजके रूपमें प्रकट होती थी परंतु अधिकतर यह गहनताओंमें रखी रहती थी और ऊपरी तलपर अनेकानेक गौण और विशिष्ट दृष्टिकोणोंके रूपमें बिखरी रहती थी। तथापि इसकी संपूर्ण धाराको समझ लेनेपर ही इसके प्रबल तथा इसकी शिक्षा एवं साधनाके अनेकविध पहलू और समृद्ध विभेद अथवा पूर्ण समन्वय-कारी ऐक्य काम कर सकते हैं तथा इसके अपने अत्यंत आभ्यंतरिक उद्देश्यके प्रकाशमें समझे जा सकते हैं।

भारतीय धर्म और आध्यात्मिक संस्कृतिकी भावना अपनी दीर्घस्थिरताके सुदीर्घ कालमें अखंड-अटल रूपसे एकसमान ही रही है, पर इसका बाह्य रूप अद्भुत परिवर्तनोंसे युक्त है। फिर भी यदि हम ठीक ढंगसे इन परिवर्तनोंके भीतर दृष्टि डालें तो यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि ये एक युक्तिसंगत एवं अवश्यंभावी विकासके परिणाम हैं जो ऊर्ध्वताओंकी ओर जानेवाले मनुष्यके विकासकी प्रक्रियामें ही अंतर्निहित है। अपने प्राचीनतम रूपमें अर्थात् अपनी प्रथम वैदिक प्रणालीमें इसने अपना बाह्य आधार देहप्रधान मनुष्यके मनपर रखा जिसकी स्वाभाविक श्रद्धा जड़ जगत्के भौतिक पदार्थोंमें इंद्रियगोचर एवं प्रत्यक्ष विषयों उपस्थितियों और प्रतिमूर्तियों तथा बाह्य व्यापारों और कर्मोंमें होती है। जिन साधनों प्रतीकों विधियों और प्रतिरूपोंके द्वारा इसने आत्मा और सामान्य मानव मनके बीच मध्यस्थता करनेका यत्न किया वे इन अत्यंत बाह्य भौतिक पदार्थोंसे लिये गये थे। मनुष्यको भगवान् विषयक प्रथम और प्रारंभिक विचार बाह्य प्रकृतिके अवलोकनके द्वारा तथा उस अज्ञाततर शक्ति या शक्तियोंके बोधके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है जो प्रकृतिके दृश्य रूपोंके पीछे छिपी हुई हैं हमारी सत्ताके माता-पिता द्यौ और पृथिवीमें तथा सूर्य चांद और सितारों एवं उनके प्रकाशों और उनके नियमकर्मोंमें जैसे दिन रात्रि वर्षा आंधी और तूफानमें समुद्र नदियां और वनोंमें प्रकृतिके कार्यकलापकी सभी घटनाओं और शक्तियोंमें तथा चारों ओरके इस महान् विशाल और रहस्यमय जीवनमें प्रच्छन्न रूपसे विद्यमान हैं जिसके कि हम अंग हैं और जिसमें मानव प्राणीका प्रारंभिक हृदय और मन चाहे किन्हीं भी स्पष्ट

या धूमिल या अस्तव्यस्त आकारोंके द्वारा सहज ही यह अनुभव करते हैं कि यहां कोई दिव्य 'बहुत्व' या फिर कोई शक्तिशाली अनंत है जो एक, बहुविध और रहस्यमय है और जो ये सब रूप धारण करता है तथा इन गतियोंमें अपनेको प्रकट करता है। वैदिक धर्मने देह-प्रधान मनुष्यकी समझने और अनुभव करनेकी इन स्वाभाविक शक्तियोंको अपनाया, इसने उन विचारोंका प्रयोग किया जिन्हें ये जन्म देती थीं, और उनके द्वारा इसने मनुष्यको उस-की तथा जगत्‌की सत्ताके आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक सत्योंकी ओर ले जानेका यत्न किया। इसने यह स्वीकार किया कि जब वह प्रकृतिके व्यक्त रूपोंके पीछे महान् सजीव शक्तियों और देवताओंको देखता है तो वह ठीक ही करता है,—भले ही वह उनके आंतरिक सत्यको न जानता हो,—और इसी प्रकार वह उनके प्रति अपनी पूजा-भक्ति और चढ़ावा अर्पित करने तथा प्रायश्चित्त करनेमें भी वह ठीक मार्गपर है। क्योंकि, अनिवार्यतः ही, यही वह आरंभिक ढंग है जिससे उसकी सक्रिय भौतिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृतिको परमे-श्वरके पास पहुंचनेकी अनुमति दी जाती है। उनकी प्रत्यक्ष बाह्य अभिव्यक्तियोंके द्वारा वह उन्हें इस रूपमें प्राप्त करता है कि वे एक ऐसी वस्तु हैं जो उसकी प्राकृत सत्तासे महान् हैं, कोई ऐसी एकात्मक या अनेकात्मक वस्तु है जो उसके जीवनका मार्गदर्शन, धारण और परिचालन करती है, और अपने मानवजीवनकी कामनाओं और कठिनाइयों तथा संकटों और संघर्षोंमें वह उन्हें सहायता और सहारेके लिये पुकारता है।[1] वैदिक धर्मने उस बाह्या-चारको भी स्वीकार किया जिसके द्वारा सभी देशोंका आदिकालीन मनुष्य अपने और प्रकृतिके देवताओंके पारस्परिक संबंधके विषयमें अपने ज्ञानको प्रकट करता था, इसने अपने केंद्रीय प्रतीकके रूपमें भौतिक यज्ञरूपी कर्मकांड एवं क्रियाकलापको ग्रहण किया। यज्ञके साथ जुड़े हुए विचार कितने ही स्थूल क्यों न हों फिर भी यज्ञकी आवश्यकताकी यह भावना अस्तित्वके प्रारंभिक नियमको धुंधले रूपमें प्रकट अवश्य करती थी। क्योंकि, वह व्यक्तिके तथा ब्रह्मांडकी विश्वव्यापी शक्तियोंके बीच होनेवाले सतत आदान-प्रदानके उस रहस्यपर प्रतिष्ठित था जो जीवनकी समस्त प्रक्रियाको गुप्त रूपमें धारण करता है तथा प्रकृतिके कार्य-व्यापारको विकसित करता है।

---

[1] गीता मानती है कि भक्त एवं ईश्वरान्वेषक चार प्रकार या चार कोटियोंके होते हैं। प्रथम दो हैं अर्थार्थी और आर्त्त, अर्थात् वे जो कामनाकी पूर्त्तिके लिये ईश्वरकी खोज करते हैं तथा वे जो जीवनके दुःख-कष्टमें दैवी सहायता पानेके लिये उनकी ओर मुड़ते हैं, उसके बाद आता है जिज्ञासु, ज्ञानकी खोज करनेवाला, जिज्ञासाशील व्यक्ति जो भगवान्‌को उनके सत्य स्वरूपमें खोजने तथा उसी स्वरूपमें उनसे मिलनेके लिये प्रेरित होता है, अंतिम एवं सबसे उच्च है ज्ञानी, जो सत्यके साथ संपर्क स्थापित कर चुका होता है तथा परमात्माके साथ 'युक्त' होकर रहनेमें समर्थ होता है।

शूद्रके द्वारा वेदके किसी भी प्रकारके अध्ययन-अध्यापनकी जो मनाही की गयी उसका प्रेरक हेतु भी यही था। इस आतरिक आशयने ही, बाह्य अर्थके पीछे छिपे हुए उच्चतर आतरात्मिक एव आध्यात्मिक सत्योने ही इन सूक्तोको वेद (अर्थात् ज्ञानका ग्रथ) का नाम दिया जिस नामसे वे आज भी प्रसिद्ध हैं। इस पूजा-पद्धतिके गूढ अर्थमें प्रवेश करके ही हम वैदिक धर्मके उस पूर्ण विस्तारको हृदयगम कर सकते हैं जो हमें उपनिषदोमें तथा भारतीय आध्यात्मिक खोज और अनुभूतिके परवर्ती सुदीर्घ विकासमें दिखायी देता है। क्योकि, प्राचीन ऋषियोके मत्रोमें यह सारेका सारा अपने ज्योतिर्मय बीजके रूपमें विद्यमान है, पहलेसे ही प्रतिबिंबित या यहातक कि चित्रित है। हमारी जो दृढ धारणा प्रत्येक परिवर्तनके समय ऋषियोको ही हमारी सपूर्ण सस्कृतिका मूल बताती थी, उसके काल्पनिक रूप एव पौराणिक आरोपण चाहे जो हो, वह एक वास्तविक सत्यसे युक्त है और अपने अदर एक यथार्थ ऐतिहासिक परपराको छिपाये है। वह सच्चे प्रारभको, एक सच्ची दीक्षाके, तथा हमारी ऐतिहासिक सस्कृतिके इस महान्, आदिकालीन अतीत तथा अधिक महान् तो नही पर अधिक परिपक्व आध्यात्मिक विकासके बीच एक अटूट शृखलाको प्रदर्शित करती है।

इस आभ्यन्तरिक वैदिक धर्मने, प्रारभमें, विश्ववर्ती देवताओके आतरात्मिक अर्थका विस्तार किया। उसका प्रधान विचार यह था कि इस ब्रह्माडमें लोकोकी एक क्रमपरपरा एव सत्ताके स्तरोकी एक चढती हुई सोपान-शृखला है। इसने देखा कि लोकोकी एक ऊपर उठती हुई परपरा है और उसके अनुरूप मनुष्यकी प्रकृतिमें भी चेतनाकी भूमिकाओ या क्रमो या स्तरोकी एक वैसी ही आरोही परपरा है। एक सत्य, ऋत एव विधान (Law) प्रकृतिके इन सब स्तरोका धारण और परिचालन करता है, सारत एक होता हुआ भी वह उनमें विभिन्न पर सजातीय रूप ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, बाह्य भौतिक प्रकाशकी क्रमपरपरा है, एक अन्य उच्चतर एव आभ्यतरिक प्रकाशकी क्रमधारा है जो मानसिक, प्राणिक और आतरात्मिक चेतनाका वाहन है, तथा आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योतिके सर्वोच्च अतरतम आलोककी क्रमशृखला है। सूर्य, अर्थात् सूर्य-देवता, भौतिक सूर्यका अधिपति था, पर साथ ही वेदके क्रातदर्शी कविके लिये वह ज्ञानकी उन रश्मियोका प्रदाता भी है जो मनको आलोकित करती है, और वह आध्यात्मिक ज्योतिकी आत्मा, शक्ति और देह भी है। और इन सब शक्तियोमें वह एकमेव और अनत देवाधिदेवका एक ज्योतिर्मय रूप है। सभी वैदिक देवताओका यह बाह्य कार्य और यह आतरिक एव अतरतम कार्य है, सभीके प्रचलित और गुप्त 'नाम' है। अपने बाह्य स्वरूपमें वे सब भौतिक प्रकृतिकी शक्तिया हैं, अपने आतरिक अर्थमें उन सबका आतरात्मिक कार्य है और सबको मनोवैज्ञानिक तथ्यो या घटनाओका कारण माना जाता है, साथ ही सबके सब किसी एकमेव उच्चतम सद्वस्तु, एक सत्, एकमेव अनत सत्ताकी नाना शक्तिया हैं। इस अज्ञेयप्राय परम सत्ताको वेदमें प्राय "वह सत्य" या "वह एक", तत् सत्यम्, तदेकम् कहा गया है। वेदके देवताओकी यह गहन

विशिष्टता ऐसे जटिल स्वरूप ग्रहण करती है जिसको उन लोगोंने जो उन रूपोंपर उनका केवल बाह्य भौतिक अर्थ ही आरोपित करते हैं बिलकुल गलत ढंगसे समझा है। इनमेंसे प्रत्येक देवता अपने-आपमें 'एकं सत्'का एक पूर्ण और स्वतंत्र दैवत व्यक्तित्व है और सभी शक्तियोंके संयोगमें वे पूर्ण विश्वव्यापी शक्ति 'विश्व समष्टि' वैश्वदेव्यम् हैं। और फिर प्रत्येक अपने कार्यविशेषको पृथक् रखते हुए अन्य देवताओंके साथ एकमय है प्रत्येक अपने अंदर विश्वव्यापी भगवत्ताको धारण किये है और प्रत्येक देवता सर्वदेवमय है। यह वैदिक शिक्षा और पूजाका यह स्वरूप है जिसके अभिप्रायको यूरोपके विद्वानोंने अपने यहांके धार्मिक अनुभवके धुंधले और हीन प्रकाशमें पढ़नेके कारण सर्वथा अशुद्ध रूपमें समझा है और इसलिये जिसे उसने 'एकदेवपरमतावाद'[1] (Henotheism) का आडंबरपूर्ण मिथ्या नाम दे डाला है। परंतु परात्पर अवस्थामें निर्वैयक्तिक अनंत'में ये देवता अपनी उच्चतम प्रकृतिको धारण करते हैं और वहां ये नामातीत अनिर्वचनीय 'एक' के नाम हैं।

परंतु वैदिक शिक्षाकी सबसे महान् शक्ति जिसने इसे सभी परवर्ती भारतीय दर्शनों, धर्मों और योगपद्धतियोंका मूलस्रोत बना दिया इस बातमें थी कि उसे किस प्रकार मनुष्यके आंतरिक जीवनपर प्रयुक्त किया जाता था। इस स्थूल जगत्में मनुष्य मर्त्य जीवनके "भूरि अनृत" (अत्यधिक असत्य) के तथा मृत्युके अधीन होकर रहता है। इस मृत्युके ऊपर उठने के लिये अमरोंकी पंक्तिमें बैठनेके लिये उसे असत्यसे सत्यकी ओर मुड़ना होता है इसे प्रकाशकी ओर उन्मुख होना और अंधकारकी शक्तियोंसे जूझना तथा उन्हें जीतना पड़ता है। यह कार्य वह दिव्य शक्तियोंके साथ अपना संपर्क स्थापित करके और उनकी सहायता लेकर संपन्न करता है इस सहायताको नीचे पुकार लानेका तरीका वैदिक गुह्यदर्शियोंका एक गुह्य विषय था। इसी उद्देश्यसे बाह्य यज्ञके प्रतीकोंको संपूर्ण जगत्के 'गुह्यों' की ही भांति एक आंतरिक अर्थ प्रदान किया गया है वे मनुष्यके अंदर देवताओंके आह्वान संबंध जोड़नेवाले यज्ञ एक घनिष्ठ आदान-प्रदान पारस्परिक सहायता और अंतर्मिलनको सूचित करते हैं। मनुष्यके अंदर देवताओंकी शक्तियोंकी प्रतिष्ठा होती है और इसके साथ ही दैवी प्रकृतिकी विश्वमयताका गठन भी। कारण देवता सत्यके रक्षक और संवर्धक हैं अमर भगवान्की शक्तियां हैं अनंत माता—'अदिति' के पुत्र हैं अमरताका मार्ग देवताओंका ऊर्ध्वमुख मार्ग है 'सत्य' का मार्ग है एक यात्रा एवं आरोहण है जिसके द्वारा सत्यके विधान ऋतस्य पंथा की ओर विकास होता है। मनुष्य अपनी भौतिक सत्ताकी ही नहीं बल्कि अपनी मानसिक और साधारण चैत्य प्रकृतिकी सीमाओंको लांघकर और सत्यके उच्चतम स्तर एवं परम व्योममें पहुंचकर अमरत्व प्राप्त करता है क्योंकि यही अमृतत्वका आधार और निजी भवन या मूल धाम है। इस विचारके आधारपर वैदिक तत्त्ववेत्ताओंने एक महान मनो-

[1]अनेक देवोंमें से प्रत्येकको बारी-बारीसे सर्वोच्च सत्ता मानना।—अनुवादक

वैज्ञानिक एव आतरात्मिक साधनाका निर्माण किया जो अपनेसे परे एक उच्चतम आध्यात्मिकताकी ओर ले जाती थी और जिसमें बादके भारतीय योगका बीज निहित था। यहा हमे भारतीय आध्यात्मिकताके विशिष्टतम विचार अपने पूर्ण विस्तृत रूपमें न सही, पर बीज-रूपमें प्राप्त होते हैं। एक एकमेव सत्ता, एक सत् है जो व्यक्ति और जगत्के परे विश्वातीत है। एक परम देव है जो अपने देवत्वके अनेक रूप, नाम, शक्तिया और व्यक्तित्व हमारे समक्ष प्रदर्शित करता है। विद्या और अविद्यामें एक विभेद है,[1] मर्त्य जीवनके अत्यधिक असत्य या मिश्रित सत्यासत्यके विपरीत अमर जीवनका एक महत्तर सत्य है। मनुष्यके आतरिक विकासके लिये एक साधना है जिसके द्वारा वह भौतिक जीवनसे आरभ कर आतरात्मिकमेंसे गुजरता हुआ आध्यात्मिक जीवनमें विकसित हो सकता है। मृत्युपर विजय, अमृतत्त्वका एक रहस्य और मानव आत्माकी उपलभ्य दिव्यताका एक बोध—यह सब भी है। एक ऐसे युगमें जिसकी ओर हम अपने बाह्य ज्ञानके घमडमें मानवताके बचपन या, अधिकसे अधिक, एक शक्तिशाली बर्बरताके युगके रूपमें दृष्टि डालनेके अभ्यासी हैं, यह एक अत-प्रेरित और बोधिमूलक आतरात्मिक एव आध्यात्मिक शिक्षा थी जिसके द्वारा मानवजातिके प्राचीन पूर्वजोंने, **पूर्वे पितर मनुष्या**, भारतमें एक महान् एव गभीर सभ्यताकी स्थापना की थी।

इस उच्च आरभके परिणामोंकी सुरक्षा एक व्यापकतर उदात्त विकासके द्वारा की गयी। उपनिषदोंको भारतमें सदा ही वेदका मुकुट एव पर्यवसान माना जाता रहा है, उनके सर्व-सामान्य नाम 'वेदान्त' से यही बात सूचित होती है। और सचमुच ही वे वैदिक साधना और अनुभूतिका एक विशाल और सर्वोच्च परिणाम है। जिस युगमें वैदातिक सत्यका पूर्ण रूपसे साक्षात्कार किया गया और उपनिषदोंने आकार ग्रहण किया, वह असीम और श्रम-साध्य अन्वेषणका युग था, आत्माका एक घनीभूत और प्रचड बीज-काल था, जैसा कि हम छादोग्य और बृहदारण्यक आदिके अभिलेखोंसे देख सकते है। उस खोजका दबाव पडनेपर दीक्षितोंके हाथोंमें सुरक्षित पर साधारण आदमियोंकी पहुचसे परे गुप्त रखे हुए सत्योंने अपनी दीवारे तोड डाली और राष्ट्रके उच्चतर मानसमेंसे वेगपूर्वक प्रवाहित होकर भारतीय सस्कृति-की भूमिको आध्यात्मिक चेतना और अनुभूतिके अनवरत और सदा-वृद्धिशील विकासके लिये उर्वर बना दिया। परतु यह प्रवृत्ति अभी सर्वजनीन नही हुई थी, मुख्य रूपसे उच्चतर वर्णोंके लोगोंने, वैदिक शिक्षा-प्रणालीके अनुसार शिक्षा पाये हुए क्षत्रियों और ब्राह्मणोंने ही, जो बाह्य सत्यसे तथा बाह्य यज्ञके क्रिया-कलापसे अब और सतुष्ट नही थे, एकमेवका ज्ञान रखनेवाले ऋषियोंसे सत्यप्रकाशक अनुभवके उच्चतम 'शब्द' को जाननेका सर्वत्र यत्न आरभ

---

[1] **चित्तिमचित्ति चिनवद् विद्वान्**, अर्थात् "ज्ञानीको विद्या और अविद्यामें भेद करना चाहिये।"

किया। परंतु जिन लोगोंने ज्ञान प्राप्त किया और महान् गुरु बने उनमें हम नीच या संदिग्ध जन्मवाले लोगोंको भी पाते हैं जैसे कि जनश्रुति जो एक धनाढ्य शूद्र था और सत्यकाम जाबालि जो एक दासीका पुत्र था और जिसे यह भी पता नहीं था कि उसका गोत्र क्या है उसके पिताका गोत्र क्या है। इस कालमें जो काम किया गया वह अनेक युगोंमें भारतीय आध्यात्मिकताकी एक सुदृढ़ आधार-शिला बन गया और उससे आज भी शाश्वत और अमोघ अनुप्रेरणाके जीवनदायी स्रोत फूटते हैं। इसी युगने इसी प्रवृत्ति एवं इसी महान् उपलब्धिने भारतीय सभ्यताका विकास और अन्य संस्कृतियोंकी सर्वथा भिन्न दिशा—इन दोनोंके समग्र भेदको जन्म दिया।

कारण एक ऐसा समय आया जब मूल वैदिक प्रतीकोंका तात्पर्य अनिवार्य रूपसे लुप्त हो गया एवं एक ऐसे अंधकारमें विलीन हो गया जो पीछे दुर्भेद्य बन गया जैसा कि अन्य देशोंमें भी 'गुह्य विद्याओं' की आंतरिक शिक्षाका ह्रास हुआ। संस्कृतिका जो प्राचीन संतुलन दो छोरोंके बीच अवस्थित था और जिसमें संतुलन-रेखाके एक ओर तो बाह्य भौतिक मनुष्यकी अनगढ़ या अनगढ़ी प्राकृतिकता थी और दूसरी ओर दीक्षितोंके लिये आभ्यंतरिक एवं रहस्यमय आंतरात्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन था जिन्हें मिलानेके लिये धार्मिक पूजा-विधि एवं प्रतीकवाद सेतुका काम करता था वह अब हमारी आध्यात्मिक उन्नतिके आधारके रूपमें पहलेकी तरह पर्याप्त नहीं हो सकता था। मानवजातिको अपनी सभ्यताके क्रम विकासमें एक सुदीर्घ प्रगतिकी आवश्यकता थी यह एक अधिकाधिक व्यापक बौद्धिक नैतिक और सौंदर्यात्मक विकासकी अपेक्षा करती थी जो उसे प्रकाशकी ओर बढ़नेमें सहायता दे सके। अन्य देशोंकी भांति भारतमें भी यह परिवर्तन आना आवश्यक था। परंतु भय यह था कि जो महत्तर आध्यात्मिक सत्य पहले प्राप्त हो चुका था वह कहीं तीव्र पर प्रकाश-हीन बुद्धिके हीनतर स्व-विश्वासी अधूरे प्रकाशमें खो न जाय अथवा स्व-पर्याप्त तार्किक बुद्धि की तंग सीमाओंके भीतर उसका दम न घुट जाय। पश्चिममें सचमुच यही हुआ और इस में यूनान सबसे आगे था। पाइथागोरस एवं एम्पेडोक्लसके अनुयायियोंने तथा प्लेटो और नव प्लेटोवादियोंने पुराने ज्ञानको कम अनुप्रेरित कम क्रियाशील और अधिक बौद्धिक रूपमें बनाये रखा परंतु इन सबके होते हुए भी और जो महान् अर्द्ध-आलोकित आध्यात्मिक लहर एशियासे उठकर पूरी तरह न समझी गयी ईसाइयतके रूपमें यूरोपभरमें तीव्र वेगसे फैल गयी उसके होते हुए भी पश्चिमी सभ्यताकी समस्त वास्तविक प्रवृत्ति बौद्धिक तार्किक लौकिक और यहांतक कि जड़वादीतक रही है और वह आजतक भी ऐसी ही है। इसका सर्व सामान्य लक्ष्य बौद्धिक रंगमें रंगे नीतिशास्त्र सौंदर्य-विज्ञान और तर्कके बलपर प्राणप्रधान एवं देहप्रधान मनुष्यकी सबल या सुघर संस्कृतिका निर्माण करना रहा है न कि हमारे निम्न तर अंगोंको आत्माकी परम ज्योति और शक्तिकी ओर ऊपर ले जाना। भारतमें उपनिषद् युगके महत् प्रयासने प्राचीन अध्यात्म-ज्ञान और उससे उत्पन्न आध्यात्मिक प्रवृत्तिको इस पतन-

से रक्षा की। वेदातिक ऋषियोने वैदिक सत्यको उसके गूढ प्रतीकोंसे पृथक् करके और अत-र्ज्ञान तथा अतरनुभवकी अत्यत उच्च और अत्यत स्पष्ट एव शक्तिशाली भाषामें ढालकर उसे नया रूप प्रदान किया। वह बुद्धिकी भाषा नही थी, पर फिर भी उसका एक ऐसा रूप था जिसे बुद्धि अपने अधिकारमे करके अपनी अधिक साधारण परिभाषाओंमें परिणत कर सकती थी और जिसे वह नित विस्तृत और गहरे होनेवाले दार्शनिक चिंतनके लिये तथा मूल और चरम-परम सत्यके विषयमें तर्कबुद्धिकी सुदीर्घ खोजके लिये आरभ-बिंदु बना सकती थी। पश्चिमकी न्याईं भारतमें भी एक उच्च विशाल एव जटिल बौद्धिक, सौदर्यात्मिक नैतिक और सामाजिक सस्कृतिका महान् निर्माण हुआ था। परतु यूरोपमें उसे उसके अपने ही साधन-वैभवपर छोड दिया गया और अस्पष्ट धार्मिक भावावेग तथा मत-सिद्धातने उसकी सहायता करनेकी अपेक्षा कही अधिक उसका विरोध ही किया, जब कि भारतमें आध्यात्मिकताकी एक महान् रक्षक शक्तिने और ज्ञानके उच्चतम गगनसे आनेवाली विशाल, प्रेरक और उदार ज्ञान-रश्मियोने उसका मार्गदर्शन किया, उसे ऊचा उठाया और अपने बल और ज्योतिसे अधिकाधिक सचारित एव परिप्लुत कर दिया।

भारतीय सभ्यताके द्वितीय या उत्तर-वैदिक युगकी विशेषताए थी—महान् दर्शनोका उदय, प्रचुर, प्राणवत, अनेक-विचार-सपन्न, बहुमुखी काव्य-साहित्यका निर्माण, कला और विज्ञानका सूत्रपात, ऊर्जस्वी और जटिल समाजका विकास, बडे-बडे राज्यो और साम्राज्योकी रचना, सब प्रकारकी विविध रचनात्मक प्रवृत्तिया और जीवन तथा चिंतनकी महान् प्रणा-लिया। यूनान, रोम, फारस और चीन आदि अन्य स्थानोकी तरह ही यहा भी यह उस बुद्धिके महान् विस्फोटका युग था जो जीवन तथा मानसिक विषयोपर उनके मूल कारण तथा उनकी समुचित प्रणालीको ढूढने और मानवजीवनकी व्यापक एव श्रेष्ठ पूर्णताको प्रकट करने-के लिये कार्य कर रही थी। परतु भारतमें इस प्रयत्नने आध्यात्मिक उद्देश्यको कभी भी दृष्टिसे ओझल नही किया, वह धार्मिक भावका स्पर्श पानेसे कभी नही चूका। यह जिज्ञासाशील बुद्धिके जन्म तथा यौवनका काल था और यूनानकी भाति यहा भी दर्शन वह मुख्य साधन था जिसके द्वारा इस बुद्धिने जीवन और जगत्की समस्याओको सुलझानेकी चेष्टा की। विज्ञानका भी विकास हुआ पर उसका स्थान गौण ही रहा, वह एक सहायक शक्तिके रूपमें ही आया। भारतीय मनीषाने गभीर और सूक्ष्म दर्शनोंके ही द्वारा बुद्धि और तार्किक शक्ति-की सहायतासे उन विषयोका विश्लेषण करनेका प्रयत्न किया जिन्हें पहले अतर्ज्ञान एव आत्मा-नुभवके द्वारा कही अधिक जीवत शक्तिके साथ प्राप्त किया जा चुका था। परतु दार्शनिक मन उन स्वीकृत सत्योको लेकर चला जिन्हे इन प्रबलतर शक्तियोने खोज निकाला था और वह अपने उद्गमभूत प्रकाशके प्रति सच्चा रहा, वह सदा फिर-फिर किसी-न-किसी रूपमें उपनिषदोंके गभीर सत्योकी ओर वापस गया जिन उपनिषदोने कि इन विषयोमें उच्चतम प्रमाण-ग्रथके रूपमें अपना स्थान सुरक्षित रखा। यह बराबर ही माना जाता रहा कि

आध्यात्मिक अनुभव एक महत्तर वस्तु है और इसका प्रकाश तर्काधीन बुद्धिकी स्पष्टताओंकी अपेक्षा अधिक अज्ञेय होनेपर भी अधिक सच्चा मार्गदर्शक है।

भारतीय मन और भारतीय जीवनकी अन्य सब प्रवृत्तियोंपर भी इसी सर्वोपरि शक्तिका प्रभुत्व रहा। यहांका महाकाव्य-साहित्य एक सबल और स्वतंत्र बौद्धिक एवं नैतिक विचार भारसे अत्यधिक परिपूर्ण है, उसमें प्रज्ञा और नैतिक बुद्धिके द्वारा जीवनकी अनवरत आलोचना की गयी है, सभी संभव क्षेत्रोंमें सत्यका आदर्श स्थिर करनेका आकर्षक कुतूहल एवं प्रबल आग्रह और कामना दिखायी देती है। परंतु पृष्ठभूमिमें एक अटूट धार्मिक भावना और साथ ही आध्यात्मिक सत्योंकी असंदिग्ध या प्रकट स्वीकृति भी देखनेमें आती है जो पुन:-पुन: सामनेकी ओर आती रही तथा भारतीय संस्कृतिका एक अडिग आधार बनी रही। इन आध्यात्मिक सत्योंने लौकिक विचार और कर्मको अपने उच्चतर प्रकाशसे परिप्लावित कर दिया अथवा वे ऊपर स्थित होकर उन्हें स्मरण दिलाते रहे कि वे किसी क्रमके सोपान मात्र हैं। भारतीय कलाने प्रचलित धारणाके विपरीत जीवनका अत्यधिक चित्रण किया किंतु फिर भी उसकी सर्वोच्च सफलता सदैव धर्म-दार्शनिक मनकी व्याख्याके क्षेत्रमें ही दिखायी दी उसकी संपूर्ण शैली आध्यात्मिक एवं अनंतके संकेतोंसे रंगी रहती थी। भारतीय समाजने अपूर्व संगठन-शक्ति स्थायी प्रभावशालिता और क्रियात्मक अंतर्दृष्टिके साथ अपने अर्थ और कामनाओंके सांसारिक जीवनके सामाजिक सामंजस्यका विकास किया उसने अपने कर्मका परिचालन सदा-सर्वदा और पद-पदपर नैतिक और धार्मिक विधान अर्थात् धर्मके निर्देशके अनुसार किया परंतु इस बातको उसने कभी आंखसे ओझल नहीं किया कि आध्यात्मिक मोक्ष ही हमारे जीवनके प्रयासका उच्चतम शिखर और अंतिम लक्ष्य है। पीछेके युगमें जब बौद्धिक संस्कृतिकी ऐहिक प्रवृत्तिने और अधिक जोर पकड़ा तब लौकिक बुद्धिकी अपरिमित प्रगति हुई, राजनीतिक और सामाजिक विकास बहुत अधिक हुआ सौंदर्यात्मक ऐंद्रियक और सुखवादी अनुभवपर अत्यधिक बल दिया गया। परंतु इस प्रयासने भी अपनेको प्राचीन चौखटेके अंदर रखने और भारतके वास्तविक विचारकी विशेष छापको न गंवानेकी बराबर ही चेष्टा की। ऐहिक प्रवृत्तिके बढ़नेसे जो क्षति हुई उसकी पूर्ति गंभीर धार्मिक अनुभवकी तीव्रताओंको और भी गंभीर करके की गयी। नये धर्मों या पुष्ट धर्मानुष्ठानों एवं भावनाओंने मनुष्यकी अंतरात्मा और बुद्धिको ही नहीं बल्कि उसके हृद्भावों और इंद्रियोंको तथा उसकी प्राणिक और सौंदर्यग्राही प्रकृतिको भी अपने अधिकारमें करने तथा आध्यात्मिक जीवनका उपादान बनानेका यत्न किया। जीवनके ऐश्वर्य-वैभव शक्ति-सामर्थ्य और सुखभोगपर बल देनेमें की गयी प्रत्येक अतिकी प्रतिक्रिया हुई और तब एक उच्चतर मार्गके रूपमें आध्यात्मिक वैराग्यपर बौद्धधर्मके समान ही प्रभावपूर्ण बल देकर उस अतिको संतुलित किया गया। दोनों प्रवृत्तियां एक ओर तो जीवनानुभवकी समृद्धिकी पराकाष्ठा दूसरी ओर अध्यात्म-जीवनकी पराकाष्ठा एवं शुद्ध कठोर तीव्रता परस्पर ताल मिलाकर

चलती थी, उनकी पारस्परिक क्रिया—प्राचीनतर गभीर सामजस्य एव विशाल समन्वयकी चाहे कैसी भी हानि क्यो न हुई हो—उनके दोहरे आकर्षणके द्वारा भारतीय सस्कृतिके सतुलन-की कुछ अशमें रक्षा करती थी।

भारतीय धर्मने इस विकासधाराका अनुसरण किया और अपने वैदिक तथा वेदातिक उद्गमोंके साथ अपनी आतरिक अविच्छिन्नताको सुरक्षित रखा, परतु अपने मनके अदरकी सामग्रियो और रग-रूपको तथा अपने बाह्य आधारको उसने पूर्ण रूपसे परिवर्तित कर डाला। यह परिवर्तन उसने किसी विरोधात्मक विद्रोह या विप्लवके द्वारा या आक्रमणकारी सुधारके किसी विचारके द्वारा सपन्न नही किया। इसका करणात्मक जीवन निरतर ही विकसित होता रहा, एक स्वाभाविक रूपातरने गुप्त उद्देश्योको प्रकट किया या फिर पूर्व-प्रतिष्ठित प्रेरक-विचारोको अधिक प्रमुख स्थान या प्रभावशाली रूप प्रदान किया। नि सदेह एक समय ऐसा लगा मानो पुरानी चीजोके भग और एक तीव्र नये आरभकी आवश्यकता हो और ऐसा होकर ही रहेगा। ऐसा मालूम हुआ कि बौद्ध धर्मने वैदिक धर्मके साथ सपूर्ण आध्यात्मिक ससर्गका त्याग कर दिया। परतु अतत यह सबधविच्छेद ऊपर ही ऊपर अधिक था, वास्तवमें उतना नही था निर्वाण-विषयक बौद्ध आदर्श वेदातके उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवके एक तीव्र-निषेधात्मक एव ऐकातिक वर्णनके सिवा और कुछ नही था। मुक्तिके मार्ग-के रूपमें गृहीत बौद्धोकी 'अष्टाग-पथ' की जो नैतिक प्रणाली थी वह अमरत्वके मार्ग, 'ऋतस्य पथा' के रूप में अनुसृत सत्य, ऋत और धर्म-विषयक वैदिक विचारका कठोर उन्नयन थी। बौद्ध धर्मके महायान-सप्रदायका सबलतम स्वर, सार्वभौम करुणा और सहानुभूतिपर इसका बल उस आध्यात्मिक एकत्वका ही नैतिक प्रयोग था जो वेदातका मूलभूत विचार है।[1] उस नयी साधनाके अत्यत विशिष्ट सिद्धातो, निर्वाण और कर्मकी पुष्टि ब्राह्मणो और उपनिषदो-के वचनोसे की जा सकती थी। बौद्धधर्म अपने मूलके वैदिक होनेका दावा सहजमें ही कर सकता था और इसका वह दावा साख्य-दर्शन एव साधनाभ्यासके, जिसके साथ कुछ बातोमें इसका घनिष्ठ ऐक्य था, मूलकी वैदिकतासे कम प्रामाणिक न होता। परतु जिस चीजने बौद्ध धर्मको हानि पहुचायी और जो, अतमें, इसके त्याग दिये जानेका निश्चयात्मक कारण बनी वह वेदको मूल या प्रामाणिक स्रोत माननेसे इसका इन्कार करना नही थी बल्कि इसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्थापनाओका एकतरफा तीखापन थी। स्पष्ट और कठोर तार्किक चिंतनपर आधारित एक तीव्र आध्यात्मिक जिज्ञासाके द्वारा ही इसका एक पृथक् धर्मके रूपमें जन्म हुआ था, इस प्रकार, अध्यात्मभावित मनके साथ

---

[1]ऐसा प्रतीत नही होता कि स्वय बुद्धने अपने मतका प्रचार एक नये क्रातिकारी धर्म-मतके रूपमें किया हो, बल्कि उन्होने तो उसका प्रचार प्राचीन आर्य मार्ग, सनातन धर्मके सच्चे आदर्शके रूपमे किया था।

आध्यात्मिक अनुभव एक महत्तर वस्तु है और उसका प्रकाश तर्कशील बुद्धिकी सत्यताओंकी अपेक्षा अधिक अज्ञेय होनेपर भी अधिक सच्चा मार्गदर्शक है।

भारतीय मन और भारतीय जीवनकी अन्य सब प्रवृत्तियोंपर भी इसी सर्वोपरि शक्तिका प्रभुत्व रहा। महाकाव्य-साहित्य एक सबल और स्वतंत्र बौद्धिक एवं नैतिक विचार-धारासे अत्यधिक परिपूर्ण है उसमें प्रज्ञा और नैतिक बुद्धिके द्वारा जीवनकी अनवरत आलोचना की गयी है, सभी संभव क्षेत्रोंमें सत्यका आदर्श स्थिर करनेका आकर्षक कुतूहल एवं प्रबल आग्रह और कामना दिखायी देती है। परंतु पृष्ठभूमिमें एक अटूट धार्मिक भावना और साथ ही आध्यात्मिक सत्यकी असंदिग्ध या प्रकट स्वीकृति भी देखनेमें आती है जो युग-युग साधनेकी ओर आती रही तथा भारतीय संस्कृतिका एक अभिन्न आधार बनी रही। इन आध्यात्मिक सत्योंने लौकिक विचार और कर्मको अपने उच्चतर प्रकाशसे परिप्लावित कर दिया अथवा ये ऊपर स्थित होकर उन्हें स्मरण दिलाते रहे कि वे किसी महत्तरके सोपान मात्र हैं। भारतीय कलाने प्रचलित आस्थाके विपरीत जीवनका अत्यधिक चित्रण किया किंतु फिर भी उसकी सर्वोच्च सफलता सर्वत्र धर्म-दार्शनिक मनकी व्याख्याके क्षेत्रमें ही दिखायी दी उसकी संपूर्ण शैली आध्यात्मिक एवं अनंतके संकेतोंसे रंगी रहती थी। भारतीय समाजने अपूर्व संगठन-शक्ति स्थायी प्रभावशालिता और क्रियात्मक अंतर्दृष्टिके साथ अपने अर्थ और कामभावनाके सांसारिक जीवनके सामाजिक सामंजस्यका विकास किया उसने अपने कर्मका परिचालन सदा-सर्वदा और पद-पदपर नैतिक और धार्मिक विचार अर्थात् 'धर्म' के निर्देशके अनुसार किया परंतु इस बातको उसने कभी आंखसे ओझल नहीं किया कि आध्यात्मिक मोक्ष ही हमारे जीवनके प्रयासका उच्चतम शिखर और अंतिम लक्ष्य है। पीछेके युगमें जब बौद्धिक संस्कृतिकी ऐहिक प्रवृत्तिने और अधिक जोर पकड़ा तब लौकिक बुद्धिकी अपरिमित प्रगति हुई, राजनीतिक और सामाजिक विकास बहुत अधिक हुआ सौंदर्यात्मक ऐंद्रियक और सुखवादी अनुभवपर अत्यधिक बल दिया गया। परंतु इस प्रयासमें भी आदर्शोंको प्राचीन जीवनके अंदर रखने और भारतके सांस्कृतिक विचारकी विशेष छापको न मिटानेकी बराबर ही चेष्टा की। ऐहिक प्रवृत्तिके आग्रह जो क्षति हुई उसकी पूर्ति धर्म-धार्मिक अनुभवकी तीव्रताओंको और भी गंभीर करके की गयी। नये धर्मों या गुह्य अनुष्ठानों एवं साधनाओंने मनुष्यकी अंतरात्मा और बुद्धिको ही नहीं बल्कि उसके हृदयों और इंद्रियोंको तथा उसकी प्राणिक और सौंदर्यग्राही प्रकृतिको भी अपने अधिकारमें करने तथा आध्यात्मिक जीवनका उपादान बनानेका यत्न किया। जीवनके ऐश्वर्य-वैभव शक्ति-सामर्थ्य और सुखभोगपर बल देनेमें की गयी प्रत्येक अतिकी प्रतिक्रिया हुई और तब एक उच्चतर मार्गके रूपमें आध्यात्मिक वैराग्यपर सुखभोगके समान ही प्रभावपूर्ण बल देकर उस अतिको संतुलित किया गया। दोनों प्रवृत्तियां एक ओर तो जीवनानुभवकी समृद्धिकी पराकाष्ठा दूसरी ओर अध्यात्म-जीवनकी पराकाष्ठा एवं एक कठोर तीव्रता परस्पर साथ मिलाकर

चलती थी, उनकी पारस्परिक क्रिया—प्राचीनतर गंभीर सामंजस्य एवं विशाल समन्वयकी चाहे कैसी भी हानि क्यों न हुई हो—उनके दोहरे आकर्षणके द्वारा भारतीय संस्कृतिके संतुलन-की कुछ अंशमें रक्षा करती थी।

भारतीय धर्मने इस विकासधाराका अनुसरण किया और अपने वैदिक तथा वैदांतिक उद्गमोंके साथ अपनी आंतरिक अविच्छिन्नताको सुरक्षित रखा, परंतु अपने मनके अंदरकी सामग्रियों और रंग-रूपको तथा अपने बाह्य आधारको उसने पूर्ण रूपसे परिवर्तित कर डाला। यह परिवर्तन उसने किसी विरोधात्मक विद्रोह या विप्लवके द्वारा या आक्रमणकारी सुधारके किसी विचारके द्वारा संपन्न नहीं किया। इसका करणात्मक जीवन निरंतर ही विकसित होता रहा, एक स्वाभाविक रूपांतरने गुप्त उद्देश्योंको प्रकट किया या फिर पूर्व-प्रतिष्ठित प्रेरक-विचारोंको अधिक प्रमुख स्थान या प्रभावशाली रूप प्रदान किया। निःसंदेह एक समय ऐसा लगा मानो पुरानी चीजोंके भंग और एक तीव्र नये आरंभकी आवश्यकता हो और ऐसा होकर ही रहेगा। ऐसा मालूम हुआ कि बौद्ध धर्मने वैदिक धर्मके साथ संपूर्ण आध्यात्मिक संसर्गका त्याग कर दिया। परंतु अंततः यह संबंधविच्छेद ऊपर ही ऊपर अधिक था, वास्तवमें उतना नहीं था निर्वाण-विषयक बौद्ध आदर्श वेदांतके उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवके एक तीव्र-निषेधात्मक एवं ऐकांतिक वर्णनके सिवा और कुछ नहीं था। मुक्तिके मार्ग-के रूपमें गृहीत बौद्धोंकी 'अष्टांग-पथ' की जो नैतिक प्रणाली थी वह अमरत्वके मार्ग, '**ऋतस्य पथा**' के रूप में अनुसृत सत्य, ऋत और धर्म-विषयक वैदिक विचारका कठोर उन्नयन थी। बौद्ध धर्मके महायान-संप्रदायका सबलतम स्वर, सार्वभौम करुणा और सहानुभूतिपर इसका बल उस आध्यात्मिक एकत्वका ही नैतिक प्रयोग था जो वेदांतका मूलभूत विचार है।[1] उस नयी साधनाके अत्यंत विशिष्ट सिद्धांतों, निर्वाण और कर्मकी पुष्टि ब्राह्मणों और उपनिषदों-के वचनोंसे की जा सकती थी। बौद्धधर्म अपने मूलके वैदिक होनेका दावा सहजमें ही कर सकता था और इसका वह दावा सांख्य-दर्शन एवं साधनाभ्यासके, जिसके साथ कुछ बातोंमें इसका घनिष्ठ ऐक्य था, मूलकी वैदिकतासे कम प्रामाणिक न होता। परंतु जिस चीजने बौद्ध धर्मको हानि पहुंचायी और जो, अंतमें, इसके त्याग दिये जानेका निश्चयात्मक कारण बनी वह वेदको मूल या प्रामाणिक स्रोत माननेसे इसका इन्कार करना नहीं थी बल्कि इसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्थापनाओंका एकतरफा तीखापन थी। स्पष्ट और कठोर तार्किक चिंतनपर आधारित एक तीव्र आध्यात्मिक जिज्ञासाके द्वारा ही इसका एक पृथक् धर्मके रूपमें जन्म हुआ था, इस प्रकार, अध्यात्मभावित मनके साथ

[1] ऐसा प्रतीत नहीं होता कि स्वयं बुद्धने अपने मतका प्रचार एक नये क्रांतिकारी धर्म-मतके रूपमें किया हो, बल्कि उन्होंने तो उसका प्रचार प्राचीन आर्य मार्ग, सनातन धर्मके सच्चे आदर्शके रूपमें किया था।

तार्किक बुद्धिके सम्मिलनके तीव्र दबावका परिणाम होनेके कारण इसकी तीक्ष्ण स्थापनाओं और उनसे भी अधिक ऐकांतिक निषेधोंको भारतीय धार्मिक चेतनाकी स्वाभाविक नमनशीलता बहुमुखी ग्रहण-सामर्थ्य और समृद्ध समन्वयात्मक प्रवृत्तिके साथ पर्याप्त रूपसे संगत नहीं बनाया जा सकता था। यह एक उच्च मत अवश्य था पर लोगोंके हृदयोंपर अधिकार जमानेके लिये काफी नमनीय नहीं था। भारतीय धर्म बौद्ध-धर्मका जितना अंश हजम कर सकता था उतना उसने हजम कर लिया पर इसकी एकपक्षीय स्थापनाओंको उसने त्याग दिया और, प्राचीन वेदांतकी ओर मुड़कर अपनी अविच्छिन्नताकी संपूर्ण परंपराको सुरक्षित रखा।

परिवर्तनकी यह स्थायी धारा मूलतत्त्वके किसी प्रकारके विनाशके द्वारा नहीं बल्कि प्रमुख वैदिक अनुष्ठानोंके क्रमिक ह्रास तथा उनके स्थानपर दूसरोंके आविर्भावके द्वारा अग्रसर हुई। प्रतीक अनुष्ठान-पद्धति और धार्मिक क्रियाओंका रूपांतर हुआ अथवा उनके स्थानपर उनसे मिलते-जुलते नये प्रतीकादिकोंको प्रतिष्ठित किया गया ऐसी चीजें प्रकट हुईं जो मूल प्रणालीमें केवल संकेत-रूपमें ही विद्यमान थीं मूल विचारधाराके बीजसे नये विचार-रूप विकसित हुए। और विशेष रूपसे आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक अनुभव और भी अधिक विस्तृत और गहरा हो चला। वैदिक देवताओंका गंभीर मूल अर्थ शीघ्र ही विलुप्त हो गया। आरंभमें उन्होंने अपने बाह्य विश्वगत कर्मके द्वारा अपना आधिपत्य बनाये रखा किंतु ब्रह्मा-विष्णु-शिवकी महान् त्रिमूर्तिने उन्हें आच्छादित कर दिया और पीछे तो वे बिलकुल ही लुप्त हो गये। एक नया देव-समूह प्रकट हुआ जो अपने बाह्य प्रतीकात्मक रूपोंमें धार्मिक अनुभवके एक गभीरतर सत्य एवं विस्तृततर क्षेत्रको एक तीव्रतर अनुभूति एवं विशालतर भावनाको प्रकट करता था। वैदिक यज्ञ केवल टूटे-फूटे खंडोंके रूपमें ही शेष रह गया जो उत्तरोत्तर कम होते गये। 'अग्नि'-कुंडका स्थान मंदिरने ले लिया यज्ञका कर्मकांड मंदिरमें की जानेवाली भक्तिकी क्रिया-पद्धतिमें रूपांतरित हो गया मंत्रोंमें वैदिक देवताओंके जो अनिश्चित और परिवर्तनीय मानसिक रूप चित्रित हैं उन्होंने अपना स्थान दो महान् देवताओं, विष्णु और शिव के तथा उनकी शक्तियों एवं नाना-अवतारोंके अधिक सुनिश्चित प्रभावात्मक रूपोंको दे दिया। इन नये प्रत्ययों (Concepts) को भौतिक प्रतिमूर्तियोंका स्थिर रूप देकर आभ्यंतरिक उपासनाके लिये तथा यज्ञका स्थान लेनेवाली बाह्य पूजाके लिये आधार बना दिया गया। आंतरात्मिक और आध्यात्मिक गुह्य प्रयास जो वेदके सूक्तोंका आंतरिक मर्म था पौराणिक और तांत्रिक धर्म और योगके कम तीव्रतया प्रकाशमय पर अधिक विशाल समृद्ध एवं महान् चैत्य आध्यात्मिक अंतर्जीवनमें विलीन हो गया।

धर्मकी पौराण-तांत्रिक अवस्थाको एक समय यूरोपीय आलोचकों और भारतीय सुधारकोंने प्राचीनतर एवं शुद्धतर धर्मका हीन और अज्ञानपूर्ण पतन कहकर निंदित ठहराया था। पर सच पूछो तो यह लोगोंके सामान्य मनको आंतरिक सत्य और अनुभव तथा वेदके उच्चतर

एव गभीरतर क्षेत्रकी ओर खोलनेका एक प्रयत्न था जो बहुत अशमें सफल भी हुआ। किसी समय जो विरोधी आलोचना सुननेमें आती थी उसमेंसे अधिकाशका कारण इस पूजाके आशय और उद्देश्यको बिलकुल न जानना ही था। इस आलोचनाका अधिकतर भाग व्यर्थमें उन पगडडियो और पथ-भ्रष्टताओपर ही केंद्रित रहा है जिनसे धचना सस्कृतिके आधारको विस्तृत करनेके इस अतीव साहसपूर्ण परीक्षणमें शायद सभव ही नही था। क्योकि, इसमें सब प्रकारके मनोको तथा सब वर्गोंके लोगोको आध्यात्मिक सत्यकी ओर आकृष्ट करनेका एक उदार प्रयत्न था। वैदिक ऋषियोंके गहन आतरात्मिक ज्ञानका बहुतसा भाग लुप्त हो गया, परतु बहुत-से नये ज्ञानका विकास भी हुआ, कितने ही ऐसे मार्ग खुल गये जिनपर किसीके भी पैर नही पडे थे और साथ ही अनतमें प्रवेश करनेके सैकडो द्वार ज्ञात हो गये। यदि हम इस विकासका मूल अभिप्राय और उद्देश्य तथा इसके बाह्य-रूपो, साधनो और प्रतीकोका आभ्यतरिक मूल्य जाननेका यत्न करे तो हमें पता चलेगा कि यह विकास बहुत कुछ इसी कारणसे प्राचीन वैदिक रूपके बादमें आया जिस कारणसे कि कैथलिक ईसाइयतने प्राचीन 'पेगन' (मूर्तिपूजक) धर्मोंके गुप्त रहस्यो और यज्ञोका स्थान लिया। क्योकि, दोनो दृष्टातोमें आदिकालीन धर्मका बाह्य आधार लोगोंके बाह्य स्थूल मनको आकर्षित करता था और इसलिये उसने उसीको अपने आह्वानका आरभ-बिंदु बनाया। परतु नये विकासने सामान्य मनुष्यमें भी एक अधिक अतरीय मनको जगाने, उसकी अतरीय प्राणिक और भावप्रधान प्रकृतिको अपने अधिकारमें लाने, अतरात्माको जगाकर सत्ताके सभी अगोको सहारा देने और इन चीजोंके द्वारा उसे उच्चतम आध्यात्मिक सत्यकी ओर ले जानेका यत्न किया। वास्तवमें इसने सर्वसाधारणको आत्माके मदिरके बाहरी अहातेमें न छोडकर उसके भीतर प्रविष्ट करानेकी चेष्टा की। इसने मदिरोकी सुदर पूजा, नाना प्रकारकी विधियो तथा स्थूल मूर्त्तियोंके द्वारा जो एक सौंदर्यात्मिक रूप ग्रहण किया उससे मनुष्यकी बहिर्मुख स्थूल इंद्रिय सतुष्ट हुई, परतु इन चीजोको एक चैत्य-भावप्रधान अर्थ एव दिशा प्रदान की गयी जो कुछ चुने हुए लोगोकी गभीरतर दृष्टि या दीक्षितोकी कृच्छ्र तपस्याके लिये ही सुरक्षित नही थी, बल्कि साधारण मनुष्यके हृदय और कल्पनाशक्तिके लिये भी खुली हुई थी। गुप्त दीक्षाकी पद्धति बची रही पर अब वह बाह्य मनो-भावावेगात्मक एव धार्मिक सत्य और अनुभवसे गभीरतर चैत्य-आध्यात्मिक सत्य और अनुभवकी ओर जानेके लिये एक अवस्था मात्र थी।

इस नये परिवर्तनसे किसी भी मुख्य वस्तुके मूल स्वरूपमें तनिक भी हेर-फेर नही हुआ, परतु करणोपकरणो तथा वातावरणमें और धार्मिक अनुभवके क्षेत्रमें पर्याप्त परिवर्तन आया। वैदिक देवता अपने भक्त-समुदायके निकट ऐसी दिव्य शक्तिया थे जो स्थूल जगत्के बाह्य जीवनकी कार्यावलिके ऊपर अधिष्ठान करती थी, पौराणिक त्रिमूर्ति जनसाधारणके लिये भी प्रधान रूपसे एक मनो-धार्मिक और आध्यात्मिक अर्थ रखती थी। इसका अधिक बाह्य अर्थ, उदा-

हरणके लिये जगत्‌की उत्पत्ति स्थिति और प्रलयके कार्य इन महत्तरदेवोंका भाग थे ही एवं के रहस्यके अंतस्तलको छूती थी एक गौण सिरा मात्र थे। केंद्रीय आध्यात्मिक सत्य दोनों प्रणालियोंमें एक ही रहा और वह है अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त 'एकमेव' का सत्य। त्रिमूर्ति एक ही परम देव एवं ब्रह्मका त्रिविध रूप है सभी शक्तियां उच्चतम भागवत सत्ताकी एक ही शक्तिकी अंशभूत शक्तियां हैं। परन्तु यह महत्तम धार्मिक सत्य तब और, इने-गिने दीक्षितोंके लिये ही सुरक्षित नहीं रह गया बल्कि अब तो लोगोंके सामान्य मन और हृदय- में इसे प्रबल विस्तृत और तीव्र रूपमें अधिकाधिक जमा दिया गया। वैदिक विचारका अंग माने जानेवाले तथाकथित एकदेवपरमतावाद (Henotheism) को भी विष्णु या शिवकी अधिक व्यापक और परम पूजाके रूपमें विस्तारित और उन्नत किया गया विष्णु या शिवको एक ऐसा विराट् और सर्वोच्च देवता मानकर पूजा जाने लगा जिसके कि अन्य सब देवता जीवंत रूप और शक्तियां हैं। मनुष्यके अंदर भगवान्‌के विराजमान होनेके विचारको असाधारण रूपमें प्रचारित किया गया केवल इस विचारको ही नहीं कि भगवान् कभी-कभी मानवतामें प्रकट होते हैं, जिससे कि अवतारोंकी पूजाकी स्थापना की वरन् इस विचारको भी कि प्रत्येक प्राणीके हृदयमें उनकी उपस्थितिको ढूंढा जा सकता है। इसी एक सामान्य आधारपर योगकी प्रणालियां भी विकसित हुईं। ये सभी अनेक प्रकारकी मनो- भौतिक अंतःप्राणिक अंतर्मानसिक और चैत्य-आध्यात्मिक विधियोंके द्वारा समस्त भारतीय आध्यात्मिकताके सर्वसामान्य लक्ष्यकी ओर ले जाती थीं या ले जानेकी आशा करती थीं और वह लक्ष्य था एक महत्तर चेतनाकी तथा एकमेव और भगवान्‌के साथ न्यूनाधिक पूर्ण एकत्वकी प्राप्ति या फिर व्यष्टि-जीवका निरपेक्ष ब्रह्ममें निमज्जन। पौराणिक-तांत्रिक प्रणाली एक विशाल सुनिश्चित और बहुमुख प्रयास थी जो अपनी शक्ति अंतर्दृष्टि और विस्तारमें अतुलनीय था उसका उद्देश्य मानवजातिको एक ऐसे सामान्यीकृत मनोधार्मिक अनुभवका आधार प्रदान करना था जिससे मनुष्य ज्ञान कर्म या प्रेमके द्वारा या अपनी प्रकृतिकी किसी अन्य मूलभूत शक्तिके द्वारा किसी सुस्थिर परम अनुभव एवं सर्वोच्च निरपेक्ष स्थितितक ऊंचा उठ सके।

यह महान् प्रयास एवं प्राप्ति जो वैदिक युगके बादसे लेकर बौद्धधर्मका पतन होनेतकके संपूर्ण कालमें जारी रही भारतीय संस्कृतिके सामने खुले पड़े धार्मिक विकासकी अंतिम संभावना नहीं थी। भौतिक मनोवृत्तिवाले मनुष्यको दी गयी वैदिक शिक्षाने ही इस विकास- को संभव बनाया। परंतु फिर धर्मके आधारको इस प्रकार आंतरिक मन प्राण एवं आत्मपरिक प्रवृत्तितक उठाकर और अंतःपुरुषको इस प्रकार शिक्षित करके और बाहर लाकर एक और भी व्यापक विकास संभव बनाना चाहिये तथा एक महत्तर आध्यात्मिक आंदोलनको जीवनकी प्रमुख शक्तिके रूपमें प्रश्रय देना चाहिये। इनमेंसे पहली अवस्था प्राकृतिक बहिर्मुख मानव- को आध्यात्मिकताके लिये तैयार करना संभव बनाती है दूसरी उसके बाह्य जीवनको एक

अधिक गहरे मानसिक और आतरात्मिक जीवनकी ओर ले जाती है और उसे उसके अदर अवस्थित अध्यात्म सत्ता एव भगवत्ताके अधिक सीधे सपर्कमें ले आती है, तीसरीको उसे उसके अपने सपूर्ण मानसिक, आतरात्मिक एव भौतिक जीवनको एक व्यापक अध्यात्म-जीवन-के कम-से-कम प्रथम आरभकी ओर उठा ले जानेके योग्य बना देना चाहिये। यह प्रयास भारतीय आध्यात्मिकताके विकासमें प्रकट हुआ है और बहुत पीछे जो दर्शनशास्त्र बने तथा सतो और भक्तोंके महान् आध्यात्मिक आदोलन हुए और योगके विविध मार्गोंका अधिकाधिक अवलबन किया गया उसका गूढ अर्थ भी यही है। परतु दुर्भाग्यवश यह प्रयास जिन दिनो चल रहा था उन्ही दिनो भारतीय सस्कृतिका ह्रास आरभ हुआ और उसके सामान्य बल और ज्ञानका उत्तरोत्तर क्षय होने लगा, और इन परिस्थितियोमें यह अपना स्वाभाविक परि-णाम नही उत्पन्न कर सका, पर साथ ही इसने भविष्यमें ऐसी सभावना उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियोको तैयार करनेके लिये बहुत कुछ किया है। यदि भारतीय सस्कृतिको जीवित रहना है और अपने आध्यात्मिक आधार तथा अपनी स्वभावगत विशेषताको सुरक्षित रखना है तो उसके विकासको केवल पौराणिक प्रणालीको फिरसे जीवित या प्रचलित करनेकी दिशा-में नही, बल्कि उपर्युक्त दिशामें ही मुडना होगा और इस प्रकार उस वस्तुकी चरितार्थताकी ओर उठना होगा जिसे सहस्रो वर्ष पहले वैदिक ऋषियोने मनुष्य और उसके जीवनके लक्ष्यके रूपमें देखा था तथा वैदातिक ऋषियोने अपने ज्योतिर्मय सत्य-दर्शनके स्पष्ट और अमर रूपो-में ढाला था। मनुष्यकी प्रकृतिका चैत्य-भावमय भाग भी धार्मिक अनुभूतिका अतरतम द्वार नही है और न उसका आतर मन ही आध्यात्मिक अनुभवका उच्चतम साक्षी है। इनमेंसे चैत्य-भावमय भागके पीछे उस गहनतम हृदय-गुहामें, **हृदये गुहायाम्**, मनुष्यकी अतरतम आत्मा विद्यमान है जिसमें प्राचीन ऋषियोने स्वय अतर्वासी भगवान्का वास्तविक धाम देखा था और आतर मनके ऊपर एक ज्योतिर्मय उच्चतम मन है और यह मन परम आत्माके उस सत्यकी ओर सीधे खुला हुआ है जिसकी झाकी मनुष्यकी सामान्य प्रकृतिको अभी केवल कभी-कभी और क्षणभरके लिये ही मिलती है। धार्मिक विकास और आध्यात्मिक अनुभव अपना सच्चा और स्वाभाविक मार्ग तभी प्राप्त कर सकते है जब वे इन गुप्त शक्तियोकी ओर खुल जाय और एक स्थायी रूपातर अर्थात् मानवजीवन और प्रकृतिके दिव्यीकरणके लिये इन्हे अपना अवलबन बनावे। इस प्रकारका प्रयास ही भारतके विशाल धार्मिक विकास-चक्रोंके पिछले आदोलनोमेंसे अत्यत प्रकाशमय एव जीवत आदोलनके पीछे असली शक्तिके रूपमें कार्य कर रहा था। यही वैष्णव धर्म, तत्र और योगकी अत्यत शक्तिशाली प्रणालियोका रहस्य है। हमारी अर्द्ध-पशु मानव-प्रकृतिसे अध्यात्म-चेतनाकी अभिनव पवित्रता-में आरोहण करनेके प्रयासके बाद मनुष्यके अगोमें आत्माकी ज्योति और शक्तिका अवतरण कराने तथा मानवीय प्रकृतिको दैवी प्रकृतिमें रूपातरित करनेका प्रयत्न करना आवश्यक ही था जिससे कि आरोहणका प्रयास पूर्ण हो सके।

हृदयके लिये जगत्‌की उत्पत्ति स्थिति और प्रलयके कार्य इन महादेवोंका भाग भी ही रहस्यके अवस्तरको छूती थीं एक गौण सिरा मात्र थे। केंद्रीय आध्यात्मिक सत्य दोनों प्रणालियोंमें एक ही रहा और वह है अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त 'एकमेव' का सत्य। त्रिमूर्ति एक ही परम देव एवं प्रभुका त्रिविध रूप हैं सभी शक्तियां उच्चतम भागवत सत्ताकी एक ही शक्तिकी अंशभूत शक्तियां हैं। परंतु यह महत्तम धार्मिक सत्य अब थोड़े, दीक्षितोंके लिये ही सुरक्षित नहीं रह गया बल्कि अब तो लोगोंके सामान्य मन और हृदयमें पहले प्रबल विस्तृत और तीव्र रूपमें अधिकाधिक जमा दिया गया। वैदिक विचारका अंग माने जानेवाले तथाकथित एकदेवपरमतावाद (Henotheism) को भी विष्णु या शिवकी अधिक व्यापक और सरल पूजाके रूपमें विस्तारित और उन्नत किया गया विष्णु या शिवको एक ऐसा विराट् और सर्वोच्च देवता मानकर पूजा जाने लगा जिसके कि अन्य सब देवता जीवित रूप और शक्तियां हैं। मनुष्यके अंदर भगवान्‌के विराजमान होनेके विचारको असाधारण रूपमें प्रचारित किया गया केवल इस विचारको ही नहीं कि भगवान् कभी-कभी मानवतामें प्रकट होते हैं जिसने कि अवतारोंकी पूजाकी स्थापना की वरन् इस विचारको भी कि प्रत्येक प्राणीके हृदयमें उनकी उपस्थितिको ढूंढा जा सकता है। इसी एक सामान्य आधारपर योगकी प्रणालियां भी विकसित हुईं। ये सभी अनेक प्रकारकी मनोवैज्ञानिक अंतःप्राणिक अंतर्मानसिक और नैतिक-आध्यात्मिक विधियोंके द्वारा समस्त भारतीय आध्यात्मिकताके सर्वसामान्य लक्ष्यकी ओर ले जाती थीं या ले जानेकी आशा करती थीं और वह लक्ष्य था एक महत्तर चेतनाकी तथा एकमेव और भगवान्‌के साथ न्यूनाधिक पूर्ण एकत्वकी प्राप्ति या फिर व्यष्टि-जीवका निरपेक्ष ब्रह्ममें *निमज्जन*। पौराणिक-तांत्रिक प्रणाली एक विशाल सुनिश्चित और बहुमुख प्रयास थी जो अपनी शक्ति अंतर्दृष्टि और विस्तारमें अतुलनीय था उसका उद्देश्य मानवजातिको एक ऐसे सामान्यीकृत मनोधार्मिक अनुभवका आधार प्रदान करना था जिससे मनुष्य ज्ञान कर्म या प्रेमके द्वारा या अपनी प्रकृतिकी किसी अन्य मूलभूत शक्तिके द्वारा किसी सुस्थिर परम अनुभव एवं सर्वोच्च निरपेक्ष स्थितितक ऊंचा उठ सके।

यह महान् प्रयास एवं प्राप्ति जो वैदिक युगके बादसे लेकर बौद्धधर्मका पतन होनेतकके संपूर्ण कालमें जारी रही भारतीय संस्कृतिके सामने खुले पड़े धार्मिक विकासकी अंतिम संभावना नहीं थी। भौतिक मनोवृत्तिवाले मनुष्यको दी गयी वैदिक शिक्षाने ही इस विकासको संभव बनाया। परंतु फिर धर्मके आधारको इस प्रकार आंतरिक मन प्राण एवं आंतरात्मिक प्रवृत्तितक उठाकर और अंतःपुरुषको इस प्रकार शिक्षित करके और बाहर लाकर एक और भी व्यापक विकास संभव बनाना चाहिये तथा एक महत्तर आध्यात्मिक आंदोलनको जीवनकी प्रमुख शक्तिके रूपमें प्रधान बना देना चाहिये। इनमेंसे पहली अवस्था प्राकृतिक बहिर्मुख मानवको आध्यात्मिकताके लिये तैयार करना संभव बनाती है दूसरी उसके बाह्य जीवनको एक

अधिक गहरे मानसिक और आतरात्मिक जीवनकी ओर ले जाती है और उसे उसके अदर अवस्थित अध्यात्म सत्ता एव भगवत्ताके अधिक सीधे सपर्कमे ले आती है, तीसरीको उसे उसके अपने सपूर्ण मानसिक, आतरात्मिक एव भौतिक जीवनको एक व्यापक अध्यात्म-जीवन-के कम-से-कम प्रथम आरभकी ओर उठा ले जानेके योग्य बना देना चाहिये। यह प्रयास भारतीय आध्यात्मिकताके विकासमे प्रकट हुआ है और बहुत पीछे जो दर्शनशास्त्र बने तथा सतो और भक्तोंके महान् आध्यात्मिक आदोलन हुए और योगके विविध मार्गोंका अधिकाधिक अवलवन किया गया उसका गूढ अर्थ भी यही है। परतु दुर्भाग्यवश यह प्रयास जिन दिनो चल रहा था उन्ही दिनो भारतीय सस्कृतिका ह्रास आरभ हुआ और उसके सामान्य वल और ज्ञानका उत्तरोत्तर क्षय होने लगा, और इन परिस्थितियोंमें यह अपना स्वाभाविक परि-णाम नही उत्पन्न कर सका, पर साथ ही इसने भविष्यमें ऐसी सभावना उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियोको तैयार करनेके लिये वहुत कुछ किया है। यदि भारतीय सस्कृतिको जीवित रहना है और अपने आध्यात्मिक आधार तथा अपनी स्वभावगत विशेषताको सुरक्षित रखना है तो उसके विकासको केवल पौराणिक प्रणालीको फिरसे जीवित या प्रचलित करनेकी दिशा-में नही, वल्कि उपर्युक्त दिशामे ही मुडना होगा और इस प्रकार उस वस्तुकी चरितार्थताकी ओर उठना होगा जिसे सहस्रो वर्ष पहले वैदिक ऋषियोने मनुष्य और उसके जीवनके लक्ष्यके रूपमें देखा था तथा वेदातिक ऋषियोने अपने ज्योतिर्मय सत्य-दर्शनके स्पष्ट और अमर रूपो-में ढाला था। मनुष्यकी प्रकृतिका चैत्य-भावमय भाग भी धार्मिक अनुभूतिका अतरतम द्वार नही है और न उसका आतर मन ही आध्यात्मिक अनुभवका उच्चतम साक्षी है। इनमेंसे चैत्य-भावमय भागके पीछे उस गहनतम हृदय-गुहामे, **हृदये गुहायाम्**, मनुष्यकी अतरतम आत्मा विद्यमान है जिसमें प्राचीन ऋषियोने स्वय अतर्वासी भगवान्का वास्तविक धाम देखा था और आतर मनके ऊपर एक ज्योतिर्मय उच्चतम मन है और यह मन परम आत्माके उस सत्यकी ओर सीधे खुला हुआ है जिसकी झाकी मनुष्यकी सामान्य प्रकृतिको अभी केवल कभी-कभी और क्षणभरके लिये ही मिलती है। धार्मिक विकास और आध्यात्मिक अनुभव अपना सच्चा और स्वाभाविक मार्ग तभी प्राप्त कर सकते है जब वे इन गुप्त शक्तियोकी ओर खुल जाय और एक स्थायी रूपातर अर्थात् मानवजीवन और प्रकृतिके दिव्यीकरणके लिये इन्हे अपना अवलवन बनावे। इस प्रकारका प्रयास ही भारतके विशाल धार्मिक विकास-चक्रोंके पिछले आदोलनोंमेंसे अत्यत प्रकाशमय एव जीवत आदोलनके पीछे असली शक्तिके रूपमें कार्य कर रहा था। यही वैष्णव धर्म, तत्र और योगकी अत्यत शक्तिशाली प्रणालियोका रहस्य है। हमारी अर्द्ध-पशु मानव-प्रकृतिसे अध्यात्म-चेतनाकी अभिनव पवित्रता-में आरोहण करनेके प्रयासके बाद मनुष्यके अगोमे आत्माकी ज्योति और शक्तिका अवतरण कराने तथा मानवीय प्रकृतिको दैवी प्रकृतिमें रूपातरित करनेका प्रयत्न करना आवश्यक ही था जिससे कि आरोहणका प्रयास पूर्ण हो सके।

परंतु यह प्रयत्न अपना पूर्ण मार्ग या अपना फल नहीं प्राप्त कर सका क्योंकि इसी समयमें भारतमें जीवनी-शक्तिका ह्रास हो गया और उसकी सार्वजनीन सभ्यता एवं संस्कृति का बल और मान क्षीण होने लगा। तथापि उसके बचे रहने और नया जीवन प्राप्त करने की दैव-निर्दिष्ट शक्ति भी इसीमें निहित है उसके भविष्यका जीवन अभिप्राय भी यही है। इस भूतकाल जीवनको अत्यंत व्यापक और सर्वांगीण रूपमें आध्यात्मिक बनाना ही अंतरात्मा के गहनतम और अंतरतम अनुभवके उस सब विशाल और अपूर्व सहस्रविध अनुसंधान एवं परीक्षणका जो भारतके मनीषाकी अनुपम विशेषता है, अंतिम दिव्य स्वप्न है यही अंतत यह ईश्वरप्रदत्त कार्य है जिसके लिये यह उत्पन्न हुआ था और यही उसके अस्तित्वका प्रयोजन है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

तीसरा अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

यदि हम भारतीय किंवा किसी भी सभ्यताका यथार्थ स्वरूप समझना चाहे तो यह आवश्यक है कि हम उसकी केद्रीय, जीवित और सर्वोपरि वस्तुओको ही अपने ध्यानमें रखें और दैवसयोगो तथा छोटी-मोटी बातोसे उत्पन्न भ्रातिके कारण भटक न जाय। हमारी सस्कृतिके आलोचक इस सावधानीको बरतनेसे निरतर ही इन्कार करते है। सर्वप्रथम हमें किसी सभ्यता एव सस्कृतिके मूल प्रेरक, आधारभूत, स्थायी और केद्रीय उद्देश्योको, उसके स्थिर सिद्धातके मर्मको देखना होगा, अन्यथा हम इन आलोचकोकी भाति सभवत एक सूत्र-रहित भूलभुलैयामें फस जायेंगे और मिथ्या तथा आशिक निष्कर्षोंके बीच ठोकरे खाते हुए विषयके असली सत्यसे पूर्णतया वचित ही रहेगे। इस भूलसे बचनेका महत्त्व उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम भारतकी धार्मिक सस्कृतिके मूल अभिप्रायकी खोज करते हैं। परतु जब हम उसके क्रियाशील स्वरूप और जीवनपर पडनेवाले उसके आध्यात्मिक आदर्शके प्रभावका अवलोकन करने जाते है तब भी हमें इसी पद्धतिको ग्रहण करना चाहिये।

भारतीय सस्कृति यह मानती है कि आत्मा ही हमारी सत्ताका सत्य है और हमारा जीवन आत्माकी एक अभिवृद्धि और विकास है। वह सनातन, अनत, परम एव सर्वको देखती है, वह इसे सब कुछके निगूढ सर्वोच्च आत्माके रूपमें देखती हैं, वह इस सर्वोच्च आत्माको ही ईश्वर, शाश्वत, सद्वस्तुके नामसे पुकारती है, और मनुष्यको वह प्रकृतिगत परमात्मा-की इस सत्ताकी अशभूत आत्मा एव शक्तिके रूपमें देखती है। इस आत्माकी ओर, इस परमेश्वर, विराट्, सनातन एव अनतकी ओर मनुष्यकी सात चेतनाका अधिकाधिक विकास, एक शब्दमें, उसकी साधारण अज्ञ प्रकृतिगत सत्ताके एक ज्ञानदीप्त दिव्य प्रकृतिमें विकसित होनेके कारण उसका अध्यात्मचेतनाको प्राप्त होना—यही, भारतीय विचारधाराके निकट, जीवनका गूढार्थ है और यही मानव-जीवनका लक्ष्य है। आधुनिक यूरोपीय चिंतनमें जो भाग अत्यत शक्तिशाली है और फलप्रद परिणामोकी सभावनासे अत्यत परिपूर्ण है उसका

अधिकांश प्रकृति और जीवन-विषयक इसी अधिक गंभीर एवं अधिक आध्यात्मिक विचारकी ओर, उत्तरोत्तर बढ़ते हुए क्रमके साथ झुकता जा रहा है। संभव है कि यह झुकाव 'बर्बरता' की ओर लौटना हो अथवा यह भी संभव है कि यह उसकी अपनी प्रगतिशील और परिपक्व संस्कृतिका एक उच्च स्वाभाविक परिणाम हो यह तो एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान यूरोपको करना होगा। परन्तु भारतके लिये सर्वदा ही आत्मा ईश्वर, अध्यात्मसत्तासंबंधी यह आदर्श अंतःप्रेरणा या सच पूछो तो यह आध्यात्मिक अंतर्दर्शन, विश्व-चेतनाका यह सान्निध्य एक वैश्व भावना एवं अनुभूति एक वैश्व विचार, उपास्य प्रेम आनंद जिसके अंदर हम सीमित अज्ञ दुःखग्रस्त अहंको मुक्त कर सकते हैं परात्पर, सनातन एवं अनंतकी ओर यह प्रवृत्ति और मनुष्यको उस महत्तर सत्ताकी अंशभूत एक सचेतन आत्मा एवं शक्तिके रूपमें जानना उसके धर्मका तन्मयकारी उद्देश्य उसके धर्मको धारण करनेवाली शक्ति उसकी सभ्यता और संस्कृतिका मूल विचार रहे हैं।

मैं इस ओर संकेत कर चुका हूं कि इस संस्कृतिके प्रयासकी यथार्थ प्रकृति एवं स्वरूप रूपरेखाओंको भी देखना होगा कि वे दो बाह्य अवस्थाओंमेंसे गुजरी हैं जो कि अब पूरी हो चुकी हैं और अब एक तीसरीने अपने आरंभिक कदम रख दिये हैं और वह उसके भविष्य-की नियति है। पहली अवस्था थी प्राचीन वैदिक उस अवस्थामें धर्मने अपना बाह्य वैदिक आधार मनुष्यके स्थूल मनकी विश्वगत परमात्माकी ओर जानेकी स्वाभाविक गतिपर रखा किंतु दीक्षितोंने बाह्य-विधिके पीछे विद्यमान महत्तर आध्यात्मिक सत्यकी गभीर भक्तिको सुरक्षित रखा। दूसरी अवस्था थी पौराण-तांत्रिक तब धर्मने अपना बाह्य वैदिक आधार मनुष्यके आंतरिक मन और प्राणकी विश्वगत भगवान्‌की ओर जानेकी प्रारंभिक और गंभीर गतियोंपर रखा परंतु एक महत्तर दीक्षाने एक अत्यधिक अंतरंग सत्यका मार्ग खोल दिया और आध्यात्मिक जीवनको उसकी संपूर्ण गहराईमें तथा एक चरम-परम अनुभवकी सभी असीम संभावनाओंके साथ आंतरिक रूपसे बितानेके लिये वेग प्रदान किया। एक तीसरी अवस्थाकी भी दीर्घकालसे तैयारी होती आ रही है जो भविष्यसे संबंध रखती है। उसके प्रेरणाप्रद विचारको प्रायः ही सीमित या व्यापक प्रच्छन्न और मौन या साहसपूर्ण एवं आश्चर्यजनक आध्यात्मिक आंदोलनों तथा शक्तिशाली नयी साधनाओं और नये धर्मोंके रूपमें ढाला गया है परन्तु यह अपना मार्ग ढूंढने या मानवजीवनको नयी नींवोंपर चलानेके लिये बाध्य करनेमें अभीतक सफल नहीं हुई है। परिस्थितियां प्रतिकूल थीं और उसके लिये अभी समय भी नहीं आया था। भारतीय आध्यात्मिक मनकी इस महत्तम गतिविधिके पीछे एक गहरी प्रवृत्ति काम कर रही है। उसका संकल्प मनुष्य-समाजको तथा सभी मनुष्योंको प्रत्येकको अपनी सामर्थ्यके अनुसार सर्वाधिक महान् प्रकाशमें निवास करने और अपना सम्पूर्ण जीवन परमात्माकी किसी पूर्ण-अभिव्यक्त शक्ति एवं महान् उन्नायक सत्यपर प्रतिष्ठित करनेके लिये आहूत करनेकी प्रवृत्ति रखता है। परंतु समय समयपर उठी एक उच्चतम

अंतर्दर्शन भी प्राप्त हुआ है जो सनातनकी ओर आरोहणकी ही नहीं बल्कि भगवच्चेतनाके अवरोहण तथा मानव-प्रकृतिके दिव्य प्रकृतिमें रूपांतरकी भी संभावनाका साक्षात्कार करता है। मनुष्यके अंदर गुप्त रूपमें विद्यमान देवत्वकी अनुभूति इसकी सर्वोच्च शक्ति रही है। यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो यूरोपीय धार्मिक सुधारक अथवा उसका अनुकरण करनेवालोंके विचारोंमें या उनकी भाषामें ठीक तरहसे समझमें नहीं आ सकती। यह वह चीज नहीं है जिसकी कल्पना शुद्धताका अत्यधिक ध्यान रखनेवाला बुद्धिवादी या अध्यात्मवादी करता है और उस अत्यंत उतावली कल्पनाके द्वारा अपने प्रयत्नमें असफल रहता है। इसकी निर्देशक दृष्टि एक ऐसे सत्यकी ओर अंगुलि-निर्देश कर रही है जो मानव-मनकी पहुंचसे परे है और यदि वह उसकी सत्ताके अंगोंमें जरा भी चरितार्थ हो जाय तो वह मानव-जीवनको एक दिव्य अति-जीवनमें परिणत कर देगा। और जबतक आध्यात्मिक विकासकी यह तीसरी विशालतम गति अपना वास्तविक स्वरूप नहीं प्राप्त कर लेती तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय सभ्यता अपना मिशन पूरा कर चुकी है, अपना अंतिम संदेश दे चुकी है, और मनुष्यके जीवन तथा आत्माके बीच मध्यस्थता करनेके अपने कार्यको सफलतापूर्वक संपन्न करके कर्तव्यभारसे मुक्त हो गयी है।

अतीतमें भारतीय धर्मने मानवजीवनके साथ जो व्यवहार किया उसे उसके विकासकी अवस्थाओंके अनुसार जांचना होगा, उसकी प्रगतिके प्रत्येक युगपर उसके अपने ही आधारके अनुसार विचार करना होगा। परंतु सभी युगोंमें दो अनुभवोंपर वह समान रूपसे दृढ़ रहा जिन्होंने उसकी महान् व्यावहारिक बुद्धि एवं सूक्ष्म आध्यात्मिक कुशलता प्रदर्शित की। सर्वप्रथम, उसने देखा कि सभी व्यक्ति या संपूर्ण मानव-समाज, आत्माको एकाएक, आसानीसे और तुरंत ही नहीं प्राप्त कर सकता, आम तौरसे या कम-से-कम पहले-पहल यह प्राप्ति एक क्रमिक अनुशीलन, शिक्षण एवं विकासके द्वारा ही साधित हो सकती है। प्राकृत जीवनको विस्तारित करना होगा और इसके साथ ही उसके सभी उद्देश्योंको उन्नत करना होगा, उच्चतर बौद्धिक, आंतरात्मिक और नैतिक शक्तियोंको उसे (जीवनको) अधिकाधिक अपने अधिकारमें लाना होगा और इस प्रकार उसे तैयार करके एक उच्चतर आध्यात्मिक विधानकी ओर ले जाना होगा। पर इसके साथ ही भारतीय धार्मिक मनने यह भी देखा कि यदि उसके महत्तर लक्ष्यको सफल होना हो तथा उसकी संस्कृतिके स्वरूपको अलघ्य बनना हो तो उसमें सर्वत्र तथा प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक उद्देश्यपर किसी-न-किसी प्रकारका आग्रह रहना ही चाहिये। और जनसाधारणके लिये इसका अर्थ है सदैव किसी-न-किसी प्रकारका धार्मिक प्रभाव। इस प्रकार व्यापक रूपसे बल देना आवश्यक ही था ताकि आरंभसे ही सार्वभौम आंतरिक सत्यकी कोई शक्ति, हमारी सत्ताके वास्तविक सत्यसे निकलनेवाली कोई किरण मनुष्यके प्राकृत जीवनपर अपनी ज्योति या, कम-से-कम, अपना गोचर प्रभाव—सूक्ष्म ही सही—डाल सके। मनुष्य-जीवनको, एक प्रकारसे नैसर्गिक रूपमें, पर साथ ही

बुद्धिमत्तापूर्ण देख-रेख और कौशलके द्वारा अपने गंभीरतर आध्यात्मिक अर्थमें फूलने-फलनेके लिये प्रेरित करना होगा। भारतीय संस्कृतिने दो मुख्य एवं एक-दूसरेको प्रोत्साहित करनेवाली और एक-दूसरेके साथ सदा गुंथी हुई क्रियाओंके द्वारा अपना काम किया है जिनका विस्तार उनके दो अनुक्रमोंमें पाया जाता है। प्रथम इसने समाजमें व्यक्तिके जीवनको जीवन-क्रमोंकी एक स्वाभाविक श्रृंखलाके द्वारा उसकी ओर ले जाने तथा विस्तृत करनेका प्रयास किया है जिससे कि अंतमें वह आध्यात्मिक स्तरोंके लिये तैयार हो जाय। परंतु साथ ही इसने उस उच्चतम लक्ष्यको प्रत्येक अवस्थामें मनके सम्मुख रखने और मनुष्यके आंतर तथा बाह्य जीवनकी प्रत्येक घटना और क्रियापर उसका प्रभाव डालनेकी भी चेष्टा की है।

अपने प्रथम लक्ष्यकी खोजमें यह मानवजातिकी अन्य देशोंमें पायी जानेवाली उच्चतम प्राचीन संस्कृतिके अधिक निकट पहुंच गयी थी पर एक ऐसे रूपसे तथा ऐसे उद्देश्यके साथ जो पूर्ण रूपसे इसके अपने थे। इसकी प्रणालीका ढांचा एक त्रिविध चौपदीसे गठित था। इसका प्रथम सूत्र जीवनके चार प्रकारके लक्ष्योंका समन्वय और क्रम था प्राणिक कामना और सुखोपभोग वैयक्तिक और सामाजिक हित नैतिक अधिकार तथा नियम और आध्यात्मिक मोक्ष। इसका दूसरा सूत्र था समाजकी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो सावधानीके साथ क्रमबद्ध की गयी थी तथा अपने निर्दिष्ट आर्थिक कर्तव्योंसे संपन्न थी और गंभीरतर सांस्कृतिक नैतिक एवं आध्यात्मिक अर्थ रखती थी। इसका तीसरा अत्यंत मौलिक सूत्र और, सचमुच ही इसके सर्व-समावेशी जीवनादर्शोंमें अद्वितीय आदर्श था—जीवनकी आनुक्रमिक अवस्थाओंका चतुर्विध स्तर-विभाग एवं परंपरा विद्यार्थी गृहस्थ वानप्रस्थ और स्वतंत्र समाजातीत मनुष्य। यह ढांचा व्यापक और उदात्त जीवन-विधानकी ये प्रणालियां इस सभ्यताके परवर्ती वैदिक एवं गौरवपूर्ण युगमें अपनी मूल अवस्थामें कठोरता और सुविधाके अपने महान् स्वाभाविक संतुलनके साथ और अपने अंतर-सफल रूपमें बराबर जीवित रहीं इसके बाद ये धीरे-धीरे ग्रहण लगी अथवा अपनी पूर्णता एवं व्यापकता खो बैठी। परंतु परंपरा एवं मूल विचार अपनी शक्तिके किसी व्यापक प्रभाव तथा अपनी प्रणालियोंके किसी रूपके साथ सांस्कृतिक मानसिकताके संपूर्ण युगमें स्थायी रूपसे बना रहा। अपने सच्चे रूप और भावसे यह चाहे कितना भी दूर क्यों न हट गया हो क्षत-विक्षत और जटिल होकर चाहे कितना ही निकृष्ट क्यों न हो गया हो फिर भी उसकी प्रेरणा और शक्तिकी कुछ उपस्थिति सदा ही बनी रही। केवल ह्रासके समय ही हम अंदर पतन लोकाचारोंका एक क्षीण और अस्तव्यस्त समूह देखते हैं जो अतीतके प्राचीन और उदात्त आर्य प्रणालीका प्रतिनिधित्व करनेका प्रयास करता है पर चमक-दमक और सौंदर्यके स्मृति-चिह्नोंके होते हुए भी आध्यात्मिक शक्तियोंके जीवित रहते हुए भी और प्राचीन उच्च शिक्षणका अवशेष तथा उत्साह भी यह एक धीमी-सी झांकी या फिर अस्तव्यस्त प्रभावशीलताके देखने कोई अच्छी चीज नहीं है। किंतु इस पतनकी स्थितिमें भी प्राचीन सौंदर्य आकर्षण और जीवन-रक्षाकी

सामर्थ्यके विलक्षण अवशेषको सुरक्षित रखनेके लिये मूल गुण काफी मात्रामें बचा हुआ है।

परतु इस सस्कृतिकी एक अन्य एव अधिक सीधी आध्यात्मिक क्रियाको जो मोड दिया गया है वह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योकि, उसीने सदा जीवित रहकर भारतीय मन और जीवनको स्थायी रूपसे रगे रखा है। रूपोके प्रत्येक परिवर्तनके पीछे वह सदा ही ज्योका त्यो बना रहा है और सभ्यताके सभी युगोमें उसने अपनी प्रभावशालिताको फिर-फिर ताजा किया है और अपने क्षेत्रपर अधिकार बनाये रखा है। सास्कृतिक प्रयासके इस दूसरे पहलूने सारेके सारे जीवनको धार्मिक साचेमें ढालनेके प्रयत्नका रूप ग्रहण किया, इसने ऐसे ऐसे साधनो और उपायोको बढाया जो अपने आग्रहपूर्ण सुझाव और सुयोग तथा अपने बडे भारी प्रभावके द्वारा सपूर्ण जीवनपर ईश्वरोन्मुख प्रवृत्तिकी छाप लगानेमें सहायक हो। भारतीय सस्कृति जीवन-सबधी एक धार्मिक विचारपर प्रतिष्ठित थी और व्यक्ति तथा समाज दोनोने ही प्रतिक्षण इसके प्रभावामृतका पान किया। प्रशिक्षण और शिक्षा-पद्धतिके द्वारा उनपर इसकी छाप लगायी जाती थी, जीवनका सपूर्ण वायुमडल, समाजकी समस्त परिस्थितिया इससे ओतप्रोत थी, यह सस्कृतिके सपूर्ण मौलिक विधि-विधान और क्रमबद्ध स्वरूपमें अपनी शक्ति फूकता था। बराबर ही आध्यात्मिक जीवनके अतरग विचार और उसकी प्रधानताको अन्य सबसे अधिक ऊचे एक आदर्शके रूपमें अनुभव किया जाता था, इस विचारका प्रबल प्रभाव सभी जगह व्याप्त था कि यह जगत् भागवत शक्तियोकी अभिव्यक्ति है तथा भगवान्‌की उपस्थितिसे परिपूर्ण एक व्यापार है। स्वय मनुष्यको कोई निरा तर्कशील प्राणी नही बल्कि एक अतरात्मा माना जाता था जिसका ईश्वर तथा दिव्य वैश्व-शक्तियोके साथ अटूट सबध बना रहता है। अतरात्माके अविच्छिन्न अस्तित्वको एक जन्मसे दूसरे जन्ममें होनेवाला चक्राकार या ऊर्ध्वमुख विकास माना जाता था, मानव-जीवन एक ऐसे विकासका शिखर था जिसकी समाप्ति चिन्मय आत्मामें होती थी, इस जीवनकी प्रत्येक अवस्थाको विकासात्मक यात्राका एक-एक पग माना जाता था। मनुष्यका हरएक काम चाहे भावी जन्मोमें या भौतिक जीवनसे परेके लोकोमें मिलनेवाले अपने फलके लिये महत्त्व रखता था।

परतु भारतीय धर्म इन विचारोके सामान्य दबाव, अर्थात् शिक्षण, वातावरण तथा सस्कृतिपर पडनेवाली छापसे ही सतुष्ट नही हो गया। उसने मनपर प्रतिक्षण और प्रत्येक ब्यौरेमें धार्मिक प्रभाव अकित करनेका अनवरत प्रयत्न किया। और एक सजीव एव क्रियात्मक सामजस्य-सपादनके द्वारा अधिक प्रभावशाली ढगसे यह कार्य करनेके लिये उसने किसी व्यक्तिसे उसकी शक्तिकी अपेक्षा बहुत अधिक या बहुत कम माग नही की बल्कि मनुष्यकी विभिन्न स्वाभाविक क्षमता, अर्थात् अधिकार, के सबधमें अपने अनुभवको अपना मार्गदर्शक विचार बनाया। उसने अपनी प्रणालीमें ऐसे साधन प्रस्तुत किये जिनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य, वह चाहे उच्च हो या नीच, ज्ञानी हो या अज्ञानी, असामान्य हो या सामान्य, अपनी प्रकृति और विकासावस्थाके उपयुक्त तरीकेसे पुकार, दबाव एव प्रभावको अनुभव कर

विकसित, दोषयुक्त एव अपूर्ण प्रकृतिकी सभावनाओसे बहुत ही परेका होता है। इस मान-दड एव इस पुकारको इस प्रकार उद्घोषित किया जाता है मानो ये सभीके लिये अपरिहार्य हो, किंतु यह स्पष्ट ही है कि बहुत ही कम लोग इनका पर्याप्त रूपमें प्रत्युत्तर दे सकते है। जीवनका सपूर्ण चित्र खडा करनेके लिये हमारी दृष्टिके सम्मुख दो छोर उपस्थित किये जाते है जो एक-दूसरेसे स्पष्टतया भिन्न होते है, सत और ससारी, धार्मिक और अधार्मिक, भले और बुरे, पुण्यात्मा और पापी, स्वीकृत आत्माए और परित्यक्त आत्माए, सज्जन और दुर्जन, रक्षित और दडित, आस्तिक और नास्तिक—ये दो श्रेणिया है जो निरतर हमारे सामने उपस्थित की जाती है। इन दोनोंके बीचमें है बस केवल अस्तव्यस्तता, रस्साकशी एव अनिश्चित सतुलन। यही स्थूल और सक्षिप्त वर्गीकरण नित्य स्वर्ग और नित्य नरक-रूपी क्रिश्चियन धर्मप्रणालीका मूल आधार है, अच्छेसे अच्छे रूपमे भी, कैथलिक धर्म दया-पूर्वक नौ-दशमाशसे भी अधिक मानवजातिके लिये उस सुखद और इस भीषण विकल्पके बीच अधरमें झूलनेवाला एक अनिश्चित अवसर, एक दु खदायी पापमोचनालयकी सभावना उपस्थित करता है। भारतीय धर्मने अपने शिखरोपर एक और भी उत्तुग आध्यात्मिक पुकार स्थापित की, आचार-व्यवहारका एक और भी पूर्ण एव अखड मानदड स्थापित किया, परतु उसने इस सरसरी और विचारशून्य अज्ञानके साथ अपना कार्य करनेका प्रयत्न नही किया। भारतीय मनके लिये सभी जीव भगवान्‌के अश है, विकासपरायण अतरात्माए है और अतमें आत्माके भीतर ससारसे छुटकारा और मोक्ष प्राप्त करना निश्चित है। ज्यो-ज्यो मनुष्योमें विद्यमान 'शुभ'-तत्त्व विकसित होता जायगा या, अधिक ठीक रूपमें, ज्यो-ज्यो उनका अतरस्थित देवत्व अपने-आपको प्राप्त करता और सचेतन होता जायगा त्यो-त्यो सब लोग अपनी उच्चतम सत्ताका चरम स्पर्श और उसकी पुकार अवश्य अनुभव करेंगे और उस पुकारके द्वारा सनातन एव भगवान्‌की ओर आकर्षण भी। परतु वस्तुत जीवनमें मनुष्य-मनुष्यके बीच अनत भेद है, कुछ लोग तो आतरिक रूपसे अधिक विकसित है और दूसरे कम परिपक्व है, अधिकतर नही तो बहुत-से लोग अध्यात्म-दृष्टिसे शिशु है जो बडे कदम उठाने और कठिन प्रयत्न करनेके लिये अयोग्य है। प्रत्येकके साथ उसकी प्रकृति और उसकी आत्मिक उच्चताके अनुसार बरताव करनेकी आवश्यकता होती है। पर उन तीन मुख्य श्रेणियोमें एक सामान्य भेद किया जा सकता है जो आध्यात्मिक पुकार या धार्मिक प्रभाव या आवेगकी ओर अपनी उन्मुखतामें एक-दूसरेसे भिन्न है। इस भेदका अर्थ विकसित होती हुई मानव-चेतनाकी तीन अवस्थाओका क्रम ही है। पहली श्रेणीका मनुष्य स्थूल, अनगढ, अभीतक बहिर्मुख और अभीतक प्राण-प्रधान एव देहप्रधान मनवाला होता है और उसे अपने अज्ञानके उपयुक्त उपायोंसे ही परिचालित किया जा सकता है। दूसरी श्रेणीका मनुष्य अत्यधिक प्रबल एव गभीर चैत्य-आध्यात्मिक अनुभवके योग्य होता है और मनुष्यत्वका एक ऐसा परिपक्वतर रूप प्रस्तुत करता है जो अधिक सचेतन बुद्धि और विस्तृततर प्राणिक या

सौंदर्योन्मुख उद्घाटनसे तथा प्रकृतिकी एक व्यापकतर नैतिक शक्तिसे संपन्न होता है। तीसरी श्रेणीका अर्थात् सर्वाधिक परिपक्व एवं विकसित मनुष्य आध्यात्मिक ऊँचाइयोंतक पहुँचनेके लिये तैयार होता है परमेश्वरके और अपनी सत्ताके उच्चतम चरम सत्यको ग्रहण करने या उस ओर आरोहण करने तथा दिव्य अनुभवके शिखरोंपर पग रखनेके योग्य होता है।[1]

इनमेंसे प्रथम प्रकार या स्तरकी मांगको पूरी करनेके लिये ही भारतीय धर्मने शक्तिपूर्ण संस्कार-समारोह और प्रभावशाली क्रिया-कांड तथा कठोर बाह्य नियम एवं आदेशके उस सघातको तथा आकर्षक एवं विस्मयकारी प्रतीकोंके उस समस्त समारोहको जन्म दिया था जिसके द्वारा यह धर्म प्रणाली इतने समृद्ध रूपसे संपन्न या विपुल रूपसे विभूषित है। ये संस्कार आदि अधिकांशमें निर्माणकारी और सांकेतिक वस्तुएं हैं जो मनपर उसकी जाग्रत और अवचेतन अवस्थामें क्रिया करती हैं और उसे इन वस्तुओंके पीछे अवस्थित महत्तर शाश्वत वस्तुओंका मर्म समझनेके लिये तैयार करती है। और इस श्रेणीके लिये ही इसके प्रारंभिक मन और इच्छाशक्तिके लिये ही धर्मका वह सब भाग अभिप्रेत है जो मनुष्यको उसकी कामनाओं और स्वार्थोंकी उचित—न्याय और नियम अर्थात् धर्मके अधीन होनेके कारण उचित—पूर्तिके हित मानवेतर शक्ति या दैवी शक्तियोंकी ओर मुड़नेके लिये आदेश देता है। वैदिक कालमें बाह्य आनुष्ठानिक यज्ञ और बादके युगमें वे सभी धार्मिक आचार और विचार जो मंदिरकी पूजाकी रीतियों और प्रतिमाओं तथा नित्य होनेवाले पर्व-उत्सव और संस्कार, एवं बाह्य आराधनाके दैनिक कर्मके चारों ओर प्रत्यक्ष रूपमें जमा हो गये थे इस श्रेणी या इस आरंभिक स्थितिकी आवश्यकताको पूरा करनेके लिये ही अभिप्रेत थे। इनमेंसे बहुत-सी चीजें विकसित मनवाले व्यक्तिको अज्ञानपूर्ण एवं अर्ध-प्रबुद्ध धर्मवादसे संबद्ध प्रतीत हो सकती हैं परंतु इनके अंदर भी इनका अपना एक गुप्त सत्य निहित है तथा इनका अपना आंतरात्मिक मूल्य भी है और यह प्रकृतिके अज्ञानमें रुकी हुई अंतरात्माके विकास और कठिन आरोहणके लिये ये इस अवस्थामें अनिवार्य भी हैं।

बीचका स्तर, दूसरा प्रकार भी इन्हीं चीजोंसे आरंभ करता है पर वह इनकी तहमें भी जाता है वह उन आंतरात्मिक सत्यों धार्मिक परिकल्पनाओं सौंदर्यबोधात्मक संकेतों नैतिक

---

[1] तंत्रके अनुसार यह भेद इस प्रकार है पशुवृत्ति मनुष्य वीर मनुष्य और दिव्य मनुष्य पशु, वीर, देव। अथवा हम इस भेद-क्रमका वर्णन तीन गुणोंके अनुसार भी कर सकते हैं—पहला तामसिक या राजस-तामसिक मनुष्य जो अज्ञ और जड़ होता है या फिर केवल एक क्षुद्र प्रकाशमें ही छोटी-छोटी चालक शक्तियोंसे प्रेरित होता है दूसरा राजसिक या सात्त्विक-राजसिक मनुष्य जो जागरित मन और संकल्पद्वारा आत्मविकास या आत्मस्थापनके लिये संघर्ष करता है और तीसरा सात्त्विक मनुष्य जो अपने मन हृदय और इच्छाशक्तिमें प्रकाशकी ओर खुला होता है, सीढ़ीके अंतिम सोपानपर खड़ा हुआ उसे पार करनेके योग्य होता है।

मूल्यो तथा बीचमें आनेवाली अन्य सभी दिशाओको अधिक स्पष्ट और सचेतन रूपसे समझने-में समर्थ होता है जिन्हे भारतीय धर्मने बडी सावधानीके साथ अपने प्रतीकोंके पीछे रखा था। ये बीचके सत्य इस धर्मप्रणालीके बाह्य आचारोमें जीवनका सचार करते है और जो लोग इन्हे पकड पाते है वे इन मानसिक सकेतोके द्वारा मनके परेकी चीजोकी ओर जा सकते है तथा आत्माके गभीरतर सत्योके निकट पहुच सकते है। क्योकि, इस अवस्थामें कोई ऐसी चीज जाग चुकी होती है जो भीतर अधिक गहरे चैत्य-धार्मिक अनुभवकी ओर जा सकती है। मन, हृदय और इच्छाशक्ति आत्मा और जीवनके बीचके सबधोकी कठि-नाइयोका सामना करनेके लिये कुछ सामर्थ्य प्राप्त कर चुके होते है, बौद्धिक, सौंदर्यात्मक और नैतिक प्रकृतिको अधिक प्रकाशपूर्ण या अधिक आभ्यतरिक रूपसे तृप्त करने और ऊपर उनकी अपनी उच्चतम ऊचाइयोकी ओर ले जानेके लिये कुछ आवेग भी वे आयत्त कर चुकते है, अब मनुष्य मन और अतरात्माको आध्यात्मिक चेतनाकी ओर जाने तथा आध्या-त्मिक जीवनके प्रति खुलनेके लिये शिक्षित करना आरभ कर सकता है। मानवताकी यह ऊपर उठनेवाली श्रेणी अपने उपयोगके लिये दार्शनिक, चैत्य-आध्यात्मिक, नैतिक, सौंदर्यात्मिक और भावमय धार्मिक अन्वेषणके उस समस्त विशाल एव समृद्ध मध्य स्तरकी माग करती है जो भारतीय सस्कृतिके ऐश्वर्यका अधिक विस्तृत एव महत्त्वपूर्ण भाग है। इसी अवस्थामें विचारकोंके दर्शन-शास्त्रो, सूक्ष्म प्रकाशप्रद तर्क-वितर्कों और अनुसधानोका उदय होता है, इसी-में भक्तिकी अधिक उदात्त या अधिक प्रगाढ भूमिकाए होती है, यही 'धर्म' के उच्चतर, बृहत्तर या कठोरतर आदर्शोंकी प्रस्थापना की जाती है, यही सनातन एव अनतके आतरात्मिक निर्देश एव प्रथम सुनिश्चित प्रेरणाए फूट निकलती है जो अपनी पुकार और आश्वासनके द्वारा मनुष्योको योगाभ्यासकी ओर आकृष्ट करती है।

परतु ये चीजें महान् होनेपर भी अतिम या सर्वोच्च नही थी ये आध्यात्मिक सत्यके ज्योतिर्मय वैभवोकी ओर उद्घाटन थी, उनकी ओर आरोहणके सोपान थी, परतु उस सत्य-की साधनाको मनुष्यकी तीसरी एव सबसे महान् श्रेणी, आध्यात्मिक विकासकी तीसरी उच्च-तम अवस्थाके लिये प्रस्तुत रखा जाता था और उसकी प्राप्तिके साधन भी उसे प्रदान किये जाते थे। आध्यात्मिक ज्ञानकी पूर्ण ज्योति जो उस समय प्रकट होती है जब वह ज्ञान आवरण और समझौतेकी अवस्थासे बाहर निकलकर समस्त प्रतीको और मध्यवर्ती अर्थोसे परे चला जाता है, पूर्ण और सार्वभौम दिव्य प्रेम, सर्व-सुदरकी सुदरता, सर्व भूतोके साथ एकता-का श्रेष्ठतम धर्म, विश्वजनीन करुणा और हितैषिता जो आत्माकी पूर्ण पवित्रतामें प्रशात और मधुर हो, चैत्य सत्ताका आध्यात्मिक हर्षावेशमें हिलोरे खाना,—ये दिव्यतम वस्तुए देवत्वके लिये तैयार हुए मनुष्यकी विरासत थीं और इनका मार्ग और आह्वान ही भारतीय धर्म और योगके परमोच्च अर्थ थे। इनके द्वारा वह अपने पूर्ण आध्यात्मिक विकासके फल अर्थात् आत्मा एव अध्यात्मसत्ताके साथ तादात्म्य, भगवान्में या उनके साथ निवास, अपनी सत्ताका दिव्य

विधान आध्यात्मिक विश्वात्मभाव अंतर्निमज्जन और परात्पर स्थिति प्राप्त करता था।

परंतु भेदोंकी रेखाएं ऐसी होती हैं जिन्हें मानव-प्रकृतिकी अनंत जटिलतामें सदा ही पार किया जा सकता है और वास्तवमें वहां कोई ऐसा तीव्र भेद नहीं था जिसे दूर न किया जा सके वह तो केवल एक क्रम था क्योंकि ये तीनों शक्तियां सभी मनुष्योंके अंदर अपने प्रकट या संभाव्य रूपमें एक साथ ही रहती है। मध्यवर्ती और उच्चतम अर्थ दोनों ही निकट और उपस्थित थे तथा संपूर्ण प्रणालीमें व्यापे हुए थे और कुछ प्रतिबंधोंके होते हुए भी उच्चतम स्थितितक पहुंचनेके मार्ग किसी भी मनुष्यके लिये पूर्ण रूपसे बंद नहीं किये गये थे व्यवहारमें ये प्रतिबंध टूट जाते थे या फिर जो मनुष्य पुकार अनुभव करता था उसके निकलनेके लिये मार्ग छोड़ देते थे स्वयं पुकार ही बुलावेका चिह्न होती थी। उसे केवल मार्ग और गुरुकी खोज करनी होती थी। परंतु मार्ग सीधा होनेपर भी अधिकार अर्थात् विभिन्न क्षमता और नानाविध प्रकृति अर्थात् स्वभावका सिद्धांत सूक्ष्म रूपोंमें स्वीकार किया जाता था जिसका वर्णन करना मेरे वर्तमान उद्देश्यके बाहर है। उदाहरणके तौरपर हम भारतके इष्ट-देवता-संबंधी अर्थपूर्ण विचारको ले सकते हैं इष्ट देवताका मतलब है भगवान् का कोई विशेष नाम रूप एवं भावना जिसे प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृतिमें विद्यमान आकर्षण और अपनी आध्यात्मिक बुद्धिकी सामर्थ्यके अनुसार अपने पूजन और अंतर्मिलनके लिये चुन सकता और पानेकी चेष्टा कर सकता है। और भगवान्‌के ऐसे रूपोंमेंसे प्रत्येक रूप उपासकके लिये अपने बाह्य प्रारंभिक अर्थ और संकेत रखता है उसकी बुद्धिके प्रति तथा उसकी प्रकृतिकी भावात्मक सौंदर्यग्राही और भाविक शक्तिके प्रति अपना एक आकर्षण और इसके साथ ही अपना एक सर्वोच्च आध्यात्मिक अर्थ रखता है जो देवाधिदेवके किसी एक सत्यके द्वारा आध्यात्मिकताके सारतत्त्वके भीतर ले जाता है। हम इस बातको भी ध्यानमें रख सकते हैं कि योगकी साधनामें शिष्यको उसकी प्रकृतिके द्वारा तथा उसकी क्षमताके अनुसार ही ले चलना होता है और आध्यात्मिक गुरु एवं मार्गदर्शकसे यह आशा की जाती है कि वह अपनी सहायता एवं मार्ग-निर्देश देते समय आवश्यक स्तरोंको और वैयक्तिक आवश्यकता तथा सामर्थ्यको देखेगा और उन्हें ध्यानमें रखेगा। इस विशाल और नमनशील प्रणालीकी वास्तविक कार्य-शैलीकी अनेक वस्तुओंपर आपत्ति की जा सकती है और उनपर मैं उस समय कुछ दृष्टिपात करूंगा जब मुझे इस संस्कृतिकी दुर्बलताओं या इसके निषेधात्मक पक्षपर विचार करना होगा जिसपर प्रतिपक्षी आलोचक भ्रामक अतिरंजनके साथ बराबर वार करता है। परंतु इस प्रणालीका मूल सिद्धांत और इसके प्रयोगकी मुख्य रूप-रेखाएं ऐसी विस्मयकर बुद्धिमत्ता मानव-प्रकृतिके ऐसे ज्ञान तथा सतर्क निरीक्षणका और आत्मिक विषयोंमें पैठनेवाली ऐसी असंदिग्ध अंतर्दृष्टिका मूर्त रूप है जिसपर ऐसा कोई भी व्यक्ति संदेह नहीं कर सकता जिसने इन कठिन विषयोंपर गहराईके साथ और पूर्वाग्रहके बिना विचार किया है अथवा हमारी प्रकृतिकी उन बाधाओं और संभावनाओंका घनिष्ठ अनुभव

प्राप्त किया है जो गुप्त आध्यात्मिक तत्त्वकी ओर जाते समय उसके मार्गमें प्रकट होती है।

धार्मिक विकास और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिको इस सावधानतया क्रमबद्ध एव जटिल प्रणालीको एक सर्वत्र फैलनेवाले घनिष्ठ नवधर्मी प्रक्रियाके द्वारा मनुष्यके जीवन तथा उसकी क्षमताओंकी उस सामान्य अभिवृद्धिके साथ जोड दिया गया था जिसे ऐसी प्रत्येक सभ्यताका जो अपने नामकी अधिकारिणी है प्रथम ध्येय होना चाहिये। मानव-विकासके इस कार्यका अत्यत कोमल एव कठिन भाग मनुष्यकी चिंतनशील सत्ता, अर्थात् उसके तर्कशील एव ज्ञानात्मक मनसे सबध रखता है। किसी भी प्राचीन सस्कृतिने, जिसकी हमे जानकारी है, यहातक कि यूनानी सभ्यताने भी नही, उसे भारतीय सस्कृतिकी अपेक्षा अधिक महत्त्व नही दिया और न इसके उत्कर्षके लिये उसमे अधिक प्रयत्न ही किया। प्राचीन ऋषियोका काम केवल परमेश्वरको जानना ही नही बल्कि जगत् और जीवनको जानना तथा ज्ञानके द्वारा इन्हे एक ऐसी सुविज्ञात एव आयत्त वस्तु बना देना भी था जिसके साथ मनुष्यकी तर्कबुद्धि और इच्छाशक्ति एक सुनिश्चित रूपरेखाके अनुसार और एक ज्ञानपूर्ण विधि एव व्यवस्थाके सुरक्षित आधारपर बरताव कर सके। इन प्रयासका परिपक्व फल था शास्त्र। आजकल जब हम शास्त्रका नामोल्लेख करते है तो प्राय ही हमारा अभिप्राय विधि-विधानोकी उस मध्ययुगीन धर्म्य-सामाजिक प्रणालीसे ही होता है जिसे पौराणिक कथाओके द्वारा मनु, पराशर तथा अन्य वैदिक ऋषियोंसे सबद्ध बतलाकर अत्यत पवित्र रूप दे दिया जाता है। परतु प्राचीनतर भारतमे 'शास्त्र' शब्दका अर्थ था कोई भी प्रणालीबद्ध शिक्षा एव विज्ञान, जीवनके प्रत्येक विभाग, कार्य-कलापकी प्रत्येक शाखा तथा ज्ञानके प्रत्येक विषयका अपना विज्ञान या शास्त्र होता था। इस प्रयासका उद्देश्य यह था कि इनमेसे प्रत्येकको एक ऐसी सैद्धातिक और व्यावहारिक परिपाटीमें परिणत कर दिया जाय जो पुङ्खानुपुङ्ख निरीक्षण, यथार्थ सामान्यीकरण, पूर्ण अनुभव और अतर्ज्ञानमूलक, तार्किक एव परीक्षणात्मक विश्लेषण और सश्लेषणपर आधारित हो जिससे कि मनुष्य सदा ही इन्हे जीवनके लिये समुचित उपयोगिताके साथ जान सके और फिर यथार्थ ज्ञान-मूलक सुनिश्चितताके साथ कार्य भी कर सके। छोटीसे छोटी और बडीसे बडी चीजोकी छानबीन एक जैसी सतर्कता और सावधानताके साथ करके प्रत्येककी अपनी कला एव विद्या प्रस्तुत की जाती थी। यहातक कि उच्चतम अध्यात्म-ज्ञानको भी, जब कभी उसका प्रतिपादन उपनिषदोंकी भाति अतर्ज्ञानात्मक अनुभव और सत्य-प्रकाशक ज्ञानकी राशिके रूपमें नही वरन् बुद्धिसे समझनेके लिये एक नियम और क्रमके साथ किया जाता था, शास्त्रके नामसे ही पुकारा जाता था,—और इसी अर्थमें गीता अपनी गहन आध्यात्मिक शिक्षाको अत्यत गुह्य विज्ञान, **गुह्यतम शास्त्रम्**का नाम देनेमें समर्थ हुई है। इस उच्च वैज्ञानिक एव दार्शनिक भावनाको प्राचीन भारतीय सस्कृतिने अपनी सभी कार्य-प्रवृत्तियोंमें सचारित किया था। कोई भी भारतीय धर्म अपनी प्रारंभिक अभ्यासकी बाह्य प्रणाली, अपने आधारभूत दर्शन और अपने योग या आतरिक साधना-पद्धति, या अध्यात्म-जीवन यापन

करनेकी कलाके बिना पूर्ण नहीं होता; उसके अंदर जो कुछ प्रथम दृष्टिमें अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है उसका भी अधिकांश अपना दार्शनिक रूप और अर्थ रखता है। इसी पूर्ण बोध एवं दार्शनिक स्वरूपने भारतमें धर्मको इसकी स्थायी सुरक्षा और अमित जीवन-शक्ति प्रदान की है और इसे आधुनिक संदेहवादी छानबीनकी तेजाब-सी दाहक शक्तिका प्रतिरोध करनेमें समर्थ बनाया है; जो चीज अनुभव और तर्कबुद्धिपर सम्यक् प्रतिष्ठित नहीं है उसी-का यह शक्ति गला सकती है न कि इन महान् सिद्धान्तोंके मर्म और विचारको। परन्तु जो चीज हमें अपवादरूप विशेष रूपसे देखनी है वह यह है कि यद्यपि भारतीय संस्कृतिने परा और अपरा विद्या, वस्तुओंके ज्ञान तथा आत्माके ज्ञानमें भेद किया था तथापि उसने कुछ धर्मोंकी भांति उनके बीच खाई नहीं तैयार की थी, बल्कि जगत् और वस्तुओंके ज्ञानको उसने आत्मा और ईश्वरके ज्ञानका एक प्रारंभिक सोपान तथा उस ओर मार्ग निर्देश करने-वाला पथ माना था। सभी शास्त्रोंपर ऋषियोंके नामोंकी छाप लगायी जाती थी जो ऋषि कि प्रारंभमें केवल आध्यात्मिक सत्य और दर्शनके ही नहीं बल्कि कलाओं, सामाजिक, राज-नीतिक, सामरिक, भौतिक और औतरासिक विज्ञानोंके भी गुरु होते थे और प्रत्येक शिक्षक अपनी-अपनी भाषामें गुरु या आचार्य अर्थात् मानव आत्माके मार्गदर्शक या उपदेष्टाके रूपमें सम्मानित होता था—और यह बात ध्यान देने योग्य है कि समस्त भारतीय दर्शनका यहां-तक कि न्यायशास्त्रके तर्क और वैशेषिकोंके अणु-सिद्धान्तका भी उच्चतम मूर्धन्य स्वर एवं अंतिम लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान और मोक्ष ही है। सभी ज्ञानोंको चुनकर एक बना दिया गया था और उन्हें क्रमशः एकमात्र उच्चतम ज्ञानतक पहुंचाया गया था।

इस ज्ञानपर प्रतिष्ठित जीवनका संपूर्ण समुचित व्यवहार भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिमें 'धर्म' कहलाता था अर्थात् आत्म-विकासके जगत् और जीवन-संबंधी ज्ञान तथा उस ज्ञानकी अवस्थामें किये गये कर्मके यथार्थ बोध (ज्ञान) और समुचित दृष्टिके अनुसार जीवन-यापन कहलाता था। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य वर्ग जाति और उपजातिका तथा अंतरात्मा मन प्राण एवं शरीरकी प्रत्येक क्रियाका अपना धर्म होता है। परंतु धर्मका सबसे बड़ा या कम-से-कम अत्यंत आवश्यक और अत्यधिक आग्रहपूर्ण भाग मनुष्यकी नैतिक प्रकृतिका समुन्नत और सुव्यवस्थित करना ही माना जाता था। जीवनका नैतिक भाग एक प्रकारसे आलो-चकोंके आश्चर्यजनक अज्ञानपूर्ण मंतव्यके विपरीत उन भारतीय विचारों और कृतियोंका ध्यान काफी विपुल परिमाणमें आकृष्ट करता था एवं उनका एक बहुत बड़ा भाग होता था जो शुद्ध ज्ञान और आत्माके विषयोंकी चर्चा नहीं करती थी और उसे इतनी दूरतक ले जाया जाता था कि ऐसी कोई नैतिक धारणा या आदर्श नहीं जो इसमें अपनी परिकल्पनाके उच्च-तम शिखरपर एवं आदर्श आचरणकी एक प्रकारकी दैवी चरम सीमापर न पहुंच जाय। भारतीय विचार मनुष्यकी नैतिक प्रकृति और जगत्के नैतिक नियमको सत्यके रूपमें स्वीकार करता था—यद्यपि कुछ इससे उलटी विचित्र कल्पनाएं भी की गयी हैं। वास्तवमें भार

तीय विचार यह मानता था कि अपनी कामनाओंको तृप्त करना मनुष्यके लिये उचित है, क्योंकि यह जीवनकी तुष्टि और इसके विस्तारके लिये आवश्यक है, किंतु अपनी सत्ताके विधानके रूपमें कामनाके आदेशोंका पालन करना उसके लिये उचित नहीं, क्योंकि सभी चीजोंमें एक महत्तर विधान है, प्रत्येकका केवल अपना स्वार्थ ('अर्थ') और कामनाका पहलू ही नहीं है बल्कि अपने यथार्थ व्यवहार, यथार्थ तुष्टि, विस्तार और व्यवस्थाका एक धर्म या नियम भी है। अतएव शास्त्रमें ज्ञानियोंके द्वारा नियत किया हुआ धर्म आचरण करनेके लिये यथार्थ विधान है, कर्मका सच्चा नियम है। धर्मके जटिल जालमें सबसे पहले आता है सामाजिक विधान, क्योंकि मनुष्यका जीवन केवल प्रारंभिक रूपमें ही उसके अपने प्राणिक, वैयक्तिक, विशिष्ट 'स्व' के लिये है, पर कहीं अधिक अनिवार्य रूपमें तो वह समष्टिके ही लिये है, यद्यपि, सर्वाधिक अनिवार्य रूपमें, वह उसके तथा सब भूतोंके अंदर विद्यमान एक ही महत्तम आत्माके लिये है, ईश्वर एवं परमात्माके लिये है। अतएव सबसे पहले व्यक्तिको चाहिये कि वह अपने-आपको समाज-सत्ताके अधीन कर दे, यद्यपि वह किसी भी प्रकार उसमें अपने-आपको पूर्ण रूपसे मिटा देनेके लिये बाध्य नहीं है जैसा कि समाजवादी विचारके चरम समर्थक समझते हैं। उसे अपनी प्रकृतिके विधानको अपने सामाजिक वर्ण एवं श्रेणीके विधानके साथ समस्वर करके राष्ट्रके लिये जीवन यापन करना चाहिये और अपनी सत्ताके उच्चतर स्तरमें मानवजातिके हितार्थ जीवन बिताना चाहिये, जिसपर बौद्धोंने अत्यधिक बल दिया था। इस प्रकार जीवन यापन और कर्म करता हुआ वह धर्मके सामाजिक मानदंडको अतिक्रम करना सीख सकता है और जीवनके आधारको आघात पहुंचाये बिना आदर्श मानदंडका अनुसरण करता हुआ अंतमें आत्माकी स्वतंत्रतामें विकसित हो सकता है, जब कि नियम और कर्त्तव्य बंधनरूप नहीं होंगे क्योंकि तब वह दिव्य प्रकृतिके उच्चतम स्वतंत्र और अमर धर्ममें विचरेगा और कर्म करेगा। धर्मके ये सब रूप एक विकसनशील एकताके सूत्रमें एक दूसरेके साथ घनिष्ठ रूपसे जुड़े हुए थे। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, चारों वर्णोंमेंसे प्रत्येकका अपना सामाजिक कार्य और आचार-नियम होता था, पर साथ ही शुद्ध नैतिक सत्ताके विकासके लिये एक आदर्श नियम भी होता था, और प्रत्येक मनुष्य अपने धर्मका पालन करके तथा अपने कर्मको भगवान्की ओर मोड़कर उसके परे आध्यात्मिक स्वातंत्र्यकी ओर विकसित हो सकता था। परंतु समस्त धर्म और नैतिकताके पीछे, रक्षा-साधनके रूपमें ही नहीं वरन् प्रकाशके रूपमें भी, धार्मिक प्रमाणकी स्थापना की जाती थी और जीवन-प्रवाहकी अविच्छिन्नता, मनुष्यकी अनेक-जन्म-व्यापी लंबी तीर्थयात्रा और देवताओं, परेके लोकों तथा भगवान्के अस्तित्वका स्मरण कराया जाता था और, इन सबसे बढ़कर, पूर्ण ज्ञान और एकत्व तथा दिव्य परात्परताकी अंतिम अवस्थाकी झांकी प्रस्तुत की जाती थी।

प्राचीन मनकी उदारताके कारण विशाल रूप धारण करके भारतीय नीतिशास्त्रने, वैराग्यकी बढ़ती हुई प्रवृत्ति और पराकाष्ठाको पहुंची हुई एक प्रकारकी उच्च तपस्याके होते

हुए भी मनुष्यकी सौंदर्यप्रिय या यहांतक कि सुखभोगवादी सत्तापर भी कोई रुकावट नहीं लगायी और न प्रबल रूपमें उसे निरुत्साहित ही किया। सब प्रकारकी और सब कोटियोंकी सौंदर्यविषयक तृप्ति संस्कृतिका आवश्यक अंग थी। काव्य नाटक गीत नृत्य और संगीतको बड़ी और छोटी सभी कलाओंको ऋषियोंके द्वारा प्रमाणित रूपमें प्रस्तुत किया गया था और आत्माके उत्कर्षके साधनोंका रूप दिया गया था। एक न्यायसंगत सिद्धान्त उन्हें प्राथमिक रूपमें शुद्ध रसात्मक तृप्तिके साधन मानता था और प्रत्येक अपने आधारभूत नियम और विधानपर प्रतिष्ठित थी किंतु फिर भी उस आधारपर और उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए प्रत्येकको इतना ऊंचा उठा दिया गया था कि वह सत्ताकी बौद्धिक नैतिक और धार्मिक उन्नतिमें सहायक हो सके। यह ध्यान देने योग्य बात है कि दो बृहत् भारतीय महाकाव्योंको उतना ही धर्मशास्त्र भी माना गया है जितना कि महान् 'इतिहास' अर्थात् ऐतिहासिक-पौराणिक काव्यात्मक गाथा। तात्पर्य यह कि वे जीवनके श्रेष्ठ, सजीव और शक्तिशाली चित्र हैं किंतु उनमें आदिसे अंततक जीवनगत महान् और उच्च नैतिक एवं धार्मिक भावनाके नियम और आदर्शका उद्गार एवं उच्छ्वास भरा पड़ा है और अपने उत्तम भागमें वे रूपमें वे भगवान्-संबंधी विचारको और जगत्के कर्ममें संलग्न आरोहणशील अंतरात्माके मार्गको ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। भारतीय चित्रकला मूर्तिविद्या और स्थापत्य ने मनुष्यके सामाजिक नागरिक और वैयक्तिक जीवनकी रसात्मक तृप्ति और व्यवहारी सेवा करनेसे इन्कार नहीं किया जैसा कि सभी प्रमाणोंसे प्रकट है ये चीजें उनके मुख्य संबंधी उद्देश्योंका बड़ा भाग थीं किंतु फिर भी उनका सर्वोच्च कार्य संस्कृतिके महत्तम आध्यात्मिक पहलूके लिये सुरक्षित था और हम देखते हैं कि वे सर्वत्र भारतीय मनके द्वारा किये गये अंतरात्मा परमेश्वर अध्यात्म-सत्ता एवं अनंतके गंभीर चिंतनके सबसे अधिक और अंतर्ज्ञान हैं। और हमें इस बातपर भी ध्यान देना होगा कि सौंदर्यप्रेमी एवं सुखभोगवादी मनका धर्म और आध्यात्मिकताका सहायक साधन बनाकर इस प्रयासके लिये उसका सत्कार उपयोग ही नहीं किया गया था बल्कि उसे परमात्माकी ओर मनुष्यकी यात्राका एक मुख्य द्वार भी बना दिया गया था। विशेषकर वैष्णव धर्म प्रेम और सौंदर्यका तथा भगवान्के अंदर मनुष्यकी संपूर्ण आनंदात्मक सत्ताकी परितृप्तिका धर्म है और यहांतक कि इसने भी दैनिक इंद्रियभाव जीवनकी कामनाओं और प्रतिमूर्तियोंका भी दिव्य आत्मानुभवके रूपमें परिणत कर दिया था। किसी ही धर्म इस असीमित उदात्तताका पहुंच पाये हैं अथवा संपूर्ण प्रकृतिको अध्यात्म-सत्ता एवं अनंतकी ओर उसकी व्यापक जीवनशक्ति और सद्गुणी तत्त्वमें इतनी उन्नतिशील ले गए है।

अंतमें आता है मनुष्यका साधारण भौतिक जीवन उसका साधारण क्रियाशील राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक अस्तित्व। इसे भी भारतीय संस्कृति अपना नाता साथ अपने हाथमें लिया और इसके संपूर्ण व्यवहार अपने आदर्शों और विचारोंका प्रभाव डाला। उसकी

पद्धति सामाजिक जीवन, कर्तव्य और उपभोग, सामरिक और राजनीतिक नियम और आचार तथा आर्थिक सुख-समृद्धिके महान् शास्त्र बनानेकी थी। इन शास्त्रोंका निर्माण एक ओर तो इन प्रवृत्तियोंकी सफलता, विस्तार और समृद्धि तथा इनके यथार्थ कौशल और सबधको लक्ष्यमें रखकर किया गया था, परतु इन लक्ष्योंपर, जिनकी प्राणप्रधान मनुष्य-का निज स्वभाव और उसके कर्मका वास्तविक स्वरूप माग करते हैं, धर्मके विधान अर्थात् कठोर सामाजिक और नैतिक आदर्श एव नियमको तथा धार्मिक कर्तव्यकी निरतर याद दिलानेवाले विधानको लागू किया गया था,—इस प्रकार प्रभुत्व और उत्तरदायित्व रखने-वाली प्रभुख सत्ताके रूपमें राजाका सपूर्ण जीवन हर एक घटे और अपने हर एक कार्यमें धर्मके द्वारा ही नियन्त्रित होता था। बादके युगमें राजकौशलसबधी मौकियावेलीके-से कूट सिद्धातने, जिसका अनुसरण सरकारें और कूटनीतिज्ञ सदासे करते आये हैं और आज भी करते हैं, इस श्रेष्ठतर प्रणालीपर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। परतु भारतीय चिंतनके सर्वोत्कृष्ट युगमें इस कलुषित नीतिको थोडे ही समयके लिये सफल होनेवाली, पर क्षुद्रतर, हीन और निकृष्ट प्रकारकी नीति कहकर इसकी निंदा की जाती थी। सस्कृतिका महान् नियम यह था कि मनुष्यका पद और अधिकार जितना ही अधिक ऊचा हो, उसके कर्तव्य-का क्षेत्र तथा उसके कार्यों एव दृष्टातका प्रभाव जितना ही अधिक विस्तृत हो, उसपर धर्म-का दावा उतना ही अधिक बडा होना चाहिये। समाजके सपूर्ण विधान और आचारके ऊपर ऋषियों और देवताओंके नामकी मुहर लगा दी गयी थी, उसे महान् व्यक्तियों और बलशालियोंके अत्याचारसे सुरक्षित रखा गया था, सामाजिक-धार्मिक स्वरूप प्रदान किया गया था और स्वय राजाको धर्मके सरक्षक और सेवकके रूपमें जीवन यापन करने तथा शासन करनेका भार सौंपा जाता था, पर उसे केवल समाजके ऊपर साधनिक अधिकार प्राप्त था जो तभीतक व्यवहार्य समझा जाता था जबतक वह निष्ठाके साथ धर्मका पालन करता था। जीवनका यह प्राणिक पहलू एक ऐसा पहलू है जो हमें बिलकुल आसानीसे आतरिक सत्तासे और जीवन यापनके दिव्यतर उद्देश्यसे दूर हटाकर बाहरकी ओर घसीट ले जाता है, अतएव इसे पग-पगपर अत्यत यत्नपूर्वक धार्मिक विचारके साथ ऐसे ढगसे सबद्ध कर दिया गया था जिसे प्राणप्रधान मनुष्य खूब अच्छी तरह समझ सकता है, वैदिक कालमें तो यह सबध प्रत्येक सामाजिक और नागरिक कार्यके पीछे यज्ञका पुन-पुन स्मरण कराके स्थापित किया जाता था और बादके युगमें धार्मिक रीति-नीतियों, सस्कारों, पूजा और अपने अदर देवोंके आवाहनके द्वारा तथा कर्मोंके भावी फलों या पारलौकिक लक्ष्यपर बल देकर। इस कार्यमें इतना अधिक मनोयोग दिया जाता था कि जहा आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा अन्य क्षेत्रोंमें चिंतन, कर्म और सृजनके लिये पर्याप्त या पूर्ण स्वाधीनता दी जाती थी, वहा इस क्षेत्रमें कठोर विधान और शास्त्रप्रमाणको लागू करनेकी प्रवृत्ति थी जो अतमें इतनी अतिरजित हो गयी कि उसने समाजको युग-भावना किंवा युगधर्मकी आवश्यकताके अधिक

अनुकूल नये आकारोंमें अपनेको विस्तारित करनेसे रोक दिया। समाजके लिये तो परिवर्तित आचार-व्यवहारकी सहज-स्वाभाविक स्वीकृतिकी व्यवस्था करके और व्यक्तिके लिये बंधनकारी नियम और आदेशके साधारण सामाजिक ताने-बानेसे बाहर उच्चतर अनुशासन या स्वातन्त्र्यसे युक्त धार्मिक जीवनको अपनानेकी छूट देकर स्वाधीनताका द्वार खुला रखा गया। सामाजिक विधानका कठोर पालन और अनुशासन धर्मके आदर्श पक्षसे सतत विशालतर एवं उत्कृष्टतर अनुशासन और स्वतन्त्रतर आत्मविकास धार्मिक और आध्यात्मिक जीवनकी व्यापक स्वतंत्रता भारतीय धर्म-प्रणालीकी तीन शक्तियां बन गयी थीं। इन शक्तियोंके द्वारा विस्तारशील मानव-आत्मा ऊपर पग बढ़ाती हुई अपनी पूर्णताकी ओर आरोहण करती थी।

इस प्रकार भारतीय आदर्शोंको जीवनपर लागू करनेका संपूर्ण सामान्य स्वरूप आदिसे अंततक इस एक ही भावाबन्धका बन गया था अर्थात् वह मनुष्यकी अंतरात्माकी उसके आध्यात्मिक जीवनके लिये एक सतत सूक्ष्मतः क्रमबद्ध सूक्ष्मतः समस्वर तैयारीके ताने-बानेसे युक्त हुआ था। सर्वप्रथम मनुष्यकी उस प्रारंभिक प्राकृत सत्ताकी नियमबद्ध तुष्टि जो धर्मके विधान तथा नैतिक विचारके अधीन होती है तथा प्रतिक्षण मत-मजहबके सुझावोंसे घिरी रहती है यह मत-मजहब पहले तो उसके अधिक बाह्य अविकसित मनको आकर्षित करता है पर अपने प्रत्येक बाह्य प्रतीक और परिस्थितिमें एक गंभीरतर अर्थकी ओर मुड़ता है अपनी सार्थकताके रूपमें गंभीरतम आध्यात्मिक और आदर्श अर्थके संकेतसे लैस होता है। उसके बाद आते हैं उस विकसित बुद्धि और उस आंतरात्मिक नैतिक तथा सौंदर्यात्मक शक्तियोंके उच्चतर सोपान जो परस्पर घनिष्ठ रूपसे ओतप्रोत हैं तथा उक्त प्रकारके उद्घाटनके द्वारा अपनेसे परे अपने आध्यात्मिक अर्थ और संभाव्यताके शिखरोंतक उठा दी जाती हैं। अंतमें मनुष्यके अंदरकी इन विकासशील शक्तियोंमेंसे प्रत्येकको उसकी अपनी प्रवृत्तिके अनुसार उसकी दिव्य और आध्यात्मिक सत्तामें प्रवेश करनेका एक द्वार बना दिया गया था। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि विचारशील बुद्धिप्रधान मनुष्यके स्व-अतिक्रमणके लिये ज्ञानयोग कर्मठ शक्तिमय और नैतिक मनुष्यके स्व अतिक्रमणके लिये कर्मयोग और भावुक सौंदर्यप्रेमी एवं सुखभोगवादी मनुष्यके स्व-अतिक्रमणके लिये प्रेम तथा भक्तिके मार्गकी रचना की गयी थी जिनकी सहायतासे प्रत्येक मनुष्य अपनी विशिष्ट शक्ति का आत्म-उन्मुख आध्यात्मिक एवं ईश्वरोन्मुख प्रयोग करके पूर्णताको प्राप्त करता था इसी प्रकार चैत्य सत्ताकी शक्ति और महत्तत्व कि देहगत प्राणकी शक्तिके द्वारा भी अपने-आपको अतिक्रांत करनेके मौलिक मार्गोंका निर्माण किया गया था — ये योग इस प्रकारके थे कि इनका अनुसरण पृथक्-पृथक् या फिर इन्हें किसी प्रकारके समन्वयमें लाकर किया जा सकता था। परंतु स्व-अतिक्रमणके ये सब साधन उच्चतम आत्म-अभिव्यक्तिकी ओर ले जाते थे। विश्वव्यापी सत्ता और सर्वभूतोंके साथ एक होना आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके साथ एक होना एवं परमेश्वरके साथ युक्त होना ही मानवविकासकी पराकाष्ठा और मनुष्यके आत्मोत्कर्षकी अंतिम भूमिका थी।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

चौथा अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

भारतीय धर्मके मूलतत्त्वो, इसके विकानके अभिप्राय तथा इसकी पद्धतिकी मूल भावनाका मैंने कुछ विस्तारसे विवेचन किया है,—यद्यपि अभीतक यह वर्णन बहुत अधूरा ही है,—क्योंकि इन चीजो की निरंतर उपेक्षा की जा रही है और इस धर्मका समर्थन तथा विरोध करनेवाले लोग ब्योरो, विशिष्ट परिणामो और गौण विषयोपर ही लडते-झगडते रहते हैं। इन बातोका भी अपना महत्त्व तो है क्योकि ये क्रियात्मक अनुशीलनके, अर्थात् सस्कृतिको जीवनमें कार्यान्वित करनेके अग हैं, किंतु इनका सही मूल्याकन तबतक नही किया जा सकता जबतक हम उस मूल भावनाको भलीभाति हृदयगम न कर ले जो उस क्रियात्मक अनुशीलनके पीछे विद्यमान थी। और सबसे पहली बात जो हम देखते है वह यह है कि भारतीय सस्कृतिका मूलतत्त्व एव सारभूत भाव असाधारण रूपसे उच्च, महत्त्वाकाक्षापूर्ण और श्रेष्ठ था, सच पूछो तो वह एक उच्चतम तत्त्व और भाव था जिसकी मानव आत्मा कल्पना कर सकती है। कारण, जीवनके विषयमें उससे महान् विचार और क्या हो सकता है जो इसे मानवात्माके अत्यत विशाल रहस्य तथा उसकी उच्च सभावनाओतक होनेवाले उसके एक विकासका रूप दे देता है,—उसमे महान् सस्कृति और क्या हो सकती है जो जीवनको कालमें कालातीतकी, व्यक्तिमे विराट्की, सान्तमें अनन्तकी एव मनुष्यमें भगवान्‌की क्रिया समझती है, अथवा जो यह मानती है कि मनुष्य सनातन और अनन्तको केवल जान ही नही सकता बल्कि उसकी शक्तिमें निवास भी कर सकता है और आत्मज्ञानके द्वारा अपने-आपको विश्वमय, आध्यात्मिक और दिव्य भी बना सकता है? मनुष्यके जीवनके लिये इससे बढकर महान् लक्ष्य और क्या हो सकते है कि वह आन्तर और बाह्य अनुभवके द्वारा अपना तबतक विकास-साधन करे जबतक कि वह परमेश्वरमें निवास करने, अपनी अध्यात्म-सत्ताको अनुभव करने, अपनी उच्चतम सत्ताके ज्ञान, सकल्प और आनदमें पहुचकर दिव्य बननेमें समर्थ न हो जाय? वास्तवमें भारतीय सस्कृतिके प्रयासका सपूर्ण आशय यही है।

यह कहना आसान है कि ये विचार मिथ्या, काल्पनिक और भ्रमपूर्ण हैं, वास्तवमें न तो कोई आत्मा है न सनातन सत्ता और न कोई दिव्य वस्तु ही, और यदि मनुष्य धर्म और दर्शनशास्त्रके साथ खेल न कर अपने क्षणिक एवं तुच्छ जीवन और शरीरका यथा-संभव अच्छे-से-अच्छा उपयोग करे तो यह उसके लिये कहीं अच्छा होगा। यह एक ऐसा निषेध है जो प्राणिक और भौतिक मनके लिये प्रायः स्वाभाविक ही है पर यह इस धारणा-पर आश्रित है कि मनुष्य केवल वही बन सकता है जो कि वह इस समय है और उसमें ऐसी कोई महत्तर वस्तु नहीं है जिसे विकसित करना उसका कर्तव्य है। ऐसे निषेधका कोई स्थायी मूल्य नहीं है। किसी महान् संस्कृतिका संपूर्ण लक्ष्य यह होता है कि वह मनुष्यको किसी ऐसी स्थितितक उठा ले जाय जो वह आरम्भमें नहीं होता, उसे ज्ञानकी ओर ले चले यद्यपि वह प्रायः अज्ञानसे ही अपनी यात्रा शुरू करता है, उसे उसके विवेकके द्वारा जीवन बिताना सिखाये यद्यपि वास्तवमें वह, कहीं अधिक अपने अविवेकके द्वारा ही जीवन धारण करता है, शुभ और धर्मके विधानके द्वारा जीना सिखाये यद्यपि आज वह काम और स्वार्थसे ही भरा हुआ है, सुन्दरता और समस्वरताके विधानके द्वारा जीना सिखाये यद्यपि उसका यथार्थ जीवन कुरूपता और कलहपूर्ण बर्बरताओंका पूजनात्मक योगफल ही है, उसे उसकी आत्माके किसी उच्च विधानके द्वारा जीना सिखाये यद्यपि इस समय वह अहंभावपूर्ण भौतिक एवं अनाध्यात्मिक है और अपनी स्थूल सत्ताकी आवश्यकताओं और कामनाओंमें ही मग्न है। यदि किसी सभ्यताका इनमेंसे कोई भी लक्ष्य न हो तो कदाचित् यह कहा ही नहीं जा सकता कि उसकी कोई संस्कृति है और निश्चय ही यह तो किसी भी अर्थमें नहीं कहा जा सकता कि उसकी एक महान् और श्रेष्ठ संस्कृति है। परंतु इनमेंसे अंतिम लक्ष्य अपने उस रूपमें जिसकी कल्पना प्राचीन भारतने की थी, सब लक्ष्योंमें ऊंचा है क्योंकि यह अन्य सभीको अपने अंदर लिये हुए है और साथ ही उन सबसे श्रेष्ठ भी है। इस लक्ष्यको स्थापित करना जातिके जीवनको श्रेष्ठ बनाना है; इसमें असफल होना इसके लिये कभी बिल-कुल ही प्रयत्न न करनेसे कहीं अच्छा है; इसमें थोड़ी-सी भी सफलता प्राप्त करना मनुष्य की भावी संभावनाओंके पूरा होनेमें महान् सहायता प्रदान करना है।

भारतीय संस्कृतिकी प्रणाली एक और ही वस्तु है। प्रणाली स्वरूपतः ही मार्ग-का निर्धारण करनेवाली और साथ ही सीमित करनेवाली होती है और फिर भी हमारे नाना जीवनकी एक विद्या एवं कला अर्थात् जीवन-यापनकी एक प्रणाली अवश्य होनी चाहिये। अन्तर केवल इस बातका है कि जो भी रूपरेखाएं निर्धारित की जायें वे व्यापक और उदार हों, विकसित होनेकी क्षमता रखती हों जिससे कि मन आत्मा अपने-आपको जीवनमें अधिकाधिक प्रकट कर सकें, अपनी सुरक्षाके होते हुए भी गमनशील हों ताकि वह इन्हीं सीमाओंको अपने अंदर आत्मसात् और रूपान्तरित कर सके तथा अपनी एकता खोये बिना अपनी विविधता और समृद्धताको विस्तारित कर सके। भारतीय संस्कृतिकी प्रणाली अपने

सिद्धात-रूपमें और एक विशेष सीमा तथा विशेष समयतक अपने क्रियात्मक रूपमें भी यह सब कुछ थी। यह सर्वथा सत्य है कि अन्तमें उसपर एक ऐसे ह्रासका और प्रगतिके एक इस प्रकारके अवरोधका आक्रमण हुआ जो बिलकुल चरम ढगका तो नही था पर उसके जीवन तथा भविष्यके लिये अत्यत गभीर और सकटपूर्ण अवश्य था, और हमें यह पता लगाना होगा कि आया इसका कारण इस सस्कृतिका मज्जागत स्वभाव था, या इसकी कोई विकृति थी अथवा जीवनी-शक्तिका कोई क्षणिक ह्रास था और यदि ह्रास ही कारण था तो वह ह्रास आया कैसे। इस समय मै केवल सरसरी तौरपर एक बातकी चर्चा करूगा जो अपना कुछ महत्त्व रखती है। हमारा आलोचक भारतके दुर्भाग्योका राग अलापते कभी नही थकता और उन सबका कारण वह हमारी सभ्यताकी असाध्य बुराई तथा सच्ची और स्वस्थ सस्कृतिके नितात अभावको मानता है। परतु, न तो दुर्भाग्य सस्कृतिके अभावका प्रमाण होता है और न सौभाग्य उद्धारका चिह्न। यूनान एक अभागा देश था, वह आतरिक कलहो और गृह-युद्धोसे उतना ही क्षत-विक्षत था जितना भारत, वह अतमे एकतापर पहुचने या स्वतत्रताको सुरक्षित रखनेमें असमर्थ हुआ, तथापि यूरोप अपनी आधी सभ्यताके लिये यूनानके उन लडाकू और विभक्त क्षुद्र लोगोका ही ऋणी है। इटली निश्चय ही काफी अभागा था, तथापि बहुत ही कम राष्ट्रोने यूरोपीय सस्कृतिको अयोग्य और अभागे इटलीसे अधिक अशदान दिया है। भारतके दुर्भाग्योको, कम-से-कम उनके प्रभावक्षेत्रकी दृष्टिसे, बहुत अधिक बढा-चढाकर वर्णित किया गया है, पर उन्हे उनके बुरे-से-बुरे रूपमें ही लो और मान लो कि भारतसे अधिक किसीपर मुसीबते नही आयी। परतु इस सबका कारण यदि हमारी सभ्यताकी खराबी ही हो, तो दुर्भाग्योके इस बोझके नीचे भारत और उसकी सस्कृति एव सभ्यताके दृढतापूर्वक बचे रहनेके विलक्षण तथ्यका अथवा उस शक्तिका भला क्या कारण है जो इस क्षण भी उसे यूरोपसे आनेवाली बाढके, जिसने अन्य जातियोको लगभग डुबा ही दिया है, भीषण आघातके विरुद्ध अपने अस्तित्व तथा अपनी भावनाका प्रबल समर्थन करनेकी क्षमता प्रदान करती है जिसे देखकर उसके आलोचक क्रोधसे भर उठते है? यदि उसके दुर्भाग्योका कारण उसके सास्कृतिक दोष हो तो क्या इसी प्रकारके तर्कके बलपर यह नही कहा जा सकता कि इस असाधारण जीवन-शक्तिका कारण उसके अदर विद्यमान कोई महान् शक्ति, उसकी भावनाके अदर विद्यमान कोई स्थायी सत्यता-रूपी गुण अवश्य होगा? कोई कोरा झूठ और पागलपन जीवित नही रह सकता, उसका बने रहना एक ऐसा रोग है जो निसदेह शीघ्र ही मृत्युकी ओर ले जायगा, वह किसी अविनश्वर जीवनका स्रोत नही हो सकता। कही स्वस्थताका कोई ऐसा केद्र, कोई ऐसा रक्षक सत्य अवश्य होना चाहिये जिसने इस जातिको जीवित रखा है और जो आज भी इसे अपना सिर ऊचा करने तथा अपने बने रहनेके सकल्पको और अपने जीवन-कार्यके प्रति अपनी श्रद्धाको दृढतापूर्वक प्रस्थापित करनेके लिये सामर्थ्य प्रदान करता है।

परंतु, अंतमें हमें इस संस्कृतिके मूलभाव और मूलतत्त्वको ही नहीं इसकी प्रणालीमें निहित इसके उद्देश्यके आदर्श विचार और क्षेत्रको ही नहीं बल्कि जीवनके मूल्यमें इसके यथार्थ क्रिया-व्यापार और प्रभावको भी देखना होगा। यहां हमें इसकी भारी सीमाओं और भारी त्रुटियोंको स्वीकार करना होगा। ऐसी कोई संस्कृति नहीं कोई सभ्यता नहीं, चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन जो अपनी प्रणालीमें मनुष्यकी पूर्णताकी मांगके लिये पूर्ण रूपसे संतोषजनक रही हो ऐसी एक भी संस्कृति या सभ्यता नहीं जिसकी क्रिया-प्रक्रिया काफी अधिक सीमाओं और त्रुटियोंके द्वारा कुंठित न हो गयी हो। और किसी संस्कृतिका हृदय जितना अधिक महान होगा किसी सभ्यताका आकार जितना अधिक विशाल होगा उसमें ये दोष दृष्टिको उतना ही अधिक अभिभूत करनेवाले हो सकते हैं। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक संस्कृति अपने गुणोंकी सीमाओं या त्रुटियोंसे आक्रांत रहती है और इसके निश्चितप्राय परिणामके रूपमें अपने गुणोंकी अतियोंसे भी पीड़ित होती है। उसकी प्रवृत्ति कुछ प्रमुख विचारोंपर ध्यान एकाग्र करने और दूसरोंको उपेक्षित करने या अनुचित रूपसे दबानेकी रहती है संतुलनका यह अभाव एकांगी प्रवृत्तियोंको जन्म देता है जिन्हें ठीक तरहसे काबूमें नहीं रखा जाता और न उचित स्थान दिया जाता है और जो अस्वास्थ्य-कर अतियोंको पैदा करती है। परंतु जबतक सभ्यतामें तेज बना रहता है तबतक जीवन अपनेको उसके अनुकूल बनाता रहता है और क्षतिपूरक शक्तियोंसे अधिकसे अधिक लाभ उठाता है तथा सब स्खलनों बुराइयों और विपत्तियोंके रहते भी कुछ महान् कार्य संपन्न हो जाता है परंतु अवनतिके समयमें किसी एक विशेष गुणकी त्रुटि अति प्रबल हो जाती है एक सीमाबद्धता रूप धारण कर लेती है, व्यापक रूपमें हानि पहुंचाती है और यदि उसे रोका न जाय तो क्षय और मृत्युकी ओर ले जा सकती है। फिर यह भी हो सकता है कि आदर्श महान् हो यहांतक कि उसमें एक प्रकारकी सामयिक पूर्णता भी हो जैसी कि भारतीय संस्कृतिमें उसके सर्वश्रेष्ठ कालमें थी उसने एक व्यापक सामंजस्यके लिये आरंभिक प्रयत्न भी किया हो परंतु आदर्श और जीवनके वास्तविक व्यवहारके बीच सदैव ही एक बड़ी भारी खाई होती है। उस खाईपर पुल बनाना या कम-से-कम उसे यथासंभव छोटी बनाना मानव प्रयासका सबसे कठिन अंग है। अंतमें हमारी मानवजातिका विकास जो युगोंके आरपार दृष्टि डालनेपर काफी आश्चर्यजनक प्रतीत होता है सब कुछ कहे जानेके बाद भी एक मंद और बाधाग्रस्त प्रगति है। प्रत्येक युग प्रत्येक सभ्यता हमारी त्रुटियोंके भारी बोझको वहन करती है, बादमें आनेवाला प्रत्येक युग बोझके कुछ भागको उतार फेंकता है पर अतीतके युगका कुछ अंश भी ला बैठता है अन्य त्रुटियां पैदा कर लेता है और नयी पराधीनताओंके द्वारा अपनेको परेशान करता है। हमें काल-कालकी तुलना करनी होगी वस्तुओंको उनके समग्र रूपमें देखना होगा यह देखना होगा कि हम किस ओर जा रहे हैं और एक विशाल लौकिक दृष्टिका उपयोग करना होगा अन्यथा मनुष्यजातिकी

भवितव्यताओंमें अविचल श्रद्धा बनाये रखना कठिन हो जायगा। कारण, अतत, अबतक सर्वश्रेष्ठ युगमें भी हमने मुख्य रूपसे जो कुछ सपन्न किया है वह है बर्बरताके एक बहुत बडे स्तूपको परिवर्तित करनेके लिये थोडीसी कुछ बुद्धि, सस्कृति और आध्यात्मिकताको लाना। मनुष्यजाति अबतक भी अर्द्ध-सभ्यसे अधिक नही है और अपने वर्तमान विकासचक्रके अभिलिखित इतिहासमें वह इसके सिवाय और कभी कुछ नही रही।

और इसलिये प्रत्येक सभ्यता अपने बाह्य रूपमें मिश्रित और विशृखल दिखायी देती है और एक द्वेषपूर्ण या सहानुभूतिहीन आलोचनाके द्वारा, जो इसके दोषोको तो देखती और बढा-चढाकर दिखाती है पर इसके सच्चे भाव एव गुणोकी उपेक्षा करती है, अधकारमय पहलुओका तो एक ढेर खडा कर देती है पर प्रकाशमय पहलुओको एक किनारे कर देती है, इसे बर्बरताके एक स्तूपमे, प्राय खूब गहरे अधकार और असफलताके एक चित्रके रूपमे परिणत किया जा सकता है, जिसपर कि उन लोगोको उचित ही आश्चर्य होता और क्रोध आता है जिन्हे इसके मूल-भाव महान् और यथार्थ मूल्यसे युक्त प्रतीत होते है। क्योकि, प्रत्येक सभ्यताने मानवताके लिये, इसके सर्वसामान्य सास्कृतिक कार्यके अतर्गत, कोई-न-कोई विशेष मूल्यवाली वस्तु उपलब्ध की है, हमारी प्रकृतिकी किसी-न-किसी शक्यताको बहुत बडी मात्रामें प्रकट किया है और इसकी भावी पूर्णताके लिये एक आरभिक विस्तृत आधार प्रदान किया है। यूनानने बौद्धिक तर्कको तथा आकार और सुसगजस सौदर्य-सबधी बोधको एक ऊचे परिमाणमे विकसित किया, रोमने बल-सामर्थ्य, देशभक्ति और विधि-व्यवस्थाकी सुदृढ स्थापना की, आधुनिक यूरोपने व्यावहारिक बुद्धि, विज्ञान, कार्यदक्षता और आर्थिक क्षमताको विपुल परिमाणमे उन्नत किया, भारतने मनुष्यकी अन्य शक्तियोपर क्रिया करने तथा उन्हे अतिक्रम करनेवाले आध्यात्मिक मन, अतर्ज्ञानात्मक बुद्धि, धार्मिक भावसे अनुप्राणित 'धर्म' के दार्शनिक सामजस्य तथा सनातन एव अनतके बोधका विकास किया। भविष्यको इन वस्तुओकी एक अधिक महान् और अधिक पूर्ण रूपसे व्यापक प्रगतिकी ओर अग्रसर होना है और नयी शक्तियोका विकास करना है, किंतु यह कार्य हम अहकारपूर्ण असहिष्णुताके भावके साथ अतीतकी या अपनी सस्कृतिसे भिन्न अन्य सस्कृतियोकी निदा करके ठीक-ठीक रूपमें नही कर सकते। हमे केवल शात आलोचनाकी भावनाकी ही नही बल्कि सहानुभूतिमय अतर्ज्ञानकी एक दृष्टिकी भी आवश्यकता है ताकि हम मानवताके अतीत और वर्तमान प्रयासमेंसे उत्तम वस्तुओका आहरण कर सकें और अपनी भावी उन्नतिके लिये उनका अच्छेसे अच्छा उपयोग कर सकें।

ऐसा होनेपर भी, यदि हमारा आलोचक आग्रह करे कि भारतकी अतीत सस्कृति अर्द्ध-बर्बर ढगकी थी तो इसपर मुझे तबतक कुछ भी आपत्ति न होगी जबतक यूरोपीय ढगकी सस्कृतिको जिसे वह उसकी जगह धूर्ततापूर्वक हमारे ऊपर लादना चाहता है, इसी प्रकारकी, उचित या अनुचित, आलोचना करनेकी मुझे भी स्वतत्रता प्राप्त रहे। यूरोपीय सभ्यता इस

प्रशसित प्रतिरूप और सफल नायक था। जगत्में परमात्माकी कार्य-शैलियोको देखनेवाली एक अधिक व्यापक दृष्टि इस धारणाकी एकपक्षीयतामे सशोधन करती है, पर फिर भी इसमे एक सत्य निहित है जिसे यूरोपने अपनी तीव्र वेदनाकी घडीमें स्वीकार किया था, यद्यपि इस समय वह अपने उस क्षणिक आलोकको बिलकुल सहजमें ही भूला हुआ-सा प्रतीत होता है। मि आर्चर तर्क करते है कि कम-से-कम पश्चिम अपनी बर्बरताके साथ सघर्ष करके उसमेंसे बाहर निकल आनेका यत्न कर रहा है जब कि भारत अपनी त्रुटियोमें ही जडवत् बने रहनेमें सतुष्ट रहा है। यह आसन्न भूतकालका एक तथ्य हो सकता है, पर उससे हुआ क्या? यह प्रश्न तो अब भी बना हुआ है कि क्या यूरोप ही उस एकमात्र, पूर्ण या सर्वोत्तम मार्गको अपना रहा है जो मानव प्रयासके लिये खुला हुआ है और क्या भारतके लिये यही ठीक नही है कि वह पश्चिमके अनुभवसे शिक्षा भले ही ग्रहण करे पर यूरोपका अनुकरण न कर अपनी मूल भावना और सस्कृतिके सबसे श्रेष्ठ और अत्यत मौलिक तत्त्वोको विकसित करे और इस प्रकार अपनी जडतासे बाहर निकल आये।

इस दिशामें भारतका सही और स्वाभाविक पथ इतने स्पष्ट रूपमे हमारे सामने खुला पडा है कि इसका मूलोच्छेद करनेके लिये मि आर्चरको छिद्रान्वेषकके अपने चुने हुए पेशेमे पग-पगपर सत्यको विकृत करना पडता है और एडी-चोटीका जोर लगाकर व्यर्थमें ही सम्मोहक सुझावका इद्रजाल फिर-फिर फैलाना पडता है। वह इद्रजाल अब सदाके लिये छिन्न-भिन्न हो चुका है, दीर्घ कालतक उसने हममेंसे बहुतोको अपनी तथा अपने अतीतकी पूर्ण रूपसे निंदा करने और यह कल्पना करनेके लिये प्रेरित किया था कि जीवनमें भारतीय-का सपूर्ण कर्तव्य बस यही है कि वह सभ्य बनानेवाले अग्रेजकी डोरमें बधा हुआ एक अनु-करणशील बदर बनकर उसके ढोलकी आवाजपर नाचा करे। भारतीय सस्कृतिके बचे रहने-के दावेका विरोध, सर्वप्रथम और अत्यत मौलिक रूपमें, उसके उन मूल विचारो और उसकी उन ऊची चीजोंके मूल्यको चुनौती देकर ही किया जा सकता है जो उसके आदर्श तथा स्व-भावके लिये और जगत्को देखनेके उसके तरीकेके लिये अत्यत स्वाभाविक है। इसका एक तरीका है—आध्यात्मिकताके, सनातन एव अनतकी अनुभूति, आतर आध्यात्मिक-अनुभव, दार्शनिक मन और भावना, धार्मिक लक्ष्य और अनुभूति, अतर्ज्ञानात्मक बुद्धि और विश्वात्म-भाव तथा आध्यात्मिक एकताके विचारके सत्य या मूल्यमे ही इन्कार कर देना, और हमारे इस आलोचककी असली मनोवृत्ति यही है जो उसकी तीव्र निंदामे पुन पुन प्रकट हो उठती है। परतु इमे वह सगत रूपमे आद्योपात नही निभा सकता, क्योकि यह उसे ऐसे विचारो और बोधोके सघर्षमें ला खडा करती है जिन्हे मानव मनमेंसे जड-मूलसे नही उखाडा जा सकता। ये विचार यूरोपमें भी कुछ कालके अज्ञानान्धकारके पश्चात् फिरसे समर्थन प्राप्त करने लगे है। अतएव वह अपने-आपको बचाता है और यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है कि भारतमे हमें, उसके शानदार अतीत और उसकी अच्छीसे अच्छी अवस्थामें भी, कोई

उठाये बिना उस चीजपर आग्रह किया गया है जो कि हम अपनी सत्ताकी किसी दुष्प्राप्य ऊचाईपर बन सकते है। अनततक हम केवल तभी पहुच सकते है जब पहले हम सातमे विकसित हो ले, कालमें विकसित होकर ही मनुष्य कालातीतको हृदयगम कर सकता है, पहले अपने शरीर, प्राण और मनकी पूर्णता प्राप्त करके ही मनुष्य अध्यात्म-सत्ताको पूर्ण बना सकता है। यदि इस आवश्यकताकी उपेक्षा की गयी है, तब हम न्यायत ही यह तर्क कर सकते हैं कि भारतीय सस्कृतिके प्रधान विचारमें एक मोटी, व्यवहार-विरोधी और अक्षम्य भूल हुई है। परतु वास्तवमें ऐसी कोई भूल नही हुई है। हम देख ही चुके है कि भारतीय सस्कृतिका लक्ष्य क्या था, उसकी भावना और प्रणाली क्या थी और उनसे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा कि उसकी प्रणालीमें जीवनके मूल्य और जीवन-सबधी शिक्षणको यथेष्ट मान्यता दी गयी थी और इन्हे इनका उचित स्थान भी दिया गया था। यहातक कि अत्यत ऐकातिक दर्शनो और धर्मों, बौद्धमत और मायावादने भी जो जीवनको एक ऐसी अनित्य या अविद्यात्मक वस्तु मानते थे जिसे अवश्य ही अतिक्रम करना और त्याग देना चाहिये, इस सत्यको दृष्टिसे ओझल नही किया कि पहले मनुष्यको इस वर्तमान अज्ञान या अनित्यताकी अवस्थाओमें अपना विकास करना होगा और तब कही वह ज्ञान तथा उस नित्य तत्त्वको प्राप्त कर सकता है जो कालगत सत्ताका निषेध-रूप है। बौद्धधर्म केवल निर्वाण, शून्यता एव लयका धूमिल उदात्तीकरण ही नही था, न वह कर्मकी क्रूर नि सारता ही था, इसने हमें मनुष्यके ऐहलौकिक जीवनके लिये एक महान् और शक्तिशाली साधना प्रदान की। समाज और आचारशास्त्रपर अनेक प्रकारसे इसका जो बडा भारी भावात्मक प्रभाव पडा और कला एव चिन्तनको तथा कुछ कम मात्रामे साहित्यको इसने जो सृजनकी प्रेरणा प्रदान की वे इसकी प्रणालीकी प्रबल जीवनी-शक्तिका पर्याप्त प्रमाण हैं। यदि सत्ताका निषेध करनेवाले इस अत्यत ऐकातिक दर्शनमे यह भावात्मक प्रवृत्ति विद्यमान थी तो भारतीय सस्कृतिके समग्र स्वरूपमें यह कही अधिक व्यापक रूपमें उपस्थित थी।

नि सदेह, भारतीय मानसमें प्राचीन कालसे ही उस दिशामे एक उदात्त और कठोर अति-की ओर विशेष रुझान एव प्रवृत्ति रही है जिसे बौद्धधर्म और मायावादने ग्रहण किया था। मानवमन जो कुछ है उसके रहते यह अति अनिवार्य ही थी, बल्कि इसकी अपनी आवश्यकता एव अपना मूल्य भी था। हमारा मन सपूर्ण सत्यको सहजमे तथा एक ही सर्वग्राही प्रयत्न-के द्वारा नही प्राप्त कर लेता, दु साध्य खोज ही इसकी प्राप्तिकी शर्त है। मन सत्यके विभिन्न पहलुओको एक दूसरेके विरोधमें खडा करता है, प्रत्येक पहलूका उसकी चरम सभावनातक अनुशीलन करता है, यहातक कि कुछ समयके लिये उसके साथ एक अनन्य सत्यके रूपमें बर्ताव करता है, अधूरे समझौते करता है, नाना प्रकारके समायोजनो और अधान्वेषणो-के द्वारा सच्चे सबधोके अधिक निकट पहुचता है। भारतीय मनने इस पद्धतिका अनुसरण किया, जहातक बन पडा, इसने सपूर्ण क्षेत्रको अपने अदर समाविष्ट किया, प्रत्येक स्थितिका

और कर्मका परित्याग ही करना चाहिये था, उतना ही अयुक्तियुक्त है जितना कि अस्वाभाविक और भद्दा। मनुष्यकी बौद्धिक, क्रियाशील और सकल्पात्मक, नैतिक, सौंदर्यात्मक, सामाजिक तथा आर्थिक सत्ताको पूर्ण रूपसे विकसित करना भारतीय सभ्यताका एक आवश्यक अग था,—यदि और किसी चीजके लिये नही तो, कम-से-कम, आध्यात्मिक पूर्णता और स्वतन्त्रताके एक अनिवार्य आरम्भिक साधनके रूपमें तो आवश्यक था ही। चिंतन, कला, साहित्य और समाजमें भारतकी सर्वश्रेष्ठ प्राप्तिया उसकी धर्मप्रधान दार्शनिक संस्कृतिका युक्तिसगत परिणाम थी।

किंतु फिर भी यह तर्क किया जा सकता है कि सिद्धात चाहे जो भी रहा हो, उक्त क्षति तो विद्यमान थी ही और व्यवहारसे इसने जीवन और कर्मको निरुत्साहित किया। मि आर्चरकी आलोचनाका, जब कि इसके अन्य असत्योको दूर कर दिया जाता है, अतमें यही अर्थ होता है, वह समझता है कि आत्मा, सनातन, विराट्, निर्व्यक्तिक एव अनतपर दिये गये बलने जीवन, सकल्प, व्यक्तित्व और मानव कर्मको निरुत्साहित किया तथा एक मिथ्या एव जीवन-घाती वैराग्यवादको जन्म दिया। भारतको कोई महत्त्वपूर्ण प्राप्ति नही हुई, उसने कोई महान् व्यक्ति नही उत्पन्न किया, वह सकल्प और पुरुषार्थमें अक्षम था, उसका साहित्य और उसकी कला एक बर्बर, अस्वाभाविक और नि सार रचना है जो यूरोपकी तीसरे दर्जेकी कृतिके भी समान नही हैं, उसकी जीवन-कथा अयोग्यता और असफलताका एक लबा और विषादजनक विवरण है। असगतिकी, वह कम हो या अधिक, इस आलोचकको कोई परवा नही और अतएव उसी एक सासमें वह यह भी कहता है कि ठीक वही भारत, जिसे उसने अन्यत्र सदा-दुर्बल, अनुर्वर या अद्भुत विफलताओंकी जननी कहकर वर्णित किया है, जगत्के अत्यत मजेदार देशोमेंसे एक है, इसकी कला एक प्रभावशाली एव आकर्षक जादू डालती है और उसकी सुषमा असरय प्रकारकी है, इसकी बर्बरताए भी अपूर्व हैं और सबसे बढकर आश्चर्यकी बात यह है कि इसकी प्राचीन सुविरचित कुलीनवर्गीय संस्कृतिके सदनोंमें समासीन इसके कुछ महापुरुषोंके समक्ष एक यूरोपवासी अपनेको स्वभावत ही एक अर्द्धबर्बर आगतुक-सा अनुभव करने लगता है। परन्तु इन अनुग्रह-चिह्नोंको जो मि आर्चरकी मनोदशाके अधकार और विषादके आरपार कभी-कभी झलकनेवाली प्रकाशकी क्षीण रेखामात्र हैं, हम एक ओर छोड दें। हमें देखना यह है कि इस आलोचनाका सारतत्त्व कहातक किसी आधारपर स्थित है। भारतीय जीवन, सकल्प, व्यक्तित्व, उपलब्धि और सृजनका, इन चीजोंका जिन्हे भारत अपनी गौरवपूर्ण वस्तुए मानता है, पर जिनसे, उसका आलोचक उसे बताता है कि उन्हे अपने लिये अपमानजनक समझकर उसे थरथर कापना चाहिये, —वास्तविक मूल्य क्या था? बस, अब यही एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बच गया है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पांचवां अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

क्रियात्मक परिणामोंकी दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिपर अधिकतर जो दोष लगाया जाता है उसका निराकरण बिना किसी विशेष कठिनाईके किया जा सकता है। जिस आलोचकसे मुझे निपटना है उसने असलमें अपनी उन्मादपूर्ण अतिरंजनाकी भावनाके द्वारा जिसके आवेशमें वह लिखता है अपना पक्ष बिगाड़ डाला है। यह कहना कि भारतमें जीवनकी कोई महान् या सजीव क्रियाशीलता नहीं रही है कुछेक काल्पनिक व्यक्तित्व और दूसरे अधिकांशके निष्प्रभ व्यक्तित्वको छोड़कर भारतमें कोई और महान् व्यक्ति नहीं हुए हैं भारतने कभी कोई संतोषजनक नहीं प्रवर्तित की और कभी कोई महान् कार्य नहीं किया —इतिहासके सारे तथ्योंके इतना विपरीत है कि केवल कोई पेशेवर छिद्रान्वेषी ही मामलेकी जोशमें इस कथनको प्रस्तुत कर सकता है या इसे ऐसे भद्दे जोशके साथ पेश कर सकता है। भारत जीवित रहा है और महानताके साथ जीवित रहा है भले ही उसके विचारों और संस्थाओं-पर हम कोई भी मत क्यों न प्रकाशित करें। क्योंकि आखिर जीवनका अर्थ ही क्या है और हम सम्पन्न पूर्ण और महान् रूपमें जीना किसे कहते हैं? जीवन निश्चय ही मनुष्यकी आत्मा उसकी शक्तियों और क्षमताओंकी एक वृत्ति एवं सक्रिय आत्म-अभिव्यक्तिके सिवा रहन विचार, सृजन श्रम और कर्म करने तथा सफलता प्राप्त करनेके उसके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं है। जब किसीमें हम जीवनका अभाव ही अथवा इसका नितांत अभाव पूर्ण हो ही नहीं सकता तब तो यह कहना चाहिये कि जब आंतरिक या बाह्य कारणोंसे यह शक्ति ही अवरुद्ध निरुत्साहित या जड़ बनी हुई होती है तब हम कह सकते हैं कि उसमें जीवन का अभाव है। जीवन अपने व्यापकतम अर्थमें हमारे आंतरिक और बाह्य कर्मोंका एक महान् धाम है शक्तिका खेल कर्मोंका खेल है धर्म दर्शन चिंतन विज्ञान काव्य और शिल्प नाट्य संगीत नृत्य और अभिनय राजनीति और समाज उद्योग वाणिज्य और व्यापार शारीरिक कार्य और यात्रा युद्ध और शांति संघर्ष और एकता विजय और पग

जय, अभीप्साएं और उतार-चढ़ाव, विचार और भावावेग, वचन और कर्म तथा हर्ष और शोक ही मनुष्यजीवनका गठन करते है। अधिक सकुचित अर्थमें कभी-कभी यह कहा जाता है कि जीवन एक अधिक प्रत्यक्ष एव बाह्य प्राणिक व्यापार है, ऐसी चीज है जो भारी-भरकम बौद्धिकता या वैराग्यात्मक आध्यात्मिकताद्वारा दबायी जा सकती है, विचारकी मद्धिम आभा या ससार-विरक्तिकी और भी मद्धिम आभासे मरियलसी बनायी जा सकती है अथवा समाजकी नियमबद्ध परपरानुयायी-या अत्यत कठोर प्रणालीके कारण निर्जीव, नीरस एव अप्रिय बनायी जा सकती है। और फिर, सभव है कि समाजके एक छोटे तथा विशेषाधिकार-सपन्न भागका जीवन तो अत्यत क्रियाशील तथा वैचित्र्यपूर्ण हो, पर सर्वसाधारणका जीवन स्फूर्ति-हीन, सूना और दु खभरा हो। अथवा, अतमें, यह भी सभव है कि कोरे जीवन-यापनके सभी साधारण करणोपकरण और परिस्थितिया विद्यमान हो, पर यदि जीवन महान् आशाओ, अभीप्साओ और आदर्शोंके द्वारा ऊचा न उठा हो तो हम सहज ही यह कह सकते है कि समाज वास्तवमें जीवित नही है, उसमें मानव आत्माकी स्वभावगत महानताकी कमी है।

भारतके प्राचीन और मध्ययुगीन जीवनमें उन चीजोंमेंसे किसीकी भी कमी नही थी जो मानवजीवनकी जीवत एव रोचक क्रियाशीलताका गठन करती है। बल्कि, वह रस-रग और आकर्षणसे असाधारण रूपमें भरपूर था। इस सबधमें मि आर्चरकी आलोचना अज्ञानसे आकठ भरी हुई है और वह इस विषयकी एक कोरी कपोल-कल्पनाके द्वारा ही गढी हुई है कि प्रधानतया वैराग्यवादके सिद्धातको मानने और जगत्के मिथ्यात्वमें विश्वास करनेपर तर्कत वस्तुस्थिति कैसी होनी चाहिये थी, पर जिस किसीने भी तथ्योका निकटसे अध्ययन किया है वह इस आलोचनाका समर्थन नही करता और न कर ही सकता है। यह ठीक है कि जहा अनेक यूरोपीय लेखकोंने जिन्होंने इस देश और जातिके इतिहासका अनुशीलन किया है, वर्तमान कालसे पहलेके भारतीय जीवनकी सजीवता, आकर्षक समृद्धि, रग-रूप और सुषमाका ओजस्वी भाषामें गुणगान किया है,—यह दुर्भाग्यकी बात है कि वह सब आज केवल इतिहास और साहित्यके पन्नो और अतीतके टूटे-फूटे या ढहते हुए खडहरोंके रूपमें ही शेष रह गया है,—वहा जो लोग केवल दूरसे ही देखते है या केवल एक ही पहलूपर अपनी दृष्टि गडाते है वे बहुधा यही कहते है कि यह तत्त्वज्ञान, दर्शनशास्त्रो, स्वप्नो और चितापरायण कल्पनाओका देश है, और कुछ एक कलाकार तथा लेखक एक ऐसी शैलीमें लिखनेकी प्रवृत्ति रखते है मानो यह 'अलफ लैला' (Arabian Nights) का देश हो, विचित्र रगो, कल्पनाओं और आश्चर्योंकी चमचमाहट मात्र हो। परन्तु इसके विपरीत भारत भी सभ्यताके अन्य किसी भी महान् केंद्रके समान ही गभीर और ठोस वास्तविकताओंका, चिंतन और जीवनकी समस्याओंके साथ कठोर सघर्षका, मर्यादाबद्ध और बुद्धिमत्तापूर्ण सगठन तथा महत् कर्मका आगार रहा है। ये अनुभव जिन अतिभिन्न विचारोंका व्यक्त करते है वे केवल भारतके जीवनकी बहुमुखी उज्ज्वलता और समृद्धताके ही द्योतक है। रग-रूप और

धी-सीमा ही उसका सौंदर्यात्मक पहलू रहे हैं। उसमें बड़े-बड़े स्वप्न देखने और उच्च एवं ओजस्वी कल्पनाएं भी हैं क्योंकि हमारे जीवनकी पूर्णताके लिये इन चीजोंकी भी आवश्यकता है। पर इसके साथ ही उसमें गंभीर दार्शनिक और धार्मिक चिन्तन, जीवनकी व्यापक और अनुसंधानपूर्ण आलोचना, महान् राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था, प्रबल नैतिक स्वर और वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनका अत्यन्त तेजस्वी प्रवाह—ये सब चीजें भी रही हैं। यह एक ऐसा सुयोग है जिसका मतलब है संपूर्ण वैभवसे युक्त जीवन, भले वह कुछ अनावश्यक दृष्टान्तोंको छोड़कर, उन अधिक उग्र अहंकारमय विकृतियों और अतियोंसे रहित हो जिन्हें कुछ विचारक जीवनके उत्साह एवं उन्मादका प्रमाण समझते दीखते हैं।

भला किस क्षेत्रमें भारतने प्रचुर उपलब्धि एवं सृजन नहीं किया है और असीम एवं विस्तृत परिमाणमें ब्योरेकी पूर्णताकी ओर अत्यधिक ध्यान देते हुए। उसकी आध्यात्मिक और दार्शनिक उपलब्धियोंके विषयमें तो प्रश्नमें कोई सवाल ही नहीं उठ सकता। वे यहां उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार कालिदासके शब्दोंमें हिमालय इस भूतलपर "पृथ्वीके मानदंडके रूपमें अवस्थित है पृथिव्या इव मानदण्डः" वे आकाश और पृथ्वीके बीच मध्यस्थता करती हैं, सत्ताकी गहराई अपने मापक अनन्तको अपनाके अंदर घुसकर देखती हैं अपने छोरोंको अतिचेतन और अवचेतन-चेतन सत्ता आध्यात्मिक और प्राकृत सत्ताके ऊर्ध्व और निम्न समुद्रोंमें निमज्जित करती हैं। परन्तु, यदि उसके दर्शनशास्त्र उसके धार्मिक साधनाभ्यास उसके अनेकानेक महान् आध्यात्मिक व्यक्ति विचारक संस्थापक और संत उसकी महत्तम गरिमा हैं—जैसा कि उसकी प्रकृति और प्रधान भावनाके लिये स्वाभाविक ही था—तो भी न ये चीजें उसकी एकमात्र गरिमा कदापि नहीं हैं और न इनकी उत्कृष्टताके कारण अन्य चीजें लुप्त ही हो जाती हैं। यह अब सिद्ध हो चुका है कि वर्तमान युगसे पहले उसने सायंसमें अन्य किसी भी देशकी अपेक्षा अधिक प्रगति की थी और यहांतक कि यूरोप अपने भौतिक विज्ञानके आरंभके लिये यूनानके समान ही भारतका भी ऋणी है यद्यपि सीधे तौरपर नहीं पर अरबोंके माध्यमके द्वारा। और चाहे उसने अन्य देशोंके समान ही प्रगति की होती तो भी एक प्राचीन सभ्यतामें यह एक प्रबल बौद्धिक जीवनका पर्याप्त प्रमाण होता। विशेषकर प्राचीन विज्ञानके मुख्य अंगों गणित ज्योतिष और रसायनमें उसने बहुत काफी तथा सम्यक् रूपसे खोज की और सिद्धान्त स्थिर किये तथा तर्क या परीक्षणके बलपर कुछ एक वैज्ञानिक विचारों और आविष्कारोंकी भविष्यवाणी की जिनपर यूरोप पहले-पहल बहुत देर बाद ही पहुंचा पर जिन्हें वह अपनी नयी और पूर्णतर विधिके द्वारा एक अधिक दृढ़ आधारपर प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ हुआ। चिकित्साशास्त्रमें वह अत्यन्त प्राचीनकालसे सुसम्पन्न था और उसकी चिकित्सा-पद्धति आज भी जीवित है तथा अभीतक अपना महत्त्व बनाये हुए है यद्यपि बीचमें आकर इसका ह्रास हो गया था और केवल वर्तमान समयमें ही वह अपनी जीवन-शक्तिको फिरसे प्राप्त कर रही है।

साहित्यमें, मन-बुद्धिके जीवनमें, भारतने महान् रूपमें जीवन यापन किया और निर्माण किया। इतना ही नहीं कि उसके पास वेद, उपनिषदें और गीता है,—इस क्षेत्रकी उन अपेक्षाकृत कम महान् पर फिर भी ओजस्वी या मनोरम कृतियोंकी हम चर्चा नहीं करते जो धार्मिक और दार्शनिक काव्यके अतुलनीय स्मारक हैं, और जिनकी कोटिकी कोई भी बड़ी और विशेष मूल्यवान् काव्य-रचना करनेमें यूरोप कभी भी समर्थ नहीं हुआ है, अपितु उसके पास वह बृहत् राष्ट्रीय कृति, महाभारत, भी है जो अपनी परिधिमें काव्यसाहित्यको समूहीत करता है और एक सुदीर्घ निर्माणकारी युगके जीवनको इतनी पूर्णतासे अभिव्यक्त करता है कि एक प्रसिद्ध उक्तिमें, जिसमें एक अति उपयुक्त सुभाषितकी अतिरंजनाके साथ-साथ कुछ औचित्य भी है, इसके संबंधमें यह कहा गया है कि "जो कुछ इस भारत (महाभारत) में नहीं है वह भारतवर्षमें भी नहीं है", और इसके अतिरिक्त उसके पास रामायण भी है जो अपने ढंगकी सर्वाधिक महान् और विलक्षण कविता है, वह नैतिक आदर्शवाद और वीरतापूर्ण अर्द्ध-दिव्य मानव-जीवनका अत्यंत उदात्त और सुन्दर महाकाव्य है, अपिच उसके पास अतीव सुसंस्कृत विचार, ऐन्द्रिय उपभोग, कल्पना, कर्म और साहसिक कार्यके काव्य और उपन्यासकी आश्चर्यजनक समृद्धि, पूर्णता और रंगीनी भी है जो उसके अत्युत्कृष्ट युगके उपन्यास-साहित्यका गठन करती है। और न सृजनका यह सुदीर्घ अनवरत उत्साह संस्कृत भाषाकी जीवनी-शक्तिके नष्ट होनेके साथ समाप्त ही हो गया, बल्कि उसकी अन्य भाषाओंमें, पहले तो पाली और प्राकृत,—दुर्भाग्यवश वह बहुत कुछ लुप्त हो गयी है,[1]—तथा तामिलमें और आगे चलकर हिन्दी, बंगाली, मराठी एवं अन्य भाषाओंमें महान् या सुन्दर कृतियोंका पुंज तैयार करनेमें वैसा ही उत्साह बना रहा और कार्य करता रहा। भारतकी स्थापत्य-कला, मूर्त्ति-कला और चित्रकारीकी सुदीर्घ परंपरा, तूफानी सदियोंके समस्त विध्वंसके बाद जो कुछ बचा है उसमें भी, अपनी कहानी आप ही कह रही है पश्चिमी सौंदर्य-विज्ञानका संकीर्णतर संप्रदाय उसके विषयमें कोई भी सम्मति क्यों न स्थिर करे,—और कम-से-कम उसकी कार्यान्विति तथा कारीगरीकी सूक्ष्मतासे तथा भारतीय मनको अभिव्यक्त करनेकी उसकी क्षमतासे इन्कार नहीं किया जा सकता—फिर भी वह कम-से-कम एक अनवरत सृजन-संबंधी क्रियाशीलताकी साक्षी देती है। और सृजन जीवनका प्रमाण है और महान् सृजन जीवनकी महानताका।

परंतु यह कहा जा सकता है कि ये सब चीजें मनकी हैं, और भारतकी बुद्धि, कल्पना-शक्ति और सौंदर्यप्रिय मन सृजनशील रूपसे सक्रिय रहे होंगे पर फिर भी उसका बाह्य जीवन तो उत्साहहीन, निस्तेज, दीन-हीन, वैराग्यके रंगोंसे धूमिल, संकल्पबल और व्यक्तित्वसे

---

[1]उदाहरणार्थ, पैशाची प्राकृतकी एक कृति जो किसी समय खूब प्रसिद्ध थी और जिसका कि 'कथासरित्सागर' एक निम्न कोटिका रूपांतर है।

शून्य निष्प्रभाव और निष्फल ही रहा। इस स्थापनाको गलेके नीचे उतारना कठिन होगा क्योंकि साहित्य कला और विज्ञान जीवनकी शून्यतामें नहीं फूलते फलते। पर यहां भी तथ्य क्या है? भारतमें केवल महान् संतों ऋषियों विचारकों धर्म-संस्थापकों कवियों, स्रष्टाओं वैज्ञानिकों पंडितों विधिज्ञोंकी ही लंबी तालिका नहीं रही है उसमें महान् शासक, व्यवस्थापक सैनिक विजेता महारथी प्रबल सक्रिय संकल्प योजनाकुशल मन और राज-कारी दृष्टि-शक्तिसे संपन्न व्यक्ति भी हुए हैं। उसने लड़ाइयां लड़ी हैं और शासन भी किया है व्यापार किया उपनिवेश बसाये और अपनी सभ्यताका प्रसार किया है शासन-पद्धतियोंका निर्माण किया और जातियों तथा समाजोंका संगठन किया है यह सब कुछ किया है जो कि महान् जातियोंकी बाह्य कर्मशीलताका गठन करता है। कोई भी राष्ट्र कर्मके उसी अंगमें अपने अत्यंत सजीव आदर्श व्यक्तियोंको आविर्भूत करनेकी प्रवृत्ति रखता है जो उसके स्वभावके अत्यंत अनुकूल हो और उसके प्रबल विचारको प्रकट करता हो और भारतमें महान् संत तथा धार्मिक पुरुष ही मूर्धन्य पदपर अवस्थित रहे हैं तथा महानताकी अत्यंत हृदय-स्पर्शी और अविच्छिन्न नाम-परंपराको प्रस्तुत करते आये हैं जैसे कि रोम अपने योद्धाओं राजनीतिज्ञों और शासकोंके द्वारा ही सबसे अधिक जीवंत रहा। प्राचीन भारतमें ऋषि सर्वप्रमुख व्यक्ति होता था जिसके ठीक पीछे योद्धाका स्थान था जब कि बादके युगकी सबसे अधिक स्पष्ट विशेषता है—बुद्ध और महावीरसे लेकर रामानुज चैतन्य नानक रामदास और तुकाराम तक और इससे भी आगे रामकृष्ण विवेकानंद और दयानंद तक आध्यात्मिक पुरुषोंकी ही एक लंबी अविच्छिन्न शृंखला। पर साथ ही प्रामाणिक इतिहासकी प्रथम उषासे लेकर जो चंद्रगुप्त चाणक्य अशोक एवं गुप्तवंशी सम्राटोंके प्रभावशाली व्यक्तित्वोंसे आरंभ होती है और मध्य युगके अनेकानेक प्रसिद्ध हिंदू और मुस्लिम व्यक्तित्वोंमेंसे होती हुई बिलकुल आधुनिक युगतक पहुंचती है राजनीतिज्ञों और शासकोंके रूपमें भी अद्भुत सफलताएं प्राप्त हुई हैं। प्राचीन भारतमें गणतंत्रों अल्प-जन राज्यों जनतंत्रों तथा छोटे-छोटे राज्योंका जीवन था जिनका कोई भी ऐतिहासिक ब्यौरा अब शेष नहीं है उनके बाद हम देखते हैं साम्राज्य-निर्माणका दीर्घकालीन प्रयत्न सीलोन और समुद्री द्वीपसमूहोंका उपनिवेशीकरण पठान और मुगल राजवंशोंके उत्थान और पतनसे संलग्न तीव्र संघर्ष दक्षिणमें जीवित रहनेके लिये हिंदुओंका संघर्ष राजपूती वीरताका आश्चर्यजनक इतिवृत्त, महाराष्ट्रमें समाजके निम्नतम स्तरोंतक व्यापी हुई राष्ट्रीय जीवनकी भारी उथल-पुथल सिक्खोंकी खालसा जनतंत्रकी विलक्षण गाथा। उस बाह्य जीवनका यथोचित विवरण लिखना अभी बाकी है एक बार चित्रित कर दिये जानेपर वह अनेक मिथ्या कल्पनाओंका अंत कर देगा। पर यह विपुल कार्य-कलाप किन्हीं ऐसे व्यक्तियोंके द्वारा नहीं संपन्न किया गया था जो मन आत्मा और जीवन-शक्तिसे रहित थे मायावादी ऐसी निस्तेज छायाओंके द्वारा नहीं किया गया था जिनमें उनकी अवस्थाको विषादमय और सर्व-विनाशक वैराग्यवादी

बोझके नीचे कुचल डाला गया था, न ही यह स्वप्नविलासियोंकी एक ऐसी जातिका चिह्न प्रतीत होता है जिसकी मनोवृत्ति दार्शनिक हो और जो जीवन तथा कर्मका विरोध करती हो। वे कोई घास-फूसके पुतले या निर्जीव एवं संकल्पशून्य मिट्टीके बोधे या निःशक्त स्वप्न-विलासी नहीं थे जिन्होंने इस प्रकार कर्म किया, योजनाएं बनायीं, विजयें प्राप्त कीं, प्रशासन-की महान् प्रणालियोंका निर्माण किया, राज्य और साम्राज्य स्थापित किये, काव्य, कला और स्थापत्यके महान् आदर्शोंके रूपमें विख्यात हुए अथवा, आगे चलकर, वीरताके साथ विजातीय राज्यसत्ताका सामना किया और जाति या राष्ट्रकी स्वतंत्रताके लिये युद्ध किया। और न वह कोई जीवन-रहित राष्ट्र ही था जिसने अपनी सत्ता और संस्कृतिको सुरक्षित रखा और अबतक जीवित बना रहा तथा निरंतर विरोधी परिस्थितियोंके नित बढ़ते हुए दबावके कारण सर्वदा नया-नया जीवन प्राप्त करता रहा। भारतका वर्तमान धार्मिक, सांस्कृतिक, राज-नीतिक पुनरुज्जीवन जिसे अब कभी-कभी नवजागरण कहा जाता है और जो उसके आलो-चकोंके मनको इतना व्याकुल और व्यथित करता है, परिवर्तित अवस्थाओंमें, उपयुक्त रूपमें, अभीतक कम सजीव पर महत्तर क्रियासमूहमें, उसी चीजकी पुनरावृत्ति मात्र है जो भारतीय इतिहासमें एक सहस्र वर्षतक पुनः-पुनः घटित होती रही है।

और यह स्मरण रखना होगा कि अपनी संस्कृति और प्रणालीके बलपर सारेके सारे राष्ट्रने सार्वजनीन जीवनमें भाग लिया। निःसंदेह, अतीतमें सभी देशोंमें जनसाधारणने कुछ अल्पसंख्यक लोगोंकी अपेक्षा कम सक्रिय और कम जीवंत शक्तिके साथ,—यहांतक कि कभी-कभी तो पूर्ण समृद्धिके किसी आरंभिक प्रकारके आरंभके साथ भी नहीं, बल्कि जीवनके केवल प्राथमिक उपादानोंके साथ,—जीवन यापन किया है, और आधुनिक सभ्यता भी इस विषमतासे अभीतक छुटकारा नहीं पा सकी है, यद्यपि उसने मौलिक जीवन, चिंतन और ज्ञानके लाभों या कम-से-कम आरंभिक अवसरोंको एक अधिक बड़े जनसमुदायके लिये सुलभ कर दिया है। परंतु प्राचीन भारतमें, यद्यपि उच्चतर वर्ग ही नेतृत्व करते थे और जीवनके शक्ति-सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य-वैभवका बहुत बड़ा भाग उन्हींके अधिकारमें था, तथापि आम लोग भी इधर कुछ समय पहलेतक कुछ छोटे परिमाणमें ही सही पर सबल रूपमें और एक अधिक विस्तृत पर कम केंद्रीभूत शक्तिके साथ जीवन यापन करते थे। उनका धार्मिक जीवन किसी अन्य देशके धार्मिक जीवनकी अपेक्षा अधिक गंभीर था, दार्शनिकोंके विचारों और मतोंके प्रभावका रसास्वादन वे अद्भुत सुगमताके साथ करते थे, उन्होंने बुद्धके तथा उनके बाद जो बहुतसे महापुरुष आये उनके उपदेशका श्रवण और अनुसरण किया, उन्होंने संन्यासियोंसे शिक्षा ग्रहण की और वे भक्तों तथा बाउलों (Bouls)[1] के गान गाते थे और इस प्रकार कभी भी रचित अत्यंत कोमल और रमणीय काव्य-साहित्यमें कुछ सबसे

---

[1]बंगालके बाउल सम्प्रदायके भक्त एवं गीतकार बाउल कहलाते हैं।—अनु०

उनके पास थी । हमारे धर्मके महत्तम व्यक्तियोंमेंसे अनेक उन्हींकी देन थे और शूद्रोंमेंसे भी संत प्रकट हुए जिनका सम्मान सारा समाज करता था। प्राचीन हिन्दू युगमें उन्हें राजनीतिक जीवन और शक्तिका अपना हिस्सा प्राप्त था । वे ही जनसाधारण थे वेदमें वर्णित 'विश' थे जिनके कि राजागण नेता होते थे और उनसे तथा पवित्र या राजकीय वर्णोंसे ऋषियोंका जन्म हुआ था । वे अपने ग्रामोंको छोटे-छोटे स्व-शासित गणराज्योंके रूपमें अपने अधिकारमें रखते थे । महान् राज्यों और साम्राज्योंके युगमें वे नगरपालिकाओं और पौर-परिषदोंके सदस्य होते थे और राजनीति-विज्ञानके ग्रंथोंमें जिस विशिष्ट राज-परिषद्का वर्णन मिलता है उसका बहुत बड़ा भाग सर्वसाधारण लोगों वैश्योंसे ही गठित था ब्राह्मण पंडितों और अभिजात क्षत्रियोंसे नहीं । दीर्घकालतक वे किसी लंबे संघर्षकी जरूरत पड़े बिना एक ही बार अपनी अप्रसन्नता प्रकट करके अपने राजाओंपर अपनी इच्छा लादनेमें समर्थ रहे। जब-तक हिन्दू राज्योंका अस्तित्व रहा ये सभी चीजें कुछ अंशमें जीवित रहीं और निरंकुश स्वेच्छाचारी शासनके मध्य-एशियाई रूपोंके जो भारतकी स्वदेशीय उपज कदापि नहीं थे भारतमें प्रविष्ट होनेपर भी उस पुरानी व्यवस्थाका कुछ अंश बचा रहा। कला और काव्य में भी जनसाधारण भाग लेते थे । ये उनके ऐसे साधन थे जिनके द्वारा भारतीय संस्कृतिका सार संपूर्ण जनतामें प्रसारित होता था । प्राचीन समयके महान् विश्वविद्यालयोंके अतिरिक्त प्रारंभिक शिक्षाकी उनकी अपनी एक प्रणाली थी । लोकप्रिय नाट्य प्रदर्शनका अपना एक रूप था जो देशके कुछ भागोंमें अभी हालतक जीवित था । उन्होंने भारतको उसके कलाकार और स्थापत्यवेत्ता तथा जनभाषाओंके अनेक प्रसिद्ध कवि प्रदान किये । उन्होंने अपनी अतीत चिरंतन संस्कृतिके बलपर एक स्वभावगत सौंदर्यात्मक भावना और क्षमताको सुरक्षित रखा जिसका कि भारतीय कारीगरके कार्यमें एक अविच्छिन्न और प्रभावशाली प्रमाण रहा जबतक कि यह रसात्मक भावना और सौंदर्यके मंद बन जाने और क्षीण होनेके कारण विनष्ट या विकृत ही नहीं हो गया जो कि आधुनिक सभ्यताका एक अन्यतम परिणाम हुआ है। और न भारतका जीवन वैराग्य निराशा या विषादसे भरा हुआ था जैसा कि आलोचकका अति तर्कशील मन इसे मानना चाहेगा। इसका बाह्य रूप अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक शांत है इसमें परदेसियोंके सामने एक विशेष प्रकारकी गंभीरता और संयम देखा जाता है जो विदेशी पर्यवेक्षकको धोखेमें डालता है और ह्रासके युगमें इसपर वैराग्य वादिता तथा अनिवृत्तिपरक प्रवृत्तिकी वृत्तिका प्रभाव पड़ा है परंतु देशके साहित्यमें चित्रित जीवन प्रसन्न और प्राणवान है और यहांतक कि आज भी स्वभावकी कुछ विविधताओं और विषाद उत्पन्न करनेवाली अनेकों शक्तियोंके ह्रास हुए भी जीवनके उदार पहलुओंमें हास-परिहास विनम्र रमणीयता और समचित्तता भारतीय चरित्रके अत्यंत स्पष्ट लक्षण हैं।

अतएव यह सारा सिद्धांत ही कि भारत जातिमें अपनी मनोवृत्तिके परिणामस्वरूप जीवन इच्छाशक्ति और क्रियाशीलताका अभाव है, एक कल्पना है। जिन परिस्थितियोंमें पीछे

युगमें इसपर अपना कुछ रग चढाया है उनका अपने उपयुक्त प्रसगमे उल्लेख किया जायगा, पर वे ह्रास-कालका एक अग है, और उस अवस्थामें भी उन्हे काफी देख-भालकर ही ग्रहण करना होगा, परतु इसकी अतीत महानताका कही अधिक लबा इतिहास एक बिलकुल दूसरी ही कहानी सुनाता है। वह इतिहास यूरोपीय ढगसे लिपिबद्ध नही किया गया है, कारण, यद्यपि भारतमें इतिहास और जीवन-चरितकी कलाकी सर्वथा उपेक्षा नही की गयी पर इसका विकास भी पूर्ण रूपसे कभी नही किया गया, न कभी इसका पर्याप्त रूपसे अनुशीलन ही किया गया, और न काश्मीरके एक अकेले दृष्टातको छोडकर और कही भी मुस्लिम राज-वशोंसे पहलेके राजाओं, महापुरुषो और प्रजाजनोके कार्यकलापका कोई स्थिर अभिलेख ही बचा हुआ है। यह निश्चय ही एक त्रुटि है और इसके कारण एक बहुत गहरी खाई बन गयी है। भारतने बहुल रूपमें जीवन यापन तो किया है, पर वह अपने जीवनके इतिहास-को लेखबद्ध करने नही बैठा। उसकी आत्मा और मन अपने महान् स्मारक छोड गये हैं, परतु उसकी शेष चीजो, अधिक बाह्य चीजोके बारेमें हम जितना कुछ जानते हैं—और आखिर वह कम नही है—वह उसकी अपनी लापरवाहीके बावजूद भी जैसे-तैसे बचा रह गया है या हालमें ही प्रकट हो उठा है, जो सही अभिलेख उसके पास थे उन्हे उसने जीर्ण-शीर्ण होकर विस्मृत या विलुप्त हो जाने दिया है। मि आर्चर जब हमे बताते हैं कि हमारे इतिहासमे कोई भी महान् व्यक्ति देखनेमें नही आते तब शायद असलमें उनका मतलब यह होता है कि वे उनकी समझमें नही आते क्योकि उनके कथन और कार्यकलाप पश्चिमी शैलीकी न्याई सूक्ष्मताके साथ लेखबद्ध नही मिलते, उनका व्यक्तित्व, सकल्प-बल एव सृजन-शक्ति केवल उनके कार्य या साकेतिक परपरा और उपाख्यानसे अथवा अपूर्ण अभिलेखोंमें ही प्रकट होती है। और एक अत्यत विचित्र एव मनमानी बात यह है कि इस दोषका कारण जीवनके प्रति रुचिके वैराग्यमूलक अभावको माना गया है, ऐसा माना जाता है कि भारत 'सनातन'में इतना अधिक तल्लीन था कि उसने समयकी जानबूझकर उपेक्षा और अवहेलना की, वैराग्यपूर्ण चितना तथा निवृत्तिमार्गीय शातिके अनुसरणमें इतना गभीर रूपसे एकाग्र था कि उसने कर्मकी स्मृतिको तुच्छताकी दृष्टिसे देखा और उसमें कोई दिलचस्पी नही ली। यह एक और मिथ्या गाथा है। सुरक्षित और सुविचारित अभिलेखके अभावकी ऐसी ही बात अन्य प्राचीन सस्कृतियोमें भी दृष्टिगोचर होती है, परन्तु कोई भी आदमी यह नही कहता कि भारतकी भाति और वैसे ही कारणसे पुरातत्त्वविदोको हमारे लिये मिस्र, असी-रिया या फारसका पुनर्निर्माण करना होगा। यूनानके प्रतिभाशाली विद्वानोंने, उसकी कर्म-परताके पिछले युगमें ही सही, इतिहासकी कालाका विकास किया, और यूरोपने उस कलाको पाला-पोसा और सुरक्षित रखा है, भारत तथा अन्य प्राचीन सभ्यताए इसतक नही पहुची या फिर उन्होने इसके पूर्ण विकासकी उपेक्षा की। यह एक दोष अवश्य है, पर इस बात-का कोई कारण नही कि इस एक मामलेके कारण ही हम अपना रास्ता छोडकर यह मानने

क्योंकि किसी निश्चित उद्देश्यसे या जीवनके प्रति दिलचस्पीका किसी प्रकारका अभाव होनेके कारण ही ऐसा किया गया। और इस दोषके होते हुए भी भारतके अतीतका अनुसंधान यथावधि-उपलब्ध सामग्रीकी बृहद् राशिको जितना ही अधिक अनावृत करता है उतना ही अधिक उसका अतीत जीवनकी महानता एवं कर्मठता स्वयमेव प्रकट हो उठती है तथा कहीं अधिक उभरकर हमारे सामने उपस्थित हो जाती है।

परन्तु इसपर भी हमारा आलोचक यह कहना चाहेगा कि भारतने मानों अपने स्वभावके विरुद्ध जीवन यापन किया और इस सब प्रचुर कर्मके अंदर वैयक्तिक संकल्पको खर्व करने तथा किसी महान् विशिष्ट व्यक्तित्वके अभावका पुष्कल प्रमाण विद्यमान है। इस परिणामपर वह उन तरीकोंसे पहुंचता है जिनमें आलोचककी निष्पक्ष मनोवृत्तिके बजाय पत्रकार या पैम्फ्लेट बाजकी चतुराईकी झलक पायी जाती है। उदाहरणार्थ वह हमें बतलाता है कि भारतने विश्वके महान् पुरुषोंके दलमें केवल एक या अधिक-से-अधिक दो ही महान् नाम प्रदान किये हैं। निश्चय ही इससे उसका अभिप्राय यूरोपके महान् व्यक्तियोंके दलसे है या विश्वके महान् व्यक्तियोंके ऐसे दलसे है जिसकी परिकल्पना यूरोपके मनने की है और जिसमें वह अपने मित्र एवं सुपरिचित पश्चिमी इतिहास और कृतित्वसे संबंध रखनेवाले विख्यात व्यक्तियोंके नाम ठूंस ठूंसकर भर देता है और कृपापूर्वक अधिक विराट्-विशाल नामोंमेंसे बहुत थोड़ोंको ही स्वीकार करता है जिनकी उपेक्षा करना उसे अत्यंत कठिन प्रतीत होता है। यहां हमें उस सूचीकी याद हो आती है जिसे एक महान् फ्रेंच कविने साहित्यके क्षेत्रमें तैयार की थी जिसमें कुछ नामोंकी एक अंतहीन तालिका थी, यूरोपके सभी कवियोंकी नामावलियोंके बराबर ही या उससे भी अधिक लंबी थी! यदि कोई भारतीय उसी भावभावके साथ उस कार्यमें प्रवृत्त हो तो निश्चय वह उसी प्रकार भारतीय नामोंकी एक अंत रहित सूची बना डालेगा जिसमें यूनान और अमरीका अरब फारस चीन और जापानके कुछ महान् साहित्यकारोंके नाम उस विशाल प्रायद्वीपीय आकाशकी छोटी-सी धुंधकी तरह लुप्त हो रहे होंगे। पक्षपातपूर्ण मनोवृत्तिकी इन करतूतोंका कोई मूल्य नहीं। और यह पता लगाना कठिन है कि जब कि आर्चर अन्य महान भारतीय नामोंको द्वितीय श्रेणीमें फेंककर केवल तीन या चार नामोंको ही स्थान देते हैं और तब भी उन्हें उनके समकक्ष अमर यूरोपीय नामोंकी तुलनामें नीचा दिखाते हैं तो वे मूल्यांकनके किस आधारका प्रयास करते हैं। शिवाजी जिनका जीवन एक अतिशय प्रभावशाली और मनोरंजक था और जिन्होंने केवल एक राज्यकी स्थापना ही नहीं की बल्कि एक जातिका निर्माण भी किया किस बातमें क्रामवेल (Cromwell) से हीन हैं? अथवा शंकर जिनकी महान् आत्माने अपने अल्प जीवनके कुछ ही वर्षोंमें सारे भारतकी दिग्विजय कर डाली और उसके निर्वाणवादके समक्ष धार्मिक जीवनका पुनर्निर्माण कर डाला तब धर्मसुधारक लूथरसे किस बातमें कम हैं? क्या बाबर और चन्द्रगुप्त जिन्होंने भारतीय साम्राज्य-निर्माणका कार्य निष्पादित किया और जिनकी महान् प्रशासनिक

पद्धति कुछ परिवर्तनोंके साथ—बहुधा उसे विकृत करनेवाले परिवर्तनोंके साथ—आधुनिक युग-तक जीवित रही, यूरोपीय इतिहासके शासकों और राजनीतिज्ञोंसे हीन व्यक्ति हैं? संभव है कि भारत अपने जीवनके किसी वैसे व्यस्त समयका इतिहासबद्ध विवरण न प्रस्तुत कर सके जैसे कि एथेन्सके कुछ एक वर्ष थे जिनकी मि आर्चर दुहाई देते हैं, संभव है कि, बहुतसे मनोरंजक, पर प्रायः ही उपद्रवजनक और अविश्वसनीय, यहांतक कि दुर्वृत्त और विद्रोही व्यक्तियोंका जो दल नवजागरणके समयके इटलीके नगरोंकी कहानीको अलंकृत और कलुषित करता है, उसकी तुलनाके व्यक्ति भारतके पास न हों, यद्यपि उसके भी अपने अत्यंत व्यस्त समय रहे हैं जिनमें एक भिन्न श्रेणीके व्यक्तियोंकी भरमार थी। परंतु उसमें अनेक शासक, राजनीतिज्ञ और कलाके प्रोत्साहक हुए हैं जो अपने ढंगसे वैसे ही महान् थे जैसे पेरिक्लीज या लोरेंजो दि मेदिसी, उसके ख्यातनामा कवियोंके व्यक्तित्व कालके कुहासेमेंसे अधिक धुंधले रूपमें ही प्रकट होते हैं, पर वे ऐसे संकेतोंको लिये हुए हैं जो एक उच्च आत्मा या एक ऐसी महान् मानवताकी ओर निर्देश करते हैं जैसी एसकिलस या यूरिपिडीजकी थी अथवा एक ऐसी जीवन-कथाकी ओर संकेत करते हैं जो वैसी ही मानवीय और मनोरंजक थी जैसी इटलीके ख्यातिप्राप्त कवियोंकी। और यदि इस एक ही देशकी सारे यूरोपके साथ तुलना की जाय जैसा कि मि आर्चर आग्रह करते है,—मुख्यतः इस आधारपर कि स्वयं भारतवासी जब अपने देशके विस्तार और इसकी अनेक जातियोंकी तथा उस कठिनाईकी चर्चा करते हैं जो उन्हें भारतकी एकताको संगठित करनेमें इतने दीर्घ-कालतक अनुभव हुई है, तो वे भी ऐसी ही तुलना करते हैं,—तब संभव है कि राजनीतिक और सामरिक कार्यके क्षेत्रमें यूरोप चिरकालसे अग्रणी दिखायी दे, पर महान् आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी उस अतुल बहुलताका क्या होगा जिसमें भारत अग्रगण्य है? और फिर, मि आर्चर सर्जनशील भारतीय मनके द्वारा सृष्ट महत्त्वपूर्ण पात्रोंके बारेमें जिनसे कि उसका साहित्य और उसके नाटक भरे हुए है, उद्धततापूर्ण निंदाके साथ चर्चा करते हैं। यहां भी उनकी बातको समझ पाना या मूल्यों-संबंधी उनके मानदंडको स्वीकार करना हमारे लिये कठिन है। कम-से-कम पूर्वीय मनके लिये राम और रावण वैसे ही सजीव, महान् और वास्तविक पात्र हैं जैसे कि होमर और शेक्सपीयरके पात्र, सीता और द्रौपदी निश्चय ही हेलेन और क्लिओपाट्रासे कम जीवंत नहीं हैं, दमयंती और शकुंतला तथा स्त्रीजातिकी आदर्शभूत अन्य देवियां ऐलसेस्टिस या डेसडेमोनासे जरा भी कम मधुर, कमनीय एवं सजीव नहीं हैं। मैं यहां उनकी किसी प्रकारकी उत्कृष्टताकी स्थापना नहीं कर रहा हूं, पर यह आलोचक जिस अतल असमानता और हीनताकी स्थापना करता है वह यथार्थ रूपमें नहीं, बल्कि केवल उसकी कल्पना या उसके देखनेके तरीकेमें ही विद्यमान है।

शायद यही है एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज, एकमात्र वस्तु जो वास्तवमें ध्यान देने योग्य है, अर्थात् मनोवृत्तिका यह भेद जो इन तुलनाओंके मूलमें वर्तमान है। सचमुचमें देखा

सच्चा पात्र अनुभव करता है, उसके विपरीत, भारतीय मन अर्जुनकी शांत-स्थिर वीरतामें, युधिष्ठिरके उत्तम नैतिक स्वभावमें, कुरुक्षेत्रके दिव्य सारथिमें जो अपने अधिकारके लिये नहीं बल्कि धर्म और न्यायके राज्यकी स्थापना करनेके लिये कर्म करते हैं, एक अधिक महान् पात्रके दर्शन करता है तथा एक अधिक मार्मिक आकर्षण अनुभव करता है। जो उग्र या अहम्ग्रस्त अथवा अपनी वासनाओंकी आंधीके साथ उड़नेवाले पात्र यूरोपीय महाकाव्य और नाटकके मुख्य रुचिकर विषय हैं उन्हें वह या तो दूसरी श्रेणीमें डाल देगा अथवा, यदि वह उन्हें एक विशाल आकार-प्रकारमें प्रस्तुत करेगा भी तो वह उन्हें इस प्रकार स्थान देगा कि अधिक उच्च कोटिके व्यक्तित्वकी महानता उभरकर सामने आ जाय, जैसे कि रावण रामके विपरीत गुणोंका प्रदर्शन करता है तथा उसे अधिक आकर्षक बना देता है। जीवनविषयक सौंदर्यविज्ञानमें इनमेंसे एक प्रकारका मन तड़क-भड़कवाले व्यक्तित्वकी सराहना करता है और दूसरे प्रकारका मन तेजस्वी व्यक्तित्वकी। अथवा, स्वयं भारतीय मन इनमें जो भेद करता है उसकी परिभाषामें कहें तो, एक प्रकारके मनकी रुचि राजसिक संकल्प और चरित्रमें अधिक केंद्रित रहती है और दूसरेकी सात्त्विक संकल्प और चरित्रमें।

आया यह भेद भारतीय जीवन और सृजन-संबंधी सौंदर्य-विज्ञानपर हीनताको थोपता है या नहीं इस बातका निर्णय हर एकको अपने-आप करना होगा, परन्तु इतना निश्चित है कि इस विषयमें भारतीय विचार अधिक विकसित एवं अधिक आध्यात्मिक है। भारतीय मनका विश्वास है कि सत्ताके राजसिक या अधिक रंजित अहंकारी स्तरसे सात्त्विक और अधिक प्रकाशमय स्तरकी ओर बढ़नेसे संकल्प और व्यक्तित्व हीन नहीं बल्कि उन्नत होते हैं। आखिरकार, क्या स्थिरता, आत्म-प्रभुत्व, और उच्च संतुलन संकल्पबलके निरे आत्म-प्रस्थापन या आवेगोंकी उग्र प्रताडनाकी अपेक्षा चरित्रकी अधिक महान् एवं अधिक वास्तविक शक्तिके चिह्न नहीं हैं? इन गुणोंके होनेका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्यको अपना कार्य एक हीनतर या कम सबल संकल्पके साथ करना होगा बल्कि केवल एक अधिक यथार्थ, स्थिर-शांत संकल्पके साथ करना होगा। और यह सोचना गलत है कि स्वयं वैराग्यवादको यदि ठीक तरहसे समझा जाय उसका ठीक तरहसे अनुसरण किया जाय तो उसका अर्थ संकल्पशक्तिको मिटा देना ही होता है, सच पूछो तो वह संकल्पबलकी एक अधिक महान् एकाग्रताको जन्म देता है। यही भारतीय दृष्टिकोण और अनुभव है और महाकाव्योंकी उन प्राचीन पौराणिक कथाओंका अर्थ भी यही है,—जिनपर मि आर्चर, उनके पीछे निहित विचारको गलत रूपमें समझनेके कारण, तीव्र आक्षेप करते हैं, पर जो यह बतलाती हैं कि वैराग्यपूर्ण आत्म-प्रभुत्व अर्थात् तपस्याके द्वारा प्राप्त बलमें, जब कि उसका दुरुपयोग भी किया गया तब भी, बहुत बड़ी सामर्थ्य निहित है। भारतीय मनका विश्वास था और अब भी है कि आत्मबल अधिक बाह्य एवं भौतिक रूपमें कार्य करनेवाली संकल्पशक्तिकी अपेक्षा महत्तर वस्तु है, वह संकल्पके एक बलवत्तर केंद्रसे कार्य करता है और उसके परिणाम भी अधिक महान् होते हैं। परन्तु यहां यह कहा

जा सकता है कि भारतने निर्व्यक्तिकको अत्यधिक मूल्य प्रदान किया है और यह चीज स्वभावतः ही व्यक्तित्वको निरुत्साहित करती है। परन्तु इसमें भी—समाधिमें या सनातनकी नीरवतामें अपने-आपको खोनेके अभावात्मक आदर्शको छोड़कर, जो कि इस विषयका असली सार नहीं है—एक भ्रांत धारणा निहित है। यह बात चाहे कितनी ही विरोधा-भासी क्यों न प्रतीत हो मनुष्य सचमुचमें अनुभव करता है कि अपनी सत्ता और इसके पीछे सनातन एवं निर्व्यक्तिकको स्वीकार करना और उसके साथ एकत्वके लिये प्रयत्न करना ही ठीक वह चीज है जो व्यक्तिको उसकी विशालतम महानता और शक्तिमत्ता दे सकती है। क्योंकि यह निर्व्यक्तिकता सत्ताका अभाव नहीं वरन् उसकी सागर-सम समग्रता है। पूर्णता-प्राप्त मनुष्य सिद्ध कहिये या बुद्ध विश्वमय हो जाता है, वह सहानुभूति और एकात्म भाव-में भूतमात्रका आलिंगन करता है, अपनी ही तरह दूसरोंमें भी अपने-आपको अनुभव करता है और साथ ही ऐसा करते हुए विश्व-शक्तिकी अनन्त सामर्थ्योंका कुछ अंश अपने अंदर आहरण कर लेता है। यही भारतीय संस्कृतिका भावात्मक आदर्श है। और जब हम विरोधी आलोचक इस 'सु-स्थित कुलीनतंत्रीय' संस्कृतिमें प्रादुर्भूत कुछ एक महान् व्यक्ति-त्वोंकी श्रेष्ठताका सम्मान करनेके लिये अपनेको बाध्य अनुभव करता है तो वह वास्तवमें राजसिक मनुष्यकी अपेक्षा सात्त्विक तथा सीमित एवं अहंभावपूर्ण मनुष्यकी अपेक्षा विश्वमय मानवकी इस उत्तरोत्तरताके कुछ एक परिणामोंकी ही स्तुति कर रहा होता है। साधारण मनुष्य अर्थात् अर्धमनुष्य मानव या अर्ध-विकसित मनुष्य न बने रहना ही सत्ययुगमें इस प्राचीन प्रयासका अर्थ था और इस अर्थमें ही इसे कुलीनतंत्रीय संस्कृति कहा जा सकता है। परन्तु इसका आत्म-अनुशासनका लक्ष्य सामान्य बाह्य नहीं वरन् आध्यात्मिक कुलीनता था। भारतीय जीवन व्यक्तित्व कला और साहित्यको इसी प्रकाशमें परखना होगा और इस भारतीय संस्कृतिके वास्तविक अर्थमें इस उसकी ठीक समझके साथ देखकर ही उसकी प्रशंसा या निंदा करनी होगी।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

छठा अध्याय

भारतीय कला

भूतकालमें पश्चिमने भारतीय सभ्यताकी, अधिकतर इसके सौंदर्यात्मक पक्षकी, विद्वेषपूर्ण और सहानुभूतिरहित आलोचना की है और उस आलोचनाने इसकी ललित कलाओ, स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकलाकी घृणापूर्ण या तीव्र निंदाका रूप ग्रहण किया है। एक महान् साहित्यकी सपूर्ण रूपमें और अविवेकपूर्वक निंदा करनेमें मि आर्चरको कोई अधिक समर्थन नही मिलेगा, परतु यहा भी यदि उसने प्रत्यक्ष आक्रमण नही किया है तो इसे समझनेमें वह अत्यधिक असफल अवश्य हुआ है पर भारतीय कलापर किये गये आक्रमणमें उसकी आवाज अनेक विरोधपूर्ण आवाजोमेंसे अतिम तथा सबसे उग्र है। किसी जातिकी सस्कृतिका यह सौंदर्यात्मिक पहलू परम महत्त्व रखता है और अपने मूल्याकनके सबधमे लगभग उतनी ही सूक्ष्म परीक्षा और सतर्कताकी अपेक्षा करता है जितनीकी कि दर्शन, धर्म और केंद्रीय रचनात्मक विचार जो कि भारतीय जीवनके आधार रहे है और जिनकी कि अधिकाश कला एव साहित्य अर्थपूर्ण सौंदर्यात्मक रूपोमें एक सचेतन अभिव्यक्ति है। सौभाग्यवश, भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला-सबधी भ्राति दूर करनेके लिये बहुत-सा काम पहले ही किया जा चुका है और, यदि वही काफी होता तो, मै मि हॅवेल (Havell) और डा कुमारस्वामीके ग्रथोका या जिन अन्य लोगोपर पूर्वीय कृतिके पक्षमें पहलेसे अनुकूल मत रखनेका आरोप नही लगाया जा सकता, उनकी काफी समझदारीके साथ लिखी हुई पर जानकारी और पैठमें अपेक्षाकृत कम गहरी आलोचनाओका हवाला दे करके ही सतुष्ट हो जाता। किंतु भारतीय सस्कृतिके मूल प्रेरक-भावोके विषयमें कोई भी पूर्ण विचार बनानेके लिये प्राथमिक तत्त्वोका एक अधिक व्यापक और अनुसधानपूर्ण विवेचन करना आवश्यक है। मै मुख्यतया भारतके उन नयी विचारधाराके लोगोसे अपील कर रहा हू जो दीर्घ कालतक विदेशी शिक्षा, दृष्टिकोण और प्रभावके कारण पथभ्रात रहनेके बाद अपने अतीत और भविष्यके सबधमें फिरसे स्वस्थ और सच्चे विचारकी ओर मुड रहे है, परतु इस क्षेत्रमें

जगली पशुओकी पूजासे लिया था !' मै समझता हू इसी सिद्धातके अनुसार और इसी प्रकार-की स्तमित करनेवाली बुद्धिमत्ताके साथ वह सीताके नेत्रोकी आभा और गहराईके लिये कवनद्वारा दिये गये समुद्रके रूपकमे और भी अधिक आदिम जगलीपन तथा जड प्रकृतिकी बर्बर पूजाकी स्पष्ट साक्षी देखेगा, अथवा बाल्मीकिके द्वारा किये गये अपनी नायिकाकी 'मदिरा-सी आखो', **मदिरेक्षणा**, के वर्णनमे भारतीय कवि-मानसकी पुरानी मदोन्मत्तता और अर्द्ध-मत्त स्फुरणाका प्रमाण पायगा। मि आर्चरकी अत्यत हृदयग्राही युक्तियोका यह केवल एक उदाहरण है। यह कोई अनूठा नमूना नही है यद्यपि यह चरम कोटिका है, और इस विशेष युक्तिकी मूर्खता ही इस प्रकारकी आलोचनाकी तुच्छताको प्रकट कर देती है। यह उस सामान्य आपत्तिसे मिलती-जुलती है जो बगाली चित्रकारोको प्रिय लगनेवाले दुबले-पतले हाथ-पावोपर की जाती है और जिसे कि हम कभी-कभी उनकी कृतिकी सबल निंदाके रूपमें प्रस्तुत किये जाते हुए सुनते है।' एक औसत मनुष्यमें जिससे कि आधुनिक सस्कृतिके उच्च विधानके अधीन यह आशा नही की जाती कि कलाके विषयमें उसे कोई ज्ञानपूर्ण धारणा होगी, इस बातको क्षम्य समझा जा सकता है,——उसकी स्वाभाविक गुणग्राहिताको तो पहले ही निर्विघ्न रूपसे मार डाला और दफनाया जा चुका है। परतु एक माने हुए आलोचकके बारेमें हम क्या कहेगे जो उन सब चीजोका इस प्रकारका अर्थ देनेके लिये गभीरतर उद्देश्योकी उपेक्षा करके ब्योरोपर ही दृष्टि गडाता है ?

परतु इस आलोचनामे अधिक गभीर और महत्त्वपूर्ण आक्षेप भी है, क्योकि मि आर्चर कलाके दर्शनपर विचार करनेमें भी प्रवृत्त होते है। भारतीय कलात्मक सृजनका सपूर्ण आधार जो कि पूर्णतया सचेतन और शास्त्रसम्मत है, प्रत्यक्षत ही आध्यात्मिक और अत-र्ज्ञानात्मक है। मि हॉवेल, इस मूल विशेषतापर ठीक ही बल देते है और प्रसगवश बुद्धिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभवकी पद्धतिकी अनत उत्कृष्टताका उल्लेख करते हैं, यह एक ऐसी स्थापना है जो युक्तिवादी मनको स्वभावत ही चोट पहुचानेवाली है, यद्यपि प्रमुख पश्चिमी विचारक अब इसका अधिकाधिक समर्थन कर रहे है। मि आर्चर तुरत ही एक अत्यत भुथरे गडासेसे इसपर आघात शुरू करते है। इस मार्मिक विषयपर वे किस ढगसे विचार करते है ? एक ऐसे ढगसे जो असली बातको तो सर्वथा छोड देता है और कलाके दर्शनसे जिसका कुछ भी सबध नही है। मि हॉवेलने बुद्धके सर्वश्रेष्ठ अतर्ज्ञानका न्यूटनके महान् अतर्ज्ञानके साथ जो सबध जोडा है, मि आर्चर उसपर अपनी दृष्टि गडाते हैं और इनके साम्यपर आक्षेप करते है क्योकि ये दोनो उपलब्धिया ज्ञानकी दो विभिन्न श्रेणियोमे सबध रखती है, एक तो अपने स्वरूपमें वैज्ञानिक एव भौतिक है और दूसरी मानसिक या चैत्य, आध्यात्मिक या दार्शनिक। वे अपनी (आक्षेपोकी) घुडसालसे उसी पुराने आक्षेपका घोडा दौडाते है कि न्यूटनका अतर्ज्ञान एक लबी बौद्धिक प्रक्रियाका ही अतिम पगमात्र था जब कि इस प्रत्यक्षवादी मनोविज्ञानी और दार्शनिक आलोचकके अनुसार बुद्ध तथा अन्य

प्रकारसे कार्य करे ? अथवा, एक प्रकारके अतर्ज्ञानकी तैयारी लबे बौद्धिक शिक्षणके द्वारा सपन्न हो सकती है, पर वह इसे बौद्धिक प्रक्रियाका अतिम पग नही बना देती, जैसे कि इद्रियोकी क्रिया पहले होनेके कारण वह बौद्धिक तर्कणाको इद्रियानुभूतिका अतिम पग नही बना देती ? तर्कबुद्धि इद्रियोको अतिक्रम कर जाती है और हमें सत्यके अन्य एव सूक्ष्मतर स्तरोमें प्रवेश प्रदान करती है, इसी प्रकार अतर्ज्ञान तर्कबुद्धिको अतिक्रम कर जाता है और हमें सत्यकी अधिक साक्षात् एव ज्योतिर्मय शक्तिमें प्रवेश प्रदान करता है। परतु यह अत्यत स्पष्ट है कि अतर्ज्ञानके प्रयोगमें कवि और कलाकार ठीक उसी प्रकारकी कार्य-धारा-का अवलबन नही कर सकते जिस प्रकार कि वैज्ञानिक या दार्शनिक। लिओनार्दो दा वेसी (Leonardo da Vinci) के सायस-सबधी अद्भुत अतर्ज्ञान और कला-विषयक सर्जन-शील अतर्ज्ञान एक ही शक्तिसे निकले, किंतु उनके चारो ओरकी या अवातर मानसिक क्रियाए भिन्न गुण-धर्म और भिन्न रग-रूपकी थी। स्वय कलामे भी भिन्न-भिन्न प्रकारके अतर्ज्ञान होते है। शेक्सपीयरका जीवन-परिदर्शन अपने स्वरूप और साधनोमे बालजक या इब्सनके पर्यवेक्षणसे भिन्न है, परतु देखनेकी प्रक्रियाका सारभूत भाग जो इसे अतर्ज्ञानात्मक रूप देता है, एक ही है। वस्तुओका बौद्ध एव वैदातिक अवलोकन कलात्मक सृजनके लिये एकसमान शक्तिशाली आरभबिन्दु हो सकते है, वे एकको बुद्धकी शातिकी ओर या दूसरेको शिवके आनद-नृत्य या उनकी महिमाशाली निश्चलताकी ओर ले जा सकते है, और कलाके उद्देश्योके लिये इसका कुछ महत्त्व नही कि इनमेंसे किसको तार्किक दृष्टिसे महत्त्व देनेकी ओर दार्शनिकका झुकाव हो सकता है। ये सब आरभिक विचार है। और इसमे कोई आश्चर्य नही जो इनकी उपेक्षा करनेवाला आदमी भारतकी सूक्ष्म और ओजस्वी कला-त्मक कृतियोको गलत ढगसे समझे।

मि आर्चरके आक्रमणकी दुर्बलता, इसकी व्यर्थकी हुल्लडबाजी और उग्रता तथा इसके सार पदार्थकी क्षुद्रताके कारण हमें उस मानसिक दृष्टिकोणके जिससे कि भारतीय कलाके सबधमें उनकी घृणा उत्पन्न होती है, अत्यत वास्तविक महत्त्वके प्रति अधे नही बन जाना चाहिये। क्योकि, उस दृष्टिकोण और उससे उत्पन्न होनेवाली घृणाकी जड उनसे अधिक गहरी और किसी चीजमें है, अर्थात् सपूर्ण सास्कृतिक शिक्षण और जन्मजात या उपार्जित स्वभावमे तथा जीवनके प्रति मूल मनोवृत्तिमे है और, यदि अपरिमेयको भी मापा जा सकता हो तो, वह दृष्टिकोण उस खाईकी चौडाई मापता है जो अभी हालतक पूर्वी और पश्चिमी मनको तथा, सबसे अधिक, वस्तुओको देखनेके यूरोपीय और भारतीय ढगको पृथक् करती थी। भारतीय कलाके प्रेरक-भावो और उसकी पद्धतियोको समझनेमे असमर्थता और उसमे घृणा या अरुचि कलतक यूरोपके मनमे प्राय सर्वत्र देखनेमें आती थी। इस विषयमें अपनी प्रथम चिरप्रचलित धारणाओमें बधे हुए सामान्य मनुष्य और सस्कृतिके विभिन्न रूपोका मूल्याकन करनेकी शिक्षा पाये हुए योग्य आलोचकके बीच भेद नहीके बराबर था। चार्ल्स

इतनी अधिक चौड़ी थी कि मजबूत बना हुआ कोई भी सांस्कृतिक सेतु उसे पाट नहीं सकता था। यूरोपीय मनके लिये भारतीय कला एक बर्बर अपरिपक्व एवं विकराल वस्तु थी मानवजातिके आदिम जंगलीपन और असभ्य गँवारपनसे उगी हुई एक अस्वस्थ प्रगति थी। यदि अब कुछ परिवर्तन हुआ है तो उसका कारण यह है कि यूरोपीय संस्कृतिका सीमित एवं दृष्टिकोण अद्भुत रूपसे एकाएक विस्तृत हो गया है यहाँतक कि वह अपनी दृष्टिमें आने-वाली वस्तुओंको जिस दृष्टिबिन्दुसे देखने और परखनेकी आदी थी उसमें भी कुछ परिवर्तन आ गया है। कलाके विषयोंमें पश्चिमी मन दीर्घकालतक यूनानी और नवजागरण-कालीन परंपराके अंदर मानो एक कारागारमें ही बंद रहा। बादकी मनोवृत्तिने उस परंपरासे मुक्त होनेके लिये कल्पनाप्रधान और यथार्थवादी प्रभाव-वादोंको केवल दो पार्श्व-पक्ष बनाकर उसे कुछ संशोधित किया परंतु ये उसी इमारतके पार्श्वभाग थे क्योंकि आधार वही था और एक ही मूल नियम इनके विभेदोंको संयुक्त करता था। यह परंपरागत अंधविश्वास कि प्रकृतिका अनुकरण ही कलाका पक्का विधान या सीमाकारी नियम है स्वतंत्रसे स्वतंत्र दृष्टि-को भी नियंत्रित करता था और कलात्मक तथा आलोचनात्मक बुद्धिको अपना पुट देता था। पाश्चात्य कलात्मक सृजनके नियमोंको एकमात्र सही कसौटियाँ माना जाता था और अन्य प्रत्येक वस्तुको आदिम एवं अर्ध-विकसित या फिर विचित्र एवं काल्पनिक और केवल अपनी विचित्रताके कारण ही मनोरंजक समझा जाता था। परन्तु एक अद्भुत परिवर्तन आरंभ हो गया है यद्यपि अभीतक अधिकांशमें पुराने विचारोंका ही प्रभुत्व है। कारागृह यदि टूटा नहीं है तो उसमें कम-से-कम एक चौड़ी दरार जरूर हो गयी है एक अधिक नम-नीय दृष्टि एवं अधिक गंभीर कल्पनाने पुरानी मज्जागत मनोवृत्तिपर अपने-आपको स्थापित करना आरंभ कर दिया है। इसके परिणामके रूपमें और इस परिवर्तनमें सहायता करने-वाले प्रभावके रूपमें पूर्वीय या कम-से-कम चीनी एवं जापानी कला पर्याप्त मान्यता-सी प्राप्त करने लगी है।

परन्तु यह परिवर्तन अभी इतनी दूरतक नहीं गया है कि भारतीय कृतिकी सर्वोत्तम और अत्यन्त विशिष्ट भावना और मनःप्रेरणाका पूर्ण मूल्यांकन हो सके। मि. हैवेलकी-सी दृष्टि या उनका-सा प्रयत्न अभी विरले ही देखनेमें आता है। अधिकांशमें अत्यंत सहानु-भूतिपूर्ण आलोचना भी कला-शिल्पकी सराहना और कल्पनाके प्रति सहानुभूतिपर ही रुक जाती है जो बाह्यरूप समझनेकी कोशिश करती है और कलात्मक संकेतके केवल उतने ही अंशके भीतर पैठती है जितना कि एक अधिक सौम्यतापूर्ण और सुनम्य आलोचक मनकी नयी विस्तृततर दृष्टिके द्वारा तुरत ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु भारतीय कलात्मक सृजनके वास्तविक मूल स्रोत और आध्यात्मिक उद्गमको समझनेका चिह्न नहींके समान है। इसलिये मनभेदकी गहराइयों और उसके कारणोंकी थाह लेना अभी भी उपयोगी है। स्वयं भारतीय मनके लिये यह विशेष रूपमें आवश्यक है क्योंकि विरोधी दृष्टिकोणके द्वारा प्रेरित

मूल्याकनसे वह अपने-आपको अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा और विशेषकर इस बातको अधिक अच्छी तरह पकड पायगा कि भारतीय कलामें सारभूत वस्तु कौन-सी है जिसपर भविष्यमे दृढ रहना होगा और कौन-सी चीज विकासकी एक प्रासगिक घटना या एक अवस्था-मात्र है जिसे नये सृजनकी ओर बढते हुए त्यागा जा सकता है। यह वास्तवमें उन लोगोका कार्य है जिनमे स्वय एक ही साथ सर्जनशील अतर्दृष्टि, कलाकारिताकी योग्यता और दृष्टिसपन्न समीक्षक आख तीनो हो। परतु जिस किसी भी व्यक्तिमे जरा भी भारतीय भाव-भावना है वह कम-से-कम उन मुख्य एव केद्रीय वस्तुओका कुछ वर्णन कर सकता है जो उसके लिये भारतीय चित्रकारी, मूर्तिकला और स्थापत्यको आकर्षक बनाती है। मै बस इतना ही करनेका यत्न करूगा, क्योकि यह अपने-आपमे भारतीय सस्कृतिके सौदर्यात्मक महत्त्वके पहलूका सर्वोत्तम समर्थन और औचित्य होगा।

कलाकी आलोचना जब उस भाव, लक्ष्य एव मूल हेतुकी उपेक्षा करती है जिससे कि किसी विशेष प्रकारकी कलात्मक कृतिका जन्म होता है और जब वह एक सर्वथा भिन्न भाव, लक्ष्य और हेतुके प्रकाशमे केवल बाह्य ब्योरोके द्वारा ही गुण-दोषकी परीक्षा करती है तो वह एक व्यर्थ एव निर्जीव वस्तु बन जाती है। एक बार जब हम मूल वस्तुओको हृदयगम कर लेते है, विशिष्ट प्रणाली और भावनामें पैठ जाते है, उस भीतरी केद्रसे रूप और उसकी कार्यान्विति (execution) की व्याख्या करनेमें समर्थ हो जाते है, तब हम देख सकते है कि अन्य दृष्टिबिंदुओके एव तुलनात्मक मनके प्रकाशमें वह कैसी दिखायी देती है। तुलनात्मक आलोचनाकी भी अपनी उपयोगिता है पर यदि उसे वस्तुत मूल्यवान् बनना हो तो उससे पहले आलोच्य वस्तुके मूल तत्त्वको समझ लेना आवश्यक है। परतु जहा साहित्यकी विस्तृततर एव अधिक नमनीय धारामें यह अपेक्षाकृत सरल है, वहा मेरी समझमें अन्य कलाओमें यह अधिक कठिन है जहा कि भावनाका भेद गहरा होता है, क्योकि वहा मध्यस्थता करनेवाले शब्दका अभाव, भावनासे सीधे रेखा और रूपकी ओर बढनेकी आवश्यकता लक्ष्यकी विशेष तीव्रता और अनन्य एकाग्रताको तथा कार्यान्वितिके दबावको ले आती है। जो वस्तु रचनाकी प्रेरणा देती है उसकी तीव्रता अधिक स्पष्ट शक्तिके साथ प्रकट की जाती है, परतु अपने दबाव और अपनी प्रत्यक्षताके ही कारण वह आवश्यक चीजो और एक साथ रहनेवाली आकर्षक विविधताओके लिये बहुत कम अवकाश देती है। जो वस्तु अभिप्रेत होती हैं और जो निर्मित की जाती हैं वे आत्मा या कल्पनात्मक मनमे गहरा प्रभाव डालती हैं, परतु वे इसकी बहुत थोडी-सी सतहको ही स्पर्श करती है और सपर्कके बिदुओकी सख्या भी अपेक्षाकृत कम ही होती है। किंतु कारण चाहे जो हो, भिन्न प्रकारके मनके लिये इसका मूल्य समझना अपेक्षाकृत कम ही सुगम होता है।

भारतीय मन अपनी स्वाभाविक स्थितिमें यूरोपकी कलाओको वास्तविक रूपमें अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टिसे समझनेमें लगभग वैसी ही या बिलकुल वैसी ही कठिनाई अनुभव करता है

जैसी कि साधारण यूरोपीय मनको भारतीय चित्रकला और भास्कर्यकलाकी भावनामें प्रवेश करनेमें अनुभव होती है। मैंने नारीके एक भारतीय चित्र और यूनानकी प्रेमकी देवीके चित्रमें की गयी एक तुलना देखी है जो इस कठिनाईका एक चरम उमका दृष्टांत उपस्थित करती है। आलोचक मुझे बताता है कि भारतीय चित्र प्रबल आध्यात्मिक भावसे भरा होता है—यहां तो वह भक्तिके अवर्णनीय सक्रिय वास्तविक उल्लास और अस्तित्वसे परिपूर्ण है और यह बात सच है यह एक ऐसा संकेत या यहांतक कि एक ऐसा सत्योन्मेष है जो बाह्य कृतिपर निर्भर रहनेके बजाय रूपमेंसे प्रकट हो उठता या उमड़ पड़ता है,—परंतु यूनानी कृति केवल उत्तेजित शारीरिक या ऐंद्रिय आनंदको ही जागृत कर सकती है। अब क्योंकि मैं यूनानी मूर्तिकलाके भावके भलतलमें कुछ-कुछ प्रवेश कर चुका हूं इसलिये मैं देख सकता हूं कि यह इस विषयका गलत वर्णन है। वह आलोचक भारतीय कृतिके वास्तविक भावमें तो पैठ गया है पर यूनानी कृतिके वास्तविक भावमें नहीं इसीसे तुलनात्मक मूल्यांकनके रूपमें उसकी आलोचनाका मूल्य एकदम जाता रहा। इसमें संदेह नहीं कि यूनानी चित्र बाहरी रूपपर बल देता है पर इसके द्वारा वह एक कल्पनात्मक दृष्टिसंपन्न अंतःप्रेरणाकी ओर ध्यान आकर्षित करता है जिसका लक्ष्य सौंदर्यकी किसी दिव्य शक्तिको प्रकट करना होता है और इसलिये वह हमें एक ऐसी चीज प्रदान करता है जो सौंदर्यबोधात्मक निरे इंद्रिय-सुखसे कहीं अधिक होती है। यदि कलाकारने यह कार्य पूर्णताके साथ किया है तो कृतिका लक्ष्य पूरा हो गया है और वह एक सर्वोत्तम कृतिके रूपमें स्थान प्राप्त करती है। भारतीय मूर्तिकार रूपके पीछे अवस्थित किसी वस्तुपर बल देता है एक ऐसी वस्तुपर जो स्थूल कल्पनासे तो अधिक दूर पर आत्माके अधिक निकट होती है, और वह भौतिक रूपको उस वस्तुके मुकाबले गौण स्थान प्रदान करता है। यदि वह केवल आंशिक रूपमें ही सफल हुआ है या यदि उसने इसे शक्तिके साथ तो संपन्न किया है पर कार्यान्विति में कोई चीज दोषपूर्ण रह गयी है तो उसकी कृति कम महान् होती है चाहे इसके उद्देश्यमें अधिक महान् भावना ही क्यों न विद्यमान हो परन्तु जब वह पूर्ण रूपसे सफल होता है तब उसकी कृति भी एक सर्वोत्कृष्ट रचना होती है और हम इसे शुद्ध हृदयसे पसंद कर सकते हैं यदि हम कलासे आध्यात्मिक किंवा उच्चतर अंतर्ज्ञानमय दृष्टिकी ही सर्वाधिक मांग करते हैं। परन्तु इस बातका दोनों प्रकारकी कृतियोंके उनकी अपनी श्रेणीके अंतर्गत मूल्याकमम हस्तक्षेप करना आवश्यक नहीं।

परन्तु यूरोपकी अन्य बहुत-सी अति सुप्रसिद्ध कृतियोंका निरीक्षण करते समय मैंने स्वयं अपनेको आध्यात्मिक सहानुभूति दिखानेमें असमर्थ पाया है। उदाहरणार्थ मैं टिन्टोरेट्टो (Tintoretto) का कुछ एक अत्यन्त विख्यात चित्र देखता हूं—मानव प्रतिकृतियां नहीं क्योंकि वे मनुष्यकी अंतरात्माको (धार्मिक या चारित्रिक आत्माको ही सही) व्यक्त करती हैं वरन् मान लो कि 'आदम और हौवा (Adam and Eve) 'भगवानका श्रम करते

हुए सेंट जार्ज', 'वेनिस नगर की मंत्रिसभाके सदस्योंके सम्मुख ईसाका आविर्भाव'— इन कृतियोंको देखता हू, और अपनी सत्ताके किसी कोनेमे प्रत्युत्तर न देनेवाली शून्यताके कारण मैं अपने-आपको स्तब्ध और विस्मित-सा अनुभव करता हू। मैं रग-कौशल और परिकल्पनाकी सुन्दरता एव शक्तिको देख सकता हू, मैं बहिर्मुख कल्पनाकी या क्रियाके उत्साह-पूर्ण आकर्षक प्रदर्शनकी क्षमताको देख सकता हू, परन्तु ऊपरी तलके नीचे विद्यमान या रूप-की महानताके तुल्य किसी अर्थको ढूढ निकालनेकी मेरी चेष्टा व्यर्थ ही जाती है। हा, शायद कही-कही कोई प्रासगिक गौण सकेत मुझे मिल जाता है और वह मेरे लिये पर्याप्त नही होता। जब मै अपनी इस असफलताका विश्लेषण करनेका यत्न करता हू तो पहले मुझे कुछ ऐसी परिकल्पनाए दिखायी देती है जो मेरी आशासे या देखनेके मेरे अपने ढगसे मेल नही खाती। यह बलिष्ठ आदम, इस हौवाका इद्रिय-सुलभ सौंदर्य मुझे मानवजातिकी माता या पिताका दर्शन नही कराते, यह अजगर मुझे केवल एक उग्र अशुभसूचक पशु प्रतीत होता है जो वध किये जानेके महासकटमें ग्रस्त है, यह एक भीषण अशुभकी सर्जनशील मूर्ति नही दिखायी देता, ये भारी-भरकम शरीरवाले और दयापूर्ण एव दार्शनिक चेहरेवाले ईसा प्राय मुझे कष्ट ही पहुचाते हैं, ये किसी भी तरह वे ईसा तो नही हैं जिन्हे मैं जानता हू। परन्तु आखिर ये अवातर बाते है, वास्तविक बात यह है कि मैं इस कलाके पास पहलेसे ही एक प्रकारकी अतर्दृष्टि, कल्पना, भावावेग और गूढार्थकी माग लेकर आता हू जिन्हे वह मुझे प्रदान नही कर सकती। और चूकि मै इतना आत्मविश्वासी नही हू कि यह सोचू कि जिस चीजको बडे-बडे आलोचको और कलाकारोकी सराहना प्राप्त होती है वह सराहनीय नही है, अतएव इस कलाको देखकर मैं बस मि आर्चरके द्वारा की हुई किसी भारतीय कृतिकी आलोचनाको ही इसपर लागू करनेकी ओर झुक जा सकता हू और यह कह सकता हू कि इसका केवल ऊपरी कार्य ही सुदर या अद्भुत है पर इसमें कल्पनाका नाम-निशान नही, ऊपरी तलपर जो कुछ है उससे परे कोई भी चीज नही। मै यह समझ सकता हू कि जिस चीजका अभाव है वह असलमे उस प्रकारकी कल्पना है जिसकी मैं व्यक्तिगत रूपमें माग करता हू, पर यद्यपि मेरा उपार्जित सस्कृत मन मुझे यह बात समझा देता है और बौद्धिक रूपमें शायद वह इससे अधिक किसी वस्तुको पकड भी पाये तो भी मेरी मूल सत्ता सतुष्ट नही होगी, प्राण और मासकी जीवनकी शक्ति और हलचलकी इस विजयसे मैं ऊचा नही उठता बल्कि दब-सा जाता हू—यह नही कि स्वय इन चीजोपर अथवा इद्रिय-सबधी या यहातक कि इद्रिय-भोगसबधी विषयोके ऊपर, जिनका कि भारतीय कृतिमें भी नितात अभाव नही है, दिये गये अत्यधिक बलपर मुझे कोई आपत्ति है, इसपर मुझे कुछ भी आपत्ति नही यदि मैं उस अधिक गहरी वस्तुका जिसे मैं इसके पीछे देखना चाहता हू, कम-से-कम कुछ भी अश प्राप्त कर सकू,—और मैं अपने-आपको इटलीके एक अत्यत महान् कलाविद्की कृतिसे विमुख होता हुआ पाता हू जिसमें कि मै किसी "बर्बर" भारतीय चित्र या मूर्तिसे, किसी शात गहन-

गंभीर बुद्ध कालीकी मूर्ति शिव या असुरोंका वध करती हुई अठारह भुजाओंवाली दुर्गासे अपने-आपको संतुष्ट कर सकूं। परंतु मेरी असफलताका कारण यह है कि मैं एक ऐसी चीज ढूंढ रहा हूं जो इस कलाकी भावनामें अभिप्रेत नहीं थी और जिसकी मुझे इसकी विशिष्ट कृतिसे आशा नहीं करनी चाहिये। और यदि मैं मूल यूनानी भावनाकी भांति इस पुनरुज्जीवनकालीन मनोवृत्तिमें अपनेको निमज्जित करता तो मैं अपने आंतरिक अनुभवमें कुछ वृद्धि करके एक अधिक उदार और विश्वव्यापी सौंदर्यभावनाको अधिगत कर पाता।

इस मनोवैज्ञानिक भ्रांति या नासमझीपर मैं इसलिये बल देता हूं कि यह भारतीय कला की महान् कृतियोंके प्रति सामान्य यूरोपीय मनकी मनोवृत्तिकी व्याख्या करती है और इसे इसका ठीक मूल्य प्रदान करती है। यह मन केवल उसी चीजको पकड़ पाता है जो यूरोपीय प्रयत्नसे मिलती-जुलती है और उसे भी घटिया समझता है और यह स्वाभाविक तथा सर्वथा ठीक भी है क्योंकि वही चीज पश्चिमी कृतिमें अधिकके एक अधिक सहज लालसे अधिक सच्चाई और पूर्णताके साथ संपन्न की जाती है। यही कारण है कि मि आर्चरसे अधिक जानकार आलोचक गांधारकी कृत्रिम मूर्तिकलाको उस महान् और सच्ची कृतिकी अपेक्षा जो अपने एकदममें मौलिक और यथार्थ है आश्चर्यजनक रूपसे अधिक पसंद करते हैं —गांधारकी उस मूर्तिकलाको जो कि दो असंगत उद्देश्योंका एक असंतोषजनक एवं प्राय शक्तिहीन संयोग है वे उद्देश्य कम-से-कम असंगत ही हैं यदि उनमेंसे एक दूसरेमें घुल-मिल न जाय जैसा कि यहां वह निश्चय ही दूसरेके साथ घुलमिलकर एक नहीं हो गया है—अथवा यही कारण है कि यूरोपीय मन कुछेक दूसरे या तीसरे दर्जेकी रचनाओंकी प्रशंसा करता है जो कि अन्यथा समझमें नहीं आ सकती और वह कुछ अन्य रचनाओंसे जो उदात्त और गंभीर तो हैं पर उसकी धारणाओंकी दृष्टिसे विचित्र हैं मुंह मोड़ लेता है। या फिर वह हिंदू-मुस्लिम कृति जैसी कृतिकी जो चाहे पश्चिमी नमूनोंसे किसी प्रकार भी नहीं मिलती-जुलती पर किन्हीं किन्हीं स्थलोंपर इसकी सौंदर्यात्मक धारणाओंके वृत्तकी बाहरी सीमाओंमें प्रविष्ट होनेकी सामर्थ्य रखती है सराहना करते हुए ग्रहण करता है—पर क्या वह वास्तवमें गहराईके साथ समझकर की गयी एक पूर्ण सराहना होती है? वह यहांतक कि ताजमहलसे इतना अधिक प्रभावित होता है कि यह माननेकी चेष्टा करता है कि यह इटलीके किसी मूर्तिकारकी रचना है जो निःसंदेह एक विस्मयजनक प्रतिभासे संपन्न था और जिसने एकमात्र भारतमें ही इस एक घटीमें अपने आपको अद्भुत रूपमें भारतीय बना लिया था—क्योंकि भारत चमत्कारोंका देश है—और जो संभवत उसी प्रयासके मारे मृत्यु-मुखमें चला गया क्योंकि वह हमारी सराहनाके लिये और कोई भी कृति नहीं छोड़ गया है। और फिर कम-से-कम मि आर्चरके अनुसार वह (यूरोपीय मन) जावाकी कृतियोंकी उसकी मानवीयताके कारण स्तुति करता है और मानता है कि उसमें यह परिणाम निकलता है कि वह भारतीय नहीं है। [illegible] पीछे भारतीय कृतिके साथ उसकी तुलना

एकता इस मनको नही दिखायी देती क्योंकि भारतीय कृतिका मूलभाव एवं आभ्यतरिक अर्थ इस मनकी दृष्टिके प्रति शून्यवत् है और यह केवल बाह्य रूपको, अर्थात् अर्थके केवल एक संकेतको ही देखता है जिसे वह, इसी कारण, नही समझ पाता और नापसंद करता है। ठीक इसी तरह कोई यह भी कह सकता है कि बड़े अक्षरोंवाली देवनागरी लिपिमें लिखी हुई गीता एक बर्बर भीषण या निरर्थक वस्तु है, परंतु घसीटकी लिपिमें मानवीय और बुद्धि-गम्य हो जाती है, अत भारतीय नही रहती।

परंतु, साधारणतया, यदि इस मनको कलासंबंधी किसी प्राचीन, हिंदू, बौद्ध या वैदांतिक वस्तुके सामने उपस्थित किया जाय तो यह उसकी ओर एक शून्य या रोषपूर्ण दुर्बोधता-के भावमे दृष्टिपात करेगा। यह उसका अर्थ ढूढता है पर इसे कोई भी अर्थ नही दिखायी देता, और इसका कारण या तो यह है कि इसे अपने-आपसे कोई अनुभव नही है और इस कलाका वास्तविक अर्थ क्या है तथा यह किस भावको प्रकट करती है इसकी कल्पना करना ही इसे कठिन प्रतीत होता है और इसे अनुभव करना तो और भी अधिक कठिन, अथवा इसका कारण यह है कि यह उस चीजको ढूढनेका आग्रह करता है जिसे यह अपने यहाकी कलामें देखनेका अभ्यस्त है और, उसे न पानेपर इसे निश्चय हो जाता है कि इसमें देखने-योग्य या मूल्यवान वस्तु कोई भी नही है। अथवा यदि इसमें कोई ऐसी चीज है भी जिसे यह समझ सकता है तो भी यह उसे समझता नही है क्योंकि वह भारतीय रूपमे और भार-तीय ढगसे व्यक्त की हुई है। यह पद्धति एव आकारको देखता है और उसे अपरिचित तथा अपने नियमोंके विपरीत पाता है तो विद्रोह, घृणा और जुगुप्सा अनुभव करता है, उसे एक भीषण, बर्बर, कुरूप या निरर्थक वस्तु कहकर उसकी चर्चा करता है, तीव्र घृणा या अवज्ञाके भावमें आगे बढ जाता है। अथवा यदि यह महानता या शक्तिके विश्लेषण न करने योग्य सौंदर्यके किसी बोधसे अभिभूत हो जाता है तो भी यह एक भव्य बर्बरताकी ही बात करता है। क्या तुम समझके इस खोखलेपनका प्रकाशप्रद दृष्टात चाहते हो? मि आर्चर ध्यानी बुद्धको देखते है जिनमें अपनी परम, अगाध और अनंत आध्यात्मिक शांति है जिसे प्रत्येक सुसंस्कृत प्राच्य मन तुरत अनुभव कर सकता है तथा अपनी सत्ताकी गह-राइयोंमें जिसका प्रत्युत्तर भी दे सकता है, और उन्हे देखकर वे कहते है कि उनमें कुछ भी नही है,—है केवल झुकी हुई पलके, अचल आसन और निस्तेज चेहरा, मेरी समझमें इससे उनका मतलब है शात और निर्लिप्त चेहरा।' सात्वनाके लिये वे गाधार-शैलीकी

'एक टिप्पणीमें मि आर्चर इन बुद्ध-मूर्तियोके विषयमें दिये जानेवाले एक मूर्खतापूर्ण समर्थन-की चर्चा करते है और, बहुत ठीक ही, इसका निराकरण भी करते हैं कि इनकी महानता और आध्यात्मिकता रचनामें बिलकुल नही है, बल्कि कलाकारकी भक्तिमें है। यदि कला-कार उस वस्तुको जो उसके अपने अदर थी अपनी कृतिमें प्रकट नही कर सकता—और यहा

बुद्ध प्रतिमाके भावावेशकी यूनानी श्रेष्ठताकी ओर, या जीवित-जाग्रत रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी ओर मुड़ते हैं जो पेशावरसे कामाकुरा (Kamakura) तकके किसी भी बुद्धसे अधिक आध्यात्मिक हैं यह तुलना-पद्धतिका अनुचित दुरुपयोग है जिसका विरोध करनेवालोंमें मैं समझता हूं स्वयं वे महाकवि ही सर्वप्रथम होंगे। यहां हम उसके मनमें स्थित पूर्ण नासमझकी अन्धकारपूर्ण खिड़की बंद दरवाजा और यहीं हम यह भी देखते हैं कि क्या सामान्य पश्चिमी मन भारतीय कलाके पास उससे भिन्न चीजकी मांग लेकर आता है जिस कि उसका विशिष्ट भाव और उद्देश्य हमें प्रदान करना चाहता है और उसकी मांग करते हुए वह उस प्रकारकी आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा सर्जनशील दृष्टि, कल्पना-शक्ति और आत्माभिव्यक्तिकी शैलीके अन्य स्तरमें प्रवेश करनेके लिये तैयार नहीं होता।

एक बार यह बात समझमें आ जानेपर हम कलात्मक सर्जनकी मूल भावना और प्रणाली-के उस भेदकी ओर मुड़ सकते हैं जिसने पारस्परिक नासमझीको जन्म दिया है क्योंकि यह हमें इस विषयके भावात्मक पक्षकी ओर ले जायगा। समस्त महान् कलात्मक कृति अभि-व्यक्तिकी एक क्रियासे वस्तुतः किसी बौद्धिक विचार या उच्चतम कल्पनासे नहीं—न तो केवल मानसिक रूपांतर है—बल्कि जीवन या सत्ताके किसी सत्यके नीचे अन्तर्ज्ञानसे उस सत्यके किसी अर्थपूर्ण रूपसे मनुष्यके मनमें हुए उसके किसी विकाससे उद्भूत होती है। और इस विषयमें महान् यूरोपीय और महान् भारतीय रचनामें कोई भेद नहीं है। तो फिर यह विपुल भेद कहांसे आरंभ होता है? यह भेद हरएक चीजमें विद्यमान है अंतर्ज्ञाना-त्मक दृष्टिके विषय और क्षेत्रमें दृष्टि या शक्तिको कार्यान्वित करनेकी पद्धतिमें कार्याभिव्यक्ति-में बाह्य रूप और शिल्प प्रणालीके द्वारा किये गये मार्गमें मानव मनके प्रति प्रकट करनेके सारे तरीकेमें यहांतक कि हमारी सत्ताके उस केंद्रमें भी जिसे यह रचना आकर्षित करती है। यूरोपीय कलाकार अपनी अंतःस्फुरणा जीवन और प्रकृतिमें विद्यमान किसी बाह्य रूपसे मिलनेवाले उत्तेजके द्वारा प्राप्त करता है अथवा यदि यह उसकी अपनी अंतरात्माकी किसी वस्तुसे उद्भूत होती है तो तुरंत ही वह इसका संबंध एक बाह्य अवलंबनके साथ जोड़ देता है। उस अंतःस्फुरणाको वह अपने सामान्य मनमें उतार लाता है और बौद्धिक विचार एवं बुद्धिगत कल्पनाको उस मानसिक उपादानका जामा पहनानेके काममें लगा देता है जो प्रेरित बुद्धि भावावेश और सौन्दर्य-बोधको अपने ही रूपमें परिणत कर डालेगा। तब वह अपनी आंख और हाथको उस उन रूपोंमें क्रियान्वित करनेमें नियुक्त कर देता है जो जीवन और प्रकृतिके यथार्थ-सुन्दर 'अनुकरण' से आरंभ करते हैं—और साधारण हाथोंमें

जो चीज प्रकट की गयी है वह भक्ति नहीं है,—जो उसकी कृति एक भावकी अनभिव्यक्त वस्तु है। परन्तु यदि उसने उस चीजको जो उसने अनुभव की है प्रकट कर दिया है तो जो मन उसकी कृतिको देखता है उसमें भी उसे अनुभव करनेकी सामर्थ्य अवश्य होनी चाहिये।

अधिकांशतः यहीं समाप्त हो जाते हैं—ताकि वे उस व्याख्यातक पहुंच सकें जो उसे सचमुच ही एक ऐसी वस्तुकी प्रतिमूर्तिमें बदल देती है जो हमारी अपनी सत्ता या वैश्व सत्ताकी कोई बाह्य वस्तु नहीं बल्कि जो साक्षात् की गयी वास्तविक वस्तु थी। और किसी कृतिपर दृष्टिपात करते हुए हमें रंग, रेखा एवं विन्यासके द्वारा या और किसी भी ऐसी चीजके द्वारा जो बाह्य साधनोंका अंग हो, उस वास्तविक वस्तुकी ओर, इन बाह्य वस्तुओंके मानसिक संकेतोंकी ओर लौटना होगा और इनके द्वारा संपूर्ण विषयकी आत्माकी ओर जाना होगा। आकर्षण सीधे गभीरतम आत्मा एवं अंतःस्थित अध्यात्म-सत्ताकी दृष्टिको नहीं होता बल्कि ऐंद्रिय, प्राणिक, भावमय, बौद्धिक और कल्पनाक्षम सत्ताके प्रबल जागरणके द्वारा बाह्य अंतःकरणको ही होता है, और आध्यात्मिक सत्ताका तो हम उतना ही अधिक या उतना ही कम अंश प्राप्त करते हैं जितना कि बाह्य मनुष्यके अनुकूल हो सकता है और उसके द्वारा अपनेको प्रकट कर सकता है। जीवन, कर्म, मनोवेग, भावावेश, विचार, विश्व-प्रकृति जो स्वयं अपने लिये तथा अपने अंदर विद्यमान सौंदर्यात्मक आनंदके लिये देखे गये हों—ये ही इस सर्जनशील अंतर्दर्शनका विषय और क्षेत्र हैं। इसमें अधिक कोई वस्तु जिसे भारतीय मन इन चीजोंके पीछे अवस्थित जानता है, यदि झांकती भी है तो अनेक पर्दोंके पीछेसे ही। अनंत और उसके देवताओंकी साक्षात् और अनावृत उपस्थितिका आवाहन नहीं किया जाता और न इसे महत्तर महानता एवं उच्चतम पूर्णताके लिये आवश्यक ही समझा जाता है।

प्राचीन भारतीय कलाके महत्तम स्वरूपका सिद्धांत—और वह महत्तम स्वरूप ही शेष सारी कलाको उसका आकार-प्रकार प्रदान करता है तथा कुछ अंशमें उसपर अपनी छाप और प्रभाव भी डालता है—एक और ही प्रकारका है। उसका सबसे उच्च कार्य है—अंतरात्माकी दृष्टिके सम्मुख परम आत्मा, अनंत एवं भगवान्‌के कुछ अंशको प्रकट करना, परम आत्माको उसकी अभिव्यक्तियोंके द्वारा, अनंतको उसके सजीव सांत प्रतीकोंके द्वारा और भगवान्‌को उनकी शक्तियोंके द्वारा प्रकट करना। या फिर उसे अंतरात्माकी बोध-शक्ति या भक्ति-भावना या, कम-से-कम, अध्यात्ममय या धर्ममय रसात्मक भावावेगके सामने देवताओं-को प्रकट करना, प्रकाशमय रूपमें उनकी व्याख्या करना या किसी प्रकार उनका संकेत देना होता है। जब यह पवित्र कला इन ऊंचाइयोंसे उतरकर हमारे लोकोंके पीछे अवस्थित मध्यवर्ती लोकोंतक, हीनतर देवताओं या जिनोंतक पहुंचती है, तब भी यह ऊपरसे किसी शक्ति या किसी संकेतको उनमें ले आती है। और जब यह बिलकुल नीचे जड़ जगत्‌तक और मनुष्यके जीवन तथा बाह्य प्रकृतिकी वस्तुओंतक पहुंचती है तो भी यह महत्तर अंतर्दृष्टि, पवित्र छाप और आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वथा रहित नहीं हो जाती, और अधिकांश उत्तम कृतियोंमें—विश्रामके और गोचर पदार्थोंके साथ विनोदपूर्ण या सजीव क्रीडाके क्षणोंको छोड़कर—सदा ही कोई और चीज भी होती है जिसमें जीवनका जीवंत चित्रण

अभिव्यक्त करना है, और इसके लिये उसे प्रत्येक ब्योरे तथा सहायक वस्तुको अपने उद्देश्यके साधन या सहायकके रूपमे परिणत करना होगा। और जब उसे किसी मानवीय अभिलाषा या घटनाका चित्रण करना होता है तब भी प्राय यह केवल यही चीज नही होती वल्कि अतरात्माके अदरकी कोई और चीज भी होती है या वह अदरकी चीज ही अधिक मात्रामें होती है जिसकी ओर यह केवल इगित करती है या जिससे यह उद्भूत होती है अथवा उस कार्यके पीछे अवस्थित कोई शक्ति होती है जिसे उसकी योजनाकी भावनामें प्रवेश करना होता है और जो प्राय ही एक वस्तुत प्रधान वस्तु होती है। और जो आख उसकी कृतिको देखती है उसके द्वारा उसे केवल बाह्य सत्ताकी उत्तेजनाको ही नही वरन् अतरात्माको भी आकर्षित करना है। कोई भली-भाति यह कह सकता है कि यदि हमें भारतीय कलात्मक कृतिके सपूर्ण अर्थमे प्रवेश करना हो तो उस सौंदर्यात्मिक सहजप्रेरणाके जो कला-विषयक समस्त मूल्याकनके लिये आवश्यक है, साधारण विकासके परे हमारे अदर एक आध्यात्मिक अतर्दृष्टि या सस्कृतिका होना आवश्यक है, अन्यथा हम केवल ऊपरी सतहकी बाह्य वस्तुओ या, अधिकसे अधिक, ऊपरी सतहसे ठीक नीचेकी वस्तुओतक ही पहुच पायेंगे। यह एक अतर्ज्ञानात्मक एव आध्यात्मिक कला है और इसे अतर्ज्ञानात्मक एव आध्यात्मिक आखसे ही देखना होगा।

यही भारतीय कलाका विशिष्ट स्वरूप है और इसकी उपेक्षा करना उसे बिलकुल ही न समझना या बहुत गलत समझना होगा। भारतीय स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकला अपनी अत प्रेरणामें भारतीय दर्शन, धर्म, योग और सस्कृतिकी केद्रीय वस्तुओंके साथ घनिष्ठत एक ही नही है वल्कि वे इनके गूढार्थकी विशेष रूपसे तीव्र अभिव्यक्ति भी हैं। साहित्यमें तो ऐसा बहुत कुछ है जिसका मूल्याकन इन चीजोमें अधिक गहरा प्रवेश किये बिना काफी अच्छी तरहसे किया जा सकता है, परतु अन्य कलाओका, वे हिंदू हों या बौद्ध, जो अवशेष बच रहा है उसका अपेक्षाकृत बहुत ही थोडा भाग ऐसा है जिसके बारेमें यह बात कही जा सकती हो। वे एक बहुत बडी हदतक भारतके आध्यात्मिक, चितनात्मक और धार्मिक अनुभवकी पवित्र सौदर्यपूर्ण लिपि रही है।

एवं तैरता रहता है जैसे कि एक अभौतिक वातावरणमें। जीवनको आत्मामें या उसके या परेकी किसी वस्तुके एक संकेतमें देखा जाता है अथवा वहां कम-से-कम उस वस्तुका एक स्पर्श एवं प्रभाव होता है जो उस चित्रणको रूप देनेमें सहायक होता है। यह बात नहीं है कि समस्त भारतीय कृतियां इस आदर्शको चरितार्थ करती हैं, निःसंदेह उनमें ऐसी भी बहुत-सी हैं जो इस ऊंचाईतक नहीं पहुंचती नीचे रह जाती हैं निष्प्रभाव या यहांतक कि विकृत होती हैं परन्तु सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यन्त विशिष्ट प्रभाव एवं कार्यनिर्मिति ही किसी कलाको अपनी रंगत देती है और इन्हींके द्वारा हमें निर्णय करना चाहिये। यह पूछा तो भारतीय कलाका भी आध्यात्मिक लक्ष्य और मूलतत्त्व वही है जो शेष भारतीय संस्कृतिका है।

अतएव आत्माके अंदर देखना ही भारतीय कलाकारका अपना विशेष तरीका हो जाता है और यही कला-संबंधी धारणा उसके लिये विधान है। उसे जिस चीजको व्यक्त करना हो उसका सत्य पहले उसे अपनी आध्यात्मिक सत्तामें देखना होगा और अपने सर्जक मनमें उसका रूप गढ़ना होगा अपने आदर्शके लिये अपनी प्रामाणिकता अपने नियम और विधानके लिये या अपने प्रेरणा-स्रोतोंके लिये वह पहले बाह्य जीवन और प्रकृतिपर दृष्टि डालनेके लिये बाध्य नहीं है। जो चीज उसे व्यक्त करनी है वह जब एक सर्वथा आंतरिक वस्तु है तो वह बाहर दृष्टि डालनेके लिये बाध्य हो भी क्यों? अपने प्रेरणाप्रद साधन के रूपमें वह जिन चीजोंपर निर्भर करता है वे बुद्धिगत विचार मानसिक कल्पना एवं बाह्य भावावेग नहीं बल्कि आत्माका विचार उसकी कल्पना और उसका भावावेग है और मानसिक प्रतिरूप तो प्रकटन-कार्यमें सहायता करनेके लिये गौण साधनमात्र हैं और केवल कुछ अंशमें ही रंग तथा रूप प्रदान करते हैं। स्थूल रूप रंग रेखा और योजना उसके अभिव्यंजनाके भौतिक साधन हैं, परंतु उनका प्रयोग करते समय वह प्रकृतिका अनुकरण करनेके लिये बाध्य नहीं है बल्कि उसे रूप तथा अन्य सभी चीजोंको इस प्रकार बनाना होता है कि वे उसकी अंतर्दृष्टिको प्रकाशित करें और यदि यह कार्य केवल किसी ऐसे सुधार, किसी ऐसी भावभंगिमा किसी ऐसे मोड़ या प्रतीकात्मक परिवर्तनके द्वारा ही किया जा सकता हो या सुधार रूपमें किया जा सकता हो जो भौतिक प्रकृतिमें उपलब्ध नहीं है तो उसका प्रयोग करनेके लिये वह पूर्ण रूपसे स्वतंत्र है, क्योंकि उसकी अंतर्दृष्टिके सामने प्रकट होनेवाला सत्य ही जिस चीजको वह देख रहा और प्रकट कर रहा है उसका एकत्व ही उसका एकमात्र विषय है। रेखा और रंग आदि वस्तुएं उसका पहला नहीं बल्कि सबसे पिछला कार्य है क्योंकि उन्हें अपने ऊपर उन अगोचर वस्तुओंका भार वहन करना है जो उसके मनमें पहलेसे ही आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर चुकी हैं। उदाहरणार्थ जब हमारे लिये बुद्ध भगवान्‌के चेहरे और आकृतिका या उनके जीवनकी किसी एक प्रबल अभिलाषा या घटनाका पुनः चित्रण नहीं करता है बल्कि मूर्ति प्रतिमूर्तिके द्वारा निर्वाणकी शांतिको

एक निर्देश एवं संकेत ही होता है, बहुधा वह एक ऐसा प्रतीक होता है जो अपने मुख्य व्यापारमें एक आध्यात्मिक भावावेग, विचार और प्रतिमूर्तिका आधार होता है, वह भावावेग आदि फिर अपनेसे परे उस आत्माके कम निरूपणीय, पर अधिक सबल रूपमें गोचर सत्यकी ओर जाते हैं जिसने सौंदर्यात्मक मनमें इन गतिविधियोंको उद्दीपित किया है और इनके द्वारा अर्थपूर्ण आकारोंमें परिणत हो गया है।

भारतके चिंतनात्मक और सर्जनशील मनकी यह विशिष्ट वृत्ति इस बातको आवश्यक बना देती है कि इसकी कृतियोंके विषयमें विचार करते समय हम उन कृतियोंसे परे एकदम उस सत्यके आंतरिक मूल भावतक पहुंचनेका यत्न करें जिसे कि भारतीय मन अभिव्यक्त करता है और बाहरसे नहीं बल्कि उसी सत्यपरसे उन्हें देखनेकी कोशिश करें। और सच पूछो तो भौतिक ब्योरों तथा उनके समन्वयसे आरंभ करना मुझे भारतीय कला-कृतिको देखनेका बिलकुल गलत तरीका मालूम होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी आलोचनाकी रूढ़िगत शैलीका मतलब है—शिल्प और रूपका तथा रूपकी प्रत्यक्ष कहानीका विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विचार करना और फिर सुन्दर या प्रभावशाली भावावेग और परिकल्पनाके किसी प्रकारके मूल्यांकनपर पहुंचना। कुछ एक गंभीरतर तथा अधिक संवेदनशील मनवाले आलोचकोंमें ही हम इस गहराईसे परे अधिक गंभीर वस्तुओंको देख पाते हैं। भारतीय कलापर यदि इस प्रकारकी आलोचना-शैलीका प्रयोग किया जाय तो यह उसे निष्फल या अर्थहीन कह डालती है। यहां एकमात्र ठीक तरीका यह है कि एक पूर्ण अंतर्ज्ञानात्मक या ईश्वर-प्रेरित प्रतीतिके द्वारा अथवा समग्र वस्तुकी किसी समाहित एकाग्रताके द्वारा, जिसे भारतीय परिभाषामें 'ध्यान' कहते हैं, तुरंत ही आध्यात्मिक अर्थ और वातावरणतक पहुंचा जाय, अपने-आपको उसके साथ यथासंभव पूर्ण रूपसे एक कर दिया जाय, और केवल तभी शेष सब चीजेंका सहायक अर्थ एवं मूल्य पूर्ण और सत्य-प्रदर्शक बलके साथ प्रकट होगा। क्योंकि, यहां आत्मा ही रूपको वहन करती है, जब कि अधिकांश पश्चिमी कलामें रूप ही, आत्माका जो कुछ भी अंश वहां विद्यमान हो उसे वहन करता है। यहां एपिक्टीटस (Apictetus) की एक चमत्कारक उक्ति स्मरण हो आती है जिसमें वह मनुष्यका "शवको उठाये हुई एक छोटी-सी आत्मा" के रूपमें वर्णन करता है। पर अधिक सामान्य पश्चिमी दृष्टि सजीव जड़तत्त्वपर जमी हुई है जो अपने जीवनमें आत्माके एक जरासे अंशको वहन करता है। किंतु भारतीय मन और भारतीय कलाकी दृष्टि उस वृहत्, असीम आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ता, महान् आत्मा, की दृष्टि है जो अपनी उपस्थितिके समुद्रमें हमारे सामने अपनी जीवंत आकृतिको ले आती है, यह आकृति उसकी अपनी अनंतताकी तुलनामें चाहे छोटी ही होती है किंतु फिर भी जो शक्ति इस प्रतीकको अनुप्राणित करती है उसके द्वारा उस अनंतकी आत्म-अभिव्यक्तिके किसी रूपको आश्रय देनेके लिये वह पर्याप्त होती है। अतएव यह आवश्यक है कि यहां हम केवल तर्कबुद्धि और सौंदर्यात्मक कल्पनाके द्वारा अनु-

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

सातवां अध्याय

भारतीय कला

वास्तुकला मूर्तिकला और चित्रकला ये तीन महान् कलाएं हैं जो आंखके द्वारा आत्माको आकर्षित करती हैं और इसलिये ये वे चीजें भी हैं जिनमें 'पोषक और अपो-षक' अपने ऊपर अधिकतम बल देते हुए भी एक दूसरेकी अत्यधिक आवश्यकता अनुभव करते हुए परस्पर संयुक्त होते हैं। यहां अपने प्रधान प्रधान अंगों अनुपातों रेखाओं और रंगोंसे युक्त आकार इन्हें केवल इतनी उस सेवाके द्वारा ही उचित ठहरा सकता है जो वे किसी ऐसी अगोचर वस्तुकी करती हैं जिसकी अभिव्यक्ति आकारको करनी होती है। आत्मा आंखके द्वारा अपने प्रति अपने-आपको प्रकट करनेके लिये स्थूल रूपकी समस्त संभव सहा-यताकी अपेक्षा करती है फिर भी वह इसकी मांग करती है कि यह अपने महत्तर अर्थका यथासंभव अधिकसे अधिक पारदर्शक पर्दा हो। पूर्वकी कला और पश्चिमकी कला—प्रत्येक अपनी विशिष्ट या मध्यम अवस्थामें क्योंकि अपवाद तो सदा ही होते हैं—इन दो परस्पर गुंथी हुई शक्तियोंकी समस्याको सर्वथा भिन्न प्रकारसे हल करती हैं। पश्चिमी मन रूपसे आकृष्ट और आबद्ध हो जाता है उसीपर टिका रहता है और उसके मोहक आकर्षणसे परे नहीं जा सकता उसको अपने सौन्दर्यके लिये ही उससे प्रेम करता है उसकी अत्यंत प्रत्यक्ष आयास सीधे ही जो भावमय बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक सुझाव उत्पन्न होते हैं उन्हींपर निर्भर रहता है आत्माको रूपमें कैद कर देता है प्राय यहांतक कहा जा सकता है कि इस मनके लिये रूप आत्माकी सृष्टि करता है आत्मा अपनी सत्ताके लिये और उसे जो कुछ कहना होता है उस सबके लिये रूपपर निर्भर करती है। इस विषयमें भारतीय मनोभाव इस विचारके सर्वथा विपरीत है। भारतीय मनके लिये रूप आत्माकी एक सृष्टिके रूपमें ही अस्तित्व रखता है और किसी रूपमें नहीं और वह अपना समस्त अर्थ एवं मूल्य आत्मासे ही प्राप्त करता है। प्रत्येक रेखा आकार-प्रकारकी व्यवस्था रंग आकृति भंगिमा प्रत्येक भौतिक संकेत—वे चाहे अनेक बहुल और समृद्ध ही क्यों न हों—प्रथमत और अंतत

एक निर्देश एव सकेत ही होता है, बहुधा वह एक ऐसा प्रतीक होता है जो अपने मुख्य व्यापारमें एक आध्यात्मिक भावावेग, विचार और प्रतिमूर्तिका आधार होता है, वह भावावेग आदि फिर अपनेसे परे उस आत्माके कम निरूपणीय, पर अधिक सबल रूपमें गोचर सत्यकी ओर जाते है जिसने सौंदर्यात्मक मनमें इन गतिविधियोको उद्दीपित किया है और इनके द्वारा अर्थपूर्ण आकारोमें परिणत हो गया है।

भारतके चितनात्मक और सर्जनशील मनकी यह विशिष्ट वृत्ति इस बातको आवश्यक बना देती है कि इसकी कृतियोके विषयमे विचार करते समय हम उन कृतियोसे परे एकदम उस सत्यके आतरिक मूल भावतक पहुचनेका यत्न करे जिसे कि भारतीय मन अभिव्यक्त करता है और बाहरसे नही बल्कि उसी सत्यपरसे उन्हे देखनेकी कोशिश करे। और सच पूछो तो भौतिक ब्योरो तथा उनके समन्वयसे आरभ करना मुझे भारतीय कला-कृतिको देखनेका बिलकुल गलत तरीका मालूम होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी आलोचनाकी रूढिगत शैलीका मतलब है—शिल्प और रूपका तथा रूपकी प्रत्यक्ष कहानीका विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विचार करना और फिर सुन्दर या प्रभावशाली भावावेग और परिकल्पनाके किसी प्रकारके मूल्याकनपर पहुचना। कुछ एक गभीरतर तथा अधिक सवेदनशील मनवाले आलोचकोमें ही हम इस गहराईसे परे अधिक गभीर वस्तुओको देख पाते हैं। भारतीय कलापर यदि इस प्रकारकी आलोचना-शैलीका प्रयोग किया जाय तो यह उसे निष्फल या अर्थहीन कह डालती है। यहा एकमात्र ठीक तरीका यह है कि एक पूर्ण अतर्दर्शनात्मक या ईश्वर-प्रेरित प्रतीतिके द्वारा अथवा समग्र वस्तुकी किसी समाहित एकाग्रताके द्वारा, जिसे भारतीय परिभाषामे 'ध्यान' कहते है, तुरन्त ही आध्यात्मिक अर्थ और वातावरणतक पहुचा जाय, अपने-आपको उसके साथ यथासभव पूर्ण रूपसे एक कर दिया जाय, और केवल तभी शेष सब चीजोंका सहायक अर्थ एव मूल्य पूर्ण और सत्य-प्रदर्शक बलके साथ प्रकट होगा। क्योकि, यहा आत्मा ही रूपको वहन करती है, जब कि अधिकाश पश्चिमी कलामें रूप ही, आत्माका जो कुछ भी अश वहा विद्यमान हो उसे वहन करता है। यहा एपिक्टीटस (Apictetus) की एक चमत्कारक उक्ति स्मरण हो आती है जिसमें वह मनुष्यका "शवको उठाये हुई एक छोटी-सी आत्मा" के रूपमें वर्णन करता है। पर अधिक सामान्य पश्चिमी दृष्टि सजीव जडतत्त्वपर जमी हुई है जो अपने जीवनमें आत्माके एक जरासे अशको वहन करता है। किंतु भारतीय मन और भारतीय कलाकी दृष्टि उस बृहत्, असीम आत्मा एव अध्यात्म-सत्ता, महान् आत्मा, की दृष्टि है जो अपनी उपस्थितिके समुद्रमें हमारे सामने अपनी जीवत आकृतिको ले आती है, वह आकृति उसकी अपनी अनतताकी तुलनामें चाहे छोटी ही होती है किंतु फिर भी जो शक्ति इस प्रतीकको अनुप्राणित करती है उसके द्वारा उस अनतकी आत्म-अभिव्यक्तिके किसी रूपको आश्रय देनेके लिये वह पर्याप्त होती है। अतएव यह आवश्यक है कि यहा हम केवल तर्कबुद्धि और सौंदर्यात्मक कल्पनाके द्वारा अनु-

प्रामित स्थूल भासमे ही न देखें बल्कि स्थूल अवलोकनकी आंतरिक आध्यात्मिक शक्तिके खुलने और अंतरात्माके साथ भावपूर्ण अंतःसंपर्क प्राप्त करनेका मार्ग बनायें। एक महान् पूर्वीय कला-कृति उस मनुष्यके सामने अपना रहस्य सहजमें प्रकट नहीं करती जो इसके पास केवल सौंदर्य-विषयक कुतूहलके भावमें या विवेचनशील समीक्षात्मक बाह्य मनको लेकर आता है और उस मनुष्यके सम्मुख तो यह अपना रहस्य और भी कम प्रकट करती है जो इसके पास विचित्र और विदेशी वस्तुओंके बीचसे गुजरनेवाले एक परिपक्व और पक्षपाती पर्यटकके रूपमें आता है। इसे तो निर्जनतामें अपनी आत्माके एकान्तमें एवं ऐसे क्षणोंमें देखना होगा जब कि हम सुदीर्घ और गंभीर ध्यान करनेमें समर्थ होते हैं और स्थूल-भौतिक जीवनकी सक्रियताके बोझसे यथासंभव कम-से-कम दबे हुए होते हैं। यही कारण है कि इन चीजोंके विषयमें अपने सूक्ष्म बोधका प्रयोग कर—ऐसे बोधका जिसे अपनी सजावट भरी चित्रशालाओं और अत्यंत अधिक चित्रोंसे सज्जित दीवारों-के द्वारा आक्रमण करनेवाला आधुनिक यूरोप सर्वथा खो चुका प्रतीत होता है यद्यपि मैं शायद गलती कर रहा हूं और यूरोपीय कलाके प्रदर्शनके लिये ठीक अवस्थाएं नहीं हैं—जापानियोंने अपने मंदिरों और बुद्ध-मूर्तियोंको यथासंभव प्रायः ही दूर पहाड़ोंपर और प्राकृतिक दूरस्थ या एकांत स्थानोंमें स्थापित किया है और दैनिक जीवनकी स्थूल बस्तियोंमें वे महान् चित्रोंके साथ निवास करनेसे बचते हैं बल्कि इस कार्यका अधिक अच्छा उपाय करते हुए, वे उन्हें इस प्रकार स्थापित करते हैं कि उनका निर्विवाद सुभाव मनके अंदर उसके सूक्ष्मतर स्तरोंमें गहरे पैठ सके अथवा वे उन्हें एक अलग स्थानमें स्थापित करते हैं जहां जाकर वे अत्यंत मूल्यवान् निमग्नतामें जब कि आत्माको जीवनसे फुरसत होती है उन्हें ध्यानपूर्वक देख सकें। यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण चिह्न है जो इस बातकी ओर संकेत करता है कि पूर्वीय कलाका जो आकर्षण है वह किस प्रकारका है तथा उसकी कृतियोंको देखनेकी ठीक विधि और भावना क्या है।

भारतीय वास्तुकला इस प्रकारके आंतरिक अध्ययन और अपने गंभीरतम अर्थके साथ इस आध्यात्मिक तादात्म्यकी विशेष रूपसे मांग करती है और इसके बिना यह अपने-आपको हमारे सम्मुख प्रकट ही नहीं करेगी। भारतके प्राचीन युगके भवन उसके राजमहल तथा भवन और नागरिकोंकी अट्टालिकाएं कालकी संहार-लीलामें बच नहीं सकी हैं। हमारे सामने जो कुछ बचा हुआ है वह अधिकांशमें महान् पर्वतीय और गंगाघाटके मंदिरोंका किंवा उनके पैमानेपर बने प्राचीन दाक्षिणात्य मंदिरोंका भी कुछ अंश है और इनके अतिरिक्त हमारे सामने उसके बादके समयके जब कि मंदिर ही जीवनका गढ़ था कुछ प्रार्थनागृह और देवमंदिर भी हैं चाहे वे श्रीरंगम् और रामेश्वरम् जैसे मंदिर-प्रधान नगरों और तीर्थस्थानोंमें स्थित हों या उनके मदुरा जैसे महान् किसी समयके राजकीय नगरोंमें स्थित हों। इस प्रकार एक जीवित कलाका अत्यंत पवित्र पहलू ही हमारे सामने बच रहा है। ये पवित्र भवन एक

प्राचीन आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कृतिके चिह्न हैं, स्थापत्यके द्वारा उसकी आत्म-अभिव्यक्ति हैं। यदि हम प्रतीकों और संकेतोंके आध्यात्मिक निर्देश और धार्मिक महत्त्वकी एवं उनके आशयकी उपेक्षा करें और केवल तार्किक एवं लौकिक सौंदर्यात्मक मनके द्वारा देखें तो यह आशा करना व्यर्थ है कि हम इस कलाके किसी सच्चे और सूक्ष्मदर्शी मूल्याकंन तक पहुंच सकेंगे। और यह भी याद रखना होगा कि यहां धार्मिक भावना एक ऐसी वस्तु है जो यूरोपीय धर्मोंकी भावनासे सर्वथा भिन्न है, और मध्ययुगीन ईसाइयत भी,—विशेषकर अपने उस रूपमें जिसमें कि आधुनिक यूरोपीय मन जो नवजागरण और हालके ऐहिकवादके दो महान् संकटोंमेंसे गुजर चुका है, आज दिन इसे देखता है,—पूर्वसे ही उत्पन्न होने और उसके साथ सादृश्य रखनेपर भी वस्तुतः अधिक सहायक नहीं होगी। भारतीय मंदिरपर कलात्मक दृष्टि डालते हुए उसमें पश्चिमी स्मृतियोंको ले आना या यूनानके पार्थेनोन मंदिर (Parthenon)[1] या इटलीके गिरजे या मुख्य गिरजाघर (Dumo) या बड़े घंटाघर (Campanile)[2] के साथ या यहांतक कि मध्ययुगीन फ्रांसके बड़े गाथिक गिरजों (Gothic Cathedrals)[3] के साथ भी भारतीय मंदिरकी तुलना करना,—यद्यपि इनमें कोई ऐसी चीज अवश्य है जो भारतीय मनोवृत्तिके अत्यधिक निकट है,—मनमें एक घातक विदेशीय और गड़बड़ मचानेवाला तत्त्व या मानदंड ला घुसेड़ना है। परंतु, सचेतन रूपमें हो या अवचेतन रूपमें, यही वह चीज है जिसे लगभग प्रत्येक यूरोपीय मन कम या अधिक मात्रामें करता है,—और यही यहांपर एक अनिष्टकारी मिश्रण है, क्योंकि यह उस दृष्टिकी कृतिको जो अपरिमेयको देखती थी, एक ऐसी आंखके परीक्षणके अधीन लाता है जो केवल नाप-तौलका ही विचार करती है।

भारतीय पवित्र वास्तुकृति, वह चाहे किसी भी तिथि और शैलीकी क्यों न हो या किसी-के भी निमित्त उत्सर्ग क्यों न की गयी हो, पीछेकी तरफ किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो अनादि रूपसे प्राचीन है और जो आज भारतसे बाहर प्रायः पूर्ण रूपमें विलुप्त हो चुकी है, किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो अतीतसे संबंध रखती है, और फिर भी वह आगे-की ओर बढ़ती है, यद्यपि तर्कवादी मन इस बातको सहजमें नहीं स्वीकार करेगा, आगे वह किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो हमपर फिर लौटकर आयेगी और लौटना आरंभ

---

[1] एथेन्सके दुर्गपर स्थित एथेने पारथेनोज (Athene Parthenos) का मंदिर।

[2] साधारणतया कैम्पेनाइल (Campanile) शब्द उन बृहदाकार घंटाघरोंके लिये प्रयुक्त होता है जो चर्चसे संबद्ध न हों।

[3] ये गाथ लोगोंकी स्थापत्यशैलीका प्रतिनिधित्व करते हैं जिसकी विशेषताएं हैं ऊंची नोकीली मेहराबें और पुंजीभूत गोल खंभे आदि। नवजागरणके समयसे इस शैलीको निंदनीय माना जाने लगा है।—अनुवादक

हो, अत्यत बोझिल बहुलता है और वह एकत्वके मार्गमें बाधा पहुचाती है, इसमें प्रत्येक दरारको कच्ची धातुसे ठस-ठसकर भरनेका प्रयास दिखायी देता है, शातिका सर्वथा अभाव है रिक्त स्थान है ही नही, आखको आराम देनेवाली कोई चीज ही नही है। मि आर्चर सदाकी भाति इस विरोधी आलोचनाको इसके चरम चीत्कारपूर्ण ऊचे स्वरोंतक ले जाते है, गोलियास ठसाठस भरे हुए उनके सभी शब्द निरतर इसी एक विषयपर आग्रह करते है। वे स्वीकार करते है कि दक्षिण भारतके बड़े-बड़े मदिर विशाल गृहनिर्माणके अद्भुत उदाहरण है। प्रसगवश, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे स्थापत्यमे बृहत् परिमाण या मूर्तिकलामें महान् घनीभूत आकारोके समावेशपर गहरी आपत्ति है और यहा इनकी उपयुक्तता या आवश्यकता-की ओर वे ध्यानतक नही देते, यद्यपि साहित्यमें वे इन चीजोको मान्यता देते है। फिर भी इतनी चीज इसमें अवश्य है और इसके साथ ही एक प्रकारकी भीषण प्रभावशालिता भी है, पर एकसूत्रता, स्पष्टता और महानताका नाम-निशानतक नही है। यह टिप्पणी मेरी विचार-शक्तिको पर्याप्त स्व-विरोधात्मक प्रतीत होती है, क्योकि मेरी समझमे ही नही आता कि किसी एकसूत्रताके बिना हलकी या भारी कोई भी रचना अद्भुत सृष्टि कैसे हो सकती है,—परन्तु लगता ऐसा है कि यहा इसका नाम-निशानतक नही है,—अथवा किसी भी प्रकारकी महानता या श्रेष्ठताके बिना विराट् प्रभावशालिता हो ही कैसे सकती है, चाहे यह मान भी लिया जाय कि यह श्रेष्ठता दैवी नही दानवी है। वे हमें बताते है कि यहा प्रत्येक चीज बहुत ही भारी-भरकम है, प्रत्येक चीज अत्यधिक श्रमसे निर्मित की गयी है और इसके अत्यत प्रमुख भाग, जो टेढ़ी-मेढी अर्द्ध-मानवीय आकृतियोसे ठसाठस भरे हुए और विकृत है, स्थापत्य-कलाकी दृष्टिसे एकदम निरर्थक है। कोई पूछ सकता है कि उन्हे कैसे पता लगा कि ये अर्थहीन है जब कि वे प्राय स्वीकार करते है कि इनका अर्थ ढूढनेके लिये उन्होने कुछ भी यत्न नही किया है, बल्कि अपने अज्ञानको जिसे उन्होने स्वय स्वीकार किया है तथा अर्थके समझनेमे अपनी असमर्थताको पर्याप्त मानकर उससे स्व-सतुष्ट रहते हुए यह कल्पना भर कर ली है कि इनका कोई भी अर्थ नही हो सकता? और इस सारी चीजका लक्षण वे इन शब्दोमें व्यक्त करते है कि यह राक्षसो, नरभक्षी दैत्यो और पिशाचोंके द्वारा रचित एक भयावह वस्तु है, एक प्रकाड बर्बरता है। उत्तरकी इमारते उनकी आखोंमें कुछ कम अनादरकी पात्र है, परतु आखिरकार अतर थोडा ही है या बिलकुल नही है। उनमे भी वही भारीपन है, हलकेपन और श्रीसुषमाका अभाव है, खुदे हुए बेल-बूटोकी और भी अधिक प्रचुरता है, ये भी बर्बर कृतिया है। केवल मुस्लिम स्थापत्य-कलाको, जिसे भारत-मुस्लिम स्थापत्य कहा जाता है, इस व्यापक रूपसे प्रयुक्त दोषारोपणसे मुक्त रखा गया है।

यहा प्रारभमें दृष्टिकी अधता चाहे कितनी ही स्वाभाविक हो तो भी अतत यह कुछ आश्चर्यजनक ही है कि इस चरम कोटिके आक्रामक भी,—क्योकि उन्हे यह तो निश्चय ही

समझनेमें कठिनाई महसूस कर सकती है जो सत्ताको उसके खंडोंमें नहीं बल्कि अखंड रूपमें चित्रित करनेका यत्न करती है, परंतु मैं उन भारतीय विचारकोंको जो इन आलोचनाओंमें विक्षुब्ध हैं, अथवा वस्तुओंको देखनेके पश्चिमी ढंगसे अज्ञात या सामयिक रूपमें अभिभूत हैं, आमंत्रित करना चाहता हूं कि वे इस विचारके प्रकाशमें हमारी गृह-निर्माण-कलापर दृष्टि-पात करें और देखें कि छोटे-मोटे आक्षेपोंके सिवा सभी आक्षेप उस समय तुरंत ही गायब हो जाते हैं या नहीं, जब कि वास्तविक अर्थ अपनी अनुभूति कराता है और उस प्रथम अवर्णनीय धारणा एवं भावोद्रेकको रूप देता है जिसे हम भारतीय शिल्पियोंकी महत्तर रचनाओंके सम्मुख अनुभव करते हैं।

भारतीय स्थापत्यके इस अध्यात्म-सौंदर्यात्मक सत्यका मूल्यांकन करनेके लिये सबसे अच्छा यह होगा कि पहले हम किसी ऐसी कृतिको देखें जिसमें ऐसी परिस्थितियोंकी जटिलता न हो जिनका अब बहुधा उस भवनसे सामंजस्य नहीं होता, वह कृति उन मंदिर प्रधान नगरोंसे भी बाहर होनी चाहिये जो अभीतक धार्मिक उद्देश्यके ऊपर निर्भर करते हैं, बल्कि वह किसी ऐसे स्थानपर होनी चाहिये जहां प्रकृतिकी स्वतंत्र पार्श्वभूमिके लिये अवकाश हो। मेरे सामने दो मुद्रित चित्र हैं जो सुचारु रूपसे इस प्रयोजनकी पूर्ति कर सकते हैं, एक तो कालहस्तीका मंदिर है और दूसरा सिंहाचलम्‌का मंदिर, ये दो ऐसी वास्तु-कृतियां हैं जो निर्माणशैलीमें तो सर्वथा भिन्न हैं पर अपने मूल आधार और व्यापक उद्देश्यमें एक ही हैं। इन्हें देखनेका सीधा तरीका यह है कि मंदिरको उसके परिपार्श्वसे पृथक् न किया जाय, बल्कि उसे आकाश तथा नीचेके भूभागके दृश्यके साथ या आकाश और चारों ओरकी पहा-ड़ियोंके साथ एकतामें देखा जाय और उस वस्तुको अनुभव किया जाय जो भवन और उसके परिपार्श्व दोनोंमें समान रूपसे विद्यमान है, अर्थात् प्रकृतिमें विद्यमान सद्वस्तु और कला-कृति-में प्रकट की गयी सद्वस्तुको अनुभव किया जाय। वह एकत्व जिसके लिये यह प्रकृति अपनी निश्चेतन स्व-सृष्टिमें अभीप्सा करती है और जिसमें वह निवास करती है, तथा वह एकत्व जिसकी ओर मनुष्यकी अंतरात्मा अपने सचेतन आध्यात्मिक निर्माणमें, अपने-आपको ऊपर उठा ले जाती है,—उसका अभीप्सा-रूपी प्रयास यहां प्रस्तरमें अभिव्यक्त किया जाता है,—और जिस (एकत्व) में, इस प्रकार निर्मित होकर, वह और उसकी कृति निवास करते हैं—ये दोनों एक ही हैं और इनमें आत्मिक प्रेरक-भाव भी एक ही है। इस प्रकार देखनेपर मनुष्यकी यह कृति एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जिसने आरंभ होकर अपने-आपको प्राकृ-तिक जगत्‌की शक्तिकी पार्श्वभूमिसे पृथक् कर लिया है, एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जो दोनोंमें अपनी एक ही अनंत आत्माके प्रति एक ही सामान्य अभीप्सासे युक्त है,—एक ओर तो है (प्रकृतिकी) निश्चेतन ऊर्ध्वदृष्टि और इसके सम्मुख उपलब्धिकी आत्म-सचेतन चेष्टा और सफलताका प्रबल एकत्वयुक्त उभार। इनमेंसे एक मंदिर ऊपरकी ओर आरोहण करता है अपने उभारमें स्पष्ट और विशाल होता हुआ, शक्तिशाली पर सुनिश्चित आरोहणकी महान-

शैलिया और उद्देश्य विभिन्न मार्गोसे उस एकतापर पहुचते या उसे व्यक्त करते है। यह आक्षेप कि सकुल व्योरे और साज-सज्जाकी अधिकता एकताको छिपा देती, क्षत-विक्षत या छिन्न-भिन्न कर डालती है, केवल इसलिये किया जाता है कि आखने इस मूल आध्यात्मिक एकत्वके साथ सबध जोडे विना सर्वप्रथम व्योरेपर ही ध्यान केद्रित करनेकी भूल की है, पर असलमें पहले उस एकत्वको ही एक यथार्थ आध्यात्मिक दर्शन और मिलनमें स्थिर रूपसे प्रतिष्ठित करना होगा और उसके बाद अन्य सब चीजोको उस अतर्दर्शन और अनुभवमें ही देखना होगा। जब हम जगत्के बहुत्वपर दृष्टिपात करते है तो हम केवल एक सघन अनेकताको ही देख सकते है और एकतापर पहुचनेके लिये हमे देखी हुई चीजोमें काट-छाट करनी एव उन्हे दवाना पडता है अथवा परिमित रूपमें कुछ एक सकेतोको चुन लेना होता है या फिर इस या उस पृथक् विचार, अनुभव या कल्पनाकी एकतासे ही सतुष्ट होना पडता है, परतु जब हम आत्माको, अनत एकताको अनुभव करके जगत्के बहुत्वकी ओर दृष्टि फेरते है तब हम देखते है कि वह एकत्व विविधता और परिस्थितिकी उस समस्त अनतताको वहन करनेमें समर्थ है जिसे हम उसके अदर एकत्र कर सकते है और उसकी एकता अपनी अनुप्राणित करनेवाली सृष्टिके अत्यत असीम रूपसे अपने-आपको वढा देनेसे भी कदापि नही घटती। इस वास्तुकलापर दृष्टिपात करनेपर भी हम यही चीज पाते है। भारतीय मदिरोमें सज्जा, व्योरे और परिस्थितिका ऐश्वर्य लोकोकी,—हमारे लोककी ही नही बल्कि सभी स्तरोकी,—अनत विविधता और आवृत्तिको प्रकट करता है, अनत एकत्वके अनत बहुत्वको सूचित करता है। यह हमारे अपने अनुभवपर तथा अतर्दर्शनकी पूर्णतापर निर्भर करता है कि हम कितना बाहर छोड देते है और कितना ग्रहण कर लेते है, आया हम इतना अधिक व्यक्त करते है या इतना कम अथवा द्राविड शैलीकी भाति एक प्रचुर अखूट पूर्णताकी छाप बिठानेका यत्न करते है। इस एकताकी विशालता वह आधार एव प्रदेश है जो अपने ऊपर बननेवाले किसी भी भवनके लिये या बहुलताके किसी भी परिमाणके लिये पर्याप्त है।

इस बाहुल्यको बर्बरतापूर्ण कहकर इसकी निंदा करना एक विदेशी मानदडका प्रयोग करना है। आखिरकार हम कहापर सीमा-रेखा खीच सकते है? एक समय था जब शुद्ध उच्चकोटिक रुचिवालोको शेक्सपीयरकी कला एक ऐसे ही कारणसे महान् पर बर्बर प्रतीत होती थी,—हमें उसका वह गैलिक (Galic)[1] वर्णन याद हो आता है जिसमें उसे प्रतिभा-सपन्न उन्मत्त बर्बर कहा गया है,—उसकी कलात्मक एकता उन्हें घटना और चरित्र-रूपी सघन उष्णप्रदेशीय पौधोंके कारण असत् या विकृत प्रतीत होती थी और उसकी प्रचुर कल्पनाए उग्र, अतिरजित, कभी-कभी तो किंभूत-किमाकार और भयानक, सामजस्य, अनुपात तथा अन्य सभी विशद एकताओ, लालित्यो और सुषमाओंसे रहित मालूम होती थी

[1]गाल या प्राचीन फ्रेंच लेखकोंके द्वारा किया हुआ।—अनुवादक

जिन्हें उच्च श्रेणीके प्राचीन लेखकोंका मन पसंद करता था। वह मन कि आर्चरकी-सी भाषामें उसकी कृतिके संबंधमें कह सकता है कि निःसंदेह यहां एक प्रकांड प्रतिभा है, प्रतिभाका एक पुंज है, पर एकता, स्पष्टता एवं उच्चकोटिक श्रेष्ठताका कोई चिह्न नहीं है बल्कि उच्चतम सौंदर्य, साधन और संयमका नितांत अभाव है, किसी नियम-मर्यादाके बिना आविष्ट चमत्कार और कल्पना-विलासकी बहुलता है, क्लिष्ट कल्पनासे उद्भावित अलंकार है, विकृत स्थितियां और भाव-मुद्राएं हैं, कोई महत्ता नहीं है, कोई सुंदर, यथोचित, तर्कसंगत एवं स्वाभाविक और सुंदर उच्चकोटिक गतिविधि एवं भावभंगिमा नहीं है। परंतु कठोरसे कठोर प्राचीन लैटिन मन भी अब शेक्सपीयरकी इस "भव्य बर्बरता"के प्रति अपने आक्षेपोंसे ऊपर उठ चुका है और यह समझ सकता है कि यहां जीवनके विषयमें एक अधिक पूर्ण, कम सीमित एवं कम क्षुद्र अंतर्दृष्टि है, प्राचीन सौंदर्यबोधकी प्रथानुगत एकताओंकी अपेक्षा एक अधिक महान् अंतर्भावात्मक एकता है। परंतु जगत् और जीवनके विषयमें भारतीय अंतर्दृष्टि शेक्सपीयरकी दृष्टिसे अधिक विशाल और पूर्ण थी, क्योंकि वह केवल जीवनको ही नहीं बल्कि समस्त सत्ताको, केवल मानवजातिको ही नहीं बल्कि समस्त लोकों तथा संपूर्ण प्रकृति एवं विश्वको अपने अंदर समाविष्ट करती थी। यूरोपीय मन कुछ एक व्यक्तियोंको छोड़कर समष्टि-रूपसे अनंत आत्मा या वैश्व चेतनाकी अनंत बहुत्वसे परिपूरित एकताकी किसी घनिष्ठ अभ्यास और सुदृढ़ उपलब्धिपर नहीं पहुंचा है और इसलिये वह इन चीजोंको व्यक्त करनेके लिये प्रेरित नहीं होता, और जब ये इस पौरस्त्य कला, भाषा और शैलीमें व्यक्त की जाती हैं तो इन्हें वह न तो समझ पाता है और न सहन ही कर सकता है तथा इस कलापर उसी प्रकार आक्षेप करता है जिस प्रकार किसी समय लैटिन मन शेक्सपीयरपर करता था। शायद वह दिन दूर नहीं जब वह भी इन्हीं चीजोंको देखे-समझेगा और शायद स्वयं भी इन्हें किसी और भाषामें प्रकट करनेका यत्न करेगा।

यह आक्षेप कि ब्योरेकी संकुलता शांतिके लिये अवकाश नहीं देती, आंखको आराम या कोई रिक्त स्थान नहीं देती उसी दीर्घपटके नीचे आता है, उसी जड़से फूटता है, एक भिन्न प्रकारके अनुभवसे प्रेरित होता है और भारतीय अनुभवके लिये जरा भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि वह एकता जिसपर सब कुछ आधारित है, अपने अंदर आध्यात्मिक उपलब्धिके असीम अवकाश और शांतिको धारण करती है और इसमें किसी हीनतर एवं स्थूलतर ढंग-की शांतिके लिये अन्य रिक्त अवकाशों या प्रदेशोंकी कोई आवश्यकता नहीं। आंख यहां अंतरात्माकी ओर पहुंचनेका एक मार्गमात्र है, यहां जो आकर्षण है वह तो उसी आत्माके प्रति है और यदि हम उपलब्धिमें विश्राम करनेवाली या इस सौंदर्यात्मक अनुभूतिके प्रभावके अधीन रहनेवाली अंतरात्माको किसी प्रकारके विश्रामकी आवश्यकता है तो वह जीवन और रूप के संघर्षमें नहीं वरन् अनंतता और प्रशांत नीरवताकी उन विशालताके अभिन्न क्षेत्रमें है और वह केवल इनके विपरीत क्षेत्रके द्वारा ही, अर्थात् रूप, ब्योरे और जीवनकी बहुलता-

के द्वारा ही दिया जा सकता है। जहातक द्राविड स्थापत्यके सबधमें इसकी बृहदाकारता और विशालकाय रचनाके प्रति आक्षेपका प्रश्न है, वह यथार्थ आध्यात्मिक प्रभाव जिसे उत्पन्न करना यहा अभिप्रेत है, किसी और तरहसे उत्पन्न ही नही किया जा सकता, क्योकि अनत एव विराट्को यदि उसकी विशाल अभिव्यक्तिके अदर समग्र रूपमें देखा जाय तो वह विराट्काय ही है, उपादान और शक्तिमे अति महान् ही है। वह इससे अन्य तथा सर्वथा भिन्न वस्तुए भी है, परतु भारतीय रचनामें इनमेंसे किसीका भी अभाव नही है। उत्तरके महान् मदिर मि आर्चरके फतवेके बावजूद भी अपनी शक्तिमें प्राय अद्वितीय सौंदर्य रखते हैं, उनमें एक सुस्पष्ट सूक्ष्मता है जो उनके प्रधान स्वरूप और शक्तिको उभारती है, उनकी अलकृत पूर्णतामें सुषमाकी एक समृद्ध कोमलता है। नि सदेह वह यूनानी सूक्ष्मता, स्पष्टता या खुली हुई महत्ता नही है और न वह ऐकातिक ही है, बल्कि वह विपरीत तत्त्वोके एक सुन्दर सश्लेषणके रूपमें प्रकट होती है जो भारतीय धार्मिक, दार्शनिक और सौंदर्यप्रिय मनके स्वय मूलभावमें ही निहित है। यह बात भी नही है कि अनेक द्राविड इमारतोमें इन चीजोका अभाव हो, यद्यपि कुछ शैलियोमें इनका साहसके साथ बलिदान कर दिया गया है या फिर इन्हे केवल छोटी-मोटी प्रासगिक वस्तुओके रूपमें ही स्थान दिया गया है,—इस प्रकारके एक दृष्टातमें मि आर्चर यह कहकर आनद लेते है कि इस पुजीभूत शक्ति और महानताके जो उसकी समझसे बाहर है, मरुस्थलमें यह एक मरुद्वीप है,—परतु दोनो ही अवस्थाओमें इन्हे दबा दिया गया है जिससे कि गभीर और आकर्षक प्रभावकी पूर्णता एक समग्र और अविकल अभिव्यक्तिको प्राप्त कर सके।

कुछ एक विरोधी आलोचनाए इनसे भी अधिक तुच्छ कोटिकी हैं जिनपर मुझे विचार करनेकी आवश्यकता नही,—उदाहरणार्थ, मेहराब और गुबजके भारतीय रूपसे इसलिये घृणा करना कि वे अन्य शैलियोकी मेहराब और गुबजकी भाति चमक-दमकवाले नही है। यह तो केवल अनभ्यस्त रूपोके सौंदर्यको स्वीकार करनेसे असहिष्णुतापूर्वक इन्कार करना है। अपनी निजी चीजोको जिनके लिये हमारा मन और प्रकृति सधे हुए हैं, अधिक पसद करना ठीक है, परतु दूसरोकी कला और प्रयासकी इसलिये निंदा करना कि वह भी सुदरता, महानता और आत्म-अभिव्यक्तिपर पहुचनेके अपने निजी ढगको अधिक अच्छा समझता है, एक ऐसी सकीर्णता है जो अधिक उदार सस्कृतिके विकासके साथ दूर हो जानी चाहिये। किंतु द्राविड मदिर-निर्माण-कलापर एक टिप्पणी ऐसी है जो ध्यान देने योग्य है क्योकि वह मि आर्चर और उनकी बिरादरीके लोगोंमे भिन्न लोगोंके द्वारा की गयी है। प्रोफेसर गैडिज (Geddes) जैसे सहानुभूतिशील विचारकपर भी इन महान् मदिरोमे त्रास और विषादके भीषण प्रभावकी किसी अनुभूतिकी छाप पडती है। ऐसा कथन भारतीय मनके लिये आश्चर्यजनक है, क्योकि अपने धर्म, कला या साहित्यके द्वारा उसके अदर जो भाव जागृत होते हैं उनमें त्रास और विषादका स्पष्ट रूपसे अभाव होता है। धर्ममें तो ये भाव

बिरले ही जागृत होते हैं और जब होते भी हैं तो तुरंत समाधान हो जानेके लिये ही और, जब वे आते भी हैं तो अपने पीछे अवस्थित एक धारक और सहायक उपस्थिति एक प्रशा-न्त महत्ता और स्थिरता या प्रेम या परमानंदकी अनुभूतिके द्वारा सदा ही शासित रहते हैं स्वयं संहारकी देवी तक एक साथ ही करुणामयी और प्रेममयी माँ भी है उग्र रुद्रेश्वर—रुद्र—शिव अर्थात् मंगलकारी भी हैं और आशुतोष अर्थात् मनुष्योंके सरलदाता भी। भार-तीय चिंतनात्मक और धार्मिक मन उन सब चीजोंपर जो विश्वके विधान दृश्यके अंदर उसके सामने आती हैं शांतिके साथ घृणा या जुगुप्साके बिना तादात्म्य और एकत्वके लिये किये गये अपने युग-व्यापी प्रयाससे उत्पन्न बोधशक्तिके साथ दृष्टिपात करता है। और उसका वैराग्य अर्थात् जगत्से पराङ्मुखता भी जो भय और विषादमें नहीं बल्कि अजरता और अक्लांतिकी या जीवनसे अधिक उच्च अधिक सत्य और अधिक सुखमय किसी वस्तुकी अनुभूतिमें जन्म लेती है शीघ्र ही निराशावादी विषादके किसी तत्त्वसे परे शाश्वत शांति और आनंदके परमोल्लासमें परिणत हो जाती है। भारतीय ऐहलौकिक काव्य एवं नाटक आद्योपांत समृद्ध प्राणवंत और हर्षपूर्ण है और यूरोपीय कृतिके किन्हीं थोड़ेसे पृष्ठोंमें भी उससे अधिक दुःख भय-त्रास शोक और विषाद भरा पड़ा है जितना कि संपूर्ण भारतीय वाङ्मयमें ढूँढनेपर मिल सकता है। मेरा ख्याल है कि भारतीय कला इस बातमें भारतीय धर्म और साहित्यसे जरा भी भिन्न नहीं है। पश्चिमी मन यहाँ वस्तुओं-विषयक अपनी अभ्यस्त प्रतिक्रियाओंको हमारी उस दैवीय परिकल्पनामें घुसेड़ रहा है जिसमें उनके लिये अपना कोई उपयुक्त स्थान नहीं है। शिवके नृत्यकी यह अजीब और मिथ्या व्याख्या ध्यान देने योग्य है कि यह मृत्यु या संहारका नृत्य है जब कि जैसा किसी भी व्यक्तिको जो नटराजपर दृष्टि डालता है देख सकना चाहिये कि शिवका नृत्य उक्त व्याख्याके विपरीत सृष्टि नृत्यके उस परमोल्लासको प्रकट करता है जिसके पीछे अविचल शाश्वत और असीम आनंदकी महिमा विद्यमान है। इसी प्रकार हम जानते ही हैं कि कालीकी मूर्ति जो यूरोपीय आलोचकोंके लिये इतनी भयानक है असलमें जगत्की माता है जो असुरोंका मनुष्य और जगत्में विद्यमान आसुरी शक्तियोंका वध करनेके लिये ही संहारका यह उग्र रूप ग्रहण करती है। पश्चिमी मनके इस भावमें कुछ अन्य तत्त्व भी हैं जो ऐसी किसी भी चीजके प्रति घृणामें उत्पन्न होने दीखते हैं जो मानवीय प्रतिमानके बहुत ही ऊपर उठी हुई हो और फिर इसमें कुछ अन्य ऐसे तत्त्व भी हैं जिनमें हम उस तीव्र असमताका एक मूलक अवसर देखते हैं जिसके कारण प्रकृत्या पार्थिव यूनानी मन साधारणतः अनंत असीम एवं अज्ञातके विचारको भय विषाद और विरक्तिके भावके साथ देखता था परंतु भारतीय मनोवृत्तिमें उस प्रतिक्रियाका कोई स्थान नहीं। और जहाँतक कुछ एक अमानवीय आकृति वाली विचित्रता या उनके भीषण रूपका अथवा ईर्ष्या या राक्षसी परिकल्पनाका प्रश्न है, हमें यह स्मरण रखना होगा कि भारतीय सौन्दर्यप्रेमी मन केवल भूलोकके साथ ही नहीं वरन्

आतरात्मिक स्तरोंके साथ भी, जिनमें ये चीजें अस्तित्व रखती है, व्यवहार करता है और उनसे अभिभूत हुए बिना उनमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता है क्योकि वह सर्वत्र आत्मा या भगवान्‌की शक्ति एव सर्वव्यापकतामें महान् विश्वासकी छापको अपने साथ लिये रहता है।

मैंने हिंदू और विशेषकर द्राविड स्थापत्य-कलापर ही विचार किया है क्योकि द्राविड स्थापत्यपर यों कहकर सर्वाधिक उग्रताके साथ आक्रमण किया गया है कि यह यूरोपीय रुचिके लिये सपूर्ण रूपसे विजातीय है और इसके साथ किसी प्रकारका समझौता करनेकी गुजाइश नही। परतु एक शब्द भारत-मुस्लिम स्थापत्यके विषयमें भी कह दें। मुझे किसी ऐसे दावेका समर्थन करनेसे कोई मतलब नही कि इसकी विशेषताओका उद्‌गम शुद्ध रूपसे स्वदेशीय ही है। मुझे तो यह लगता है कि यहा भारतीय मनने अरबी और फारसी कल्पनासे बहुत कुछ लिया है और कुछ मस्जिदो तथा मकबरोमें तो मुझे दृढ और साहसी अफगानी एव मुगल स्वभावकी छाप विद्यमान दिखायी देती है, परतु यह बात पर्याप्त रूप-में स्पष्ट दिखायी देती है कि फिर भी यह कुल मिलाकर विशिष्ट भारतीय देनसे युक्त एक ठेठ भारतीय कृति ही है। सज्जा-सबधी कुशलता और कल्पनाके वैभवको एक अन्य शैलीके उपयोग करने योग्य बना दिया गया है, किंतु यह वही कौशल है जिसे हम उत्तरके हिंदू मदिरोमें पाते है, और पृष्ठभूमिमें हम कभी-कभी, हलके रूपमें ही सही, प्राचीन महान् सामग्री और शक्तिका कुछ अश देखते हैं, पर बहुधा वह काव्योचित सुषमा देखते हैं जिसे हम स्वदेशीय मूर्तिकलामें मुसलमानोके आनेसे पहले विकसित होती हुई पाते हैं,—जैसे, उत्तर-पूर्व और जावाकी कला-शैलीमें,—और कभी-कभी तो दोनो उद्देश्योका मिश्रण भी देखते हैं। सामग्री और शक्तिकी परिमितता एव मृदुतासे सामान्य यूरोपीय मनको बडा सुख पहुचता है और वह उसका अनुमोदन करता है। परतु वह कौनसी चीज है जिसकी वह इतनी अधिक सराहना करता है? मि आर्चर सबसे पहले हमें बताते है कि यह उसकी बुद्धिग्राह्य सुदरता, सूक्ष्मता और श्री-सुषमा है जो स्वाभाविक और उज्ज्वल है तथा हिंदुओंके यौगिक भ्रम और दुस्स्वप्नके भीषण हगामेके बाद तरोताजा करनेवाली है। यह वर्णन जो यूनानी कलाके बारेमे किया जा सकता था यहा मुझे भद्दा और अनुपयुक्त प्रतीत होता है। तुरत इसके बाद ही वह एक बिलकुल अन्य तथा असगत बातका राग अलापता है, और इसे एक अत्युत्कृष्ट वास्तुकलाका परी-राज्य कहता है। बुद्धिसगत परी-राज्य एक आश्चर्य है जो उन्नीस-वी और बीसवी सदीके मनोके किसी विचित्र पारस्परिक सयोगसे शायद भविष्यमें तो आविष्कृत हो जाय पर मेरे विचारमे अभीतक तो इसका अस्तित्व भूतलपर या स्वर्गमें कही भी नही हैं। बुद्धिसगत नही बल्कि जादूभरा सौंदर्य ही जो हमारे अदरकी किसी गभीरतर एव सर्वथा अतिबौद्धिक सौंदर्यप्रेमी अतरात्माको सतुष्ट और मोहित करता है, इन कृतियोकी अवर्णनीय मोहिनी-शक्ति है। तथापि, किन स्थानोमें वह जादू हमारे समालोचकको स्पर्श करता है? वे हमें पत्रकारकी-सी उल्लासपूर्ण शैलीमें बतलाते है। ये है सगमरमरपर बनी

अत्युत्कृष्ट नक्काशियां सुंदर गुंबज और मीनारें कब्रपर बने शानदार मकबरे आश्चर्यजनक खुली गैलरियां और खंभोंपर बनी महराब संभालकर नियत भागमें बनी सुंदर चौकियां और चबूतरे शाही फव्वारे आदि। तो क्या यही सब कुछ है? केवल बाह्य भौतिक ऐश्वर्य विलास और ठाठबाटका जादू? हां मि आर्चर हमें पुनः बताते है कि यहां हमें किसी नैतिक प्रेरणासे रहित चाक्षुष इंद्रियग्राह्य सौंदर्यसे ही संतुष्ट रहना होगा। और यह बात उन्हें एक विनाशकारी निदान रूपमें अपना मत प्रकाशित करनेमें सहायता देती है जिसके बिना वे भारतीय वस्तुओंके साथ बरतनेमें प्रसन्नता नहीं अनुभव कर सकते यह मुस्लिम स्थापत्य केवल उद्दाम विलासिताको ही नहीं बल्कि स्त्रैणता और अधोगतिको सूचित करता है! परंतु यदि ऐसा ही हो तो इसका सौंदर्य चाहे कितना ही क्यों न हो यह पूर्ण रूपसे कलात्मक सृजनके एक गौण स्तरसे ही संबंध रखता है और हिंदू निर्माताओंकी प्रस्तरपर अंकित महान् आध्यात्मिक अभीप्साओंके समकक्ष नहीं हो सकता।

मैं वास्तुकलासे 'नैतिक प्रेरणाओं' की मांग नहीं करता पर क्या यह सच है कि इन भारत-मुस्लिम इमारतोंमें एक ऐंद्रिय बाह्य सौंदर्य-सुषमा और ऐश्वर्य-विलासके सिवा और कुछ नहीं है? अधिक महान् विशिष्ट कृतियोंके संबंधमें यह बात बिलकुल ही सच नहीं है। ताजमहल केवल एक शाही प्रेमकी ऐंद्रिय स्मृति या संगमरमरके चमकदार पत्थरोंसे बनाया हुआ परियोंका जादू नहीं है बल्कि मृत्युके बाद भी जीवित रहनेवाले प्रेमका एक शाश्वत स्वप्न है। महान् मस्जिदें प्रायः एक उच्च तपोभावनात्मक उठी हुई धार्मिक अभीप्साको साकार रूप देती हैं जो गौणभूत साज-सज्जा और श्री-शोभाको प्रश्रय देती हैं और उससे क्षीण नहीं होती। मकबरे मृत्युसे परे स्वर्गीय सौंदर्य और आनंदतक पहुंचते हैं। फतेहपुर-सीकरीकी इमारतें स्त्रैण भोग-विलासमय पतनके स्मारक नहीं हैं—अकबरके समय के मनका यह एक मूर्खतापूर्ण वर्णन है—बल्कि वे एक ऐसी महानता शक्ति और सुषमा को रूप देती हैं जो भूतलको अपने अधिकारमें कर लेती है पर उसके कीचमें लोटती नहीं। इसमें संदेह नहीं कि यहां प्राचीनतर भारतीय मनका विशाल आध्यात्मिक तत्त्व नहीं है किंतु फिर भी यह एक भारतीय मन ही है जो इन मनोहर रचनाओंमें पश्चिमी एशियाके प्रभावको आत्मसात् कर लेता है और ऐंद्रिय तत्त्वपर भी बल देता है जैसा कि पहले कालिदासके काव्यमें किया गया था पर साथ ही यह हमें किसी अभौतिक सौंदर्यकी ओर भी उठा ले जाता है प्रायः भूतलको पूर्ण रूपसे छोड़े बिना इससे उठकर मध्य लोकके जादू-भरे सौंदर्यमें जा पहुंचता है और धार्मिक वृत्तिके साथ पवित्र हाथसे भगवान्‌के आंचलको जा छूता है। सर्वतोव्यापी आध्यात्मिक तल्लीनता तो यहां नहीं है पर जीवनके अन्य तत्त्व जिनकी भारतीय संस्कृति उपेक्षा नहीं करती और जिन्हें अपेक्षाकृत परवर्ती श्रेष्ठ युगमें इसका समर्थन प्राप्त होता आया है यहां एक नये प्रभावके अधीन व्यक्त किये गये हैं और अभीतक भी एक उत्कृष्ट दीप्तिकी किसी उज्ज्वल आभासे ओतप्रोत हैं।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

आठवां अध्याय

भारतीय कला

हालमें ही प्राचीन भारतकी मूर्तिकला और चित्रकला अधिक सस्कृत यूरोपीय आलोचकोकी दृष्टिमें आश्चर्यजनक रूपसे हठात् अपने पदपर पुन प्रतिष्ठित हो गयी है, क्योकि अब पश्चिमी मन पूर्वीय विचार और सृजनके मूल्यकी ओर शीघ्रतासे खुल रहा है और यह उस परिवर्तनके अत्यत महत्त्वपूर्ण चिह्नोंमेंसे है जो अभी केवल अपनी आरभिक अवस्थामें ही है। जहा-तहा सूक्ष्म अनुभूति और गभीर मौलिकतावाले कुछ ऐसे विचारक भी हुए है जिन्होने पूर्वीय कलाकी प्राचीन और अटल स्वतन्त्रताकी ओर मुडते हुए यह देखा है कि यह कला एक अनुकरणात्मक यथार्थवादके द्वारा आबद्ध या उसके कारण पदच्युत होनेसे इन्कार करती है, इस सच्चे सिद्धातके प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करती है कि कला सत्ताके उन गभीरतर आतरात्मिक मूल्योकी अत प्रेरित व्याख्या है जो प्रकृतिकी बाह्य अवस्थाओके प्रति दासतासे ऊपर उठे हुए है, और साथ ही यह यूरोपके सौंदर्यात्मक और सर्जनशील मनको पुनरुज्जीवित तथा बधनमुक्त करनेका ठीक मार्ग है। और, यद्यपि पश्चिमी कलाका अधिकाश अबतक पुरानी लीकोपर ही चल रहा है फिर भी वास्तवमें इसकी बहुत-सी अत्यत मौलिक नवीन कृतियोमें कुछ ऐसे तत्त्व है या एक ऐसी मार्गदर्शक दिशा है जो इसे पूर्वीय मनोवृत्ति एव बोधके अधिक निकट ले आती है। सुतरा हमारे लिये यह सभव हो सकता है कि हम इस विषयको यही छोड दे और इस बातकी प्रतीक्षा करे कि समय इस नयी अतर्दृष्टिको गहरा करे तथा भारतकी कलाके सत्य और महानताको अधिक पूर्ण रूपसे प्रमाणित करे।

पर हमारा सबध केवल यूरोपके द्वारा किये गये हमारी कलाके आलोचनात्मक मूल्याकनमे ही नही है बल्कि, कही अधिक घनिष्ठ रूपमें उस बुरे प्रभावसे है जो आरभमें की गयी निंदाके कारण भारतीय मनपर पडा है—ऐसे मनपर जो अग्रेजियतमें रगी विदेशी शिक्षाके कारण दीर्घ कालतक अपने सही मार्गसे भ्रष्ट रहा है और, परिणामस्वरूप, अपने सच्चे केद्रको खो जानेसे नीचताको प्राप्त होकर अविश्वसनीय सिद्ध हो चुका है, और इस बुरे प्रभावसे

कर चुका हू, हमे अपनी भास्करकला एव चित्रकलाको उसके अपने गभीर उद्देश्य एव उसके मूलभावकी महानताके प्रकाशमे देखना होगा। जब हम इसपर इस प्रकार दृष्टि डालेगे तब हम यह देख पायेगे कि प्राचीन और मध्ययुगीन भारतकी मूर्तिकला कलात्मक उपलब्धिके अति उच्चतम स्तरोपर स्थान पानेका दावा करती है। मुझे मालूम नही कि कहा हमे कोई ऐसी मूर्तिकला मिलेगी जिसका उद्देश्य इससे अधिक गभीर हो, भाव अधिक महान् हो, कार्य सपन्न करनेका कौशल अधिक सुसमजस हो। हा, हीन कोटिकी रचना भी देखनेमे आती है, ऐसी रचना जो असफल हो गयी है या केवल कुछ अशमें ही सफल हुई है, पर इस कलाको यदि इसके समूचे रूपमे ले, इसके उत्कर्षकी चिरस्थायितामें, इसकी सर्वोत्कृष्ट कृतियोकी सख्यामे और इसकी उस शक्तिमे इसे देखे जिसके साथ यह एक जातिकी आत्मा और मनको व्यक्त करती है तो हम आगे बढकर इसके लिये प्रथम स्थानका दावा करनेके लिये लालायित होगे। निसदेह, मूर्ति-शिल्प केवल प्राचीन देशोमें ही अत्यधिक फूला-फला है जहा इसकी परिकल्पना इसकी स्वाभाविक पृष्ठ-भूमि एव आधार, अर्थात् महान् वास्तु-कृतिके सहारे की गयी थी। मिस्र, यूनान और भारतको इस प्रकारकी रचनामे प्रथम स्थान प्राप्त है। मध्यकालीन और आधुनिक यूरोपने ऐसी निपुणता, प्रचुरता और विशालतावाली कोई भी चीज नही रची, जब कि उधर चित्रकारीमे परवर्ती यूरोपने बहुत कुछ किया है और वह भी समृद्ध रूपमे तथा दीर्घकाल-व्यापी और नित-नूतन अत प्रेरणाके साथ। विभेद उत्पन्न होनेका कारण यह है कि ये दो कलाए भिन्न-भिन्न प्रकारकी मनोवृत्तिकी अपेक्षा करती हैं। जिस साधन-सामग्रीसे हम काम करते हैं वह सर्जनशील आत्मासे अपनी विशेष माग करती है, अपनी स्वाभाविक शर्ते रखती है, जैसा कि रस्किनने एक भिन्न प्रसगमें निर्देश किया है, पत्थर या कासेसे मूर्ति बनानेकी कला मनकी ऐसी बनावटकी माग करती है जो प्राचीन लोगोमें थी पर आधुनिक लोगोमें नही है या फिर उनमेंसे विरले व्यक्तियोमें ही पायी जाती है, वह एक ऐसे कलात्मक मनकी माग करती है जो न तो अत्यत वेगपूर्वक चलनेवाला हो और न अपने भावमे आसक्त हो और न अपने व्यक्तित्व एव भावावेशके तथा उत्तेजित करके विलुप्त हो जानेवाले स्पर्शोके अत्यधिक वशमे ही हो, बल्कि सुनिश्चित विचार और अतर्दर्शनके किसी महान् आधारपर प्रतिष्ठित हो, स्वभावमें स्थिर हो, अपनी कल्पनामे उन्ही चीजोपर एकाग्र हो जो दृढ और स्थायी हैं। इस अधिक कठोर उपादानसे मनुष्य आसानीसे अपनी इच्छानुसार खेलवाड नही कर सकता, वह इन चीजोमें केवल श्री-शोभा एव बाह्य सौंदर्य या अधिक स्थूल, चचल और हलके रूपमें आकर्षक उद्देश्योके लिये चिरकालतक या सुरक्षित रूपमें रत भी नही रह सकता। सौंदर्यात्मक स्व-तुष्टि जिसके लिये रगकी आतर भावना हमें स्वीकृति देती है तथा आमन्त्रित करती है, जीवनकी उस चचल क्रीडाका आकर्षण जिसके लिये तूली, लेखनी या रगकी रेखा स्वतत्रता प्रदान करती है—ये दोनो यहा निषिद्ध है, अथवा यदि किसी हदतक इन्हे चरितार्थ किया भी जाय तो केवल

एक सीमारेखाके भीतर ही जिसे पार करना खतरनाक और शीघ्र ही विनाशकारी होता है। यहां तो कृतिके आधारके रूपमें आवश्यकता है महान् या गंभीर उद्देश्योंकी एक कम या अधिक गहराईमें पैठनेवाली आध्यात्मिक दृष्टि या शाश्वत वस्तुओंकी किसी अनुभूतिकी। मूर्ति-शिल्प स्थितिशील स्वयंपरिपूर्ण अनिवार्यतः दृढ़ उदात्त या कठोर होता है और इसके लिये एक ऐसी सौंदर्य-भावनाकी अपेक्षा होती है जो इन गुणोंको धारण करनेमें समर्थ हो। इस आधारपर भी जीवनकी एक विशेष प्रकारकी गतिशीलता और रेखाकी एक कुशलतापूर्ण श्री-सुषमा अवश्य आ सकती है परन्तु वह यदि पूर्ण रूपसे उपादानके मूल धर्मका स्थान ले लेता है तो इसका अर्थ यह होता है कि बृहत् मूर्तिमें क्षुद्र मूर्तिकी भावना प्रविष्ट हो गयी है और तब हमें निश्चय हो जाना चाहिये कि हम अवनतिके निकट पहुंच रहे हैं। यूनानी मूर्तिकला इस दिशाका अनुसरण करती हुई फिडियसकी महानतासे प्रैक्सिटेलीज (Praxiteles) की सहज स्व-भावनियमोंसे गुजरकर अपने ह्रासकी अवस्थामें जा पहुंची। कुछ एक व्यक्तियों एक ऐन्जेलो (Angelo) या एक रोदें (Rodin) के द्वारा निर्मित किसी महान् कृतिके होते हुए भी परवर्ती यूरोप मूर्तिकलामें अधिकतर असफल ही रहा है क्योंकि उसने पत्थर और कांसेके साथ बाहरी रूपमें खिलवाड़ किया इन्हें जीवनके चित्रणका एक माध्यम समझा पर गंभीर दृष्टि या आध्यात्मिक प्रेरकभावका पर्याप्त आधार नहीं पा सका। इसके विपरीत मिस्र और भारतमें मूर्तिकलाने सफल सृजनकी शक्तिको कई महान् युगोंतक सुरक्षित रखा भारतमें जो प्राचीनतम कृति हालमें खोज निकाली गयी है वह ईसासे पूर्व पांचवीं सदीकी है और वह प्रायः पूर्णतया विकसित है एवं उसके पीछे और भी पहलेकी पूर्व रचना का इतिहास स्पष्ट रूपसे विद्यमान है, और किसी प्रकारका उच्च मूल्य रखनेवाली अत्यंत अर्वाचीन कृति हमारे अपने समयसे कुछ ही सदियां पहलेकी ठहरती है। मूर्तिकलाके क्षेत्रमें सफलतापूर्ण सृष्टिके दो सहस्र वर्षोंके सुनिश्चित इतिहासका होना किसी जातिके जीवनका एक असाधारण और महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

भारतीय मूर्तिकलाकी इस महानता और अविच्छिन्न परंपराका कारण भारत जातिके धार्मिक और दार्शनिक मन तथा सौंदर्यात्मक मनके बीच घनिष्ट संबंध ही है। हमारे युगसे कुछ काल पूर्वतक इसका बने रहना उस दर्शन और धर्ममें विद्यमान प्राचीनपंथी मनकी गठनके बने रहनेके कारण ही संभव हुआ ऐसे मनकी जो उत्तमोत्तम वस्तुओंसे परिचित था विराट् दृष्टि पानेमें समर्थ था और जिसके चिंतन और अवलोकनकी जड़ें अंतरात्माकी गहराइयोंमें मानव आत्माकी अत्यंत अतरंग अर्थगर्भित और स्थायी अनुभूतियोंमें थीं। निःसंदेह, इस महानताकी भावना प्रस्तरगत यूनानी कृतिकी सीमित पूर्णता उच्चतम श्रेष्ठता या प्राणिक सूक्ष्मता और भौतिक सुषमासे ठीक उलटे प्रकारकी है। और, क्योंकि मि आर्चर और उनकी बिरादरीकी प्रिय चाल यूनानी आदर्शको निरंतर हमारे सामने ला खड़ा करना है मानो मूर्तिकला या तो यूनानी मानदंड निर्धारित होनी चाहिये या फिर वह कौड़ी काम

की नही, अतएव इन दोनोंके भेदके आशयपर ध्यान देना भी अच्छा होगा। प्राचीनतर एव अधिक पुरानी यूनानी शैलीमें कोई ऐसी चीज अवश्य थी जो मिस्र और पूर्वसे प्राप्त प्रथम सर्जनात्मक मूल प्रेरणाका स्मरण करानेवाले स्पर्शके समान प्रतीत होती है, परतु वह प्रभुत्वपूर्ण विचार तो वहा पहलेसे ही विद्यमान है जिसने यूनानी सौंदर्यतत्त्वका रूप निश्चित किया और साथ ही जो यूरोपके परिवर्ती मनपर अपना अधिकार जमाये रहा है, अर्थात् आतरिक सत्यकी किसी प्रकारकी अभिव्यक्तिको वाह्य प्रकृतिके आदर्श-अनुकरणके साथ सयुक्त करनेका सकल्प। जो रचना निष्पन्न की गयी उसकी उज्ज्वलता, सुन्दरता एव उत्कृष्टता एक अत्यत महत् और पूर्ण वस्तु थी, परतु यह मानना निरर्थक है कि वही कलात्मक सृजनकी एकमात्र सभव पद्धति या उसका एकमात्र स्थायी और स्वाभाविक नियम है। उसकी उच्चतम महत्ता केवल तभीतक जीवित रही—और असलमें वह बहुत दीर्घकालतक नही जीवित रही—जबतक कि एक अत्यत सूक्ष्म, समृद्ध या गभीर तो नही पर सुन्दर आध्यात्मिक सकेत, और श्रेष्ठता तथा सुषमाके बाह्य भौतिक सामजस्यके बीच एक विशेष प्रकारका सतोषकारक सतुलन साधित करके उसे निरतर सुरक्षित रखा गया। बादकी रचनाने इद्रियोंके साचेमें सौदर्यकी आत्माको प्रकट करनेकी एक विशेष शक्तिके साथ प्राणिक सकेत और ऐंद्रिय भौतिक सौदर्यका एक क्षणिक चमत्कार साधित किया, किंतु एक बार ऐसा कर लेनेपर, देखने या सृजन करनेके लिये और कुछ भी नही रहा। कारण, वह विचित्र प्रवृत्ति जो आज आधुनिक मनको इस बातके लिये प्रेरित करती है कि वह अतिरजित यथार्थवादकी, जो वस्तुत जीवन और जडतत्त्वमें विद्यमान आत्माके रहस्यको प्रकाशित करनेके लिये वस्तुओके आकारपर डाला जानेवाला दबाव ही है, मिथ्या कल्पनाके द्वारा आध्यात्मिक दृष्टिकी ओर लौटे, प्राचीन स्वभाव और बुद्धिके लिये सुलभ नही थी। और निश्चय ही हमारे लिये अब यह देखनेका समय आ गया है, जैसा कि आज बहुतेरे लोग स्वीकार करते हैं कि ग्रीक कलाकी महत्ताको उसके अपने क्षेत्रमें मान्यता देना उस क्षेत्रकी अपेक्षाकृत सकीर्ण और सकुचित सीमाओंको स्पष्ट रूपसे अनुभव करनेमें बाधक नही होना चाहिये। जो कुछ ग्रीक मूर्तिकलाने व्यक्त किया वह सुदर, श्रेष्ठ और महान् था, किंतु जो कुछ उसने व्यक्त नही किया और जिसके लिये वह, अपने नियम-विधानकी सीमाओंके कारण, प्रयत्न करनेकी आशा भी नही कर सकती थी वह बहुत-कुछ था, सभावनाकी दृष्टिसे अति महान् था, एक ऐसा आध्यात्मिक गाभीर्य एव विस्तार था जिसकी मानव मनको अपने विस्तीर्णतर और गभीरतर आत्मानुभवके लिये आवश्यकता होती है। और ठीक यही भारतीय मूर्तिशिल्पकी महानता है कि वह पत्थर और कासेपर उस चीजको व्यक्त करता है जिसकी ग्रीक सौंदर्यात्मक मन कल्पना ही न कर सका या जिसे प्रकट ही न कर सका, और उसे वह उसकी समुचित अवस्थाओं और स्वाभाविक पूर्णताकी गहरी समझके साथ मूर्त रूप प्रदान करता है।

भारतका प्राचीनतर मूर्तिशिल्प उसी चीजको दृश्यमान रूपमें मूर्तिमान करता है जिसे उपनिषदोंने अंतःप्रेरित विचारके रूपमें व्यक्त किया था और महाभारत तथा रामायणने जीवनके महान् नाटकके द्वारा अंकित किया था। भारतीय गृह-शिल्पके समान यह मूर्ति-शिल्प भी आध्यात्मिक अनुभूतिसे उद्भूत होता है और अपने महत्तम रूपमें वह जिस चीज का सृजन एवं अभिव्यंजन करता है, वह है—अपने अंदर विराजमान आत्मा, देहमें स्थित अंत-रात्मा, दिव्य या मानव सत्तामें विद्यमान कोई-न-कोई जीवंत आत्म-शक्ति, वैश्व एवं विराट् सत्ता या अवचेतनमें वैयक्तिक रूप तो धारण कर लेती है पर उस व्यक्ति-भावमें वह नहीं जाती निर्व्यक्तिक सत्ता या व्यक्तित्वकी अत्यंत आग्रहपूर्ण पीड़ाको धारण नहीं करती, सनातनके स्थायी क्षण, शांत कार्यों और रचनाओंमें आत्माकी उपस्थिति, भावना, शक्ति और उसका ज्ञान या शक्तिशाली आनंद। और समस्त कलाके ऊपर यह मूकभाव कुछ-न-कुछ छाया हुआ है तथा कुछ त्याग विद्यमान है और जहां मूर्तिकारके मनपर इसका प्रभुत्व नहीं है वहां भी इसका असर मिलता है। और इसीलिये भारतकी वास्तुकलाकी भांति उसकी मूर्तिकला की कृतियोंके बारेमें भी हमें भिन्न प्रकारका मन, दृष्टि और प्रतिक्रियाकी एक भिन्न प्रकारकी शक्ति लेकर आना होगा, यूरोपकी अधिक बाह्य रूपमें कल्पित कलाकी अपेक्षा इसमें हमें देखनेके लिये अपने भीतर अधिक गहरे जाना होगा। फिडियस (Phidias) के ओलि-म्पस-पर्वतवासी ग्रीक देवता विशालीकृत और उन्नीत मानव सत्ताएं ही हैं जिन्हें निर्व्यक्तिक ताकी एक प्रकारकी दिव्य शांति या दिव्यभावापन्न गुण, स्थिर संयमके द्वारा अत्यंत मानवीय सीमामें रक्षित किया गया है, अन्य कृतियोंमें हम मानव आकृतिकी आदर्शीकृत सुन्दरताके रूपमें वीरों, मल्ल-योद्धाओं, सौंदर्यके नारी-रूप अवतारों, विचार, कार्य या भावावेगकी एक एक सफल मूर्तियां देखते हैं। भारतीय भास्कर-कलाके देवता वैश्व सत्ताएं हैं जिनमें महान् आध्यात्मिक शक्ति, आध्यात्मिक विचार और क्रिया एवं अन्तरतम वैश्व अर्थके आधार रूप हैं, मानवीय रूपता इस आध्यात्मिक अर्थका वाहन, इसकी आत्म-अभिव्यक्तिका बाह्य साधन है, आकृतिकी प्रत्येक वस्तुको, उसके द्वारा दिये हुए प्रत्येक गुणोंको, मुख, हाथ [illegible] मुद्रा, देहकी समतानता और विविध भंगिमाओं तथा प्रत्येक सहायक वस्तुको आर-[illegible] प्रत्येक अनुप्राणित करना होगा, एक महान् रूपमें सहायक बनना होगा, [illegible] समतानता [illegible] करना होगा और दूसरी ओर [illegible] उन चीजको बता देना होगा जो [illegible] दिखा करते [illegible] सब चीजोंको बता देना होगा जिसका अभिप्राय [illegible] यह दर्शित या भौतिक बाह्य या प्रत्यक्ष सर्वोपरि ही आग्रह करता हो। इस प्रकारकी रचनाका उद्देश्य भावी भौतिक या भाव-भावकी भौतिक नहीं बल्कि [illegible] आध्यात्मिक सौंदर्य का रहस्य है जिस प्रकार आकृति द्वारा [illegible] [illegible] [illegible] है इसके भीतरी दिव्य सत्ता इसका विचार भी [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न बना दिया गया था। और इसीलिये इस प्रकार [illegible] [illegible]

स्थित होनेपर इतना ही काफी नहीं है कि हम इसपर नजर डालें और सौंदर्यात्मक दृष्टि और कल्पना-शक्तिके द्वारा इसका प्रत्युत्तर दें, बल्कि हमें आकृतिके अंदर उस चीजको भी खोज करनी होगी जिसे वह अपनेमें धारण किये हुई है और उसके द्वारा तथा उसके पीछे उस गंभीर संकेतका भी अनुसरण करना होगा जो वह अपने असीम स्वरूपके अंदर प्रदान करती है। भारतीय मूर्तिशिल्पका धार्मिक या प्राचीन परंपरागत पक्ष भारतीय ध्यान और उपासनाके आध्यात्मिक अनुभवोंके साथ घनिष्ठ रूपमें संबद्ध है,—ये अनुभव हमारे आत्मा-न्वेषणकी वे गंभीर वस्तुएं हैं जिन्हें हमारा आलोचक घृणापूर्वक योग-संबंधी भ्रम कहता है,—आत्माकी अनुभूति ही इसकी सृजनकी विधि है और आत्माकी अनुभूति ही प्रतिक्रिया करने और समझनेका हमारा तरीका भी अवश्य होनी चाहिये। और मानव सत्ताओं या समुदायों-की आकृतियोंमें भी इसी प्रकारका आन्तरिक लक्ष्य एवं अंतर्दृष्टि ही मूर्तिकारके श्रमका परि-चालन करती है। किसी राजा या साधुकी प्रतिमा हमें किसी राजा या साधुके रूपकी परिकल्पना प्रदान करने या किसी नाटकीय कार्यका चित्रण करने या पत्थरपर खुदी हुई किसी विशेष चरित्रकी एक मूर्ति बननेके लिये ही अभिप्रेत नहीं होती वरंच वह किसी आत्मिक अवस्था या अनुभूति अथवा किसी अधिक गहरे आत्मिक गुणको, उदाहरणार्थ, आराध्य देवता-के सामने संत या भक्तमें होनेवाले बाह्य भावावेशको नहीं वरन् भक्ति और ईश्वर-दर्शनके भाव-गद्गद परानंदके अंतरीय आत्मिक पक्षको साकार रूप देनेके लिये भी अभिप्रेत होती है। भारतीय मूर्तिकारने अपने पुरुषार्थके सामने जो कार्य रखा उसका स्वरूप यही है और इसमें मिलनेवाली उसकी सफलताके द्वारा ही, न कि किसी अन्य वस्तुके, अर्थात् उसके मनके लिये विजातीय तथा उसकी योजनाके प्रतिकूल किसी गुण या किसी उद्देश्यके अभावके द्वारा, हमें उसके कृतित्व और पुरुषार्थके बारेमें अपना मत स्थिर करना चाहिये।

एक बार जब हम इस मानकको स्वीकार कर लेते हैं तब इसकी अवस्थाओंकी उस गहरी समझके बारेमें जो भारतीय भास्करकलामें विकसित की गयी तथा उस कौशलके संबंधमें जिसके साथ इसके कार्यका संपादन किया गया या इसकी सर्वोत्कृष्ट रचनाओंकी पूर्ण गरिमा और श्री-सुषमाके विषयमें जितना भी कहा जाय उतना ही थोड़ा है। महान् बुद्धों-को ही लो—गांधार शैलीकी बुद्ध-मूर्त्तियोंको नहीं, बल्कि महान् गुहामंदिर या देवालयकी दैवी मूर्तियों या मूर्तिसमूहोंको, दक्षिणकी बादके कालकी सर्वोत्तम कांस्य-मूर्तियोंको जिन चित्रोंका मि गांगुलिकी इस विषयकी पुस्तकमें एक अद्भुत संग्रह है, 'कालसंहार' शिवकी मूर्ति एवं नटराजकी मूर्तियोंको लो। परिकल्पना या कार्यान्वितिकी दृष्टिसे इनसे अधिक महान् या अधिक सुंदर कोई भी कृति मानवीय हाथोंने कभी नहीं बनायी और एक आध्यात्मिक सौंदर्य-दृष्टिका अनुसरण करनेसे इसकी महत्तामें चार चांद लग गये हैं। बुद्धकी प्रतिमूर्ति एक सांत प्रतिमामें अनंतको सफलताके साथ अभिव्यक्त करती है, और निश्चय ही मानवीय आकार एवं मुखमंडलमें निर्वाणकी असीम शांतिको मूर्तिमंत करना कोई निकृष्ट या बर्बर

प्राप्ति नहीं है। कालसंहार शिव केवल अपने उस महादेव सदृश शांतिमय और सामर्थ्यशाली नियंत्रण तथा सत्ताकी उस गौरव-गरिमा और राज-महिमाके कारण ही सर्वोच्च नहीं है जिसे आकृतिकी संपूर्ण भाव-भंगिमा प्रत्यक्ष रूपमें मूर्तिमन्त करती है—यह तो इसकी सफलताका केवल आधा या आधेसे भी कम हिस्सा है—बल्कि इससे कहीं अधिक वे काल और सत्तापर आध्यात्मिक विजयके उस अगाध विश्व आवेगके कारण परमोच्च हैं जिसे कलाकार भाल भृकुटि और मुख तथा प्रत्येक अंगमें भर देनेमें सफल हुआ है और जिसे उसने देवताके विग्रहके प्रत्येक अंगके अंतर्निहित मानसिक नहीं वरन् आध्यात्मिक संकेतके तथा अपने आशयकी उस लयके द्वारा सूक्ष्म रूपसे संपुष्ट किया है जो उसने इस कृतिकी समग्र एकताके द्वारा उंडेल दी है। अथवा शिवके नृत्यकी वैसी गतिविधि एवं विराट् आनंदको अभिव्यक्त करनेमें जो अद्भुत प्रतिभा और निपुणता देखनेमें आती है उसके रहस्यात्मक लयताको व्यक्त करनेके लिये जिस सफलताके साथ प्रत्येक अंगकी मुद्रा प्रदर्शित की गयी है उसके स्वयं गतिकी उल्लासपूर्ण तीव्रता और स्वच्छन्दता और फिर भी इसकी तीव्रताकी समुचित संयतता के तथा इन सिद्धहस्त मूर्तिकारोंकी हृदयग्राही परिकल्पनामें एक ही विषयके प्रत्येक अंगके सूक्ष्म भेद प्रभेदके बारेमें क्या कहा जायगा? महान् मंदिरोंमें सुरक्षित या समयके विनाशसे बची हुई एक-एक मूर्ति उसी महान् परंपरागत कलाको और उस परंपरा तथा उसकी अनेक शैलियोंमें कार्य करनेवाली प्रतिभाका गंभीर और सुगृहीत आध्यात्मिक विचारको और प्रत्येक भाव रेखा एवं संघातमें हाथ और अंग-प्रत्यंग सांकेतिक भाव-भंगी और व्यंजक लयतामें इस विचारकी सतत अभिव्यक्तिको प्रमाणित करती है—यह एक ऐसी कला है जिसे इसकी अपनी भावनामें समझनेपर, अन्य किसी कलाके साथ किसी प्रकारकी तुलनासे डरनेकी जरूरत नहीं भले ही वह कला प्राचीन हो या आधुनिक यूनानी हो या मिस्री निकट या सुदूर पूर्वकी हो या पश्चिमके किसी भी सर्जनशील युगकी। यह मूर्तिकला अनेक परिवर्तनोंमेंसे गुजरी सर्वप्रथम असाधारण गरिमा और अति महत् शक्तिसे संपन्न प्राचीनतर कला जो उसी भावनासे उद्भूत है जिसका प्रमुख वैदिक और वैदान्तिक ऋषियों तथा महाकवियोंपर था उसके बाद श्री-सुषमा और आनंदास्वादकी ओर पुराणकालीन प्रवृत्ति तथा भावप्रधान उन्मादना और भक्तिविभोर आविर्भाव और अन्तमें एक ह्रास और सुस्पष्टतामय ह्रास परंतु इनमेंसे दूसरी अवस्थामें भी आदिसे अन्ततक मूर्तिकलाने उसकी गंभीरता और महानता सुरक्षित रखी और सजीवित रक्खी है और स्वयं ह्रासोन्मुख प्रवृत्तिमें भी इसका कुछ अंश पूर्ण अधोगति लिखाता या नाटकीयताके प्रकार करनेके लिए प्राय ही बचा रहता है।

तो अब हम यह देखें कि भारतीय मूर्तिकलाकी भावना और शैलीपर जो आक्षेप किये गए हैं उनका मूल्य क्या है। इस विद्वत्तावादी आलोचनाका तात्पर्य यही है कि उसका अनेकांगत बना हुआ यूनानीय मन मनुष्य अनुपातको बचाकर किसी मूर्तिगत विविध विभूत-विभा बाद अनुभव करता है तब उसी विकृत कल्पनाको देखें अनभ्यस्त करता है तो अपरिभ

अवास्तविकताओंके दुःस्वप्नके बीच कशमकश कर रही हैं। अब, हमारे सामने जो कृतियां बच रही हैं उन सबमें ऐसी भी हैं जो कम अंतःप्रेरित हैं अथवा ऐसी भी हैं जो खराब, अतिरंजित, कृत्रिम या भद्दी हैं और जिनमें प्रतिभाहीन कारीगरोंकी रचना अज्ञातनामा महान् कलाकारोंकी कृतिमें मिली हुई है, और जो आंख उन कृतियोंके आशय और उनकी पहली शर्तोंको, जातिके मन या उसकी विशिष्ट प्रकारकी सौंदर्य-भावनाको नहीं समझती, वह उत्तम और हीन कोटिकी क्रियान्वितियोंमें, ह्रासकालकी कृति और सिद्धहस्त कलाकारों तथा महान् युगोंकी कृतिमें भेद करनेमें सहज ही असफल हो सकती है। परंतु इस आलोचनाको यदि एक सर्वसामान्य वर्णनके रूपमें प्रयुक्त किया जाय तो यह अपने-आपमें ही एक अपरूप और विकृत वस्तु है और इसका केवल इतना ही अर्थ है कि यहां ऐसी धारणाएं और व्यक्त करनेवाली कल्पना है जो पश्चिमी बुद्धिके लिये अपरिचित है। भारतीय सौंदर्य-बुद्धि जैसी रेखा, प्रवाह और आकारकी मांग करती है वे वही नहीं हैं जिनकी मांग यूरोपीय सौंदर्य-बुद्धि करती है। इस भेदकी, जिसे हम मूर्तिकलामें ही नहीं वरन् अन्यान्य रूप निर्माण करनेवाली कलाओं (Plastic arts) में तथा संगीत और यहांतक कि कुछ हदतक साहित्यमें भी पाते हैं, विस्तारके साथ छानबीन करनेमें बहुत समय लगेगा, पर मोटे तौरपर हम कह सकते हैं कि भारतीय मन आध्यात्मिक संवेदनशीलता और आंतरात्मिक जिज्ञासाकी प्रताडनाके वश गति करता है जब कि यूरोपीय प्रकृतिमें निहित सौंदर्य-जिज्ञासा इस अर्थमें बौद्धिक, प्राणिक, भाविक और कल्पनामूलक है, और रेखा एवं संपूर्ण आकार, अलंकार, अनुपात और ताल-छंदके भारतीय प्रयोगकी प्रायः संपूर्ण विचित्रता इसी भेदसे उत्पन्न होती है। ये दोनों मन प्रायः भिन्न-भिन्न जगतोंमें निवास करते हैं, या तो वे एक ही वस्तुको नहीं देखते या, जहां उनका विषय एक होता है वहां भी वे उसपर भिन्न स्तरपरसे या भिन्न वातावरणसे घिरे रहकर दृष्टि डालते हैं, और यह तो हम जानते ही हैं कि दृष्टिके आधार-बिंदु या माध्यममें विषयको बदल डालनेकी कितनी शक्ति होती है।

निःसंदेह, मि. आर्चरकी इस शिकायतके लिये अत्यंत विपुल आधार विद्यमान है कि अधिकांश भारतीय मूर्तिशिल्पमें प्रकृतिवादका अभाव है। स्पष्टतः ही, अनुप्रेरणा एवं देखनेका तरीका प्रकृतिवादी नहीं है, अर्थात् वह स्थूल या पार्थिव प्रकृतिका सजीव, विश्वासजनक और यथार्थ, श्री-सुषमामय, सुंदर या सशक्त, अथवा यहांतक कि आदर्शीभूत या कल्पनामूलक अनुकरण नहीं है। भारतीय मूर्तिकारका काम आध्यात्मिक अनुभवों और धारणाओंको साकार रूप देना है न कि स्थूल इंद्रियोंसे गृहीत वस्तुका चित्रांकन या स्तवन करना। वह अपना काम पार्थिव एवं भौतिक वस्तुओंसे मिलनेवाले सुझावोंसे आरंभ कर सकता है, परंतु अपनी कृतिका सृजन तो वह उसके बाद ही कर पाता है जब कि वह भौतिक परिस्थितियोंके आग्रहकी उपेक्षा करके उन वस्तुओंको आंतरात्मिक स्मृतिमें देख लेता है और उन्हें अपने अंदर इस प्रकार रूपांतरित कर डालता है कि उनके स्थूल सत्य या प्राणिक एवं बौद्धिक अर्थमें भिन्न

किसी अन्य वस्तुको प्रकाशमें लाया जा सके। उसकी आंख पदार्थोंकी आंतरात्मिक रेखा और आकार देखती है और भौतिक आकारके स्थानपर वह उन्हींका प्रयोग करता है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि इस प्रकारकी पद्धति एक परिणाम उत्पन्न करे जो सामान्य पश्चिमी मन एवं दृष्टिके लिये जब कि वे (मन और दृष्टि) विशाल और सहानुभूतिपूर्ण संस्कृतिके द्वारा अभी मुक्त नहीं हुए हैं अपरिचित हों। और जो चीज हमारे लिये अपरिचित होती है वह स्वभावतः ही हमारे अभ्यासबद्ध मनके लिये अरुचिकर और हमारी अभ्यासबद्ध इंद्रियके लिये नहीं तथा हमारी कल्पनाशील परंपरा एवं सौंदर्यात्मक अभिरुचिके लिये विचित्र होती है। हम वही चीज चाहते हैं जो आंखके लिये परिचित और कल्पना-शक्तिके लिये स्पष्ट हो और इस बातको हम सहज ही स्वीकार नहीं करेंगे कि जिस सौंदर्यके रूपमें रहने और आनंद लेनेके हम अभ्यासी हैं उससे अन्य प्रकारका और शायद अधिक महान् सौंदर्य भी वहां हो सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष रूपसे इस आंतरात्मिक दृष्टिको मानव आकृतिपर प्रयुक्त करना ही भारतीय मूर्तिकलाके इन आलोचकोंके रोषका कारण है। देव-देवियोंकी मूर्तियोंमें भुजाओंकी संख्या बढ़ाने जैसे शिवकी चार, छः आठ या दस भुजाएं एवं दुर्गाकी अठारह भुजाएं बनाने आदि विशेषताओंके बारेमें सामान्यतः ही आक्षेप किया जाता है क्योंकि ये एक अस्वाभाविक वस्तु हैं, ऐसी वस्तु हैं जो प्रकृतिमें नहीं पायी जाती। अब इसमें संदेह नहीं कि किसी मनुष्य या स्त्रीके चित्रणमें कल्पनाकी इस प्रकारकी क्रीड़ा अनुपयुक्त होगी क्योंकि वहां इसका कोई कलात्मक या अन्य प्रयोजन नहीं होगा पर मैं यह नहीं समझता कि भारतीय देवताओं जैसी दैवी सत्ताओंकी मूर्ति बनानेमें इस प्रकारकी स्वतंत्रताका निषेध क्यों किया जाय। सारा प्रश्न यह है कि सर्वप्रथम क्या यह उस गूढ़ार्थको व्यक्त करनेका उपयुक्त साधन है जिसे और किसी तरह इतने बल और प्रभावके साथ प्रकट नहीं किया जा सकता और दूसरे, क्या यह कलात्मक चित्रण करनेमें समर्थ है और क्या यह एक ऐसे कलात्मक साम्य एवं एकत्वका समताल है जिसके लिये यह जरूरी नहीं कि यह भौतिक प्रकृतिका समताल भी हो। यदि ऐसी बात नहीं है तो यह एक कुरूपता और उग्रता है पर यदि ये शर्तें पूरी होती हैं तो ये साधन न्यायोचित हैं और मैं नहीं समझता कि कृतिकी पूर्णताके सम्मुख हमें कोई असंगत हो-हल्ला मचानेका अधिकार है। स्वयं मि. आर्चर कौशल और निपुणताकी उस पूर्णतासे प्रभावित हैं जिसके साथ इन अवयवोंका जो उनकी दृष्टिमें निरर्थक हैं नृत्यरत शिवकी मूर्तियोंमें विन्यास किया गया है और निःसंदेह ऐसी अंधी आंख तो हो ही नहीं सकती जो इतना भी न देख सके परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है वह कलात्मक अर्थ जिसे व्यक्त करनेके लिये इस कौशलका प्रयोग किया जाता है और यदि उसे समझ लिया जाय तो हम तुरत देख सकते हैं कि शिवके विश्व-नृत्यका आध्यात्मिक भावोद्रेक एवं उसके संकेत इस युक्तिके द्वारा इस प्रकार प्रकाशमें लाये जाते हैं जिस प्रकार कि दो बाहुओंवाली मूर्तिसे

नहीं लाये जा सकते। यही सत्य अठारह भुजाओंसे युक्त असुरसंहारिणी दुर्गा या पल्लव-युगकी महान् कृतियोंके उन शिवोंके बारेमें भी लागू होता है जिनमें नटराजोंकी रसमय सुषमा तो नहीं है पर उसके स्थानपर एक महान् काव्योचित छंद-ताल तथा सौंदर्य है। कला अपने साधनोंको आप ही उचित ठहराती है और यहां वह यह कार्य परम पूर्णताके साथ करती है। और जहांतक कुछ मूर्तियोंके टेढ़े-मेढ़े (contorted) अंग-विन्यासोंका प्रश्न है, वहां भी यही नियम काम करता है। इस विषयमें प्रायः भौतिक शरीरके शरीर-शास्त्र-वर्णित आदर्श मानसे व्यतिक्रम पाया जाता है या फिर—और यह कुछ अधिक भिन्न बात है—अंगों या देहके असामान्य विन्यासपर कम या अधिक स्पष्ट रूपसे बल दिया जाता है, और तब प्रश्न यह है कि क्या यह बिना किसी अर्थ या प्रयोजनके किया जाता है, एक निरा भद्दापन या कुरूप अतिरंजन होता है, अथवा क्या यह असलमें किसी गूढ़ार्थको प्रकट करनेमें सहायक है और प्रकृतिके सामान्य भौतिक छंद-मानके स्थानपर एक अन्य उद्देश्यपूर्ण और सफल कलात्मक लय-तालकी प्रतिष्ठा करता है। आखिर, कलाके लिये असामान्यसे संबंध रखने या प्रकृतिको बदल देने और लांघ जानेकी मनाही नहीं है, और प्रायः यहांतक कहा जा सकता है कि जबसे इसने मानव कल्पनाशक्तिकी सेवा आरंभ की है तबसे, अर्थात् अपने प्रथम विशाल और महाकाव्योचित अतिरंजनोंसे लेकर आधुनिक रूमानीवाद और यथार्थवाद-की उग्रताओंतक, वाल्मीकि और होमरके उच्च युगोंसे लेकर ह्यूगो और इब्सनके दिनतक यह इसके सिवा और कुछ नहीं करती रही है। साधनोंका भी महत्त्व होता है पर अर्थ तथा कृतिसे और उस शक्ति एवं सौंदर्यसे कम जिसके साथ यह मानव आत्माके स्वप्नों और सत्योंको प्रकट करती है।

भारतीय कलाने मानव आकृतिका जैसा चित्रण किया है उसके संपूर्ण प्रश्नको इसके सौंदर्यात्मक उद्देश्यके प्रकाशमें समझना चाहिये। यह एक विशेष उद्देश्य और आदर्श तथा एक सामान्य नियम एवं मानदंडके साथ कार्य करती है जो बहुतसे भेद-विभेदोंके लिये अवकाश देता है और जिससे कुछ ऐसे व्यतिक्रम भी देखनेमें आते हैं जो उचित ही है। जिन विशे-षणोंसे मि आर्चर इसकी विशेषताओंकी निंदा करनेकी चेष्टा करते हैं वे मूर्खतापूर्ण, छिद्रा-न्वेषी और अतिरंजित हैं, एक ऐसे पत्रकारके अस्वाभाविक शब्द हैं जो एक सर्वथा बुद्धि-संगत, मनोरम और सौंदर्यबोधात्मक मानदंडका, जिसके साथ उसे सहानुभूति नहीं है, मूल्य कम करनेका यत्न कर रहा है। यहां बाजके-से चेहरों, ततैयेकी-सी कमरों, पतली टांगों तथा क्रोधपूर्ण व्यंग-चित्रकी अन्य विशेषताओंकी आवृत्तिसे भिन्न और ही चीजें हैं। वे मि हॅवेलके इस संकेतपर संदेह करते हैं कि इन प्राचीन भारतीय कलाकारोंको शरीरकी रचनाका काफी अच्छा ज्ञान था,—जैसा कि भारतीय विज्ञान इसे जानता ही था,—पर इन्होंने अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इसका व्यतिक्रम करना पसंद किया। मुझे यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि कला शरीर-रचना-शास्त्र नहीं है, न यही

आवश्यक है कि कलाकी सर्वोत्कृष्ट कृति भौतिक तथ्यकी प्रतिकृति या पदार्थ-विज्ञानका एक पाठ ही हो। मुझे इस बातपर दुःख करनेका कोई कारण नहीं दीखता कि भारतीय कलाकारोंने मांसपेशियों और अङ्गकी आकृतियों आदिका सफल अध्ययन नहीं किया था क्योंकि मैं नहीं मान सकता कि अपने-आपमें इन चीजोंका कोई वास्तविक कलात्मक मूल्य है। एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय कलाकारके मनमें अनुपात और समतालकी पूर्ण धारणा थी और कुछ शैलियोंमें उसने उनका प्रयोग उत्कृष्टता और ओजस्विताके साथ किया कुछ अन्य शैलियोंमें जैसे जावाकी या गौड़ (Gauda) देश या दक्षिणकी कांसेकी मूर्तियोंमें उनका प्रयोग उसी गुणके साथ या उसमें पूर्ण श्री-सुषमा और प्रायः एक तीव्र और रसमय माधुर्यका भी पुट देकर किया। भारतकी श्रेष्ठ मूर्तियोंमें मानव आकृतिकी जो महत्ता और सुषमा प्रकट की गयी है उससे बढ़कर कोई रचना की ही नहीं जा सकती। परंतु जिस चीजकी खोज की गयी और जो चीज प्राप्त की गयी वह बाह्य प्रकृतिवादी नहीं बल्कि आध्यात्मिक और आंतरात्मिक सुन्दरता थी और इसे उपलब्ध करनेके लिये मूर्तिकारने बलात् आ घुसनेवाले भौतिक ब्योरेको दबा दिया—और उसका यह कार्य बिलकुल ठीक ही था—तथा उसके स्थानपर उसने रूप-रेखाकी शुद्धता और आकृतिकी सुन्दरताका ही अपना लक्ष्य बनाया। और उस रूप रेखा तथा उस शुद्धता एवं सुन्दरताके भीतर वह ऐसी किसी भी चीजको जिसे वह पसंद करता था अर्थात् शक्तिके रूप या सुषमाकी कोमलताको स्थाणु महिमा या महत् शक्ति या गतिकी नियंत्रित उग्रताको अथवा ऐसी किसी भी चीजको जो उसके आशयकी पूर्ति या सहायता करती थी मूर्तिमंत करनेमें समर्थ हुआ। एक दिव्य और सूक्ष्म शरीर उसका आदर्श था और एक ऐसे व्यक्तिके लिये जिसकी रुचि और कल्पना इतनी कुंद या यथार्थवादी है कि वह भारतीय मूर्तिकारके विचारकी सत्यता और सुन्दरताको कल्पनामें भी नहीं ला सकता स्वयं यह आदर्श ही एक प्रतिबंधक और दोषपूर्ण वस्तु हो सकता है। परंतु कलाकी विजयें प्राकृत यथार्थवादी मनुष्यकी संकीर्ण पूर्वधारणाओंके द्वारा सीमित नहीं की जा सकतीं विजयी और चिरस्थायी तो वही चीज होती है जो श्रेष्ठ जनोंको अपील करती है साधुसम्मतम्, सर्वाधिक गंभीर और महान् वस्तु तो वही होती है जो गभीरतम आत्माओं तथा अत्यंत संवेदनशील आंतरात्मिक कल्पनाओंको तृप्त करती है।

प्रत्येक देशकी कलाके अपने आदर्श अपनी परंपराएं और स्वीकृत प्रथाएं होती हैं क्योंकि सर्जनशील आत्माके विचार और रूप अनेक होते हैं यद्यपि अंतिम आधार एक ही होता है। चीन और जापानके चित्रकारोंका दृष्टिकोण तथा उनकी आंतरात्मिक दृष्टि वही नहीं है जो यूरोपके कलाकारोंकी है परंतु उनकी कृतिके सौंदर्य और चमत्कारकी अवज्ञा कौन कर सकता है? मैं साहसपूर्वक कह सकता हूं कि मि॰ आर्चर एक पुलिस

'कास्टेवल' या एक 'टर्नर' (कलाबाज)[1] के चित्रको सुदूर पूर्वकी कृतियोकी सपूर्ण राशिके ऊपर स्थान देंगे, जैसे मै स्वय, यदि मुझे चुनाव करना पडे, चीन या जापानके किसी दृश्य-के या प्रकृतिके किसी अन्य चमत्कारी रूपातरके चित्रको अन्य सबसे अच्छा समझकर चुनूगा, परतु ये व्यक्तिगत, राष्ट्रीय या महाद्वीपीय स्वभाव और अभिरुचिकी बाते ठहरी। प्रश्नका मर्म तो है आत्माके द्वारा अधिगत सत्य और सौदर्यकी अभिव्यक्ति करना। भारतीय मूर्ति-कला, सामान्य रूपसे भारतकी समस्त ही कला अपने निजी आदर्श और अपनी निजी परपराओका अनुसरण करती है और ये अपने गुण और स्वरूपमें अद्वितीय है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो सृजनकी अनेक शताब्दियो और युगोमें बराबर ही, कुल मिलाकर महान् रही है और अपने सर्वोत्कृष्ट कालमे परमोच्च भी, चाहे वह विरली, प्राचीन, अशोकसे पहलेके समयकी कृतिके रूपमें हो या अशोकके समयकी या उससे पीछेकी प्रथम वीर-युगकी कृतिके रूपमें अथवा गुहा-मदिरो और पल्लव-युगीय तथा अन्य दक्षिणी मदिरो-की भव्य मूर्तियोके या बादकी सदियोमें बगाल, नेपाल और जावाकी श्रेष्ठ, सर्वांगपूर्ण या श्री-सुषमामय कल्पनाओंके या दक्षिणी धर्मोकी कासेकी रचनाओकी अपूर्व कुशलता और सुन्दरताके रूपमें, वह एक महान् जाति एव महान् सस्कृतिकी भावना और आदर्शोंकी आत्म-अभिव्यक्ति है—ऐसी जातिकी जो अपने मन और गुणोकी बनावटमें भूतलकी जातियोके बीच अपना पृथक् अस्तित्व रखती है, जो अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि, अपने गहरे दर्शनो और अपनी धार्मिक भावना, कलात्मक रुचि, तथा काव्यमय कल्पनाके वैभवके लिये सुवि-ख्यात है, और जो किसी समय अपने जीवन-सबधी व्यवहारो, सामाजिक प्रयत्नो और राज-नीतिक सस्थाओमें किसीसे कम नही थी। यह मूर्तिशिल्प प्रस्तर और कासेपर उस जाति-की अतरात्माकी एक अपूर्व-शक्तिशाली, हृदयग्राही और गभीर व्याख्या है। वह जाति एव सस्कृति एक दीर्घकालीन महानताके पश्चात् कुछ समयके लिये जीवनमे असफल हो गयी जैसे कि उससे पहले अन्य जातिया हुई और जैसे कुछ अन्य जातिया भी जो अब फूल-फल रही हैं आगे चलकर होगी, उसके मनकी रचनाओंकी गति रुक गयी है, अन्य कलाओ-की भाति यह मूर्तिकला भी लुप्त हो गयी है या अवनतिके गर्तमें जा गिरी है, परतु वह चीज जिससे यह उद्भूत हुई, अर्थात् अदरकी आध्यात्मिक अग्नि अभीतक जल रही है, और जो नवजागरण आ रहा है उसमें, सभावना है कि, यह महान् कला भी पुनरुज्जीवित हो उठेगी, इस श्रेणीकी आधुनिक पश्चिमी कृतिकी गभीर न्यूनताओंके बोझके तले दबकर नही बल्कि प्राचीन आध्यात्मिक हेतुकी नयी प्रेरणा और शक्तिकी उच्चतामे उज्जीवित होकर।

---

[1] 'टर्नर (Turner) कलाबाज या व्यायामविशारदको कहते हैं, विशेष रूपमे उसको जो जर्मन व्यायाम सघ (German Turnvereine) का सदस्य हो जिसकी स्थापना एफ एल जान ने १८११ में की थी।—अनुवादक

पुराने रूपोंकी सीमामें न बंधते हुए इतना ही नहीं बल्कि विजातीय मनके निरर्थक आक्षे
से विचलित न होते हुए इसे अपनी अतीत उपलब्धिके माहात्म्य और सौंदर्य एवं आन्
तरिक मर्मकी अनुभूति पुन प्राप्त करनी चाहिये क्योंकि अपने आध्यात्मिक प्रयासको आ
रखनेमें ही इसके भविष्यके लिये सबसे उत्तम आशा निहित है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

नवां अध्याय

भारतीय कला

प्राचीन और उत्तरकालीन भारतकी चित्रकलाकी अपेक्षाकृत बहुत ही कम कृतिया बच रही है और इसलिये वह (चित्रकला) ठीक उतना ही बडा प्रभाव उत्पन्न नही करती जितना कि उसकी स्थापत्यकला और मूर्तिकला करती है। यहातक भी कल्पना की गयी है कि यह कला केवल बीच-बीचमें ही फूली-फली, अतमें कई सदियोके लिये विलुप्त हो गयी और फिर आगे चलकर मुगलो तथा उनके प्रभावमे आये हुए हिंदू कलाकारोके द्वारा पुनरुज्जीवित हुई। किंतु यह एक तुरत-फुरत बनायी हुई सम्मति है जो उपलब्ध प्रमाणकी अधिक सावधानतापूर्वक छानबीन और विवेचना करनेपर नही टिक पाती। बल्कि, तब यह पता लगता है कि भारतीय संस्कृति अत्यत प्राचीन कालसे ही रग और रेखाके एक सुविकसित और कुशलतापूर्ण सौंदर्यात्मक प्रयोगपर पहुचनेमें निपुण थी और, उन क्रमिक उतार-चढावो, ह्रासके कालो तथा मौलिकता एव ओजस्विताके नये आविर्भावोके लिये अवकाश देते हुए जिनमेंसे मानवका समष्टि मन सभी देशो में गुजरता है, अपनी प्रगति एव महानताकी लबी शताब्दियोंमें उसने बराबर ही आत्म-अभिव्यजनाके इस रूपका बडी दृढतासे प्रयोग किया। और विशेष रूपसे अब यह प्रकट हो गया है कि उस सौंदर्य-बुद्धिकी जो भारतीय मनके लिये जन्मजात है, एक दृढ परपरा तथा मूलभूत भावना एव प्रवृत्ति विद्यमान थी जो अत्यत अर्वाचीन राजपूत-कलाको भी अबतक बची हुई उन प्राचीनतम कृतियोकी शृखलामे जोड देती है जो पहाडोमें बनी अजताकी गुफाओंमें अपनी सफलताकी चरम सीमाके रूपमें अभीतक सुरक्षित है।

दुर्भाग्यवश, चित्रकलाकी साधन-सामग्री सर्जनशील सौंदर्यात्मक आत्म-अभिव्यक्तिकी साधन-रूप किसी भी अन्य महत्तर कलाकी साधन-सामग्रीसे अधिक नाशवान् होती है और इसीलिये इसकी प्राचीन सर्वश्रेष्ठ कृतियोंमेंसे केवल थोडी-सी ही बच रही हैं। परतु ये थोडी-सी भी उस कार्यके परिणामकी विशालताको अभीतक प्रदर्शित कर रही है जिसका कि ये ध्वसोन्मुख अवशेषमात्र है। कहा जाता है कि अजताकी उन्तीस गुफाओमेंसे प्राय

सदीमें किसी समय भित्ति-चित्रोंके द्वारा की गयी सजावटके चिह्न थे। अभी चालीस वर्ष पहलेतक सोलह गुफाओंमें मूल चित्रोंका कुछ अंश विद्यमान था परंतु अब केवल छः ही इस प्राचीन कला की महानताकी साक्षी दे रही हैं हालांकि इनकी भी कला अब धुल धुलके नष्ट हो रही है तथा इनकी मूल प्रखरता तेजस्विता और आभाके कुछ अंशसे वंचित हो चुकी है। शेष सारी सजीव समकालीन रचना जिसने निश्चय ही एक समय संपूर्ण देशको उसके मंदिरों एवं विहारोंको सुसंस्कृत लोगोंके घरों तथा सरदारों और राजाओंके दरबारों और प्रमोद भवनोंको व्याप्त कर रखा होगा अब नष्ट हो चुकी है और आज हमारे सामने केवल बाघ (मध्य भारत) की गुफाओंमें समृद्ध और प्रचुर सजावटके कुछ एक टुकड़े अब तथा सिगिरिया (लंका) के चट्टानोंको काटकर बनाये गये दो कमरोंमें नारी-आकृतियोंके कुछ चित्र ही विद्यमान हैं जो अजंताकी कृतियोंसे थोड़ा-बहुत मिलते-जुलते हैं।[1] ये अवशेष कोई छः या सात सदियोंकी रचनाका प्रतिनिधित्व करते हैं परंतु इनके बीच कुछ रिक्त अंतराल हैं और ईस्वी सन्‌की पहली सदीसे पूर्वके किन्हीं भी चित्रोंका कोई भी अवशेष आज विद्यमान नहीं है हां इससे पूर्वकी पहली सदीके कुछ भित्ति-चित्र अवश्य हैं जो अनाड़ी ढंगसे किये गये जीर्णोद्धारके कारण खराब हो गये हैं उधर सातवीं सदीके बाद एक शून्य अंतराल है जो प्रथम दृष्टिमें कलाके पूर्ण ह्रास अवरोध और विलोपको प्रमाणित कर सकता है। परंतु भाग्यवश ऐसे प्रमाण भी हैं जो इस कलाकी परंपराको उधर एक छोरपर अनेक सदियों पीछेतक ले जाते हैं और फिर कुछ अन्य अवशेष जो भिन्न प्रकारके हैं तथा भारतसे बाहर और हिमालय-स्थित देशोंमें बहुत हालमें ही उपलब्ध हुए हैं इस कलाको इधर दूसरे छोरपर बारहवीं सदीतक ले आते हैं और राजपूत-चित्रकलाकी परवर्ती शैलियोंके साथ इसका संबंध जोड़नेमें हमें सहायता पहुंचाते हैं। भारतीय मनके चित्रकलाके द्वारा आत्म-अभिव्यक्ति करनेका इतिहास कम या अधिक शक्तिशाली कलात्मक सृजनके दो सहस्र वर्षोंके कालमें फैला हुआ है और इस कालमें यह वास्तुकला और मूर्तिकलाकी बराबरी करता है।

प्राचीन कालके जो चित्र आज हमारे सामने बचे हुए हैं वे बौद्ध चित्रकारोंकी रचना हैं पर स्वयं इस कलाका उद्भव भारतमें बौद्धधर्मसे पहले ही हो चुका था। लिखित परंपरा हमें इतिहासकार बताता है कि यहां सभी शिल्पोंका उद्गम बुद्धसे पहले ही अत्यंत प्राचीन कालमें हुआ था और आज निरंतर बढ़ते हुए प्रमाण भी अधिकाधिक इसी परिणामकी ओर संकेत कर रहे हैं। ईसासे पूर्व तीसरी सदीमें हम देखते हैं कि यहां कलाका विज्ञान पूर्व कालमें ही सुप्रतिष्ठित बना आ रहा था छः मूल तत्त्व षडङ्ग या आकलन और परि

---

[1] इसके बाद हालमें कई स्थानोंमें कुछ और उत्कृष्टकोटिके चित्र भी उपलब्ध हुए हैं जो अपनी भावना और शैलीमें अजंताकी कला-कृतियोंके ही सदृश हैं।

गणन भी हो चुका था जो चीनके उन छ न्यूनाधिक सजातीय नियमोंके परिगणनसे मिलता है जिनका वर्णन पहले-पहल लगभग एक हजार वर्ष बाद किया गया मिलता है, और कला-विषयक एक अत्यत प्राचीन पुस्तकमे जो बुद्धसे पहलेके युगकी मालूम होती है बहुतसे सतर्कतापूर्ण और अत्यत सुनिर्धारित नियम और परपराए प्रतिपादित है जिन्हे बादके शिल्प-सूत्रोमे शिल्प-कौशल और परपरागत नियमको एक सुविस्तृत शास्त्रके रूपमें विकसित कर दिया गया। प्राचीन साहित्यमे पाये जानेवाले प्रचुर उल्लेख भी ऐसे ढगके है कि यदि सुसस्कृत वर्गोके पुरुषो और स्त्रियो दोनोमें कलाका अनुशीलन एव मूल्याकन व्यापक रूपसे प्रचलित न होता तो वे सभव ही न होते, और ये उल्लेख तथा प्रसग जो इस बातकी साक्षी देते है कि सुसस्कृत जन चित्रित रूपमे, रगके सौदर्यमे तथा अलकार-सबधी सहज-बुद्धि एव सौदर्यात्मक भावावेग दोनोंके प्रति आकर्षणमें मिलनेवाले आनदसे द्रवित हो उठते थे, केवल कालिदास, भवभूति तथा अन्य उच्चकोटिक नाटककारोके परवर्ती काव्यमे ही नही, बल्कि भासके प्राचीन लोकप्रिय नाटकमें और उससे भी पहलेके महाकाव्यो तथा बौद्धोके धर्म-ग्रथोमें भी पाये जाते है। नि सदेह, इस अधिक प्राचीन कलाकी किन्ही वास्तविक रचनाओके न मिलनेके कारण यह पूर्ण निश्चयके साथ नही कहा जा सकता कि इसका मूल स्वरूप एव अतरग प्रेरणा-स्रोत क्या था अथवा आया यह अपने उद्गममे धार्मिक और पुरोहितीय थी या ऐहलौकिक। यह सिद्धात वास्तवमे कुछ अत्यधिक निश्चित रूपमें पेश किया गया है कि इस कलाका सूत्रपात राजाओके दरबारोमें तथा निरे लौकिक उद्देश्य और प्रेरणाको ही लेकर हुआ, और यह सही है कि जहा बौद्ध कलाकारोकी बची हुई रचना अपने विषयकी दृष्टिसे मुख्यतया धार्मिक है या, कम-से-कम, वह जीवनके साधारण दृश्योको बौद्ध क्रिया-काड और गाथाके साथ जोड देती है, वहा महाकाव्यो तथा नाटक-साहित्यमें पाये जानेवाले उल्लेख साधारणत, अधिक शुद्ध रूपमें सौदर्यात्मक स्वभावके, वैयक्तिक, पारिवारिक या नागरिक चित्रोसे सबध रखते है, जैसे, मानव प्रतिकृतिका चित्रण, राजाओ तथा अन्य महान् व्यक्तियोके जीवनोके दृश्यो और प्रसगोका प्रदर्शन अथवा राजमहलो और व्यक्तिगत या सार्वजनिक भवनोकी दीवारोकी सजावट। दूसरी ओर, बौद्ध चित्रकारीमें भी इस प्रकारके तत्त्व है, उदाहरणार्थ, सिगिरियामें राजा कश्यपकी रानियोके चित्र, पारसके राजदूतका ऐतिहासिक चित्रण या विजयका जहाजसे लकाके तटपर उतरना। और हम न्यायत ही यह कल्पना कर सकते है कि बौद्ध और हिन्दू दोनो प्रकारकी भारतीय चित्रकलाने, बराबर ही, पीछेकी राजपूती कृतिसे बहुत कुछ मिलते-जुलते क्षेत्रमें ही कार्य किया, पर किया अधिक विस्तृत ढगसे तथा एक पुराकालीन महानतासे युक्त भावनाके साथ, और अपने समग्र रूपमें वह भारत-जातिके सपूर्ण धर्म, सस्कृति और जीवनकी व्याख्या थी। इससे जो एकमात्र महत्त्वशाली और अर्थपूर्ण परिणाम निकलता है वह यही है कि समस्त भारतीय कला अपनी मूल भावना और परपरामें सदा ही एक और अविच्छिन्न रही है। सुतरा, अजताकी प्राचीनतर कला-

कुछ बौद्धोंकी प्राचीनतर मूर्ति-रचनाके सदृश पायी गयी है जब कि बादके भिन्न भावकी उभरी हुई नक्काशीसे इसी प्रकारका घनिष्ठ साम्य रखते हैं। और हम देखते हैं कि शैली और कार्यधाराके समस्त परिवर्तनोंके होते हुए भी अजंतामें जिस भावना और परंपराका प्रमुख है वही बाघ और सिगिरियामें खोतानके भित्तिचित्रोंमें तथा इन सबसे बहुत अधिक पीछेकी बौद्ध पांडुलिपियोंके पृष्ठोंकी सजावट और चित्रकारीमें भी पायी जाती है और रूप तथा रीतिके परिवर्तनके होते हुए राजपूती चित्रोंमें भी आध्यात्मिक दृष्टिसे वही वस्तु है। यह एकता और अविच्छिन्नता हमें उस मूल लक्ष्य और उस आंतरिक प्रवृत्ति एवं प्रेरणा तथा आध्यात्मिक पद्धतिको पहचानने और स्पष्ट रूपसे समझनेमें समर्थ बनाती है जो भारतीय चित्रकलाको पहले तो पश्चिमी कृतिसे और फिर एशियाके अन्य देशोंकी निकटतर एवं अधिक सजातीय कलासे पृथक करती है।

भारतीय चित्रकलाका मूल-भाव और हेतु अपनी परिकल्पनाके केंद्रमें और अपनी दृष्टिकी रूपनिर्माणक शक्तिमें भारतीय भास्कर-कलाकी अनुप्रेरक दृष्टिसे अभिन्न है समस्त भारतीय कलाका स्वरूप एक विशेष प्रकारकी गंभीर आत्म-दृष्टिको बाहर प्रकट करना है जो दृष्टि कि रूप तथा आकारके गुप्त अर्थको ढूंढनेके लिये भीतर जानेसे अपनी गंभीरतर आत्मामें कलाके विषयकी खोज करनेसे निर्मित होती है यह उस दृष्टिको एक मानसिक रूप देना है तथा स्थूल एवं प्राकृतिक आकारके आंतरात्मिक सत्यको प्रकट करनेके लिये रूपरेखाकी यथा-संभव अधिकतम सूक्ष्मता और शक्तिके साथ तथा एक अविभाज्य कलात्मक समष्टिके सभी अवयवोंमें वर्णकी यथासंभव अधिकतम प्रगाढ़ छंदोमय एकताके साथ उसे नये सांचेमें ढालना है। भारतीय चित्रकारीकी किसी भी श्रेष्ठ रचनाको क्यों न ले लें हम देखेंगे कि उसमें इन मर्यादाओंको लक्ष्य बनाकर इन्हें संकेत और क्रियान्वित अथवा सौंदर्यके रूपमें व्यक्त किया गया है। अन्य कलाओंसे इसका जो एकमात्र भेद है उसका कारण यह है कि इसकी अपनी एक दिशा है जो इसकी अपनी विशेष प्रकारकी सौंदर्यवृत्तिके लिये स्वाभाविक और अनिवार्य है तथा यह अंतरात्माकी स्थितिशील नित्य-अवस्थाओंकी अपेक्षा कहीं अधिक उसकी उन अवस्थाओंपर उत्साह और आग्रहके साथ एकाग्र होती है जिन्हें हम गतिशील कह सकते हैं और (कलात्मकके लिए आवश्यक संयम और नियंत्रणके सदैव अधीन रहते हुए) यह जीवनको आत्माकी स्थिरताओं तथा उसके नित्य गुणों और तत्त्वोंमें निमग्न कर रखनेकी अपेक्षा कहीं अधिक आंतरात्मिक और प्राणिक जीवनकी श्री-सुषमा और गतिविधिमें आत्मा-को बाहर लाने देनेके कार्यपर ध्यान जमाती है। यह भिन्नता अपने सार रूपमें वही भेद है जो मूर्तिकार और चित्रकारके सामने उपस्थित कार्योंमें होता है यह उनपर उनके करणोप-करण और माध्यमके स्वाभाविक क्षेत्र प्रवृत्ति और संभावनाके द्वारा थोपा जाता है। मूर्ति कारको अपने भावकी अभिव्यक्ति सदा स्थितिशील आकारमें ही करनी होती है उसके लिये आत्माका भाव समूचे आकार और रेखामें ही उत्कीर्ण होता है तथा अपने मनोयोगकी

स्थिरतामें ही अर्थपूर्ण होता है, और वह इस मनोयोगके बोझको हलका तो कर सकता है पर इससे छूट नहीं सकता न इससे दूर ही हट सकता है, उसके लिये शाश्वतता कालको इसके आकारोंमें अधिकृत कर लेती है और पत्थर या कासेकी विशाल आत्मामें इसे बन्दी बना डालती है। इसके विपरीत, चित्रकार अपनी अतरात्माको रगोमे लुटा देता है और उसके द्वारा प्रयुक्त रूपमें एक प्रकारकी तरलता तथा रेखामे सूक्ष्मताकी एक प्रवाहशील सुषमा होती है जो उसपर आत्म-अभिव्यजनाकी एक अधिक गतिशील और भावमयी शैलीको थोप देती है। जितना ही अधिक वह हमे अतरात्माके जीवनका रग-रूप, उसका परिवर्तनशील आकार तथा भावावेग प्रदान करता है उतना ही अधिक उसकी रचना सौंदर्यसे चमक उठती है, अतरीय सौंदर्यवृद्धिको अपने अधिकारमें कर लेती है तथा इसे उस वस्तुकी ओर खोल देती है जिसे उसकी कला हमें अन्य किसी भी कलाकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह प्रदान करती है, वह वस्तु है सत्ताकी सुदर आकृतियो और रजित प्रभावोके अध्यात्मत इद्रियग्राह्य हर्षमें आत्माके बहि-विचरणका आनद। चित्रकारी, स्वभावत ही, कलाओमें सबसे अधिक इद्रियगम्य है, और चित्रकारके सामने जिस सर्वोच्च महत्ताका मार्ग खुला पडा है वह यही है कि वह अत्यत स्पष्ट बाह्य सौंदर्यको सूक्ष्म आध्यात्मिक भावावेगकी अभिव्यक्ति बनाकर इस ऐंद्रिय अपीलको आध्यात्मिक रूप दे दे जिससे अतरात्मा और इद्रिय दोनो अपनी गभीरतम और सूक्ष्मतम समृद्धियोमें समस्वर होकर पदार्थों और जीवनके आतरिक अर्थोकी सतोषपूर्ण सुसमजस अभिव्यक्तिमें एकीभूत हो जाय। उसकी कार्य-शैलीमें तपस्याकी कठोरता अपेक्षाकृत कम होती है, शाश्वत वस्तुओकी और वस्तुओंके रूपोके पीछे अवस्थित मूल सत्योकी अभिव्यक्तिको सयत करनेमें कुछ कम कठोरतासे काम लिया जाता है, परतु इसके बदले वहा अतरात्माका रसस्निग्ध वैभव या प्राणिक सकेतकी प्रखरता है और है कालके क्षणोमें कालातीतकी लीलाके सौंदर्यका अपरिमित आनद और वहा कलाकार उसे हमारे लिये बन्दी बना डालता है तथा मनुष्य या प्राणी अथवा घटना या दृश्य या प्रकृतिके रूपमें प्रतिफलित अन्तरात्माके जीवनके पलोको हमारी आध्यात्मिक दृष्टिके लिये स्थायी और विपुल अर्थसे पूर्ण बना देता है। चित्रकारकी कला आनदके लिये इद्रियकी खोजको आत्माद्वारा प्रकाशित या अपने द्वारा कृतिमें प्रकट किये हुए या छिपाकर रखे हुए वैश्व सौंदर्यके अर्थकी शुद्ध तीव्रताओके लिये आत्माकी खोजमें बदलकर उसको आत्माके समक्ष चाक्षुष रूपमें सत्य सिद्ध करती है, रूप और रगकी पूर्णता देखनेकी आखोकी कामनाको प्रश्रय देना यहा एक विशेष प्रकारके अध्यात्मत सौंदर्यात्मक आनदकी शक्तिके द्वारा आतर सत्ताके लिये प्रकाशप्रद बन जाता है।

भारतीय कलाकार एक ऐसी अत प्रेरणाके प्रकाशमें निवास करता था जिसने इस महत्तर लक्ष्यको उसकी कलाके लिये अनिवार्य बना दिया था और उसकी पद्धति इसके मूलस्रोतोंसे उद्भूत होती थी तथा प्रत्येक अधिक पार्थिव, ऐंद्रिय या बाह्यत कल्पनात्मक सौंदर्यवेगको त्यागकर इसी लक्ष्यको सपन्न करती थी। उसकी कलाके छ अग, षडङ्ग, रग और रेखा-

जाती समस्त कृतिमें सामान्य रूपसे पाये जाते हैं ये आवश्यक मूलतत्त्व हैं और अपने मूल-तत्त्वोंमें महान् कलाएं सर्वत्र एक-सी हैं रूपभेद अर्थात् आकारप्रकारमें अंतर प्रमाण अर्थात् अनुपात रेखा और संपूर्ण आकारकी व्यवस्था योजना सुसंगति परिप्रेक्षित भाव अर्थात् रूपके द्वारा व्यक्त किया हुआ हृदयगत भाव या सौंदर्यानुभूति लावण्य अर्थात् सौंदर्य भावनाकी तुष्टिके लिये सौंदर्य और आकर्षणकी छाप सादृश्य अर्थात् रूप और उसके संकेतका सत्य वर्णिकाभङ्ग अर्थात् रंगोंका क्रम संयोग और सामंजस्य —ये प्रथम अंग हैं। कलाकी प्रत्येक सफल कृति विश्लेषण करनेपर इन्हीं अंगोंमें परिणत हो जाती है। परंतु इन अंगोंमेंसे प्रत्येकको जो मोड़ दिया जाता है वही शिल्प-पद्धतिके लक्ष्य और प्रभावके समस्त भेदको पैदा करता है और जो अंतर्दृष्टि इनके संयोजनके कार्यमें सर्जनशील हाथका मार्गदर्शन करती है उसका उद्गम एवं स्वरूप ही सफलताके आध्यात्मिक मूल्यके समस्त भेदको उत्पन्न करता है और भारतीय चित्रकलाका अनुपम स्वरूप एवं अजंताकी कलाका विशिष्ट आकर्षण उस अद्भुततया आंतरिक आध्यात्मिक एवं अंतरात्मिक मोड़से उत्पन्न होता है जो भारतीय संस्कृतिकी व्यापक प्रतिभाने कलात्मक परिकल्पना और पद्धतिको प्रदान किया था। भारतके स्थापत्य और मूर्तिशिल्पकी भांति उसकी चित्रकला भी अपने तन्मयकारी लक्ष्य एवं रूपांतर साधक वातावरणसे सूक्ष्म और अद्भुत रूपमें बदले हुए मनके प्रत्यक्ष या सूक्ष्म प्रभावसे तथा उस दृष्टिसे नहीं बच सकती थी जो अन्य शक्तियोंकी तरह केवल बाहरी आंखके द्वारा नहीं बल्कि मानसिक भावों और आंतरिक दृष्टिके मनोतीत सत्ता तथा उस आत्माके साथ सतत संपर्कके द्वारा देखनेके लिये लगी हुई है जिसके लिये रूप उसकी अपनी महत्तर ज्योतिका केवल एक पारदर्शक पर्दा या फिर एक सामान्य संकेत होते हैं। इस चित्रकलाकी बाह्य सुंदरता एवं ओजस्विता आलेख्यकी महत्ता वर्णिकाकी समृद्धता एवं सौंदर्यात्मक श्री-सुषमा इतनी प्रत्यक्ष और अपूर्व है कि उससे इन्कार नहीं किया जा सकता इसकी अंतरात्मिक आकर्षणमें प्रायः ही कोई ऐसी चीज होती है जिसके प्रति प्रत्येक सुसंस्कृत और संवेदनशील मानवके मनमें एक प्रत्युत्तर जागृत होता है और इसमें बाह्य भौतिक मानके उल्लंघन मूर्ति-कलाकी अपेक्षा कम तीव्र और कम प्रबल तथा अधिक बाह्य सौंदर्य और श्री-शोभाके प्रति कम घृणापूर्ण है—जैसा कि इस कलाकी अपनी प्रकृतिके अनुसार उचित ही है। अतएव हम देखते हैं कि पश्चिमी आलोचक मनने कुछ हदतक बहुत आसानीसे इसकी विशेषताओंको समझा है और जब ठीक तरहसे नहीं समझा है तब भी इसपर अपेक्षाकृत हलके आक्षेप ही किये हैं। यहां केवल वही कोरी नासमझी नहीं है न गलतसमझी और घृणाका आवेश ही है। और फिर भी हम यह देखते हैं कि इसके साथ-ही-साथ यहां कोई ऐसी चीज है जिसका मूल्यांकन करनेमें रह गया दीखता है अथवा जिसे केवल अधूरे तौरपर ही समझा गया है और यह 'कोई चीज' निश्चित रूपमें यह गभीरतर आध्यात्मिक आशय है जिसके कि भाव और सौंदर्यबुद्धिके द्वारा तुरंत पकड़में आनेवाली वस्तुएं मध्यवर्ती साधनमात्र हैं। इससे

इस टिप्पणीका कारण समझमें आ जाता है जो कम सशक्त और कम शान्त दृष्टिवाले उनको दीखने-वाले भारतीय कृतियोंके बारेमें प्रायः ही की जाती है कि इसमें अंतःप्रेरणा या कल्पनाका अभाव है अथवा यह एक संकुचित कला है; जहां इसका मूल-भाव अपने-आपको प्रबल रूपमें स्थापित नहीं करता वहां वह दृष्टिसे ओझल हो जाता है, और जहां अभिव्यंजनामें डाली गयी शक्ति इतनी महान् और प्रत्यक्ष होती है कि उससे इन्कार किया ही नहीं जा सकता, वहां भी वह भाव पूरी तरहसे पकड़में नहीं आता। भारतीय वास्तुकला और मूर्तिकलाकी भांति भारतीय चित्रकला भी भौतिक और चैत्य दृष्टिके द्वारा एक अन्य, आध्यात्मिक दृष्टिको आकर्षित करती है जिसके द्वारा कि कलाकारने अपनी रचना की थी और जब वह हमारे अंदर सादृश्यबुद्धिके समान ही जागृत हो जाती है तभी उसके अर्थकी पूरी गहराईमें इसका मूल्य आंका जा सकता है।

कट्टर पश्चिमी कलाकार बाह्य प्रकृतिके रूपोंकी कठोरतापूर्वक सही-सही नकल करते हुए अपना कार्य करता है, बाह्य जगत् ही उसका आदर्श नमूना होता है, और उसको इसे अपनी दृष्टिके सामने रखना पड़ता तथा इससे वस्तुतः विचलित होनेकी किसी भी प्रवृत्तिको या सूक्ष्मतर आत्माके प्रति अपनी प्रमुख निष्ठा प्रदर्शित करनेकी किसी भी चेष्टाको दबाना होता है। जब वह अपने कार्यमें ऐसी धारणाओंको ले आता है जो अधिक ठीक रूपमें किसी अन्य राज्यकी होती हैं तब भी उसकी कल्पना भौतिक प्रकृतिके ही अधीन रहती है, भौतिक जगत्‌का दबाव सदा ही उसके संग रहता है, और सूक्ष्मका द्रष्टा, मानसिक रूपोंका स्रष्टा, अंदरका कलाकार, बृहत्तर चैत्य स्तरोंका सुदूरदर्शी यात्री अपनी अंतःप्रेरणाओंको 'बाह्य' के द्रष्टा, अर्थात् पार्थिव जीवन, जड़ जगत्‌की रचनाओंमें व्यक्त हुए आत्मा, के नियमके अधीन करनेको बाध्य होता है। जब वह बाह्य दृष्टिको सूक्ष्मतर अंतर्दृष्टिसे पूरित करना चाहेगा तब वह अपने कार्यकी प्रणालीमें साधारणतया एक आदर्शीभूत कल्पनाप्रधान यथार्थवादतक ही जा सकता है। और जब वह इस सीमाबद्ध करनेवाले नियमसे असंतुष्ट होकर, इस घेरेसे बिलकुल बाहर निकल जाना चाहेगा तो वह उन बौद्धिक या कल्पनामय अतियोंमें भटक जानेके प्रलोभनमें फंस सकता है जो आकारोंके यथार्थ भेद, रूपभेद, के सार्वभौम नियमका उल्लंघन करती हैं और कोरी कल्पनाके किसी मध्यवर्ती लोकके अंतर्दर्शनसे संबंध रखती हैं। उसकी कलाने अनुपात, विन्यास और परिप्रेक्षितके एक ऐसे नियमकी खोज निकाला है जो भौतिक प्रकृतिके भ्रमको सुरक्षित रखता है और वह अपनी संपूर्ण योजनाको सच्ची अनुगामिता और निष्ठापूर्ण निर्भरताके भावमें प्रकृतिकी योजनाके साथ संबद्ध कर देता है। उसकी कल्पना प्रकृतिकी ही कल्पनाओंकी सेविका या उन्हें व्यक्त करनेवाली होती है। प्रकृतिके सौंदर्यविषयक सार्वभौम नियमके निरीक्षणमें ही वह एकता और समस्वरताके अपने गुप्त रहस्यको पाता है, और उसकी आंतर सत्ता उन बाह्य आकृतियोंपर, जो प्रकृतिने अपनी सर्जनशील भावनाको प्रदान की हैं, घनिष्ठ रूपसे एकाग्र होकर प्रकृतिकी आंतर सत्तामें अपने

स्वरूपको खोजनेकी चेष्टा करती है। एक घनिष्ठतर आंतरिक भावनाकी दिशामें वह अधिक-से-अधिक आभासवाद (Impressionism) तक ही पहुंचा है जो अभी भी प्रकृतिके आदर्श नमूनोंकी ही अपेक्षा करता है किंतु आंतरिक इंद्रियपर उनके किसी प्रथम आभ्यंतर या मौलिक प्रभावको प्राप्त करनेका यत्न करता है और उसके द्वारा वह किसी प्रबलतर चैत्य अभिव्यक्तितक पहुंच जाता है पर वह पूर्वी कलाकारकी स्वतंत्रतर शैलीके अनुसार पूर्णरूपेण अंदरसे बाहरकी ओर कार्य नहीं करता। उसका भावावेग एवं कल्पनात्मक बोध दोनों इसी रूपके अंदर विचरण करते हैं और कलासंबंधी इसी रीतिकी सीमामें बंधे हुए हैं; वे शुद्ध आध्यात्मिक या आंतरात्मिक भावावेग नहीं होते बल्कि प्रायः ही वे एक कल्पनामूलक उच्च भाव होते हैं जो जीवन तथा बाह्य पदार्थोंके दृष्टिकोणसे उत्पन्न होता है और जिसमें चैत्य तत्त्व या आध्यात्मिक चेतनका प्राकट्य बाह्यके स्पर्शके द्वारा ही आरंभ होता और अधिकृत रहता है। जो महत्ता यह प्रदान करता है वह उस सौंदर्यका उदात्त रूप होती है जो बाह्य ऐंद्रिय आकर्षणके आधारपर कार्य करनेवाली भावना और कल्पनाकी शक्तिके द्वारा बाह्य इंद्रियोंको आकर्षित करता है और दूसरे प्रकारका सौंदर्य तो सादृश्यके द्वारा ही उस ढांचेके अंदर लाया जाता है। सादृश्यका वह तत्त्व जिसपर वह निर्भर करता है भौतिक प्रकृतिकी रचनाओं और उनके बौद्धिक, भाविक एवं सौंदर्यात्मिक अर्थोंके साथ साम्य ही है और उसके रेखाके कार्य तथा रंगकी लहरका प्रयोजन इस अंतर्दृष्टिके प्रवाहको मूर्त रूप देना होता है। इस कलाकी पद्धति सदैव दृश्य जगत्‌से कुछ आहरण कर उसका अनुकरण करनेकी ही होती है जिसमें केवल ऐसा आवश्यक परिवर्तन ही किया जाता है जिसे सौंदर्यप्रिय मन अपनी साधन-सामग्रीपर बलपूर्वक थोपता है। उस आत्माके जिसने वस्तुओंमें प्रवेश करके अपने-आपको उनके रूपोंके अधीन कर दिया है, प्रतिबिंब या प्रतिरूपी अनुभव किसी परोक्ष स्पर्शके द्वारा मनको गभीरतर वस्तुओंके साथ एकाकार करके उसके सामने कम-से-कम जीवन और प्रकृतिका चित्रण करना और, अधिक-से-अधिक इनकी व्याख्या करना—यही इस कलाका नियामक सिद्धांत है।[1]

भारतीय कलाकार जीवन और आत्माको जोड़नेवाले अनुभवसंबंधी मूल्योंके मापदंडके दूसरे छोरसे आरंभ करता है। यहां समस्त सर्जन-शक्ति आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक दृष्टिसे प्राप्त होती है, भौतिक दृष्टिका दबाव गौण होता है और उसे सदा ही जान-बूझकर हल्का कर दिया जाता है ताकि एक अत्यंत प्रबल कोटिकी आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक छाप डाल दी जा सके और ऐसी हरेक चीजको दबा दिया जाता है जो इस उद्देश्यको सिद्ध नहीं करती या जो मनको इस उद्देश्यकी पवित्रतासे विचलित करती है। यह विचारी

---

[1]यह सब कथन यूरोपीय कलाकी हालकी अधिकांश मुख्यतर प्रवृत्तियोंके संबंधमें अब सत्य नहीं रहा।

अंतरात्माको जीवनके द्वारा व्यक्त करती है, परतु जीवन तो आध्यात्मिक अभिव्यक्तिका एक साधनमात्र है, और इसका बाह्य चित्रण प्रथम उद्देश्य या प्रत्यक्ष हेतु नही है। एक यथार्थ, अत्यत स्पष्ट और प्राणवत चित्रण भी यहा है तो सही, पर वह बाह्य भौतिककी अपेक्षा कही अधिक आभ्यतर चैत्य जीवनका ही है। एक सुविख्यात आलोचक एक प्रसिद्ध जापानी चित्र-पर भारतीय प्रभावकी चर्चा करते हुए अजताके भित्तिचित्रोकी याद दिलानेवाली गहराईके साथ अकित इसकी भव्य आकृतियो और जीवन तथा स्वभावके प्रति होनेवाले सवेदनको इसके भारतीयपनका चिह्न मानते है परतु हमें इस जीवन-सबधी सवेदनाके स्वरूप तथा आकृति-योंके इस गहरे अकनके मूल कारण और उद्देश्यपर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालनी होगी। यहा जीवन और चरित्रके लिये जो सवेदना है वह किसी इटैलियन चित्र, माइकेल ऐंजेलो (Michael Angelo) के हाथके भित्ति-चित्र अथवा तितिअन या तितोरेत्तो (Titian or Tintoretto) की बनायी हुई मानव-प्रतिकृतिमें पायी जानेवाली महत् और प्रचुर प्राणवत्तासे तथा स्वभाव-की शक्ति-सामर्थ्यसे अत्यत भिन्न वस्तु है। चित्रकलाका प्रथम और आदिम लक्ष्य है जीवन और प्रकृतिका चित्रण करना और अपने निम्नतम रूपमें यह एक न्यूनाधिक ओजस्वी और मौलिक या रूढिकी दृष्टिसे एक सच्चा चित्र बन जाता है। परतु महान् कलाकारोंके हाथो यह ऊचा उठकर जीवनके ऐंद्रिय आकर्षणकी महत्ता और सुन्दरताका या स्वभाव, भावावेग और कर्मकी आश्चर्यजनक शक्ति और प्रेरक ध्येयका अभिव्यजन बन जाता है। यूरोपमें सौंदर्यात्मिक कृतिका सामान्य रूप यही है किंतु भारतीय कलामें यह हेतु कभी सर्वोपरि नही होता। ऐंद्रिय आकर्षण भी वहा है सही, पर वह उस चैत्य श्री-सुषमा और सुन्दरताकी आत्माकी समृद्धताके मुख्य नही बल्कि मात्र एक तत्त्वके रूपमें परिमार्जित कर दिया गया है जो भारतीय कलाकारके लिये सच्ची सुदरता, लावण्य, है नाटकीय हेतुको इसके अधीन रख-कर केवल एक निरा गौण तत्त्व बना दिया जाता है, स्वभाव और कर्मका केवल उतना ही अश चित्रित किया जाता है जितना गभीरतर आध्यात्मिक या आतरात्मिक भावको प्रकट करनेमें सहायक हो, और इन वस्तुओकी, जो अधिक बाह्य रूपमें सक्रिय होती है, समस्त आग्रह-परायणता या अत्यत सुस्पष्ट बलशालितासे बचा जाता है, क्योकि यह आध्यात्मिक भावावेगको अत्यधिक बाह्य रूप दे देगी और जिस स्थूलतर तीव्रताको भावावेग सक्रिय बाह्य प्रकृतिका दबाव पडनेपर ओढ लेता है उसके हस्तक्षेपके द्वारा उसकी तीव्र शुद्धताको कम कर देगी। इसमें चित्रित किया गया जीवन अतरात्माका जीवन है न कि प्राण-सत्ता और शरीरका जीवन, हा, वह एक आकार और सहायक सकेतके रूपमें वहा विद्यमान अवश्य है। क्योकि, कलाका दूसरा उच्चतर लक्ष्य है जीवन और प्रकृतिके रूपोंके द्वारा सत्ताकी व्याख्या या बोधिमूलक अभिव्यक्ति करना और यहीं भारतीय आशयका आरम्भ-बिंदु है। परतु व्याख्या भौतिक प्रकृतिके द्वारा पहलेसे दिये हुए रूपोके आधारपर ही अग्रसर हो सकती है और उन रूपोंके द्वारा वह आत्माके उस विचार एव सत्यको प्रकट करनेका यत्न कर सकती

है जो आत्मामें ही एक संकेतके रूपमें उद्भूत होता है और साधक लिये उसीकी ओर मुड़ता है और तब रूपको जैसा कि वह स्थूल आंखको दीखता है उस सत्यके साथ संबद्ध करनेका यत्न किया जाता है जिसे वह बाह्य आकारके द्वारा थोपी गयी सीमाओंको लांघ बिना प्रकट करता है। पश्चिमी कलाकी सामान्य पद्धति यही है वह (कला) सदा प्रकृति-के प्रति प्रत्यक्ष रूपमें सच्ची रहनेके लिये आतुर रहती है जो कि सच्चे सादृश्यके संबंधमें उसकी धारणा है परंतु भारतीय कलाकार इस पद्धतिका परित्याग कर देता है। वह अंदर से आरंभ करता है वह जिस चीजकी अभिव्यक्ति या व्याख्या करना चाहता है उसे अपनी अंतरात्मामें देखता है और अपने अंतर्ज्ञानकी यथार्थ रेखा वर्णिका और योजनाको खोजनेकी चेष्टा करता है और वह रेखा आदि जब भौतिक धरातलपर प्रकट होती है तो वह भौतिक प्रकृतिकी रेखा वर्णिका और योजनाकी यथार्थ और स्मारक प्रतिकृति नहीं होती वरन् उससे कहीं अधिक एक ऐसी चीज होती है जो हमें प्राकृतिक आकारका चैत्य रूपांतर प्रतीत होती है। वास्तवमें जिन आकारोंको वह चित्रित करता है वे पदार्थोंके ऐसे रूप होते हैं जिन्हें वह चैत्य स्तरमें अनुभव कर चुका होता है ये आत्मिक आकार होते हैं जिनका भौतिक वस्तुएं एक स्थूल प्रतिरूप हैं और इनकी शुद्धता एवं सूक्ष्मता उस चीजको तुरंत प्रकाशमें ले आती है जिसे भौतिक वस्तु अपने आवरणकी स्थूलतासे ढक देती है। यहां जिन रेखाओं और रंगोंकी खोज की जाती है वे चैत्य रेखाएं और चैत्य रंग हैं जो कलाकारके उस अन्तर्दर्शनकी अपनी चीजें हैं जिसे पानेके लिये वह अपने भीतर गया हुआ है।

इस कलाका संपूर्ण नियामक तत्त्व यही है और यही भारतीय चित्रकलाके हरेक ब्योरेपर अपनी छाप लगाता है और कलाकारद्वारा किये जानेवाले छः शास्त्रीय अंगों (षडङ्ग)के प्रयोगको बिल्कुल बदल डालता है। क्योंकि भेदका सच्चाईके साथ अनुसरण किया जाता है पर इस अर्थमें नहीं कि जिस जगत्में हम रहते हैं उसकी बाह्य आकृतियोंकी सच्ची प्रति-कृति उतारनेके उद्देश्यसे स्थूल रूपके प्रति यथार्थ प्रकृतिवादी निष्ठा प्रदर्शित की जाय। किसी ऐसी चीजको जिसे हमारी आंख किसी विशेष स्थानपर देख चुकी है या देख सकती थी अर्थात् किसी दृश्यका किसी देशके आभ्यंतर भाग किंवा किसी जीवित और यथार्थ व्यक्तिको यथार्थताके साथ स्मृतिमें लाकर मनको उसकी सौन्दर्यात्मक अनुभूति और भावोत्तेजना प्रदान करना इसका उद्देश्य नहीं है। इसमें एक असाधारण सजीवता स्वाभाविकता एवं वास्त-विकता है पर यह भौतिक वास्तविकतासे अधिक कुछ है ऐसी वास्तविकता है जिसे अंत-रात्मा तुरंत या पश्चात् देखती है कि यह इसके अपने क्षेत्रकी है इसमें चैत्य सत्यकी एक जीवंत स्वाभाविकता एवं उसकी निश्चयात्मक भावना है जिसकी साक्षी देती है अन्तरात्मा न कि इसकी वह बाह्य स्वाभाविकता जिसकी गवाही स्थूल आंख देती है। इसमें साम्य अर्थात् यथार्थ साम्य है सामान्य सादृश्य है पर वह अधिक वास्तविकता रखता है अंतरात्माका अपने आपसे साम्य है अर्थात् उस सूक्ष्म वस्तु प्रतिकृति है जो स्थूल देहका आधार

है, पदार्थका वह अधिक शुद्ध और परिष्कृत शरीर है जो उसकी अपनी मूल प्रकृति, स्वभाव, की वास्तविक अभिव्यक्ति है। जिस साधनके द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न किया जाता है वह भारतीय मनकी अंतर्मुख दृष्टिका अपना विशिष्ट गुण है। यह शुद्ध और सबल रेखा-चित्रपर साहसपूर्ण और दृढ़ आग्रह करके और ऐसी हरेक चीजको पूर्ण रूपसे दबाकर उत्पन्न किया जाता है जो इसके उभारमे तथा इसकी सबलता और शुद्धतामे हस्तक्षेप करती हो अथवा रेखाके प्रखर अर्थको धुंधला और हलका करती हो। मानव आकृतिके चित्रणमें मासपेशियो तथा शरीर-सस्थान-सबधी ब्योरेपर बल देकर रेखा-चित्रका जो सारा दैहिक भराव किया जाता है उसे कम-से-कम कर दिया जाता है या फिर उसकी उपेक्षा ही की जाती है केवल उन सबल सूक्ष्म रेखाओ और शुद्ध आकारोको ही उभारा जाता है जो मानव रूपकी मानवीयताका निर्माण करती है, सारी ही सारभूत मानव सत्ता वहा होती है, अर्थात् वहा वह दिव्यता होती है जिसने आखके लिये आत्माका यह वेश धारण किया है, परतु वह अनावश्यक भौतिकता वहा नही होती जिसे वह अपने बोझके तौरपर अपने साथ वहन किये हुए है। पुरुष और स्त्रीकी श्रेष्ठ चैत्य आकृति एव देह ही अपनी मोहक छवि और सुषमामें हमारे सामने होती है। रेखा-चित्रका भराव और ही तरीकेसे किया जाता है, वह शुद्ध सामग्रीके विन्यास, देहकी रूप-रेखा और उसकी रगीन, लहर-सी रेखाओके बहाव, भङ्ग, तथा वस्तुओकी उस सरलताके द्वारा किया जाता है जो कलाकारको इस बातके लिये समर्थ बनाती है कि वह सपूर्ण चित्रको उस एक ही आध्यात्मिक भावावेग, अनुभूति और सकेतके गूढार्थसे जिसे वह द्योतित करना चाहता है, अंतरात्माके एक क्षण-विशेष, अर्थात् इसके एक जीवत स्वानुभव, के सबधमे अपने अतर्दर्शनसे परिप्लुत कर सके। इन सबका विन्यास इस प्रकार किया जाता है कि ये इसी चीजको और केवल इसीको व्यक्त करे। आतरात्मिक सकेतको प्रकट करनेके लिये हाथोकी मुद्राका अद्भुतप्राय, सूक्ष्म और अर्थपूर्ण प्रयोग भारतीय चित्रोका एक सर्वसामान्य और सुप्रसिद्ध लक्षण है और हाथोकी यह भाव-मुद्रा चेहरे और आखोके सकेतको जिस ढगसे सूक्ष्मता-पूर्वक दोहराती या परिपूर्ण बनाती है वह सदा ही एक अन्यतम प्रमुख वस्तु होता है जो दृष्टिको आकर्षित करती है। परतु जैसे ही हम उसपर एकटक दृष्टि जमाते है वैसे ही हम देखते है कि शरीरका प्रत्येक मोड, प्रत्येक अगकी भावभगिमा, सभी पदार्थोका सबध और रूप-विधान उसी एक चैत्य भावसे परिपूर्ण है। अधिक महत्त्वपूर्ण सहायक-वस्तुए एक सजातीय सकेतके द्वारा उसमें सहायक होती हैं अथवा मूलोद्देश्यके पोषण या वैविध्य या विस्तार या उभारके द्वारा उसे प्रकाशमें लाती है। पशुओके आकारो, इमारतो, पेडो और पदार्थोके सबधमें भी अर्थपूर्ण रेखाके तथा विक्षेपकारी ब्योरेको दबानेके उसी नियमका प्रयोग किया जाता है। इस समस्त चित्रकलामें परिकल्पना, पद्धति और अभिव्यजनाका एक अत प्रेरित सामजस्य है। रगका प्रयोग भी आध्यात्मिक और आतरात्मिक उद्देश्यके साधनके रूपमें ही किया जाता है, और यदि हम

किसी अतिशय, बौद्ध चित्रके रंगोके सांकेतिक अर्थका अध्ययन करें तो हम इस बातको भली-भांति देख सकते है। व्यजक रेखा-चित्रोंके मरावर्में रेखाकी यह शक्ति और चैत्य संकेतकी सूक्ष्मता ही महानता और हृदयग्राही सुषमाके उस अद्भुत ऐक्यका स्रोत है जो अजंताकी संपूर्ण रचनाकी छाप है और जो राजपूत-चित्रकलामें भी कायम है यद्यपि वहां कमनीयतामें प्राचीनतर कृतिकी उच्चता खो गयी है और उसका स्थान जीवत और सांकेतिक रेखाकी एक ऐसी शक्तिने ले लिया है जो सूक्ष्म रूपसे तीव्र है किंतु फिर भी अत्यंत स्पष्ट और निश्चयात्मक है। यही सर्वसामान्य भावना और परंपरा भारतकी समस्त सच्ची स्वदेशीय रचनाका चिह्न है।

जब हम किसी भारतीय चित्रको देखें तो इन चीजोंको हमें सावधानीके साथ समझ लेना और मनमें रखना होगा तथा उसकी निंदा या प्रशंसा करनेके पूर्व हमें पहले उसके वास्तविक मूल-भावको हृदयगम कर लेना होगा। उसके मबरकी उस चीजपर जो कलामात्रमें सामान्य रूपसे पायी जाती है अपने-आपको एकाग्र करना भी ठीक है परंतु उसका वास्तविक सार तो वही है जो भारतकी अपनी निराली चीज है। और फिर वहां शिल्प-कौशल और धार्मिक भावकी उमगकी सराहना करना ही काफी नहीं यदि हम कलाकारके संपूर्ण उद्देश्य से अपने-आपको तदाकार करना चाहें तो हमें उस आध्यात्मिक आशयको अनुभव करना होगा जिसे प्रकट करनेमें शिल्प-कौशल सहायता करता है रेखा और रंगके गौण अर्थको तथा उस महत्तर वस्तुको अनुभव करना होगा जिसका कि धार्मिक भावावेग एक परिणाम है। उदाहरणार्थ यदि हम बुद्धके सामने भक्तिभावसे बैठे हुए मा और बच्चेके चित्रको जो अजताकी अत्यत गंभीर सुकुमार और उत्कृष्ट सुक्ष्म-कृतियोमेंसे एक है देखते देखते रहें तो हम पायेंगे कि वहा भक्तिके प्रगाढ धार्मिक भावकी जो छाप है वह भावावेगके समग्र प्रभाव में केवल एक अत्यंत बाह्य सामान्य स्पर्श ही है। यह छाप गहरी होकर जो चीज बन जाती है वह मानवताकी अतरात्माका प्रेमके साथ उस दयामय और शात अनिर्वचनीय-सत्ता-की ओर मुड़ना है जिसने बुद्धकी सार्वजनीन करुणाके रूपमें अपने-आपको हमारे प्रति गोचर और मानवाकार बनाया है और वह चित्र आंतरात्मिक-अनुभवके जिस मूलोद्देश्यकी व्याख्या करता है वह बालकके भावी मुखा मानवके जागते हुए मनका उस चीजके प्रति आत्म-दान है जिसमें माताकी अंतरात्मा अपने आध्यात्मिक हर्षको पाता और स्थिर रखना पहले ही सीख चुकी है। स्त्रीकी आखें भौंहें, होंठ चेहरा मस्तककी भाव-मुद्रा इस आध्यात्मिक भावावेगसे परिपूर्ण हैं जो चैत्य मुक्तिकी अवर्णनीय कोमलतासे पूरित हुए वात्मभवकी स्थिर मुद्राभिव्यक्ति शान्तिकी उन परिचित गहराइयोंकी जो अभीतक आवश्यक तथा किसी अन्य वस्तुके सदा और आनेके सार्वभौम स्पन्दित हैं एक सतत स्मृति और प्राप्ति है शरीर तथा अन्य सब इस भावावेगकी गुरु-गंभीर सामग्री है और अपनी भावभगिमासे वे उसका एक आधारस्वरूप प्रवाह है जब कि हाथ गंगातलसे मिलनेके लिये अपने

बच्चेको आत्मदानके भावमें अर्पित करते हुए, इसी भावको विस्तृत करते है। मानव और सनातनका यह सस्पर्श छोटेसे बालकके चित्रमे सूक्ष्म और प्रबल रूपसे प्रदर्शित विविधता, तथा जागरणकी उस प्रसन्न और बालसुलभ मुसकानके साथ दुहराया गया है जो प्राप्त होनेवाली गहराइयोकी आशा तो बधाती है पर अभी उन्हे प्राप्त कर लेनेकी अवस्थाको नही सूचित करती, हाथ ग्रहण करने और बनाये रखनेके लिये इच्छुक है, शरीर अपनी शिथिलतर और लहर-सी वक्र रेखाओमे उस अर्थके साथ ताल मिला रहा है। दोनो अपने-आपको भूले हुए है और जिसका वे आराधन एव चिंतन कर रहे है उसमे एक दूसरेको लगभग भूले हुए या मिलाये-जुलाये हुए-से जान पडते है, और फिर भी पूजा चढाते हुए हाथ मा और बच्चेको उनकी मातृ-स्वत्व और आत्म-दानकी एककालीन भावमुद्राके द्वारा एक ही क्रिया और अनुभूतिमें सयुक्त कर देते है। दोनो आकृतियोमे प्रत्येक स्थलपर एक ही गतिच्छद है, पर तो भी उसमें एक अर्थपूर्ण भेद है। महानता और शक्तिशालितामें विद्यमान सरलता, एव सयम, समाहरण और केद्रीभावके द्वारा साधित भावाभिव्यक्तिकी पूर्णता जिसे हम यहा पाते हैं भारतकी प्राचीन उत्कृष्ट कलाकी सर्वांगपूर्ण पद्धति है। और इस पूर्णताके द्वारा बौद्ध कला केवल बौद्ध धर्मका चित्रण और इसके विचार तथा धार्मिक भाव, इतिहास और उपाख्यानकी अभिव्यक्ति ही नही बनी बल्कि भारतकी अतरात्माके लिये बौद्ध धर्मके आध्यात्मिक आशय और इसके गभीरतर अर्थकी सत्योद्भासक व्याख्या भी बन गयी।

हमें सदा सबसे पहले और प्रधान रूपमें इस प्रकारके गभीरतर आशयकी खोज करनी चाहिये, इसको समझनेसे जीवनके मूलोद्देश्योके पाश्चात्य और भारतीय विवेचनके भेद समझमें आ जायगे। इस प्रकार किसी महान् यूरोपीय चित्रकारकी बनायी हुई मानव-प्रतिकृति चरित्रके द्वारा, सक्रिय गुणो, प्रधान शक्तियो और आवेगो, मुख्यतम भाव और स्वभाव तथा क्रियाशील मानसिक और प्राणिक सत्ताके द्वारा सर्वोपरि बलके साथ अतरात्माको प्रकट करेगी भारतीय कलाकार बहिर्मुख क्रियाशील चिह्नोको हलका कर देता है और उनके केवल उतने ही अशको प्रकट करता है जो कि किसी ऐसी वस्तुको व्यक्त या लयबद्ध करनेमें सहायक हो जो कही अधिक सूक्ष्म अतरात्माके स्वभावकी ही हो, कोई अधिक स्थितिशील एव निर्व्यक्तिक वस्तु हो जिसका कि हमारा व्यक्तित्व आवरण भी है और सूचक भी। आत्माका एक क्षण-विशेष ही जो एक अत्यत सूक्ष्म आत्मिक गुणकी नित्यताको शुद्धताके साथ प्रकट करता है सर्वोच्च प्रकारकी भारतीय मानवप्रतिकृति है। और, अधिक सामान्य रूपमें, चित्रगत चरित्रसे उद्बुद्ध अनुभूति जिसका हम अजताकी रचनाकी एक विशेषताके रूपमे उल्लेख कर आये है, इसी प्रकारकी वस्तु है उदाहरणार्थ, एक भारतीय चित्र जो किसी अर्थपूर्ण घटनापर केंद्रित एक धार्मिक भावको प्रकट करता है, प्रत्येक आकृतिमें इस प्रकारकी विविध अभिव्यजना दिखलायगा कि वह भावावेगके सार्वभौम आध्यात्मिक सारतत्त्वको प्रकाशमें लाये जिसमें अतरात्माके मूल प्रकारो, अर्थात् एक ही समुद्रकी विभिन्न लहरोंके अनुसार यत्किचित्

परिवर्तन किया गया हो नाटकीय आग्रहकी समस्त जटिलता त्याग दी जाती है और वैयक्तिक अनुभूतिमें चरित्रपर केवल उतना ही बल दिया जाता है जिससे कि मूल भावावेगकी एकता-को क्षीण किये बिना विविधताको प्रकट किया जा सके। इन चित्रोंमें जीवनकी जो स्पष्टता है उसके कारण वह अधिक गंभीर प्रयोजन हमारी दृष्टिसे ओझल नहीं हो जाना चाहिये जिसका यह बाह्य परिवेश है और परवर्ती कलापर दृष्टिपात करते हुए हमें यह बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखनी होगी क्योंकि उसमें प्राचीन उच्चकोटिक रचनाकी महानता नहीं है और वह एक ऐसी निम्न श्रेणीमें जा पहुंची है जो कम गंभीर है तथा जिसकी उच्चता बराबर एकसमान कायम नहीं रहती वह रसमय भावावेश जीवनकी हलचलकी सूक्ष्म विशदता और सर्वसाधारणके अधिक सीधे-सादे भावोंके स्तरपर उतर आयी है। कभी-कभी हम ऐसा पाते हैं कि अंतःप्रेरणा विचार और भावकी निश्चयात्मक शक्ति सर्जनशील कल्पना-की मौलिकता इस परवर्ती कलाके हिस्सेमें नहीं आयी है परंतु अजन्ताकी कलासे इसका वास्तविक भेद केवल यह है कि जीवनकी गति-विधि और अंतरतम हेतुके बीचका चैत्य संक्रमण कम घनिष्ठ और स्पष्टताके साथ प्रस्तुत किया गया है वहां चैत्य विचार और भाव एक गतिके रूपमें बाहरकी ओर अधिक उंडेले हुए हैं अंतरात्माके अंदर अपेक्षाकृत कम निहित हैं फिर भी आध्यात्मिक हेतु केवल विद्यमान ही नहीं है बल्कि वह सच्चे वायुमण्डलका निर्माण करता है और यदि हम उसे न अनुभव करें तो चित्रका वास्तविक तात्पर्य भी हमारी पकड़में नहीं आता। जहां अंतःप्रेरणा धार्मिक है वहां यह चीज अधिक स्पष्ट है परंतु लौकिक विषयमें भी इसका अभाव नहीं है। यहां भी आध्यात्मिक आशय किंवा चैत्य संकेत सर्वाधिक महत्त्वकी वस्तुएं हैं। अजन्ताकी कृतिमें तो सारा महत्त्व इन्हीं चीजोंका है और वहां इनकी जरा भी उपेक्षा करना ध्यारपदाकी मयानक भूलोंके लिये रास्ता खोलना है। इस प्रकार एक अतीव योग्य और अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण आलोचक बुद्धके 'महाभिनिष्क्रमण' के चित्रकी चर्चा करते हुए ठीक ही कहते हैं कि यह महान् कृति दुःख और गंभीर करुणाके भावकी अभिव्यक्तिमें अपना सानी नहीं रखती परन्तु फिर उस चीजकी तलाश करते हुए जिसे पश्चिमी कलाकारकी कल्पना ऐसे विषयमें स्वभावतः ही डालेगी वे आगे चलकर यह कहते हैं कि इसमें विषादपूर्ण निर्णयका एक बोध नजर आता है भावी सुखमें निहित बाधा-के भावके साथ घुले हुए आर्तवके जीवनको त्यागनेकी मृदुता झलकती है और यह उस मूल-भावको जिसके साथ कि भारतीय मन सस्वरसे अविनाशीको ओर मुड़ता है, विशेष रूपसे गलत समझना है कलाविषयक भारतीय हेतुको समझनेमें भूल करना और आध्यात्मिक भावा वेगके स्थानपर प्राणिक भावका सा बैठाना है। बुद्धके नेत्रों और ओष्ठोंमें जो भाव घने रूपमें विद्यमान है वह उनका अपना व्यक्तिगत दुःख बिल्कुल ही नहीं है बल्कि वह अन्य सबका दुःख है अपने प्रति भावुकतापूर्ण करुणा नहीं बल्कि जगत्के लिये तीव्र करुणा है पारिवारिक आनंदसे जीवनके लिये परिताप नहीं बल्कि मानवीय सुखके मिथ्यात्वकी वेदना-

पूर्ण अनुभूति है, और वहा जो उसका दृष्टिगोचर होती है वह, निश्चय ही, भावी पार्थिव गुणके लिये नही बल्कि निस्तारके आध्यात्मिक मार्गके लिये है, वहा एक पीडाकुल जिज्ञासा है जिसका समाधान निर्वाणके सच्चे आनदमे ही हुआ, पर हा, पीछे अवस्थित आत्माने यह समाधान पहलेसे ही देख लिया था और इसीलिये वहा अपरिमय शाति और सयम देखनेमे आते हैं जो दु खको अवलम्ब देते है। दोनो प्रकारकी कल्पनाओमे, यूरोपकी कलाके मानसिक, प्राणिक और भौतिक झुकाव और भारतकी कलाके सूक्ष्म, कम प्रबल रूपमें गोचर आध्यात्मिक झुकावमें जितना भी भेद है वह सारेका सारा इस उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है।

यही भारतकी स्वदेशीय कला है जिसकी यही अविच्छिन्न भावना एव परपरा है, और यह सदेहका विषय रहा है कि आया मुगल चित्र इस नामके अधिकारी है तथा इस परपरासे किसी प्रकारका सबध रखते है और क्या, अधिक ठीक रूपमे, वे फारससे आयी हुई विदेशीय वस्तु तो नही है। लगभग समस्त पूर्वीय कला इस बातमे एक जैसी है कि स्थूल दृष्टिके भीतर चैत्य प्रविष्ट हो जाता है और, अधिकाशमे, उसपर अपना सूक्ष्मतर नियम लागू करता है और चैत्य रेखा तथा चैत्य अर्थ उसे एक विशिष्ट मोड देते है, ये ही उसकी सजावटकी कलाका रहस्य है तथा उच्चतर कलाके प्रधान उद्देश्यका निर्देशन करते है। परतु फारस और भारतके चैत्य-तत्त्व (Psychicality) मे एक भेद है, फारसके चैत्यतत्त्वमें मध्यवर्ती लोकोंके जादूका गौरव विद्यमान है और भारतका चैत्य आध्यात्मिक दृष्टिके सचारणका केवल एक साधन है। और, स्पष्ट ही, भारत-फारसी शैली पहले प्रकारकी है तथा भारतके लिये स्वदेशीय नही है। परतु मुगल कला कोई विदेशीय वस्तु नही है, उसमें बल्कि दो मनोवृत्तियोका समिश्रण है एक ओर तो एक प्रकारके प्रत्यक्षवादकी ओर झुकाव है जो पश्चिमी प्रकृतिवादके सर्वथा समान नही है, साथ ही एक लौकिक भावना तथा कुछेक प्रमुख तत्त्व भी है जो व्याख्यात्मक होनेकी अपेक्षा कही अधिक प्रबल रूपमें चित्रणात्मक है, किंतु फिर भी केद्रीय वस्तु एक रूपातरकारी स्पर्शका प्राधान्य ही है जो यह दिखाता है कि स्थापत्यकी भाति यहा भी भारतीय मनने एक अन्य ही अभिभूतकारी मानसिकताको अपने अधिकारमें कर रखा है और उसे एक अधिक बहिर्मुखी स्व-अभिव्यञ्जनाका सहायक साधन बना लिया है। वह अभिव्यजना उस उपलब्धिकी आध्यात्मिक शृखलामें एक नयी अवातर प्रवृत्तिके रूपमें प्रकट होती है जो प्रागैतिहासिक युगमें आरभ हुई थी और भारतीय सस्कृतिके व्यापक ह्रासके समय ही समाप्त हो गयी। चित्रकारी जो उस ह्रासके समय गर्तमें पतित होनेवाली कलाओमें अतिम थी, फिरसे उठने और नवसृजनके युगकी उषा-रश्मियोको उद्भासित करनेमें भी प्रथम रही है।

भारतकी साज-सज्जा-सबधी कलाओ और शिल्पोकी विस्तारपूर्वक चर्चा करनेकी आवश्यकता नही, क्योकि उनकी श्रेष्ठता सदा ही निर्विवाद रूपसे स्वीकार की जाती रही है। जिस व्यापक सौंदर्य-भावनाको वे द्योतित करते है वह राष्ट्रीय सस्कृतिकी मूल्यवत्ता और

सभ्यताके बड़े-से-बड़े संभव प्रमाणोंमें से एक है। इस विषयमें भारतीय संस्कृतिको किसी भी तुलनासे डरनेकी जरूरत नहीं। यदि वह जापानकी संस्कृतिसे मुख्यतः कम कलात्मक है तो इसका कारण यह है कि उसने आध्यात्मिक आवश्यकताको सर्वप्रमुख स्थान दिया है तथा अन्य सभी चीजोंको लोगोंकी आध्यात्मिक प्रगतिके अधीनस्थ एवं उसका साधन बना रखा है। उसकी सम्पन्नताने मनके सभी विषयोंकी भांति तीन महान् कलाओंमें भी प्रथम पंक्तिमें स्थित होकर यह सिद्ध कर दिया है कि आध्यात्मिक आवेग अन्य प्रवृत्तियोंको पंगु बनानेवाला नहीं है जैसी कि व्यर्थ ही कल्पना की गयी है बल्कि वह समग्र मानवके बहुमुखी विकासके लिये एक अत्यंत प्रबल शक्ति है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

दसवां अध्याय

भारतीय साहित्य

जो कलाएं आखके द्वारा अतरात्माको आकर्षित करती है वे ही किसी जातिकी भावना और सौंदर्य-वृत्ति तथा उसके सर्जनशील मनकी विशेष घनीभूत अभिव्यक्तिपर पहुच सकती है, परतु उसकी अत्यत नमनशील और बहुमुखी आत्म-अभिव्यक्तिकी खोज तो उसके साहित्यमें ही करनी होगी, क्योंकि स्पष्ट अलकारकी अपनी समस्त शक्ति या ध्वनिके अपने समस्त सूत्रोंके साथ प्रयुक्त किया गया शब्द ही अभिव्यक्त आतर आत्माके विभिन्न रूपो, प्रवृत्तियो और बहुल अर्थोंको अत्यत सूक्ष्म और विविध रूपमें हमारे सामने प्रकट करता है। किसी साहित्यकी महानता सर्वप्रथम उसकी विषयवस्तुके मूल्य एव महत्त्वमें और उसके विचारकी उपयोगिता तथा आकारोंके सौंदर्यमें निहित रहती है, पर साथ ही इस बातमें भी कि वह वाणीकी कलाकी ऊचीसे ऊची शर्तोंको पूरा करता हुआ किसी जाति, युग एव सस्कृतिके आत्मा और जीवनको या उसके जीवत और आदर्श मनको उसकी किन्ही महत्तम या अत्यत सवेदनशील प्रतिनिधि-आत्माओकी प्रतिभाके द्वारा प्रकट और उन्नत करनेमें किस हदतक सहायक होता है। और यदि कोई प्रश्न करे कि इन दोनो बातोंमें भारतीय मानसकी, जैसा कि वह सस्कृत तथा अन्य साहित्योंमें हमतक परपराद्वारा पहुचा है, उपलब्धि क्या है तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कम-से-कम यहा एक ऐसे विचारकके लिये भी जो जीवन और चरित्रपर पड़नेवाले इस सस्कृतिके प्रभावके विषयमें विवाद करनेपर एकदम तुला हुआ है, किसी प्रकारकी युक्तिसगत निंदा और निषेध करनेकी गुजायश नही है। संस्कृतभाषाकी प्राचीन एव उच्चकोटिक रचनाए अपने गुण, तथा उत्कर्षके स्वरूप एव बाहुल्य दोनोंमें, शक्तिशाली मौलिकता, ओजस्विता और सुन्दरतामें, अपने सारतत्त्व, कौशल और गठनमें, वाक्-शक्तिके वैभव, औचित्य और आकर्षणमें तथा अपनी भावनाके क्षेत्रकी उच्चता और विशालतामें अत्यत स्पष्टत ही विश्वके महान् साहित्योंके बीच अग्रपंक्तिमें प्रतिष्ठित हैं। निर्णय देने योग्य व्यक्तियोंने सर्वत्र ही यह स्वीकार किया है कि स्वय सस्कृत भाषा भी

2

मानव मनके द्वारा विकसित किये हुए अत्यंत महान् अत्यंत पूर्ण और अद्भुत रूपसे समर्थ साहित्यिक साधनोंमेंसे एक है जो एक साथ ही भव्य मधुर एवं नमनीय है ओजस्वी स्पष्ट समृद्ध स्पंदनशील एवं सूक्ष्म भी है और इसका गुण एवं स्वरूप अपने-आपमें इस बातका पर्याप्त प्रमाण होना चाहिये कि जिस जातिके मानसको इसने व्यक्त किया है एवं जिस संस्कृतिको प्रतिबिम्बित करनेके लिये इसने एक माध्यमका काम किया है उसका गुण और वैशिष्ट्य क्या था। कवियों और चिंतकोंने इसका जो महान् और उदात्त प्रयोग किया वह इसकी क्षमताओंकी उच्चताके मुकाबले हीन कोटिका नहीं था। यह बात भी नहीं है कि भारतीय मनने ऊंची सुन्दर और पूर्ण रचनाएं केवल संस्कृत भाषामें ही की हैं यद्यपि अपनी अत्यंत प्रधान रचनात्मक और बृहत्तम कृतियोंका बहुत बड़ा भाग उसने इसी भाषामें व्यक्त किया। उसकी रचनाओंका पूरा मूल्य आंकनेके लिये पाली भाषामें रचित बौद्ध साहित्यको तथा समभग एक दर्जन संस्कृत-जनित और द्राविड़ भाषाओंके काव्य-साहित्योंको भी जो अपनी रचनाओंकी दृष्टिसे कहीं तो प्रचुर है और कहीं बहुत परिमित विचारमें लाना आवश्यक होगा। यह संपूर्ण भारतीय साहित्य प्रायः एक महाद्वीपीय प्रभाव रखता है और अपनी वस्तुतः स्थायी रचनाओंके परिमाणमें प्राचीन मध्ययुगीन और आधुनिक यूरोपकी कृतियोंसे मात्रामें भी कम नहीं है तथा अपनी परमोत्कृष्ट रचनाओंमें उसकी बराबरी भी करता है। जो जाति और सभ्यता अपनी महान् कृतियों और अपने महान् साहित्यिकोंमें वेद और उपनिषदोंको महाभारत और रामायणकी शक्तिशाली रचनाओंको और कालिदास भवभूति भर्तृहरि एवं जयदेवको गिनती है और साथ ही उच्चकोटिके भारतीय नाटक काव्य और रूमानी उपन्यासकी अन्य समृद्ध रचनाओंको धम्मपद और जातकोंको पञ्चतन्त्रको तुलसीदासको विद्यापति चंडीदास और रामप्रसादको रामदास और तुकारामको तिरुवल्लुवर और कंबनको तथा नानक कबीर और मीराबाई एवं दक्षिणके शैव संतों और आल्वारोंके गानोंको भी गिनती है—यहां हमने केवल सुप्रसिद्ध लेखकों और अत्यंत विशिष्ट रचनाओंके ही नाम लिये हैं यद्यपि विभिन्न भाषाओंमें प्रथम और द्वितीय दोनों कोटियोंकी अन्य श्रेष्ठ कृतियोंका भी अति विपुल समूह विद्यमान है—उस जाति और उस सभ्यताको निश्चय ही सबसे महान् सभ्यताओंमें और संसारकी अत्यंत विकसित एवं सर्जनशील जातियोंमें गिनना होगा। यह इतनी महान् और इतनी उत्कृष्ट कोटिकी मानसिक क्रियाशीलता जिसका सूत्रपात हुए तीन सहस्र वर्षसे भी अधिक हो गये हैं और जो आजतक भी समाप्त नहीं हुई है भारतीय सांस्कृतिक अमर विद्यमान असाधारण रूपसे सबल और प्राणवंत किसी वस्तुका अनुपम सर्वश्रेष्ठ और अत्यंत अकाट्य प्रमाण है।

जो आलोचना इस अद्वितीय साहित्य-संपदाके मूल्यकी और प्रगतिशील आत्मा एवं सर्जनशील बुद्धिकी इस महत्ताकी उपेक्षा या अवज्ञा करती है वह तुरंत ही अंध विद्वेष या दुर्बल पक्षपातकी दोषी ठहरती है और ध्यानकी भी अधिकारिणी नहीं होती। इस छिद्रान्वेषी-

द्वारा किये गये आक्षेपोंपर विचार करना महज समय और शक्तिका अपव्यय करना होगा क्योंकि यहा किसी साहित्यकी गौरव-गरिमाके लिये महत्त्व रखनेवाली कोई भी चीज वस्तुत विवादका विषय नही है और उधर इस आलोचकके आक्रमणके खातेमें जमा करने लायक एकमात्र चीज है—सामान्य रूपसे सभी तथ्योको तोडना-मरोडना और निंदा करना तथा उन ब्योरो और प्रकृतिगत विशेषताओपर व्यर्थमें, पिल-पिलकर तथा बढा-चढाकर आक्षेप करना जो, अधिकसे अधिक, भारतके आदर्शनिर्मायक मन तथा प्रचुर कल्पना और यूरोपके अधिक यथार्थवादी ढगसे देखनेवाले मन तथा कम समृद्ध और कम प्रचुर कल्पनामें भेद दिखलाती है। आलोचनाकी इस मूल-प्रेरणा और शैलीके अनुरूप उत्तर यही होगा कि कोई भारतीय आलोचक जिसने यूरोपका साहित्य केवल रद्दी या निष्प्रभाव भारतीय अनुवादोके रूपमें ही पढा हो, इसकी विद्वेषपूर्ण एव निदात्मक आलोचना करे और यह कहकर सब कुछ रद्द कर दे कि इलियड एक अधकचरा, खोखला, अर्द्ध-बर्बर और आदिम वीर-काव्य है, दाते-की महान् कृति क्रूर और अधविश्वासपूर्ण धार्मिक कल्पनाका दु स्वप्न है, शेक्सपीयर मृगी-रोगजन्य कल्पनासे युक्त पुष्कल प्रतिभाका एक मदोन्मत्त वर्बर है, यूनान और स्पेन एव इग-लैंडके सपूर्ण नाटक बुरे आचारशास्त्र और उग्र विभीषिकाओका स्तूप है, फ्रेंच काव्य अलकारोकी एकरस या आडबरपूर्ण कसरतोकी एक श्रृखला है और फ्रेंच गल्प-उपन्यास एक दूषित एव अनैतिक वस्तु है, विलासिता-देवीकी वेदीपर दी गयी एक सुदीर्घ बलि है, वह (आलोचक) कही-कही छोटे-मोटे गुणको भले ही स्वीकार कर ले पर प्रधान भावना या सौंदर्यात्मिक गुण या रचना-सिद्धातको समझनेका जरा भी यत्न न करे और अपनी मूर्खतापूर्ण पद्धतिके बलपर यह परिणाम निकाले कि पेगन और क्रिश्चियन उभयविध यूरोपके आदर्श बिलकुल झूठे और बुरे थे और उसकी कल्पना एक "अभ्यासगत तथा पितृ-परपरागत" पार्थिवता, विकृतता, दरिद्रता और अस्तव्यस्ततासे ग्रस्त थी। मूर्खताओका ऐसा अबार किसी भी आलोचनाके योग्य नही, और इस तीव्र निंदामें, जो उक्त प्रकारकी आलोचनाके समान ही हास्यास्पद है, अन्य टिप्पणि-योसे कुछ कम असगत और कम अस्पष्ट दो-एक फुटकल टिप्पणिया ही शायद सरसरी दृष्टि-की अपेक्षा करती है। पर यद्यपि ये निरर्थक आलोचनाए भारतीय काव्य और साहित्यके विषयपर सामान्य यूरोपीय मनकी सही रायका जरा भी प्रतिनिधित्व नही करती, तो भी हम देखते हैं कि भारतीय कृतिके मूलभाव या रूप या सौंदर्यात्मिक मूल्यको और विशेषकर जाति-के सास्कृतिक मनकी एक अभिव्यक्तिके रूपमें इसकी पूर्णता एव शक्तिको सराहनेमें यूरोपीय मन बहुधा असमर्थ ही रहता है। यहातक कि सहानुभूतिपूर्ण आलोचकोकी भी ऐसी आलो-चनाए हमारे देखनेमें आती हैं जिनमें भारतीय काव्यकी शक्ति, सौंदर्य और महत्ताको स्वी-कार करते हुए भी परिणाम यह निकाला गया है कि इस सबके बावजूद यह सतोषप्रद नही है, और इसका अर्थ यह हुआ कि बौद्धिक और स्वभावमूलक भ्राति कुछ हदतक रचनाके इस क्षेत्रमें भी व्यापी हुई है जहा विभिन्न प्रकारके मन चित्रकला और मूर्तिकलाकी अपेक्षा

अधिक सहज रूपमें एक हो जाते हैं और साथ ही यह भी कि इन दो मनोवृत्तियोंके बीच एक दरार है और जो चीज एकके लिये ज्ञानप्रद तथा अर्थ और ओजसे परिपूर्ण है उसमें दूसरेके लिये सौंदर्यात्मक या बौद्धिक मूल्यका कोई तत्त्व नहीं है केवल एक ऊपरी ढांचा। इस कठिनाईका कारण कुछ तो यह है कि एक व्यक्ति दूसरेकी भाषाकी जीवंत भावनाके अंदर पैठने और उसका प्राणवंत स्पर्श अनुभव करनेमें असमर्थ है पर साथ ही कुछ यह भी कि दोनोंमें समानता होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टिसे एक भेद है जो पूर्ण असमानता और भिन्नतासे भी कहीं अधिक चकरानेवाला है। उदाहरणार्थ चीनी काव्य बिलकुल अपने ही निजी ढंगका है और यदि पश्चिमी मनोवृत्ति इसे एक विजातीय जगत् समझकर इसके पाससे बिलकुल यों ही न निकल जाय तो उसके लिये इसके एक सुस्थिर मूल्यांकनका विकास करना अधिक संभव होता है क्योंकि तब मनकी ग्रहणशीलता किन्हीं भी व्याघातजनक स्मृतियों या तुलनाओंसे अवरुद्ध या कुंठित नहीं होती। इसके विपरीत यूरोपके काव्यके समान भारतीय काव्य आर्य या आर्यभाषापन्न राष्ट्रीय मनकी रचना है वह प्रत्यक्षत ही उसी प्रकारके हेतुओंसे उद्भूत होता है उसी स्तरपर विचरण करता है उसके सजातीय रूपोंका प्रयोग करता है और फिर भी उसकी भावनामें कोई बिलकुल ही भिन्न वस्तु विद्यमान होती है जो उसके सौंदर्यात्मक पूर्णो कल्पनाके प्रकार आत्म-अभिव्यंजनाकी गतिविधि परिकल्पना-कारी मन पद्धति रूप और रचनामें एक सुस्पष्ट एवं पृथक्कारी विभेदको जन्म देती है। यूरोपीय भावना और काव्यकलाका अभ्यस्त मन यहां भी उसी प्रकारकी तुष्टिकी आशा करता है पर उसे नहीं पाता एक चकरानेवाले भेदको अनुभव करता है जिसके रहस्यसे वह अपरिचित है और सूक्ष्म अनुसंधान करनेवाली तुलना तथा निरर्थक आशापूर्ण ग्रहणशीलता तथा गहरी समझके मार्गमें बाधा डालती है। मूलतः पीछे अवस्थित एक सर्वथा भिन्न भावनाकी एवं इस संस्कृतिके भिन्न प्रकारके अंतस्तलकी अधूरी समझ ही एक मिश्रित आकर्षण और असंतोषको जन्म देती है। यह विषय इतना विस्तृत है कि एक छोटी-सी परिधिमें इसपर यथोचित रूपमें विचार नहीं किया जा सकता सर्जनशील अंतर्ज्ञान और कल्पनाकी कुछेक अत्यंत प्रतिनिधिस्वरूप सर्वोत्कृष्ट रचनाओंपर जिन्हें मैंने भारत-जातिके मन और अंतरात्माके अभिलेखके रूपमें ग्रहण किया है विचार करके मैं केवल कुछ विशेष बातोंको ही प्रकाशमें लानेकी चेष्टा करूंगा।

राष्ट्रके गौरवमय यौवन-कालमें जब कि एक अगाध आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि कार्य कर रही थी एक सूक्ष्म अंतर्ज्ञानमय दृष्टि और एक महान् रूपमें निर्धारित गंभीर एवं विशाल बौद्धिक और नैतिक विचार-शृंखला तथा मार्मिक कार्य-धारा एवं सृजन प्रवृत्ति क्रियाशील थी जिन्होंने उसकी अनुपम संस्कृति एवं सभ्यताकी योजना नींव निर्मित एवं निर्धारित की और इसकी स्थायी इमारत खड़ी की—ऐसे युगमें हमें भारतका प्राचीन मानस उसकी प्रतिभाकी चार सर्वोत्कृष्ट कृतियों वेद उपनिषदों और दो बृहत् महाकाव्योंके द्वारा प्रस्तुत मिलता है और

इनमेंसे प्रत्येक एक ऐसी कोटि एव शैलीकी तथा ऐसी भावनासे सपन्न रचना है जिसकी बराबरी करनेवाली रचना किसी अन्य साहित्यमें आसानीसे नही मिल सकती। इनमेंसे पहली दो उसके आध्यात्मिक और धार्मिक स्वरूपका प्रत्यक्ष आधार है, शेष दो उसके जीवनके महत्तम युगकी, इसे अनुप्राणित करनेवाले विचारो एव परिचालित करनेवाले आदर्शो तथा उन प्रतीकोकी विशाल सर्जनक्षम व्याख्या है जिनके रूपमें उसने मनुष्य, प्रकृति और परमेश्वरको तथा जगत्की शक्तियोको देखा था। वेदने हमें इन चीजोंके प्रथम प्रतिरूप और आकार प्रदान किये जैसे कि वे रूपकात्मक आध्यात्मिक अतर्ज्ञान तथा मनोवैज्ञानिक और धार्मिक अनुभवके द्वारा देखे और गढे गये थे, उपनिषदें आकार, प्रतीक और रूपकको निरतर भेद-कर तथा इनके परे जाकर पर इनका पूर्ण रूपसे त्याग किये बिना,—क्योकि ये चीजें एक सहचारी तत्त्व या गौण वस्तुके रूपमें सदा ही आ घुसती है,—एक अद्वितीय कोटिके काव्यमें आत्मा, परमात्मा और मनुष्य तथा जगत् और इसके मूलतत्त्वो एव इसकी शक्तियोके—इन (मूलतत्त्वो और शक्तियो)के अत्यत सारभूत, गभीरतम, अतरगतम एव विस्तृततम वास्तविक रूपोंके—चरम-परम सत्योको प्रकाशित करती है,—ये वास्तविक रूप परमोच्च रहस्य और विशद आलोक है जिन्हे एक ऐसी दुर्निवार एव निर्बाध अनुभूतिके रूपमें स्पष्टतया देखा गया है जो अतर्ज्ञानात्मक एव मनोवैज्ञानिक दृष्टिके द्वारा विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टितक पहुच चुकी है। और उपनिषदोंके बाद हम उस बुद्धि एव जीवनकी तथा उन आदर्शभूत नैतिक, सौदर्यात्मक एव चैत्य और भाविक, ऐंद्रिय तथा भौतिक ज्ञान, विचार, दृष्टि और अनुभवकी ओजस्वी और सुन्दर प्रगतियोको देखते है जिनका कि हमारे महाकाव्य प्राचीन अभिलेख है और जिन्हें शेष सारा साहित्य अविच्छिन्न रूपसे विस्तारित करता है, परतु आधार बराबर ही वही रहता है और जो भी नये एव प्राय व्यापकतर प्रतिरूप तथा अर्थपूर्ण आकार पुरानोंके स्थानपर आते है या सपूर्ण समष्टिमें कुछ वृद्धि, सशोधन और परिवर्तन करनेके लिये हस्त-क्षेप करते है वे अपनी मूल गठन और प्रकृतिमे आदि दृष्टि एव प्रथम आध्यात्मिक अनुभवके रूपातर और विस्तार ही होते हैं, वे ऐसे व्यतिक्रम कदापि नही होते जो उससे सबध ही न रखते हो। साहित्यिक सृजनमें, महान् परिवर्तनोके होते हुए भी, भारतीय मनकी दृढ लगन एव अविच्छिन्न परपरा कायम रही है जो वैसी ही सुसगत है जैसी हम चित्रकला और मूर्ति-कलामें देखते हैं।

वेद उस आदिकालीन अतर्ज्ञानात्मक और प्रतीकात्मक मनोवृत्तिकी रचना है जो मनुष्यके परवर्ती मनके लिये एक सर्वथा अपरिचित वस्तु बन गयी है क्योकि वह प्रबल रूपमें बौद्धिक बन गया है तथा एक ओर तो तर्कशील विचार तथा अमूर्त परिकल्पनाके द्वारा और दूसरी ओर जीवन और जड तत्त्वके तथ्योंके द्वारा परिचालित होता है, जिन तथ्योको उसी रूपमें स्वीकार कर लिया जाता है जैसे कि वे इद्रियो तथा प्रत्यक्षवादी बुद्धिके समुख उपस्थित होते है और उनमें किसी भी दिव्य या गुह्य अर्थकी खोज नही की जाती, और क्योकि वह कल्पना-

को सत्यके द्वारोंको खोलनेवाली कुंजी नहीं बरंच सौंदर्यात्मिक मौजकी एक क्रीड़ा मानकर उसमें संलग्न रहता है और केवल उसीके सुझावोंपर विश्वास करता है जब कि वे तार्किक युक्ति या स्थूल अनुभूतिके द्वारा पुष्ट होते हैं और चूंकि वह उन्हीं अंतःस्फुरणाओंसे अभिज्ञ है जिन्हें सावधानताके साथ बौद्धिक रूप दे दिया गया है और अन्य सभी स्फुरणाओंका अधिकांशमें विरोध ही करता है। अतएव इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि वेद अपनी भाषाके अत्यंत बाहरी आवरणको छोड़कर हमारे मनोंके लिये दुर्बोध हो गया हो और यह बाह्य आवरण भी एक प्राचीन तथा अच्छी तरह समझमें न आनेवाली शैलीकी भाषाके कारण अत्यंत अपूर्ण रूपमें ही बोधगम्य हो और कि उसकी अत्यंत अनुपयुक्त व्याख्याएं की गयी हों जो मानवजातिके तरुण और तेजस्वी मनकी इस महत् कृतिको घटाकर एक दूषित और कुरूप लेख बना डालती हैं एक आदिम कल्पनाकी मूर्खतापूर्ण बातोंका एक ऐसा असंगत मिश्रण बना देती हैं जिसके कारण यह चीज भी पतित हो उठती है जो वैसे उस प्रकृतिवादी धर्मका बिलकुल सीधा-सादा स्पष्ट और सर्वसामान्य अभिलेख होती जो बर्बर प्राणप्रधान मनकी स्थूल और पशुजातीय कामनाओंको ही प्रतिबिंबित करता था और उन्हींकी सेवा कर सकता था। भारतीय पुरोहितों और पण्डितोंकी परवर्ती पांडित्यपूर्ण और कर्मकांडीय भावनाके लिये वेद गाथाविज्ञान और याज्ञिक क्रिया-कलापोंकी पुस्तक मात्र रह गया इससे अच्छी कोई चीज नहीं यूरोपीय विद्वानोंने वेदमें केवल अपनी बौद्धिक रुचिके विषयों अर्थात् इतिहास भाषाओं और आदिम जातिके प्रचलित धार्मिक विचारोंकी ही खोज की है और इस प्रकार वेदके साथ और भी बड़ा अन्याय किया है और एक सर्वथा बाह्य व्याख्यापर बल देकर उसे उसके आध्यात्मिक माधुर्य और उसकी काव्यात्मक महत्ता एवं सुन्दरतासे और भी अधिक वंचित कर दिया है।

परंतु स्वयं वैदिक ऋषियों या उनके बाद आनेवाले उन महान् द्रष्टाओं और मनीषियोंके लिये वेद यह चीज नहीं था जिन्होंने कि उनकी अर्थगर्भित और प्रकाशपूर्ण अंतःस्फुरणाओंसे विचार और वाणीकी अपनी अद्भुत रचनाएं विकसित कीं जो एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक साक्षात्कार और अनुभवपर प्रतिष्ठित थीं। इन प्राचीन द्रष्टाओंके लिये वेद वह शब्द-ब्रह्म था जिसने सत्यको आविष्कृत किया और जीवनके रहस्यमय अर्थोंको रूपक एवं प्रतीकका परिधान पहनाया। वह शब्दकी अंतर्निहित शक्तियोंका उसकी रहस्यमय सत्योद्भासी और सर्जनशील क्षमताका दिव्य आविष्कार और प्राकट्य था पर वह शब्द नैयायिक और तार्किक या सौंदर्यात्मिक बुद्धिका शब्द नहीं था बल्कि एक बोधिगम्य और अंतःप्रेरित छंदोबद्ध वचन मंत्र था। उसमें रूपक और आख्यानका प्रयोग स्वच्छंदताके साथ किया गया था पर वह कल्पनाकी उड़ानके रूपमें नहीं बल्कि उन चीजोंके जीवंत दृष्टांतों और प्रतीकोंके रूपमें किया गया था जो उनका वर्णन करनेवालोंके लिये अत्यंत वास्तविक थीं तथा जो और किसी प्रकारसे बाणीमें अपना आभ्यंतरिक एवं स्वाभाविक रूप नहीं प्राप्त कर सकती थीं और स्वयं

कल्पना उनमें अधिक महान् सदन्तुआकी पुरोहित थी जो जीवनके बाह्य सुझावों तथा भौतिक सत्तामें आवद्ध प्राण और मनके समुख आती है और उन्हें वशमें किये रहती है। पवित्रात्मा कविके सबधमें उनकी धारणा यह थी कि वह एक ऐसा मनीषी होता है जिसे अपने मनमें किसी उन्नततम प्रकाशका तथा उसके विचारात्मक और शब्दात्मक रूपोंका साक्षात्कार हुआ होता है, वह सत्यका द्रष्टा और श्रोता होता है, **कवय सत्यश्रुतय**। निश्चय ही वैदिक मन्त्रोके कवि अपने कार्यको उस रूपमें नही देखते थे जिस रूपमें आधुनिक विद्वानोने उसका निरूपण किया है, वे अपनेको एक बलिष्ठ और बर्बर जातिके लिये एक प्रकारके तत्र-मत्र एव जादू-टोनेका निर्माण करनेवाले नही, बल्कि ऋषि और धीर[1] समझते थे। इन गायकोका विश्वास था कि उन्हे एक उच्च, रहस्यमय और गुप्त सत्य प्राप्त है, इनका दावा था कि वे एक ऐसी वाणीको धारण करते हैं जो दिव्य ज्ञानको स्वीकार्य है, और अपने वचनोंके बारेमें वे स्पष्ट रूपसे ऐसी बात कहते भी है कि वे रहस्यमय शब्द हैं जो अपना सपूर्ण तात्पर्य केवल ऋषिके समक्ष ही प्रकाशित करते हैं, **कवये निवचनानि निण्या वचासि**। और जो द्रष्टा इनके बाद आये उनके लिये वेद ज्ञानका, और यहातक कि एक परम ज्ञानका, ग्रथ था, एक ईश्वरीय ज्ञान, एक सनातन और निर्व्यक्तिक सत्यका, जैसा कि वह अत प्रेरित और भगवत्तुल्य मनीषियो (धीरो) के अतरीय अनुभवमें देखा और सुना गया था, महान् प्रकाश था। यज्ञकी जिन छोटीसे छोटी क्रियाओके विषयमें मत्र लिखे गये थे उनका प्रयोजन अर्थ-की एक प्रतीकात्मक तथा मनोवैज्ञानिक शक्तिको वहन करना था, जैसा कि प्राचीन ब्राह्मण-ग्रथोके लेखकोको भलीभाति विदित था। पवित्र मत्रोको, जिनमेंसे प्रत्येक अपने-आपमें दिव्य अर्थसे पूर्ण समझा जाता था, उपनिषदोके विचारक अपने अन्वेषणीय सत्यके गभीर और अर्थगर्भित बीजरूप शब्द मानते थे और अपने उदात्त उद्गारोके लिये वे जो सर्वोच्च प्रमाण दे सकते थे वह था अपने पूर्वगामी ऋषियोके ग्रथसे उद्धृत कोई समर्थक वचन जिसके साथ वे '**तदेषा ऋचाभ्युक्ता**' अर्थात् "यह वह वाणी है जो ऋग्वेदने उच्चारित की थी" इस सूत्र-का प्रयोग करते थे। पश्चिमी विद्वान् यह कल्पना करना पसद करते हैं कि वैदिक ऋषियो-के उत्तराधिकारियोने भूल की है, कुछेक बादके मत्रोको छोडकर अन्य पुराने मत्रोमें उन्होने एक मिथ्या और अ-सत् अर्थ भर दिया है और केवल युगोके द्वारा ही नही बल्कि बौद्धिकता-में रगी मनोवृत्तिकी अनेक खाइयो और विभाजक समुद्रोके द्वारा भी उन ऋषियोंसे पृथक् हुए हुए वे स्वय उनसे अनतगुना उत्तम ज्ञान रखते हैं। परतु केवल साधारण बुद्धिसे भी हमें यह पता लग जाना चाहिये कि जो लोग दोनो तरहसे मूल कवियोके इतना अधिक निकट थे उनके लिये कम-से-कम इस विषयका सारभूत सत्य अधिकृत करनेकी अधिक अच्छी सभावना थी और साधारण बुद्धि ही, कम-से-कम, इस प्रबल सभावनाका सकेत देती है कि

[1]धीर=धी+र, अर्थात् धी या विचारमें रत रहनेवाले।—अनु०

वेद वस्तुतः वही चीज था जो कुछ होनेका वह दावा करता है अर्थात् वह एक गुह्य ज्ञानकी खोज था भारतीय मनके उस अनवरत प्रयत्नका—भारतीय मन अपने इस प्रयत्नके प्रति सदैव सच्चा रहा है—प्रथम रूप था जो उसने स्थूल जगत्की प्रतीतियोंसे परे देखने और अपने आंतरिक अनुभवोंके द्वारा उस एकमेवके देवताओं उसकी शक्तियों और स्वयंभू-सत्ताको देखनेके लिये किया था जिसके विषयमें ज्ञानी लोग नाना प्रकारसे चर्चा करते हैं—यह वह प्रसिद्ध पदावलि है जिसमें वेद अपना केंद्रीय रहस्य प्रकट करता है एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

यदि हम वेदका कोई भी रूपक लेकर इसके अपने ही पदों और रूपकोंके अनुसार सीधे सरल रूपमें इसकी व्याख्या करें तो इसका असली स्वरूप बहुत अच्छी तरह समझमें आ सकता है। एक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् अपनी श्रेष्ठ बुद्धिके ऊंचे आसनसे उन मूर्ख लोगोंकी जिन्हें वेदमें उदात्तता दिखायी देती है भर्त्सना करता हुआ हमें बताता है कि यह बालिश मूर्खतापूर्ण यहांतक कि बीभत्स कल्पनाओंसे भरा हुआ है एक क्लिष्ट हीन और तुच्छ रचना है और मानव प्रकृतिके स्वार्थ एवं भौतिकतावाले निम्न स्तरका प्रतिनिधित्व करता है और केवल कहीं-कहीं कुछेक ऐसी विरली भावनाएं हैं जो अंतरात्माकी गहराइयोंसे आती हैं। वेद को ऐसा रूप दिया जा सकता है यदि हम ऋषियोंके वचनोंमें अपनी मानसिक कल्पनाएं भर दें परंतु यदि हम उन्हें उसी रूपमें पढ़ें जैसे कि वे हैं और हमारी समझमें उन प्राचीन बर्बरोंको जैसी बातें कहनी और सोचनी चाहिये थी वैसी बातोंमें उनका इस प्रकार कोई मिथ्या रूपांतर न करें तो इसके स्थानपर हमें वहां एक पवित्र काव्यके दर्शन होंगे जो अपने छन्दों और रूपकोंमें उदात्त और ओजस्वी है यद्यपि उसकी भाषा और कल्पना उनसे भिन्न प्रकारकी है जिन्हें हम आज अधिक पसंद करते और सराहते हैं और साथ ही अपने मनोवैज्ञानिक अनुभवमें गंभीर और सूक्ष्म है तथा अंतर्दर्शन और वाणीकी प्रदीप्त आत्माद्वारा स्पंदित है। स्वयं वेद की कुछ वाणी सुन लीजिये

"भूमिकाओंपर भूमिकाएं उदित होती हैं आवरणपर आवरण[1] ज्ञानकी ओर जाग उठता है माकी गोदमें वह सब कुछ पूर्ण रूपसे देखता है। उन्होंने उसे पुकारा है विशाल ज्ञान लाभ करके वे निर्निमेष भावसे शक्तिकी रक्षा करते हैं, उन्होंने दृढ़ पुरीमें प्रवेश पा लिया है। इस भूतलपर उत्पन्न हुए मनुष्य शुभ्रवर्णा माता (दिव्या) के पुत्रकी ज्योतिर्मय (शक्ति) को बढ़ाते हैं वह अपनी ग्रीवामें स्वर्ण धारण किये है उसकी वाक्शक्ति विशाल है वह मानो इस मधुके (इसकी शक्तिके) द्वारा भूमाकी कामना करनेवाला है। वह प्रिय और काम्य धूपकी तरह है वह एक अकेली वस्तु है और दोके साथ विद्यमान है जो (परस्पर) सहचर हैं वह एक ऐसे तापके समान है जो भूमाका उदर है वह अजेय है और अनेकोंका

[1] अथवा 'आवरणका आवरण'।

विजेता है। अपनी क्रीडा कर, ओ रश्मि, और प्रकट हो।"[1] (ऋग्वेद ५ १९)

—या फिर अगले सूक्तमे,—

"तुझ शक्तिमय '(देव) की वे (ज्वालाए) जो अचल, प्रवृद्ध और बलशाली है, (तुझसे) भिन्न नियमवालेके द्वेष और कुटिलताका सग छोड देती है। हे अग्ने! हम तुझे पुरोहित, तथा अपने बलको क्रियान्वित करनेके साधनके रूपमें वरते हैं और यज्ञोमें तेरे लिये प्रसन्नताकारक हवि लाते हुए तुझे (अपनी) वाणीसे पुकारते हैं हे पूर्ण कर्मोके देवता! (हे सुक्रतु!) कृपा कर कि हम आनद और सत्यके भागी हो, किरणोके साथ आनद मनायें, वीरोके साथ आनद मनायें।"

—और अतमें हम इसके वादके, तीसरे, सूक्तका एक बडा भाग ले जिसमे भावका प्रकाशन यज्ञके साधारण प्रतीकोमें किया गया है,—

"मनुके रूपमें हम तुझे तेरे स्थानपर स्थापित करते है, मनुके रूपमे तुझे प्रदीप्त करते हैं हे अग्ने! हे अङ्गिर! मनुके रूपमें तू देवोकी कामना करनेवालेके लिये देवोका यजन कर। हे अग्ने! सुप्रसन्न होकर तू मनुष्यमे प्रदीप्त होता है और सुवाए निरतर तेरी ओर जाती हैं तुझे सब देवोने, (तुझ ही में) एकमात्र आनद लेते हुए, अपना दूत बनाया और तेरी सेवा-सपर्या करते हुए, हे क्रातदर्शिन् (कवे), (मनुष्य) यज्ञोमें देवताकी स्तुति करते हैं। देवोके यजनके द्वारा मर्त्य दिव्य अग्निकी स्तुति करे। प्रदीप्त होकर, जाज्वल्यमान हो, हे दीप्तिमान् (शुक्र)! सत्यके आसनपर आसीन हो, शातिके आसनपर विराजित हो।"[2]

—इसके रूपकोकी हम चाहे जो भी व्याख्या करना पसद करे पर यह एक गुह्य और प्रतीकात्मक काव्य है और यही है वास्तविक वेद।

इन विशिष्ट मत्रोसे वैदिक काव्यका जो स्वरूप हमारे सामने प्रकट होता है उससे हैरान या परेशान होनेकी कोई जरूरत नही जब कि हम यह देखते हैं,—और यह बात एशियाई साहित्यके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट हो जायगी, कि यद्यपि वैदिक काव्य ईश्वरीय-वाणी-विषयक अपने सिद्धात और निरूपण, रूपकोकी अपनी अनोखी प्रणाली तथा अपने विचार और प्रतीकोमें वर्णित अपने अनुभवकी जटिलताके कारण औरोसे भिन्न है, फिर भी वास्तवमे यह आध्यात्मिक अनुभवकी काव्यमय अभिव्यक्तिके लिये प्रतीकात्मक या आलकारिक कल्पना-सृष्टिके एक रूपका आरभ है जो वादके भारतीय ग्रथोमें, तत्रो और पुराणोके रूपको और वैष्णव कवियोके अलकारोमें,—यहा तक कि हम रवीन्द्रनाथ ठाकुरके आधुनिक काव्यके कुछ

---

[1]शब्दश, "हमारी ओर अभिमुख हो।"

[2]इन श्लोका अनुवाद मैने मूलके इतने निकट, शाब्दिक रूपमें किया है जितना कि अग्रेजी भाषामें करना सभव है। पाठक मूलसे मिलाकर स्वय निर्णय कर ले कि आया इन मत्रोका आशय यही है या नही।

उसको भी यहां जोड़ सकते हैं—पुनः पुनः प्रकट होता है और जिससे मिलती-जुलती चेष्टाएं कुछेक चीनी कवियोंमें तथा सूफियोंके रूपकोंमें भी पायी जाती हैं। कविको एक आध्यात्मिक और आंतरात्मिक ज्ञान एवं अनुभवकी अभिव्यंजना करनी होती है और यह कार्य वह पूर्णतया या मुख्य रूपसे दार्शनिक विचारककी अधिक गूढ़ भाषामें नहीं कर सकता क्योंकि उसे केवल इसके बारे विचारको ही नहीं बल्कि इसके साक्षात् जीवन और अत्यंत घनिष्ठ स्पर्शोंको भी यथासंभव स्पष्ट रूपमें व्यक्त करना होता है। उसे किसी-न-किसी प्रकार अपने भीतरके एक संपूर्ण जगत्‌को तथा अपने चारों ओरके जगत्‌के सर्वथा आंतरिक और आध्यात्मिक अर्थोंको और साथ ही यह भी खूब संभव है कि चेतनाके जिस स्तरसे हमारे सामान्य मन परिचित हैं उससे भिन्न स्तरोंके देवताओं शक्तियों अंतर्दर्शनों और अनुभवोंको प्रकाशित करना होता है। वह अपने सामान्य और बाह्य जीवन तथा मानवजातिके जीवन और दृश्यमान प्रकृतिसे लिये हुए रूपकोंको प्रयुक्त करता है या उन्हींको लेकर चलता है और यद्यपि वे वस्तुतः आध्यात्मिक और आंतरात्मिक विचार एवं अनुभवको अपने आप तो प्रकट नहीं करते तथापि वह उन्हें इसे व्यंजनाके द्वारा या आलंकारिक रूपमें प्रकट करनेके लिये बाध्य करता है। वह अपनी अंतर्दृष्टि या कल्पनाके अनुसार रूपकोंकी अपनी संकेत मालाका स्वतंत्रतापूर्वक चुनाव करता हुआ उन्हें अपनाता है और उन्हें एक अन्य अर्थके वाचक साधनोंके रूपमें परिणत कर देता है और साथ ही प्रकृति और जीवनमें जिनके साथ कि वे संबंध रखते हैं एक प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अर्थ डाल देता है, आंतरिक वस्तुओंपर बाह्य अलंकारोंका प्रयोग करता है और उनके प्रसुप्त एवं अंतरीय आध्यात्मिक या चैत्य अर्थको जीवनके बाह्य रूपको और घटनाओंके रूपमें व्यक्त कर देता है। अथवा एक बाह्य रूपक-को ही जो आंतरिक अनुभवके निकटतम एवं उसकी एक स्थूल प्रतिलिपि होता है सर्वत्र अपनाया जाता है और उसका प्रयोग ऐसे यथार्थवाद और संगतिके साथ किया जाता है कि जहां वह उसका ज्ञान रखनेवालोंके लिये आध्यात्मिक अनुभवको सूचित करता है, वहां दूसरों-के लिये वह केवल बाह्य वस्तुका ही द्योतक होता है—ठीक वैसे ही जैसे बंगालका वैष्णव काव्य भक्तिप्रवण मनके लिये मानव आत्माके ईश्वर-प्रेमका भौतिक और मानवभाव रूपक या संकेत प्रस्तुत करता है किंतु साधारण लोगोंके लिये वह एक ऐसे ऐंद्रिय और उत्तेजक प्रेम-काव्यके सिवा कुछ नहीं होता जो अनिवार्य रूपसे कृष्ण और राधाके परंपरागत मानव-दिव्य व्यभिचारी जोड़ीपर ही अवलंबित रहता है। दोनों पद्धतियां एक साथ मिल-कर कार्य कर सकती हैं अर्थात् बाह्य रूपकोंकी नियत प्रणालीको काव्यके शरीरके रूपमें प्रयुक्त किया जाय जब कि उनकी पहली सीमाओंको पार करने उन्हें केवल आरंभिक सूचनाओंके रूपमें बरतने और सूक्ष्मताके साथ रूपांतरित करने अथवा यहांतक कि उन्हें त्याग देने या किसी गौण स्तरके स्थानपर रख देने या फिर उन्हें अतिक्रम कर जानेकी स्वतंत्रता प्राय ही बरती जाय ताकि (सत्यकी आंतरिक लिपि) से हमारे मनोंके संमुख जो पारदर्शकता

पर्दा प्रस्तुत करते हैं वह उठ जाय या एक खुले सत्यदर्शनमें परिणत हो जाय। इनमेंसे अंतिम वेदकी पद्धति है और वह कविके अंदर होनेवाले दृष्टिके संवेग और दबावके तथा उसके उद्गारकी उदात्तताके अनुसार भिन्न-भिन्न होती है।

वेदके कवियोकी मनोवृत्ति हमारी मनोवृत्तिसे भिन्न थी, उनका अपने रूपकोका प्रयोग निराले प्रकारका है और एक प्राचीन ढगकी अंतर्दृष्टि इन (रूपको) की विषय-वस्तुको एक अद्भुत रूप-रेखा प्रदान करती है। भौतिक और आतरात्मिक लोक उनकी दृष्टिमे वैश्व देवताओकी एक अभिव्यक्ति और एक द्विविध एव विभिन्न पर फिर भी सबद्ध और सजातीय प्रतिमूर्ति थे, मनुष्यका आतरिक और बाह्य जीवन देवताओंके साथ एक दिव्य आदान-प्रदान था, और इनके पीछे था एकमेव आत्मा या 'एक सत्' जिसके कि नाम, व्यक्तित्व और शक्तिया ये देवता थे। ये देवता भौतिक प्रकृतिके स्वामी थे और साथ ही इसके मूलतत्त्व और रूप भी थे, इनके देवता थे और साथ ही इनके शरीर तथा इनकी ऐसी आतरिक दिव्य शक्तिया भी थे जिनसे मिलती-जुलती अवस्थाए और शक्तिया हमारी चैत्य सत्तामें उत्पन्न हुई हैं क्योकि ये विश्वकी अतरात्म-शक्तिया हैं, सत्य और अमरताके सरक्षक तथा 'अनत' (अदिति) के पुत्र है, और इनमेंसे प्रत्येक ही अपने उद्गम और अपने अतिम सत्य-स्वरूपमें वह परम आत्मा है जिसने अपने अनेक रूपोमेंसे एकको सामनेकी ओर कर रखा है। इन क्रातदर्शियोके लिये मनुष्यका जीवन सत्य और असत्यके मिश्रणसे बनी हुई एक वस्तु था, मर्त्यतासे अमरताकी ओर, इस मिश्रित प्रकाश और अधकारसे एक ऐसे दिव्य सत्यके महा-तेजकी ओर गति था जिसका घर ऊपर अनतमें है पर जिसका निर्माण यहा मनुष्यकी अत-रात्मा और जीवनमें भी किया जा सकता है, साथ ही मनुष्यका जीवन प्रकाशकी सतानो और अधकारके पुत्रोके बीच एक सग्राम था, एक खजानेको, देवताओके द्वारा मानव योद्धाको दिये गये ऐश्वर्य एव जीतके मालको प्राप्त करना था, और साथ ही वह एक यात्रा एव यज्ञ था। और इन चीजोका वर्णन वे ऐसे रूपकोकी एक नियत पद्धतिके द्वारा करते थे जो प्रकृतिसे तथा युद्धप्रिय, पशुपालक और कृषिजीवी आर्य जातियोंके पारिपार्श्विक जीवनसे लिये गये थे और अग्नि-उपासनाकी प्रणाली, सजीव प्रकृतिकी शक्तियोकी पूजा और यज्ञकी प्रथाके चारो ओर केंद्रित थे। बाह्य अस्तित्व और यज्ञकी छोटी-मोटी क्रियाए उनके जीवन तथा आचरणमें आतरिक वस्तुओंके प्रतीक थी, और उनके काव्यमें ये क्रियाए उन वस्तुओके निर्जीव प्रतीक या कृत्रिम उपमाए नही बल्कि जीवत और शक्तिशाली सकेत और प्रतिलिपिया थी। और अपने भावोंके प्रकाशनके लिये वे अन्य रूपकोंके एक सुनिश्चित पर फिर भी परिवर्तनीय आकारका और गाथा एव दृष्टातके उज्ज्वल ताने-बानेका भी प्रयोग करते थे, ऐसे रूपकोका जो दृष्टात बन जाते थे, ऐसे दृष्टातोका जो गाथाए बन जाते थे और ऐसी गाथाओका जो सदा रूपक ही रहती थी, और फिर भी ये सब चीजें उनके लिये, एक ऐसे प्रकारसे जिसे केवल वही समझ सकते हैं जो एक विशेष श्रेणीके आतरात्मिक अनुभवमें प्रवेश पा चुके है, यथार्थ सद्वस्तुए थी। भौतिक वस्तु अपनी छायाओं-

को आंतरात्मिक वस्तुकी प्रभाओंमें विलीन कर देती थी। आंतरात्मिक' गहरी होकर 'आध्यात्मिक' के प्रकाशमें परिणत हो जाती थी और इस संक्रमणमें कोई तीव्र विभाजक रेखा नहीं होती थी, होता था केवल उनके संकेतों और रंगोंका स्वाभाविक संमिश्रण और परस्पर प्रभाव। यह प्रत्यक्ष ही है कि इस प्रकारकी दृष्टि या कल्पनावाले व्यक्तियोंद्वारा लिखा हुआ इस प्रकारका काव्य केवल भौतिक सत्ताके नियमोंका ही ध्यान रखनेवाली तर्कबुद्धि और रसिक मापदंडोंके द्वारा समझा-समझाया नहीं जा सकता और न वह इनके द्वारा परखा ही जा सकता है। "क्रीड़ा कर, ओ रश्मि और हमारी ओर अभिमुख हो" यह आवाहन एक साथ ही भौतिक वेदीपर प्रज्वलित शक्तिशाली यज्ञिय ज्वालाके भभक उठने एवं प्रकाशपूर्ण क्रीड़ा करनेका तथा एक इसी प्रकारकी आंतरात्मिक क्रियाका अर्थात् हमारे अंदर एक दिव्य शक्ति और ज्योतिकी उद्धारकारी ज्वालाके प्रकट होनेका संकेत है। पश्चिमी आलोचक उस साहसपूर्ण तथा विवेकशून्य रूपकपर,—जो उसे भयानक भी प्रतीत होता है—नाक-भौं सिकोड़ता है जिसमें कहा गया है कि द्यावापृथिवीका पुत्र इंद्र अपने ही पिता और माताको जन्म देता है, पर यदि हम यह बात स्मरण रखें कि इंद्र परम आत्मा ही है जो अपने एक सनातन नित्य-शाश्वत रूपमें विद्यमान है, पृथ्वी और द्यौका स्रष्टा है, मनोमय और भौतिक लोकोंके बीच एक वैश्व देवताके रूपमें उत्पन्न हुआ है और उन लोकोंकी शक्तियोंको मनुष्यमें फिरसे उत्पन्न करता है तो हम देखेंगे कि यह रूपक केवल शक्तिशाली ही नहीं अपितु सचमुचमें एक यथार्थ और सत्यप्रकाशक अलंकार है और वैदिक परिभाषामें इस बातका कोई महत्त्व नहीं कि यह भौतिक कल्पनाकी मर्यादाको भंग करता है क्योंकि यह एक महत्तर तथ्यको प्रकट करता है जैसे कि अन्य कोई अलंकार ऐसी प्रबोधक उपयुक्तता और सजीव काव्य-शक्तिके साथ न कर सकता। वेदके वृषभ और गौ सूर्यके चमकीले 'गोयूथ' जो गुफामें छुपे पड़े हैं स्थूल मनके लिये काफी विचित्र प्राणी हैं, पर वे इस पृथ्वीकी चीजें नहीं हैं और अपने स्तरमें वे एक ही साथ रूपक और यथार्थ वस्तुएं दोनों हैं और जीवन तथा अर्थसे परिपूर्ण हैं। वैदिक काव्यकी व्याख्या और सराहना हमें आद्योपांत इसी ढंगसे इसकी अपनी मूलभावना और दृष्टि तथा इसके विचारों और अलंकारोंके सत्यके अनुसार ही करनी चाहिये जो हमारे लिये भले ही विचित्र और अतिप्राकृतिक हो पर आंतरात्मिक दृष्टिसे तो बिलकुल स्वाभाविक है।

वेदको जब इस प्रकार समझ लिया जाता है तो वह एक अद्भुत उदात्त और शक्तिशाली काव्य रचना ठहरता है, साथ ही उसका यह आश्चर्य ता है ही कि वह संसारका सबसे पहला फिर भी अबतक उपलब्ध धार्मिक ग्रंथ है और मनुष्य परमेश्वर तथा विश्वकी सबसे प्राचीन व्याख्या है। यह अपने रूप और भाषामें कोई बर्बर कृति नहीं है। वेदके कवि अस्पष्ट काव्य-कलाके विशारद हैं, उनके स्वर-ताल देवताओंके रथोंके समान अलंकृत हैं और मुहूर्त दिव्य तथा विशाल गुरु-गंभीर प्रवाह हैं, एक साथ ही केंद्रित तथा सुदूरव्यापी

है, गतिच्छदमें महान् और स्वरलहरीमें सूक्ष्म है, उनकी वाणी गहराईके कारण भावोत्तेजक और ऊचाईके कारण वीररसमयी होती हुई एक महान् शक्तिका उद्गार है, अपनी रूपरेखामें विशुद्ध, साहसपूर्ण और विराट् है, एक ऐसी वाणी है जो हृदयपर सीधे और सघट्ट रूपमें प्रभाव डालती है तथा जो अर्थ और सकेतसे इस तरह लबालब भरी हुई है कि प्रत्येक मत्र अपने-आपमें एक सशक्त और पर्याप्त वस्तुके रूपमें अपना अस्तित्व रखता है और साथ ही जो कुछ पहले आ चुका है और जो बादमें आता है उन दोनोके बीचके एक बडे पगके रूपमें भी अपना स्थान रखता है। निष्ठापूर्वक अनुसरण की हुई एक पवित्र और पुरोहितीय परपरा ही उन्हे अपने विषयका बाह्य रूप और सारतत्त्व दोनो प्रदान करती थी, परतु यह सारतत्त्व उन गहरेसे गहरे आतरात्मिक एव आध्यात्मिक अनुभवोसे गठित होता था जिनतक मानव आत्माकी पहुच हो सकती है और वे रूप ह्रासको प्राप्त होकर कदाचित् ही कभी रूढिमें परिणत होते है या कभी भी नही होते, क्योकि जिस वस्तुको द्योतित करनेके लिये वे अभिप्रेत है उसे प्रत्येक कवि अपने जीवनमें उतारता था और अपने वैयक्तिक अतर्दर्शनकी सूक्ष्म या उदात्त अवस्थाओके द्वारा वह उन्हे अपने मनके लिये अभिव्यक्तिका नया रूप प्रदान करता था। विश्वामित्र, वामदेव, दीर्घतमस् तथा अन्य बहुतसे अतिमहान् ऋषियोके वचन एक उदात्त और रहस्यमय काव्यकी अत्यत असाधारण उच्चताओ एव विशालताओको स्पर्श करते है और कुछ एक सृष्टि-सूक्त-जैसी कविताए भी है जो ओजस्वी और प्रसादपूर्ण रूपमें विचारके उन शिखरोपर विचरण करती हैं जिनपर उपनिषदें अधिक स्थिरतापूर्वक श्वास लेती हुई निरतर विचरण करती थी। प्राचीन भारतके मनने कोई भूल नही की जब कि उसने अपने समस्त दर्शन और धर्मका तथा अपनी सस्कृतिकी सभी प्रधान बातोका मूल इन ऋषि-कवियोकी वाणीमें जा ढूढा, क्योकि भारतवासियोकी समस्त भावी आध्यात्मिकता बीज या प्रथम आविर्भावके रूपमें वही (उनकी वाणीमें ही) निहित है।

पवित्र साहित्यके रूपमें वैदिक सूक्तोको ठीक तरहसे समझनेका एक बडा महत्त्व यह है कि यह हमें भारतीय मनपर शासन करनेवाले प्रधान विचारोका ही नही अपितु उसके आध्यात्मिक अनुभवके विशिष्ट प्रकारो, उसकी कल्पनाके झुकाव, उसके सर्जनशील स्वभाव तथा उसके उन विशेष प्रकारके अर्थपूर्ण रूपोका भी मूल स्वरूप देखनेमें सहायता पहुचाता है जिनमें वह आत्मा और पदार्थों तथा जगत् और जीवनके सबधमें अपनी दृष्टिकी दृढतापूर्वक व्याख्या करता था। भारतीय साहित्यके एक बडे भागमें हमें अत प्रेरणा और आत्म-अभिव्यजनाका वही झुकाव देखनेमें आता है जिसे हम अपने स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकलामें पाते है। इसकी पहली विशेषता यह है कि इसे सतत रूपसे अनत एव वैश्व सत्ताका बोध होता है, और वस्तुओका भी उस रूपमें भान होता है जैसी कि वे वैश्व दृष्टिमें या उसके द्वारा प्रभावित होनेपर दीखती है, अथवा जैसी वे एकमेव और अनतकी विशालताके भीतर या सम्मुख रखनेपर दिखायी देती हैं, इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह अपने आध्या-

सिक अनुभवको आभ्यंतर चैत्य स्तरसे किये गये रूपकोंके परमैश्वर्यके रूपमें अथवा उन भौतिक रूपकोंके रूपमें देखने और व्यक्त करनेमें प्रवृत्त होता है जो चैत्य अर्थ प्रभाव रेखा और विचार-कल्पनाके दबावके द्वारा रूपांतरित हो चुके होते हैं और इसकी तीसरी प्रवृत्ति पार्थिव जीवनका प्राय: परिवर्धित रूपमें चित्रित करनेकी है जैसा कि हम महाभारत और रामायणमें देखते हैं अथवा उसे एक विशालतर वातावरणकी शुभ्रताओंमें सूक्ष्म रूप प्रदान कर तथा पार्थिव अर्थकी अपेक्षा किसी महत्तर अर्थसे संयुक्त करके चित्रित करने या कम-से-कम उसे केवल उसके अपने पृथक रूपमें ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक और अंतरात्मिक लोकोंकी पृष्ठभूमिमें प्रस्तुत करनेकी है। आध्यात्मिक एवं अनंत सत्ता निकटस्थ और वास्तविक है तथा देवता भी वास्तविक हैं और (हमसे) परेके लोक हमारी सत्तासे परे होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उसके भीतर अवस्थित हैं। जो चीज पश्चिमी मनके लिये एक गाथा और कल्पना है वह यहां एक वास्तविक तथ्य है और है हमारी आंतरिक सत्ताके जीवनका एक तत्त्व, जो चीज वहां एक सुन्दर काव्यमय परिकल्पना और दार्शनिक विचारणा है वह यहां एक ऐसी वस्तु है जो अनुभवके लिये सर्वदा उपलभ्य और विद्यमान है। भारतीय मनकी यह प्रवृत्ति उसकी आध्यात्मिक सहृदयता एवं अंतरात्मिक प्रत्यक्षवादिता ही वेद और उपनिषदोंको तथा पीछेके धार्मिक एवं धर्म्य-दार्शनिक काव्यको अंतःप्रेरणाकी दृष्टिसे इतना शक्तिशाली और अभिव्यंजना तथा रूपककी दृष्टिसे इतना अंतरंग और सजीव रूप प्रदान करती है साथ ही अधिक लौकिक साहित्यमें भी काव्यमय भावना और कल्पनाकी क्रियापर इसका प्रभाव कुछ कम अभिभूतकारी होनेपर भी अत्यंत प्रत्यक्ष रूपमें दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

ग्यारहवां अध्याय

भारतीय साहित्य

उपनिषदें भारतीय मनकी परमोच्च कृति हैं, और यह चीज बहुत महत्त्वपूर्ण है, यह एक अनुपम मनोवृत्तिका तथा आत्माकी असाधारण प्रवृत्तिका प्रमाण है कि भारतकी प्रतिमा-की सर्वोच्च आत्म-अभिव्यक्ति, उसका उदात्ततम काव्य, उसकी विचार और शब्दकी महत्तम रचना साधारण ढगकी साहित्यिक या काव्यात्मक श्रेष्ठ कृति न होकर इस प्रकारके साक्षात् और गभीर आध्यात्मिक सत्यदर्शनका विशाल प्रवाह है। उपनिषदें गभीर धार्मिक ग्रथ हैं,—क्योंकि वे गहनतम आध्यात्मिक अनुभवोंका अभिलेख हैं,—अक्षय ज्योति, शक्ति और विशाल-तासे सपन्न, सत्य-प्रकाशक और अतर्ज्ञानात्मक दर्शनके लिपिबद्ध विवरण हैं और साथ ही, चाहे वे पद्यमें लिखी हुई हों या लयबद्ध गद्यमें, पूर्ण एव अचूक अत प्रेरणासे युक्त आध्या-त्मिक कविताएं हैं, जिनकी पदावलि नितात स्वाभाविक और लय तथा अभिव्यजना अद्भुत हैं। वे एक ऐसे मनकी अभिव्यक्ति हैं जिसमें दर्शन, धर्म और काव्य एक हो गये हैं, क्योंकि यह धर्म एक मतवादमें ही समाप्त नहीं हो जाता और न यह किसी धार्मिक-नैतिक अभीप्सातक ही सीमित है, यह तो परमेश्वर एव आत्म-तत्त्वकी और हमारी आत्मा एव सत्ताके उच्चतम और समग्र सत्स्वरूपकी असीम खोजतक ऊंचे जाता है और एक प्रकाशपूर्ण ज्ञान तथा भाव-विभोर एव परिपूर्ण अनुभवके हर्षावेशमें अपनी वाणी उच्चारित करता है, (इसी प्रकार) यह दर्शन सत्यके विषयमें कोई अमूर्त बौद्धिक कल्पना नहीं है और न यह तार्किक बुद्धिकी कोई रचना ही है, यह तो एक सत्य है जिसे अतरतम मन और आत्माने जीवनमें उतारा है तथा एक सुनिश्चित खोज और उपलब्धिको व्यक्त करनेके हर्षमें अपने अदर धारण किया है, और यह काव्य एक ऐसे सौंदर्यात्मक मनकी कृति है जो दुर्लभतम आध्यात्मिक आत्म-दर्शनके आश्चर्य और सौंदर्यको तथा आत्मा, परमात्मा और जगत्के गहनतम प्रोज्ज्वल सत्य-को प्रकट करनेके लिये अपने साधारण क्षेत्रसे ऊपर उठकर उसके परे पहुंच गया है। यहां वैदिक ऋषियोंका अतर्ज्ञानात्मक मन और अतरग आध्यात्मिक अनुभव उस परमोच्च परिणति-

को प्राप्त होता है जिसमें आत्मा कठ उपनिषद्के शब्दोंमें अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर देता है'[1] अपनी आत्म-अभिव्यक्तिकी ठेठ वाणीको प्रकाशित करता है और मनके समक्ष उन समताओंके स्पंदनको खोल देता है जो आध्यात्मिक 'श्रुति' में अपने-आपको भीतर ही भीतर दुहराते हुए अंतरात्माका गठन करते तथा उसे आत्मज्ञानके शिखरोंपर पुष्ट और सर्वांगपूर्ण रूपमें प्रतिष्ठित करते प्रतीत होते हैं।

उपनिषदोंके इस स्वरूपपर अत्यधिक आग्रहपूर्वक बल देनेकी जरूरत है क्योंकि विदेशी अनुवादक इसकी उपेक्षा करते हैं वे चिंतनात्मक अंतर्दृष्टिके उस स्पंदन तथा आध्यात्मिक अनुभूतिके उस परमानंदको अनुभव किये बिना ही इनके बौद्धिक अर्थको प्रकट करनेका यत्न करते हैं जिन्होंने तब इन प्राचीन मंत्रोंको जन्म दिया था और जो आज भी उन लोगोंके लिये जो उस तत्त्वमें प्रवेश कर सकते हैं जिसमें ये मंत्र-वचन विचरण करते हैं इन्हें केवल बुद्धिके लिये नहीं बल्कि अंतरात्मा और संपूर्ण सत्ताके लिये भी एक सत्यदर्शनका रूप दे देते हैं और, प्राचीन भाव-प्रकाशक शब्दके अनुसार, इन्हें बौद्धिक विचार और वचन ही नहीं बल्कि 'श्रुति' अर्थात् आध्यात्मिक श्रवण एक ईश्वरप्रदत्त धर्मशास्त्र बना देते हैं। उपनिषदों-के दार्शनिक सारतत्त्वके मूल्यांकनपर आज और अधिक बल देनेकी कोई जरूरत नहीं क्योंकि श्रेष्ठतम विचारकोंके द्वारा इसे दी गयी प्रचुरतम मान्यताका यदि अभाव भी होता तो भी दर्शनका संपूर्ण इतिहास अपनी साक्षी देनेके लिये उपस्थित होता। उपनिषदें अनेकानेक महान् दर्शनों और धर्मोंका सर्वसम्मत मूल स्रोत रही हैं। जिस प्रकार भारतकी बड़ी-बड़ी नदियां हिमालयकी गोदसे प्रवाहित हुईं उसी प्रकार उसके दर्शन और धर्म भी इस उपनिषद्-रूपी स्रोतसे प्रवाहित हुए और यहांके निवासियोंके मन और जीवनको उर्वर बनाते रहे तथा सदियोंकी सुदीर्घ परंपरातक इसकी अंतरात्माको सजीव बनाये रहे। प्रकाश पानेके लिये ये बराबर ही अक्षय-जीवनदायी धाराओंके इस स्रोतकी ओर मुड़ते रहे तथा नवीन प्रकाश देनेसे कभी भी नहीं चूके। बौद्धधर्म अपनी समस्त प्रगतियोंके साथ केवल उपनिषदोंके अनुभवके एक पक्षका ही पुनः प्रतिपादन मात्र था चाहे था एक नये दृष्टिबिंदुसे तथा बौद्धिक परिभाषा और तर्कनाके नये शब्दोंमें और इसी वह इस प्रकार रूपमें बदलकर पर कदाचित् सार तत्त्वको परिवर्तित किये बिना संपूर्ण एशियामें और पश्चिममें यूरोपकी ओर ले गया। पाइथागोरस और प्लेटोकी विचारधाराके अधिकतर भागमें उपनिषदोंके विचार ढूंढे जा सकते हैं और वे ही नव-प्लेटोवाद तथा ज्ञेयवाद तथा पश्चिमके दार्शनिक चिंतनपर इनका जो बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है उसका भी गहनतम भाग है और सूफी-मत भी उन्हींको एक अन्य धार्मिक भाषामें दुहराता है। जर्मन दर्शनशास्त्रका अधिकतर भाग अपने सारतत्त्वमें उन महान् सत्योंके बौद्धिक विकासके अधिक कुछ नहीं है जिन्हें इस प्राचीन शिक्षामें कहीं अधिक

---

[1] आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।—कठोपनिषद्

आध्यात्मिक रूपसे देखा गया था, और आधुनिक विचारधारा उन्हे एक ऐसी अधिक गभीर, सजीव और तीव्र ग्रहणशीलताके साथ वेगपूर्वक आत्मसात् कर रही है जो दार्शनिक तथा धार्मिक दोनो प्रकारके चिंतनमे एक क्रातिकी आशा बधाती है, कही तो वे अनेक परोक्ष प्रभावोंके द्वारा छनछनकर पहुच रहे हैं और कही प्रत्यक्ष और खुली प्रणालिकाओके द्वारा शनै-शनै सचरित हो रहे हैं। ऐसा कोई प्रधान दार्शनिक विचार शायद ही हो जिसका प्रमाण या बीज या सकेत इन प्राचीन ग्रथोमें न मिल सके—इन ग्रथोमें जो कि एक विशेष मतके अनुसार उन विचारकोकी कल्पनाए है जिनका अतीत एक स्थूल, बर्बर, प्रकृतिपूजावादी और जडचेतनवादी अज्ञानकी अपेक्षा अधिक अच्छा नही था और न जिनके विचारकी पृष्ठभूमि ही इससे अधिक अच्छी थी। यहातक देखनेमे आता है कि विज्ञानके अधिक व्यापक सिद्धात भौतिक प्रकृतिके सत्यपर बराबर ही उन सूत्रोका प्रयोग करते है जिन्हे भारतीय ऋषियोंने आत्माके गभीरतर सत्यके अदर इनके मूल एव विशालतम अर्थके रूपमें पहले ही आविष्कृत कर लिया था।

फिर भी ये कृतिया बौद्धिक ढगकी दार्शनिक कल्पनाए नही हैं, न ये कोई ऐसा तत्त्व-ज्ञान-सबधी विश्लेषण है जो धारणाओकी परिभाषा करने, विचारोका चुनाव करने और उनमेंसे जो यथार्थ हें उन्हे विवेकद्वारा अलग करने, सत्यको तर्कसगत रूप देने या फिर न्याय-शास्त्रीय तर्कणाके द्वारा मनकी बौद्धिक अभिरुचियोका समर्थन करनेका यत्न करता है और जो तर्कबुद्धिके इस या उस विचारके प्रकाशमें विश्व-सत्ताका एकागी समाधान प्रस्तुत करने तथा सभी वस्तुओको उसी दृष्टिबिंदुसे, उसी प्रकाश-केंद्र और निर्बारिक परिप्रेक्षितसे देखनेमें ही सतोष मानता है। यदि उपनिषदे इस ढगकी रचना होती तो उनकी जीवनी-शक्ति ऐसी अक्षय न हो सकती, वे ऐसा अमोघ प्रभाव न डाल सकती, ऐसे परिणाम उत्पन्न न कर सकती, और न आज अपनी स्थापनाओको अनुसधानके अन्य क्षेत्रोमें तथा (आध्यात्मिक विधियोंसे) सर्वथा विपरीत पद्धतियोके द्वारा स्वतत्र रूपसे समर्थित होते देख पाती। क्योकि इन ऋषियोने सत्यको केवल विचारका विषय ही नही बनाया, वरन् सत्यको देखा था, अवश्य ही, उन्होने उसे बोधिमूलक विचार एव रहस्योत्पादक रूपकका एक सबल जामा पहनाया था और वह जामा भी उस आदर्श पारदर्शकतासे युक्त था जिसके द्वारा हम असीममें झाकते हैं, क्योकि उन्होने स्वयभू-सत्ताके प्रकाशमें पदार्थोकी छानबीन की और उन्हे 'अनत'की आखसे देखा, इसीलिये उनके शब्द सदाके लिये सजीव और अमर बने हुए हैं, एक अक्षय महत्त्व और अटल प्रामाण्य तथा एक ऐसी सतोषप्रद चरम निष्पत्तिसे सपन्न हैं जो साथ ही सत्यका एक असीम आदिमूल भी है जिसतक कि हमारी सभी अन्वेषण-पद्धतिया अपने लक्ष्यके अततक जाती हुई फिरसे पहुचती है और जिसकी ओर मानवजाति अपने महत्तम अतर्दृष्टिसे सपन्न मनीषियो(की विचारधारामें) और युगोमें बारबार लौटती है। उपनिषदें वेदात कहलाती है अर्थात् वे वेदोकी भी अपेक्षा अधिक ऊची मात्रामें 'नोलेज'

(knowledge) के अंग हैं पर 'नॉलेज' (knowledge) शब्द यहां 'ज्ञान' शब्दके गभीरतर भारतीय अर्थमें ही अभिप्रेत है। 'ज्ञान' का मतलब बुद्धिके द्वारा निरा सोचना-विचारना तथा बौद्धिक मनके द्वारा सत्यके किसी मानसिक रूपका अनुशीलन करके उसे अपनी पकड़में लाना नहीं है, बल्कि अंतरात्माके द्वारा उसे देखना तथा अंतःसत्ताकी शक्तिके द्वारा उसमें पूर्ण रूपसे निवास करना और प्रेमके साथ एक प्रकारके तादात्म्यके द्वारा उसे आध्यात्मिक रूपसे अपने अधिकारमें लाना है। और क्योंकि आत्माके समग्र ज्ञानके द्वारा ही इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानको पूर्ण बनाया जा सकता है, इसलिये वैदांतिक ऋषियोंने आत्माको ही जानने उसमें निवास करने तथा तादात्म्यके द्वारा उसके साथ एक हो जानेका यत्न किया। और इस प्रयत्नके द्वारा उन्हें सहज ही ज्ञात हो गया कि हमारे अंदर अवस्थित आत्मा और सब वस्तुओंमें विश्वव्यापी आत्मा एक ही है और फिर यह आत्मा भी परमेश्वर एवं ब्रह्म परात्पर पुरुष या सत्तासे अभिन्न है और इस एकत्वमय तथा एक करनेवाले अंतर्दर्शनके प्रकाशके द्वारा उन्होंने जगत्की सब वस्तुओंके अंतरतम सत्यको तथा मनुष्यकी आंतर और बाह्य सत्ताके अंतरतम सत्यको देखा अनुभव किया और उसमें निवास किया। उपनिषदें आत्मज्ञान विश्वज्ञान और ईश्वरज्ञानके काव्यमय स्तोत्र हैं। दार्शनिक सत्यकी जिन महान् सूत्राभिव्यक्तियोंसे उपनिषदें भरी पड़ी हैं वे कोई अमूर्त बौद्धिक सिद्धांत नहीं हैं ऐसी चीजें नहीं हैं जो चमक सकती और मनको आलोकित कर सकती हैं पर अंतरात्माको जीवनमें मूर्तिमंत नहीं करतीं और न उसे आरोहणकी ओर प्रेरित ही करती हैं बल्कि वे बोधिमूलक तथा सत्यानुभावक ज्योतियाँ उष्मता और प्रकाश हैं एकमेव सत् परात्पर भगवान् और दिव्य विश्वात्माकी प्राप्तियाँ और साक्षात् अनुभूतियाँ हैं और हैं इस महान् विश्व-अभिव्यक्तिमें पदार्थों और प्राणियोंके साथ उसके संबंधकी खोजें। अंतःप्रेरित ज्ञानके गीत होनेके कारण वे सभी स्तोत्रोंकी तरह धार्मिक अभीप्सा और हर्षोल्लासके स्वरको उच्छ्वसित करती हैं, पर संकीर्णतया तीव्र ढंगके स्वरको नहीं जो एक हीनतर धार्मिक भावका अपना विशेष गुण होता है बल्कि ऐसे स्वरको जो भक्तिकी किसी विशिष्ट प्रणाली एवं उसके विशेष रूपोंके परे मन प्राणके उस विश्वव्यापी आनंदकी ओर उठा हुआ होता है जो हमें स्वयंभू और विश्वव्यापी आत्माके पास पहुंचने और उसके साथ एक हो जानेसे प्राप्त होता है। और यद्यपि उन्हें मुख्यतया एक अंतर्दृष्टिसे मतलब है न कि सीधे तौरपर किसी बाह्य मानव कर्मसे तथापि बौद्धधर्म और परवर्ती हिन्दूधर्मके समस्त उच्चतम आचार-नियम उन्हीं सत्योंकी प्राणवत्ता और सार-मर्मकी अभिव्यक्तियाँ हैं जिन्हें ये सुस्पष्ट रूप और शक्ति प्रदान करती हैं—और वहां किसी भी नैतिक उपदेश एवं पुण्यमयी सामाजिक नियमसे कहीं बढ़कर कोई चीज है वहां है आध्यात्मिक समता एवं परम आदर्श जो परमेश्वर तथा सब जीवोंके साथ आत्मसाम्य एकतापर प्रतिष्ठित है। इसी कारण जब वैदिक धर्मके विधि-विधानोंका जीवन समाप्त हो गया तब भी उपनिषदें सजीव और सर्वमान्य बनी रहीं और महान् भक्तिप्रधान धर्मोंको जन्म देने

तथा धर्म-विषयक सुदृढ़ भारतीय विचारको पेरणा देनेमें समर्थ हुईं।

उपनिषदें सत्यप्रकाशक और अतर्ज्ञानात्मक मन तथा उसके प्रदीप्त अनुभवकी कृतियां हैं, और उनका समस्त सारतत्त्व, उनकी रचना, पदावलि, रूपकमाला और गतिधारा उनके इस मूल स्वरूपसे निर्धारित और प्रभावित हैं। ये परमोच्च और सर्व-सग्राहक सत्य, एकत्व, आत्मा और विश्वव्यापी भगवत्सत्ताके ये अतर्दर्शन ऐसे सक्षिप्त और ठोस शब्दोंमें ढाले गये हैं जो इन्हें तुरत ही अतरात्माकी आखके सामने ला खडा करते हैं और उसकी अभीप्सा तथा अनुभूतिके प्रति इन्हे वास्तविक तथा अपरिहार्य बना देते हैं या फिर ये काव्यमय वाक्योंमें व्यक्त किये गये हैं और वे वाक्य ऐसी सत्योद्भासक शक्ति एव सकेतपूर्ण विचार-छटासे पूर्ण हैं जो एक सात रूपकके द्वारा सपूर्ण अनतको प्रकट कर देती हैं। 'एकमेव' वहा साक्षात् रूपमें प्रकाशित हो उठा है, पर साथ ही उसके अनेक पक्ष भी उद्घाटित हो गये हैं, और उनमेंसे प्रत्येकको भाव-प्रकाशनकी प्रचुरताके द्वारा अपना सपूर्ण अर्थ एव महत्त्व प्राप्त हो गया है और प्रत्येक शब्द तथा समस्त वचनकी प्रकाशप्रद यथार्थताके द्वारा वह मानो एक सहजस्फूर्त आत्म-उपलब्धिमें अपना स्थान और सबध पा लेता है। तत्त्वज्ञानके विशालतम सत्यो और मनोवैज्ञानिक अनुभवकी सूक्ष्मतम सूक्ष्मताओको अत प्रेरित गतिधारामें समाविष्ट करके सत्यदर्शी मनके लिये यथार्थ और साथ ही उपलब्ध करनेवाली आत्माके लिये अतहीन सकेतसे परिपूर्ण बना दिया गया है। यहा ऐसे कई एक पृथक्-पृथक् वचन, स्वतत्र श्लोकार्ध और सक्षिप्त प्रकरण हैं जिनमेंसे प्रत्येकके अदर अपने-आपमें एक वृहत् दर्शनका सार निहित है और फिर भी प्रत्येकको अनत आत्मज्ञानके एक पहलू, पक्ष किंवा अशके रूपमें ही प्रकट किया गया है। यहा सभी कुछ एक घनीभूत एव अर्थगर्भित और फिर भी पूर्ण रूपसे विशद और उज्ज्वल सार-सक्षेप तथा अपरिमेय परिपूर्णता है। इस प्रकारका विचार न्याय-शास्त्रीय वुद्धिके मद, सतर्क और सुविस्तृत विवेचनक्रमका अनुसरण नही कर सकता। किसी एक प्रकरण, वाक्य, श्लोकार्ध, पक्ति, यहातक कि आधी पक्तिके वाद जब कोई दूसरा प्रकरण, वाक्य आदि आता है तो उन दोनोके बीच कुछ अतराल होता है जो एक अप्रकटित विचार तथा गूजती हुई नीरवतासे भरा रहता है, यह विचार उस समग्र सकेतमें धारित रहता है और स्वय उस प्रतिपादन-क्रममें भी यह अतर्निहित रहता है परतु अपने लाभके लिये इसे पूर्ण रूपसे कार्यान्वित करनेका कार्य मनके ऊपर छोड दिया जाता है, और अर्थगर्भित नीरवता-के ये अतराल विशाल होते हैं, इस विचारके कदम एक असुरके डगोंके समान होते हैं जो असीम सागरके आरपार जानेके लिये एक चट्टानसे दूरकी चट्टानपर लवे-लवे कदम भरता है। प्रत्येक उपनिषद्की रचनामें एक प्रकारकी पूर्ण समग्रता है, सामजस्यपूर्ण भागोका एक व्यापक सवध है, परतु यह सव एक ऐसे मनके तरीकेसे कार्यान्वित किया गया है जो एक ही साथ सत्यके समूहके समूह देखता है और केवल परिपूरित नीरवतामेंसे अपेक्षित (भाव-द्योतक) शब्द-को ही निकाल लानेके लिये प्रतीक्षा करता है। पद्य या पद्यात्मक गद्यका स्वर-ताल विचार

और पदावलिके शिल्पके साथ मेल खाता है। उपनिषदोंके छंदोंके रूप चार अर्ध-पंक्तियोंसे गठित हैं जिनमेंसे प्रत्येक स्पष्ट रूपमें सुघड़ है; पंक्तियां प्राय: अपने-आपमें पूर्ण तथा अर्थमें समग्रतासे युक्त हैं, अर्ध-पंक्तियां दो विचारों या एक ही विचारके विभिन्न भागोंको प्रस्तुत करती हैं जो एक दूसरेके साथ गुंथे हुए हैं तथा एक दूसरेको पूर्ण बनाते हैं और ध्वनि-लहरी भी इसी प्रकारके सिद्धांतका अनुसरण करती है; प्रत्येक पद संक्षिप्त है तथा उसमें विराम-स्थल का संकेत स्पष्ट रूपसे मिल जाता है, यह गुंजनवाले सुरोंसे भरा हुआ है जो भीतर श्रुतिमें देरतक झंकृत होते रहते हैं; प्रत्येक पद मानों अनंतकी एक तरंग हो जो महासागरके संपूर्ण गर्जन और वृत्तांतको अपने अंदर वहन करती है। यह एक प्रकारका काव्य है—अंतर्दृष्टिसे प्राप्त धर्म एवं आत्माका समगान है—जो इससे पहले या इसके बाद फिर कभी नहीं लिखा गया है।

उपनिषदोंके रूपक अधिकांशमें वेदके रूपकोंकी शैलीसे ही विकसित हुए हैं और यद्यपि साधारणत वे सीधे प्रकाश देनेवाले रूपककी खुली हुई स्पष्टताको अधिक पसंद करते हैं तथापि बहुधा ही वे उन्हीं प्रतीकोंको एक ऐसे ढंगसे प्रयुक्त करते हैं जो प्राचीनतर प्रतीकवादकी प्रणालीके मूलभाव तथा कम पारिभाषिक भावसे घनिष्ठ साम्य रखता है। बहुत हदतक इसी तत्त्वके कारण जिसे अब हमारी विचार-पद्धति नहीं पकड़ पाती कुछेक पश्चिमी विद्वानोंकी बुद्धि चकरा गयी है और वे चिल्ला उठे हैं कि ये धर्मग्रंथ उदात्ततम दार्शनिक परिकल्पनाओं तथा मनुष्यजातिके शिशु-मनकी आदिम भद्दी तुतलाहटोंका मिश्रण हैं। उपनिषदें वैदिक मन और उसके स्वभाव तथा मूलभूत विचारोंसे क्रांतिकारी रूपमें पृथक नहीं हो गयी हैं बल्कि ये उनका विस्तार और विकास हैं तथा कुछ हदतक तो एक परिवर्तनकारी रूपांतर भी हैं—इस अर्थमें कि प्रतीकात्मक वैदिक भाषामें जो कुछ एक रहस्य एवं 'गुह्य'के रूपमें छिपाकर रखा गया था उसे ये स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट करती हैं। ये वेद और ब्राह्मणोंके रूपकों तथा कर्मकांडीय प्रतीकोंको लेकर चलती हैं और उन्हें इस ढंगसे मोड़ देती हैं कि वे एक आंतरिक एवं गुह्य आशयको प्रकट कर सकें जो (आशय) फिर इनके अपने अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं अधिक शुद्ध-आध्यात्मिक दर्शनके लिये एक प्रकारके आंतरात्मिक आरंभ-बिंदुका काम करे। कई स्थल विशेषकर गद्यात्मक उपनिषदोंमें ऐसे हैं जो पूर्णतया इसी प्रकारके हैं और वे एक गूढ़ शैलीमें जो आधुनिक बुद्धिके लिये अस्पष्ट और यहांतक कि दुर्बोध है वैदिक धार्मिक मनमें विद्यमान तत्कालीन विचारोंके आंतरात्मिक भाव वेदत्रयीके पारस्परिक भेद तीन लोकों तथा इसी प्रकारके अन्य विषयोंका विवेचन करते हैं परन्तु चूंकि उपनिषदोंकी विचार-शृंखलाओंमें ये स्थल गंभीरतम आध्यात्मिक सत्योंकी ओर ले जाते हैं अतएव हम इन्हें एक ऐसी बुद्धिकी मूर्खतापूर्ण भूलें कहकर इनका खंडन नहीं कर सकते जिसे कुछ भी समझ नहीं है या जिनका उस उच्चतर विचारसे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं जिसमें ये प्रकरण परिसमाप्त होते हैं। इसके विपरीत जब एक बार हम इनके

प्रतीकात्मक अर्थके भीतर प्रवेश कर पाते हैं तो हम देखते हैं कि ये काफी गहरे अर्थसे परिपूर्ण हैं। वह अर्थ एक चैत्य-आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर मनोवैज्ञानिक सत्ताके आरोहण करनेपर प्रकट होता है, और उस ज्ञानके लिये हम आज अधिक बौद्धिक तथा कम मूर्त्त और कम रूपकात्मक शब्दोंका प्रयोग करेंगे, पर जो लोग योगका अभ्यास करते तथा हमारी मनोभौतिक और चैत्य-आध्यात्मिक सत्ताके रहस्योंकी फिरसे खोज करते हैं उनके लिये वह ज्ञान आज भी अकाट्य सत्य है। चैत्य सत्योंको इस प्रकार मनोखे ढगसे प्रकट करनेवाले कुछ एक विशिष्ट स्थल ये हैं—अजातशत्रुकी की हुई निद्रा और स्वप्नकी व्याख्या, या प्रश्न उपनिषद्के वे प्रकरण जिनमे प्राण-तत्त्व और उसकी क्रियाओंका वर्णन किया गया है, अथवा वे प्रकरण जिनमें देवासुर-सग्रामके वैदिक विचारका निरूपण करके उसे आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया गया है और ऋग्वेद तथा सामवेदकी अपेक्षा अधिक खुले रूपमे वैदिक देवताओंका स्वरूप उनके आभ्यतरिक व्यापार एव उनकी आध्यात्मिक शक्तिकी दृष्टिसे निरूपित किया गया है और उनके इसी रूपमें उनका आवाहन भी किया गया है।

वैदिक विचार और रूपकके इस प्रकारके विकासके उदाहरणके रूपमे मैं तैत्तिरीय उपनिषद्का एक सदर्भ उद्धृत कर सकता हू जिसमे इद्र स्पष्ट ही दिव्य मनकी शक्ति एव उसके देवता प्रतीत होते हैं

"जो वेदोंका विश्वरूप वृषभ है, जो अमर सत्तासे पवित्र छदोंके रूपमे उत्पन्न हुआ था,—ऐसा वह इद्र मुझे मेधाके द्वारा तृप्त करे। हे देव! मैं अमर सत्ताका आधार बन जाऊ। मेरा शरीर अतर्दृष्टिसे परिपूर्ण हो उठे और मेरी वाणी मधुरतासे, मैं अपने श्रोत्रोंसे भूरि और बृहत् श्रवण कर सकू। क्योकि, तू ब्रह्माका कोष है जो मेधाके द्वारा गोपित और आच्छादित है।"[1]

—इसी प्रकारका एक स्थल ईशसे भी उद्धृत किया जा सकता है जिसमें सूर्य (देवता) का ज्ञानके देवताके रूपमें आवाहन किया गया है। इनका परम ज्योतिर्मय रूप है भागवत आत्माका एकत्व और यहा मनके स्तरपर छितरी हुई उनकी किरणें विचारात्मक मनका भास्वर विकिरण है और वे उनके अपने असीम अतिमानसिक सत्यको, इस सूर्यके बाह्य और आतर स्वरूपको एव आत्मा और सनातनके सत्यको आच्छादित कर देती हैं

"सत्यका मुख सुनहले ढक्कनसे आच्छादित है हे पोषणकर्ता सूर्य, सत्य-धर्मकी उपलब्धिके लिये तथा अतर्दृष्टिके लिये उस आवरणको दूर कर दे। हे पूषन्, हे एकमात्र ऋषे,

---

[1] तैत्तिरीय ४ १।

और पदावलिके विन्यासके साथ मेल खाता है। उपनिषदोक्त छंदोंके रूप चार अर्थ-पंक्तियोंसे गठित हैं जिनमेंसे प्रत्येक स्पष्ट रूपमें गुंथा है पंक्तियां प्रायः आपस-आपमें पूर्ण तथा अर्थमें सममुक्तास युक्त हैं अर्ध-पंक्तियां दो विचारों या एक ही विचारके विभिन्न भागोंको प्रस्तुत करती हैं जो एक दूसरेके साथ गुंथे हुए हैं तथा एक दूसरेको पूर्ण बनाते हैं और ध्वनि-लहरी भी इसी प्रकारके सिद्धांतका अनुसरण करती है प्रत्येक पद संक्षिप्त है तथा उसमें विराम-स्थल का संकेत स्पष्ट रूपसे मिल जाता है वह गुंजनवाले सुरोंसे भरा हुआ है या भीतर श्रुतियोंमें बेरोक संक्रमण होते रहते हैं प्रत्येक पद मानों अनंतकी एक तरंग हो जो महासागरके संपूर्ण गर्जन और वृत्तांतको अपने अंदर वहन करती है। यह एक प्रकारका काव्य है —अंतर्दृष्टिसे प्राप्त शब्द एवं आत्माका चमत्कार है —जो इससे पहले या इसके बाद फिर कभी नहीं लिखा गया है।

उपनिषदोंके रूपक अधिकांशमें वेदके रूपकोंकी सीधी ही विकसित हुए हैं और यद्यपि साधारणतः ये सीधे प्रकाश देनेवाले रूपककी खुली हुई स्पष्टताको अधिक पसंद करते हैं तथापि बहुधा ही ये उन्हीं प्रतीकोंको एक ऐसे ढंगसे प्रयुक्त करते हैं जो प्राचीनतर प्रतीकवादकी प्रणालीके मूलभाव तथा कम पारिभाषिक भावसे घनिष्ठ साम्य रखता है। बहुत हदतक इसी तत्त्वके कारण जिसे अब हमारी विचार-पद्धति नहीं पकड़ पाती कुछेक पश्चिमी विद्वानोंकी बुद्धि चकरा गयी है और वे चिल्ला उठे हैं कि ये धर्मग्रंथ उदात्ततम दार्शनिक परिकल्पनाओं तथा मनुष्यजातिके शिशु-मनकी आदिम नहीं तुतलाहटोंका मिश्रण हैं। उपनिषदें वैदिक मन और उसके स्वभाव तथा मूलभूत विचारोंसे क्रांतिकारी रूपमें पृथक् नहीं हो गयी हैं बल्कि ये उनका विस्तार और विकास हैं तथा कुछ हदतक तो एक परिवर्तनकारी रूपांतर भी हैं—इस अर्थमें कि प्रतीकात्मक वैदिक भाषामें जो कुछ एक रहस्य एवं 'गुह्य'के रूपमें छिपाकर रखा गया था उसे ये स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट करती हैं। ये वेद और ब्राह्मणोंके रूपकों तथा कर्मकांडीय प्रतीकोंको लेकर चलती हैं और उन्हें इस ढंगसे मोड़ देती हैं कि वे एक आंतरिक एवं गुह्य आशयको प्रकट कर सकें जो (आशय) फिर इनके अपने अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं अधिक शुद्ध-आध्यात्मिक दर्शनके लिये एक प्रकारके आतरात्मिक आरंभ-बिंदुका काम करे। कई स्थल विशेषकर गद्यात्मक उपनिषदोंमें ऐसे हैं जो पूर्णतया इसी प्रकारके हैं और वे एक गूढ़ शैलीमें जो आधुनिक बुद्धिके लिये अस्पष्ट और यहांतक कि दुर्बोध है वैदिक धार्मिक मनमें विद्यमान तत्कालीन विचारोंके आंतरात्मिक भाव वेदमयीके पारस्परिक भेद तीन लोकों तथा इसी प्रकारके अन्य विषयोंका विवेचन करते हैं परंतु चूंकि उपनिषदोंकी विचारशृंखलाओंमें ये स्थल गभीरतम आध्यात्मिक सत्योंकी ओर ले जाते हैं अतएव हम इन्हें एक ऐसी बुद्धिकी मूर्खतापूर्ण भूलें कहकर इनका खंडन नहीं कर सकते जिसे कुछ भी समझ नहीं है या जिसका उस उच्चतर विचारसे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं जिसमें ये प्रकरण परिसमाप्त होते हैं। इसके विपरीत जब एक बार हम इनके

"हे सत्यकाम, यह ॐ अक्षर पर और अपर ब्रह्म है। अतएव ज्ञानी मनुष्य ब्रह्मके इस धामके द्वारा इनमेसे किसी एकको प्राप्त करता है। यदि वह इसकी एक मात्रा (अ) का ध्यान करे तो उसके द्वारा वह ज्ञान लाभ करता है और इस जगतमें वह शीघ्र ही सपन्न हो जाता है। उसे ऋचाए मनुष्यलोककी ओर ले जाती है और वहा तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धामें पूर्णता प्राप्त करके वह आत्माकी महिमाका अनुभव करता है। अब यदि वह दो मात्राओ (अ+उ) के द्वारा मनमे पूर्णता लाभ करे तो यजुर्वेदके मत्र उसे ऊपर अतरिक्षमें, सोमलोक (सोम देवताके चद्रलोक) मे ले जाते है। वह सोमलोकमे आत्माकी विभूतिको अनुभव करके फिर यहा लौट आता है। और फिर जो व्यक्ति तीन मात्राओ (अ+उ+म्) के द्वारा किवा इस 'ॐ' अक्षर ही के द्वारा परम पुरुषका ध्यान करता है वह सूर्यरूपी तेजमें पूर्णता प्राप्त कर लेता है। जैसे साप अपनी केचुली उतार फेकता है, वैसे ही वह पाप और अशुभसे मुक्त हो जाता है और सामवेदके मत्र उसे ब्रह्मलोकमे ले जाते है। वह इस जीवसकुल लोकमे (जीवघनसे) परात्पर पुरुषके दर्शन करता है जो इस देहपुरीमे विराजमान है। तीनो मात्राए मृत्युमे उत्पीडित है, पर अब जब कि वे अविभक्त तथा परस्पर-सयुक्त रूपमे प्रयोगमे लायी जाती है तो उनके सर्वागीण प्रयोगमें आत्माके बाह्य, आभ्यतर और मध्यवर्ती कर्म समग्रता प्राप्त कर लेते है और आत्माको ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा वह चलायमान नही होती। यह लोक ऋचाओके द्वारा (प्राप्त होता है), अतरिक्ष (प्राप्त होता है) यजुर्मत्रोके द्वारा और साम-मत्रोके द्वारा वह लोक जिसका ज्ञान हमे ऋषिगण कराते है। ज्ञानी मनुष्य ओ३म्के द्वारा 'उस'के धामतक, 'उस'तक, पहुच जाता है, यहातक कि उस परम आत्मातक पहुच जाता है जो शात, अभय और अजरामर है।"[1]

[1] —यहा प्रयुक्त किये गये प्रतीक अभी भी हमारी बुद्धिके लिये अस्पष्ट है, परतु ऐसे सकेत दे दिये गये है जो असदिग्ध रूपमें दर्शा देते है कि वे एक चैत्य अनुभवका निरूपण करते है जो आध्यात्मिक उपलब्धिकी विभिन्न अवस्थाओकी ओर ले जाता है और हम देख सकते है कि ये अवस्थाए तीन है—बाह्य, मानसिक और अतिमानसिक, और इनमेसे अतिमके फलस्वरूप एक परमोच्च पूर्णता प्राप्त होती है जो अमर आत्माकी प्रशात नित्यतामें समस्त सत्ताके पूर्ण एव समग्र कर्मकी अवस्था है। आगे चलकर माडूक्य उपनिषद्में अन्य प्रतीकोको त्याग दिया गया है और हम खुले रूपसे मर्ममें प्रवेश प्राप्त करते है। इसके बाद उस ज्ञानका उदय होता है जिसकी ओर आधुनिक विचारधारा अपनी अत्यत भिन्न, बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक प्रणालीके द्वारा लौट रही है, वह ज्ञान यह है कि हमारी बाह्य भौतिक चेतनाकी क्रियाओके पीछे एक अन्य, अत प्रच्छन्न,—अन्य और फिर भी अभिन्न—

[1]प्रश्नोपनिषद्—५वा प्रश्न।

हे नियामक यम हे सूर्य हे प्रजापतिके पुत्र अपनी किरणोंको व्यवस्थित और एकत्रित कर मैं उस तेजको देख रहा हूं जो तेरा सर्वाधिक कल्याणमय रूप है, जो यह है यह पुरुष है वही मैं हूं।"[1]

—वेदके होते हुए भी इन स्वर्णोंका वेदकी रूपकमाला एवं शैलीसे संबंध स्पष्ट ही है और इनमेंसे अंतिम संदर्भमें निःसंदेह ऋषियोंके एक वैदिक मंत्रकी पीछेकी अधिक उन्मुक्त शैलीमें व्याख्या या अनुवाद करता है

"तुम्हारे सत्यके द्वारा वह परम सत्य आच्छादित है जो कि वहां नित्य-शाश्वत रूपसे विद्यमान है जहां वे सूर्यके घोड़ोंको खोलते हैं। वहां वे दससहस्र एक साथ स्थित हैं वह है एकमेव मैंने देहधारी देवोंके परम देवको देख लिया है।"[2]

—ये वैदिक और वेदांतिक रूपक हमारी वर्तमान मनोवृत्तिके लिये जो प्रतीकके जीवंत सत्यमें विश्वास नहीं करती विजातीय है, क्योंकि बुद्धिके द्वारा निरुत्साहित किये जानेके कारण सत्योद्भासक कल्पना-शक्तिमें अब इस बातका साहस नहीं रहा है कि वह आंतरात्मिक और आध्यात्मिक अंतर्दर्शनको स्वीकार करे तथा उसके साथ अपनेको एकाकार करके निर्ममतापूर्वक उसे आकार रूप प्रदान करे पर, निश्चय ही यह एक आदिम या आदिम एवं बर्बर रहस्यवाद होनेसे कोसों दूर है बल्कि यह विशद सजीव और उज्ज्वल-आध्यात्मिक बौद्धिमूलक भाषा एक अत्यंत विकसित आध्यात्मिक संस्कृतिकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

उपनिषदोंकी आतर्जनात्मक विचारधारा इन मूर्त रूपकोंको लेकर चलती है और ये प्रतीक जो पहले वैदिक ऋषियोंके लिये गुप्त अर्थवर्ती शब्द थे और जो एक द्रष्टाके मनके संमुख ही अपना भाव पूर्ण रूपमें प्रकाशित करते थे पर साधारण बुद्धिके लिये अपने गंभीर तम अर्थको छुपाये ही रखते थे इन रूपकोंका संबंध अपेक्षाकृत कम गुप्त रूपसे भाव प्रकाशित करनेवाली भाषाके साथ जोड़ देते हैं और इससे परे एक अन्य बहुत अधिक स्पष्ट और उदात्त काव्यमाला एवं भाषातक पहुंच जाते हैं जो आध्यात्मिक सत्यको तुरंत ही उसके संपूर्ण वैभव समेत प्रकाशित कर देती है। गद्यात्मक उपनिषदोंमें हमें पता चलता है कि प्राचीन भारतीय मनकी यह पद्धति उस समय क्रियाशील थी यह वहां पहले प्रतीकका प्रयोग करती है और फिर उस प्रतीक पर आध्यात्मिक अर्थको स्पष्ट रूपमें व्यक्त कर देती है। गुह्य अग्नि आदि प्रभाव और पुरुषार्थके विषयमें प्रश्न उपनिषद्‌का एक प्रकरण इस पद्धतिकी प्राचीन तर अवस्थाको निदर्शित करता है

---

[1] ईशोपनिषद् १५ १६। [2] ऋग्वेद ५ ६२ १।

दुष्कर्मोंसे विरत नही हुआ है, जो स्थिर और समाहित नही है, जिनका मन शात नही है वह केवल मस्तिष्कके ज्ञानके द्वारा उसे नही प्राप्त कर सकता। ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसके लिये अन्न है और मृत्यु जिसके प्रीतिभोजका मसाला है, वह कहा है इसे कौन जानता है ?

'स्वयभूने मनुष्यके दरवाजोको बाहरकी तरफ खोल दिया है, अतएव मनुष्य बाहरकी ओर देखता है अपनी अतरात्माकी ओर नही केवल कोई ज्ञानी मनुष्य ही, कही-कही, अमृतत्वकी आकाक्षा करता हुआ, अपनी आखोको अदरकी ओर फेरता है और आत्माको प्रत्यक्ष देखता है। बालबुद्धि मनुष्य स्थूल कामनाओके पीछे दौडते रहते है और मृत्युके जालमें जा फसते है जो हमारे लिये खूब विस्तृत बिछा हुआ है, परतु ज्ञानी लोग अमरता-को जान लेते है और अनित्य पदार्थोंसे नित्य वस्तुकी माग नही करते। इस आत्माके द्वारा मनुष्य रूप, रस, गध एव स्पर्शको तथा इनके सुखोको जानता है और तब भला यहा बाकी ही क्या रहता है ? ज्ञानी मनुष्य उस महान् प्रभु एव आत्माको जान जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति जागरित आत्मा तथा स्वाप्न आत्मामें विद्यमान सभी चीजोको देखता है, और उसे जानकर वह फिर शोक नही करता। जो आत्माको, अर्थात् जीवधारियोके निकटस्थ मधु (आनद)-भोक्ताको, भूत और भविष्यके ईशको जान जाता है वह आगेको किसी भी सत् पदार्थसे जुगुप्सा नही करता। वह उसे भी जान जाता है जो पूर्वकालमें तपसे और जलोंसे उत्पन्न हुआ था और जो सत्ताकी गुप्त गुहामें प्रविष्ट होकर वहा इन सब प्राणियोके साथ अवस्थित है। वह उसे भी जान जाता है जो प्राण-शक्तिके द्वारा उत्पन्न हुई है, उस सर्वदेवतामयी अदितिको (उस असीम माताको जिसमें सब देवता समाये हुए है) जान जाता है जो सत्ताकी गुप्त गुहामें प्रविष्ट होकर उसके अदर इन सब प्राणियोके साथ स्थित है। यह वह अग्नि है जो ज्ञानवान् है और यह दो अरणियोमें अतर्निहित है जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रियोंके अदर गर्भ सुघृत रहता है, यह वह अग्नि है जिसकी उपासना लोगोको अतद्र रूपसे जागरूक रहते हुए तथा उसके प्रति हविकी भेंट लाते हुए अवश्यमेव करनी चाहिये। यह वह है जिससे सूर्य उदित होता है और जिसमें यह अस्त होता है और उसीमें सभी देव प्रतिष्ठित है तथा कोई भी उसके परे नही जा सकता। जो कुछ यहा है, वही कुछ अन्य लोकोमें है, और जो वहा है, उसीके अनुरूप यहाकी सभी चीजे (निर्मित) हैं। जो मनुष्य यहा केवल भेद ही भेद देखता है वह मृत्युसे मृत्युकी ओर जाता है। एक पुरुष जो अगूठेसे बडा नही है मनुष्यकी सत्ताके केद्रमें अवस्थित है और वह भूत तथा भविष्यका ईश है, और उसे जान लेनेपर मनुष्य आगेको किसी भी सत् पदार्थसे कतराता नही। वह 'पुरुष' मनुष्य-के अगूठेसे बडा नही है और वह एक ऐसी ज्योतिके समान है जिसमें धूएका नाम नही, वह भूत और भविष्यका ईश है, केवल वह ही आज है और वह ही कल रहेगा।"[1]

---

[1]कठोपनिषद् १ २ १५-२४

चेतनाकी जिसकी एक स्थूल क्रिया ही हमारा जाग्रत् मन है, क्रियाएं अपना कार्य कर रही हैं और हमारी बाह्य चेतनाके ऊपर—शायद हम फिर कहते हैं—एक आध्यात्मिक अतिचेतना है जिसमें बहुत संभवत हमारी सत्ताकी उच्चतम अवस्था एवं उसका संपूर्ण रहस्य उपलब्ध हो सकता है। प्रश्न उपनिषद्के इस स्थलपर अब हम सूक्ष्मतापूर्वक दृष्टिपात करेंगे तो हम देखेंगे कि यह ज्ञान वहां पहलेसे ही विद्यमान है और मेरी समझमें हम अत्यंत युक्तियुक्त रूपमें यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राचीन ऋषियोंके ये तथा इसी प्रकारके अन्य वचनोंको तार्किक मनके लिये इनका रूप कैसा ही चकरानेवाला क्यों न हो काल्पनिक रहस्यवाद कहकर नहीं उड़ाया जा सकता बल्कि मैं उस चीजकी जिसे आज स्वयं तर्कबुद्धि भी अपनी पद्धतियोंसे सत्य सिद्ध कर रही है और ज्ञानके एक अत्यंत गंभीर सत्य और वास्तविक सत्यके रूपमें हमें बता रही है, एक रूपकात्मक अभिव्यंजना हैं जो उस समयकी मनोवृत्तिके लिये स्वाभाविक ही थी।

पद्यात्मक उपनिषदें इस अत्यंत अर्थ-गर्भित प्रतीकवादको जारी रखती हैं पर इसे अपेक्षाकृत हलके भावमें लेकर चलती हैं और अपने बहुतसे श्लोकोंमें तो वे इस प्रकारके रूपकोंके परे जाकर शुद्ध रूपमें अपना भाव प्रकाशित करती हैं। वहां मनुष्य और प्राणिमात्रमें प्रकृतिमें और इस समस्त जगत् तथा अन्य जगतोंमें एवं सृष्टिमात्रसे परे अवस्थित आत्मा परम पुरुष एवं परमेश्वरका अमर एकमेव एवं अनंतका शुभ्र गुणगान किया गया है—उसकी नित्य परात्परताकी महिमाका और उसकी बहुविध आत्म-अभिव्यक्तिके वैभवका भी। यम और मृत्युके अधिष्ठातृ-देवता यमके द्वारा नचिकेताको दी गयी शिक्षाओंसे लिये गये कुछेक उद्धरण इन उपनिषदोंके स्वरूपपर कुछ प्रकाश डालनेके लिये पर्याप्त होंगे

'यह अक्षर ॐ है। यह अक्षर ही ब्रह्म है यह अक्षर ही परम पुरुष है। जो इस अक्षर (अविनाशी) ॐ को जानता है वह जो कुछ चाहता है, वह सब ही उसे प्राप्त हो जाता है। यह अवलम्ब सर्वश्रेष्ठ है यह अवलंब उच्चतम है और जब कोई मनुष्य इस अवलम्बको जान लेता है तो वह ब्रह्मलोकमें महीमान् हो जाता है। यह सर्वज्ञ न उत्पन्न होता है न मरता है, न यह कहींसे संभूत हुआ है न ही यह कोई-एक है। यह अज है नित्य और शाश्वत है यह पुराण पुरुष है, शरीरका वध होनेपर उसका वध नहीं होता

"यह बैठा हुआ भी दूर-दूरकी यात्रा करता है और सोता हुआ भी सब तरफ विचरता है। इस आनंदोन्मत्त देवका मेरे सिवा भला और कौन ज्ञान सकता है? इन अस्थिर शरीरोंमें अवस्थित इस अशरीरी महान् और विभु आत्माको जानकर ज्ञानी मनुष्य फिर शोक नहीं करता। यह आत्मा न तो शिक्षा-दीक्षा या प्रवचनसे प्राप्त हो सकता है न मेधासे और न बहुत विद्यासे परम आत्मा जिसे वरण कर लेता है केवल वही इसे प्राप्त कर सकता है और उसीके समक्ष यह आत्मा अपना वास्तविक स्वरूप प्रकाशित करता है। जो व्यक्ति

प्राणिक और ऐंद्रिय अनुभूतिकी [illegible] [illegible] रचना उत्पन्न की, तंत्र और पुराणमें इसके आध्यात्मिक और आंतरात्मिक अनुभवको नया रूप प्रदान किया, रंग और रेखाकी श्री-सुषमामें अपने-आपको उंडेल दिया, उसकी चिंतनधारा और अंतर्दृष्टिको प्रस्तर और कांसेमें खोदा और उकेरा, पीछेकी भाषाओंमें आत्म-अभिव्यंजनाकी नयी प्रणालिकाओंमें अपने-आपको ढाल दिया और वही अब ग्रहणसे मुक्त होनेके बाद पुनः उदित हो रही है, भेदमें भी सदैव पहले जैसी रहती हुई नये जीवन और नये सृजनके लिये तैयार हो रही है।

उपनिषदें ऐसे स्थलोंसे भरी पड़ी हैं जो एक साथ ही काव्य और आध्यात्मिक दर्शन हैं — पूर्ण निश्चयता और सुन्दरतासे संपन्न परंतु उनका कोई भी अनुवाद जो अर्थ-ध्वनियों तथा मूल शब्दों और श्लोकोंके तात्पर्यकी गंभीर, सूक्ष्म और उज्ज्वल गूंजोंसे शून्य हो उनकी ओजस्विता और पूर्णताका कुछ भी आभास नहीं दे सकता। कुछ अन्य ऐसे स्थल भी हैं जिनमें सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य काव्यमय अभिव्यंजनाके पूर्ण सौंदर्यसे विच्युत हुए बिना पूर्ण समताके साथ व्यक्त किये गये हैं और इस बातको सदा लक्ष्यमें रखा गया है कि वे केवल समझनेवाली बुद्धिके समक्ष ही निरूपित होकर न रह जायं बल्कि अंतःकरण और अंतरात्माके प्रति भी जीवंत रूपमें उपस्थित रहें। कुछेक गद्यात्मक उपनिषदोंमें एक दूसरा स्पष्ट कथात्मक और परंपराप्राप्त तत्त्व भी है, वह परमात्म ज्ञानके लिये आध्यात्मिक जिज्ञासा और आतुरताकी उस असाधारण हलचल और प्रवृत्तिका एक जीता-जागता चित्र संक्षिप्त झांकियोंके रूपमें ही नहीं हमारे सामने उपस्थित करता है जिसने कि उपनिषदोंकी रचनाको संभव बनाया। प्राचीन जगत्के दृश्य इने-गिने पृष्ठोंमें हमारे सामने जीवंत-जागृत रूपमें उपस्थित हैं, आगंतुककी परीक्षा लेने और उसे शिक्षा देनेके लिये ऋषिगण अपने कुटीरोंमें तैयार बैठे हैं, राजकुमार, विद्वान् ब्राह्मण और महान् कुलीन भूमिपति ज्ञानकी खोजमें यत्र-तत्र विचरण कर रहे हैं, रथपर सवार राजपुत्र और एक दासीका जारज पुत्र किसी ऐसे व्यक्तिकी खोज रहे हैं जो अपने अंदर ज्योतिर्मय विचार और ईश्वरीय ज्ञानका बल धारण किये हुए हो, विशिष्ट और विख्यात व्यक्ति जनक और सूक्ष्मचेता अजातशत्रु, गाड़ीवाला (सयुग्वा) रैक्व, सत्यवीर, ज्ञानी और व्यंग्यप्रिय याज्ञवल्क्य जो पहले अपने दोनों हाथोंमें बिना आसक्तिके सांसारिक धनसंपत्ति और आध्यात्मिक ऐश्वर्यको ग्रहण कर सके हैं और अंतमें अपना सब धन-वैभव पीछे छोड़कर एक अकिंचन संन्यासीकी तरह पर्यटनके लिये निकल पड़ते हैं, देवकीके पुत्र कृष्ण जिन्हें 'घोर' नामक ऋषिके एक ही शब्दके श्रवणमात्रसे तुरंत सनातन पुरुषका ज्ञान हो गया, आश्रम, उन राजाओंके दरबार जो अध्यात्मज्ञानी और अध्यात्मचिन्तक भी थे, महान् यज्ञीय परिषदें जहां ऋषिगण एकत्र होते और परस्पर तुलना करके ज्ञानकी परीक्षा करते थे। और हम देखते हैं कि किस प्रकार भारतकी अंतरात्माका जन्म हुआ और किस प्रकार इस महान् जन्म-यात्राका आविर्भाव हुआ जिसमें यह अपने वर्द्धित आधारसे उड़ान भरकर आत्माके परमोच्च स्तरोंमें पहुंची। वेद और उपनिषदें केवल भारतीय दर्शन और धर्मके ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय कला, काव्य और साहित्यके भी पर्याप्त उद्गम-स्थान हैं। उनमें जो अंतरात्मा, स्वभाव एवं आदर्श गठित तथा व्यक्त हुआ उसीने आगे चलकर महान् दर्शनशास्त्रोंका मूलरूप निर्माण किया, धर्मका ढांचा तैयार किया, महाभारत और रामायणमें इसके शौर्यपूर्ण यौवन-कालका इतिवृत्त अंकित किया, इसकी मनुष्यताकी प्रौढ़ताके अनन्तर प्राचीन कालमें असाधारण प्रबल बौद्धिक रूप धारण किया, जिसने पीछेसे इतने सारे मौलिक अभिव्यंजनामय रूपोंको प्रकट किया, सौंदर्यात्मक,

इसी अवस्थाका अत्यत प्रचुर एव प्रभावपूर्ण चित्रण मिलता है।

भारतीय मनकी इस प्रवृत्तिके अदर जो अधिक चिंतनात्मक प्रयास था वह दो रूपोमें प्रकट हुआ है,—एक ओर तो है श्रमसाध्य दार्शनिक विचारधारा जिसने हमारे महान् दर्शन-शास्त्रोका रूप धारण किया, और दूसरी ओर, वैयक्तिक और सामाजिक जीवनकी सगत एव व्यवस्थित प्रणालीमें एक नैतिक, सामाजिक एव राजनीतिक आदर्श तथा व्यवहारको स्पष्ट रूपमें तथा कठोर दृढताके साथ निर्धारित करनेका उतना ही प्रबल प्रयत्न। इस प्रयत्नके फलस्वरूप प्रामाणिक सामाजिक ग्रथो या शास्त्रोका निर्माण हुआ जिनमेंसे सर्वाधिक महान् एव प्रामाणिक है—प्रसिद्ध मनुस्मृति। दार्शनिकोका कार्य यह था कि आत्मा, मनुष्य और जगत्‌के जो सत्य अतर्ज्ञान, ईश्वर-प्रेरणा एव आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा पहलेसे ही उपलब्ध हो चुके थे और वेदो तथा उपनिषदोमें लिपिबद्ध थे, उन्हे वे व्यवस्थित करके तर्कबुद्धिके सम्मुख सत्य सिद्ध करें और साथ ही इस ज्ञानपर प्रतिष्ठित कुछ ऐसी साधन-पद्धतियोका निर्देश एव क्रमबद्ध प्रतिपादन करें जिनसे मनुष्य अपने जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य चरितार्थ कर सके। जिस विशेष पद्धतिसे यह कार्य किया गया उससे पता चलता है कि उन दिनो अत-र्ज्ञानात्मक मनकी क्रिया बौद्धिक मनकी क्रियामें परिणत हो रही थी और उस पद्धतिपर इस सक्रमणकालीन अवस्थाकी छाप मौजूद है और उसका आकार-प्रकार भी इसी अवस्थाको प्रकट करता है। जहा वेदादि पवित्र वाङमयके सक्षिप्त एव अर्थगर्भित पद अतर्ज्ञानात्मक सार-तत्त्वसे परिपूर्ण थे वहा दर्शनोमें उनके स्थानपर और भी अधिक सहत एव सघन लघु-वाक्य-शैलीका प्रयोग किया गया जो अतर्ज्ञानात्मक तथा काव्यमय न होकर कठोर रूपसे बौद्धिक थी,—किसी सिद्धातको, किसी दार्शनिक विचारके सपूर्ण विकास, या किसी तर्क-शृखलाकी एक कडीको जो प्रचुर निष्कर्षोंसे भरपूर होती थी, गिने-चुने शब्दोमें, कभी-कभी तो एक या दो ही शब्दोमें, एक छोटेसे छोटे निश्चयात्मक सूत्रके रूपमें प्रकाशित किया जाता था जो अपनी घनीभूत पूर्णतामें प्राय एक पहेली-सा ही होता था। ये सूत्र तर्कमूलक भाष्योके आधार बने। जो कुछ भी प्रारभमें इन सूत्रबद्ध ग्रथोमें निहित था उस सबको इन भाष्योने दार्शनिक एव तार्किक प्रणालीसे तथा नानाविध व्याख्याओंके द्वारा पल्लवित किया। मूल और अतिम सत्यका तथा मोक्ष, अर्थात् आध्यात्मिक मुक्तिके उपायका प्रति-पादन करना ही इन सूत्रोका एकमात्र विषय रहा है।

इसके विपरीत, सामाजिक चिंतको और विधायकोकी कृतिका विषय था लोकका सामान्य कार्य और व्यवहार। उसने मनुष्य और समाजके साधारण जीवनको एव मानवीय कामना, लक्ष्य, 'अर्थ' और व्यवस्थाबद्ध नियम और रीति-रिवाजके जीवनको हाथमें लेकर वैसे ही पूर्ण और निश्चयात्मक ढगसे उसकी व्याख्या और उसका निरूपण करनेका यत्न किया और साथ ही इस सबको राष्ट्रीय सस्कृति और रूपरेखाके नियामक विचारोके साथ व्यवस्थित- रूपमें सबद्ध करके एक सामाजिक प्रणालीको चिरस्थायी रूपमें प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की। इस

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

बारहवां अध्याय

भारतीय साहित्य

इस प्रकार, वेद भारतीय संस्कृतिका आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक बीज हैं और उपनिषदें सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान एवं अनुभवके सत्यकी अभिव्यक्ति। यह सत्य ही सदा इस संस्कृतिका उच्चतम विचार एवं चरम ध्येय रहा है। इसी ध्येयकी ओर इसने व्यक्तिके जीवनको तथा जातिकी आत्माकी अभीप्साको प्रेरित किया। ये दो महान् पवित्र ग्रंथ इसकी शक्तिमय और सर्जनशील आत्म-अभिव्यक्तिके सर्वप्रथम महत् प्रयत्नोंका फल हैं ये विशुद्ध आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक मनकी भाषामें परिकल्पित एवं वर्णित हैं। इनकी रचना एक ऐसे कालमें हुई जिसके बाद पहले तो प्रबल एवं प्रचुर और फिर समृद्ध एवं बहुमुख बौद्धिक विकासका युग आया। इस तरहसे आरंभ हुए विकासके लिये यह आवश्यक ही था कि यह एक प्रकारके समृद्ध करनेवाले अवतरणके द्वारा ही आत्मासे जड़तत्त्वकी ओर अग्रसर हो और सबसे पहले बौद्धिक प्रयत्नकी अवस्थामेंसे गुजरे। इस अवस्थामें जीवन जगत् और आत्मा-को तथा इनके सभी संबंधोंको उस रूपमें देखनेका यत्न करे जिस रूपमें ये तार्किक और व्यावहारिक बुद्धिके सम्मुख उपस्थित होते हैं। इस बौद्धिक प्रयासकी अधिक प्रारंभिक चेष्टा-के साथ स्वभावतः ही जीवनका क्रियात्मक विकास एवं संगठन भी किया गया जो जातिके मन एवं आत्माको सबल रूपमें अभिव्यक्त करता था और साथ ही समाजका एक सुदृढ़ एवं सघन ढांचा भी खड़ा किया गया जिसकी रचनाका प्रयोजन था ज्ञानपूर्ण धार्मिक नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था और अनुशासनकी अधीनतामें मानवजीवनके पार्थिव उद्देश्यों-को चरितार्थ करना पर साथ ही मनुष्यकी आत्माको उसके विकासके लिये ऐसी सुविधा प्रदान करना कि वह इन चीजोंके द्वारा आध्यात्मिक स्वतंत्रता और पूर्णता प्राप्त कर सके। वेदों और उपनिषदोंके एकदम बाद भारतीय साहित्यिक सृजनका जो युग आया उसमें हमें

पुनीत आदिम कविता-संग्रह और वीर-गाथावलि[1] (एड्डा और सागा, Edda and Saga) से सर्वथा भिन्न हैं और दृष्टिकोण तथा सारवस्तुकी विशालता और उद्देश्यकी उच्चतामें—अभी मैं सौंदर्यात्मिक गुण और काव्यात्मक पूर्णताकी चर्चा नही करता—होमरकी कविताओंसे अधिक महान् हैं, इतना ही नही, अपितु इनमें एक प्राक्कालीन उच्छ्वास और प्रत्यक्ष एवं सरलतापूर्ण तेज भी है, जीवनकी ताजगी, महत्ता और प्रस्पंदना है और है ओज तथा सौंदर्यकी सरलता जो इन्हें वरजिल या मिल्टन अथवा फिरदौसी या कालिदासके श्रमपूर्वक विरचित साहित्यिक महाकाव्योंसे सर्वथा भिन्न प्रकारकी कृति बना देती है। जीवनकी प्राचीन, साहित्यिक, वेगशील और प्रबल शक्तिके स्वाभाविक उच्छ्वासका नैतिक, बौद्धिक, यहांतक कि दार्शनिक मनकी सबल प्रगति और सक्रियताके साथ यह अनूठा संमिश्रण, निश्चय ही, इनकी एक अद्भुत विशेषता है, ये कविताएं एक जातिके यौवनकी वाणी हैं, पर एक ऐसे यौवनकी जो केवल ताजा, सुन्दर और प्रफुल्ल ही नहीं हैं अपितु महान्, पूर्णताप्राप्त, ज्ञानमय और श्रेष्ठ भी है। तथापि यह केवल एक स्वभावगत विशेषता है एक अन्य विशेषता भी है जो अधिक दूरगामी है, वह है संपूर्ण परिकल्पना, क्रिया-धारा और रचनामें भेद।

प्राचीन वैदिक शिक्षाके अनेक अंगोंमेंसे एक था महत्त्वपूर्ण परंपरा, इतिहास, का ज्ञान, प्राचीन समालोचक बादके साहित्यिक महाकाव्योंसे महाभारत और रामायणका भेद दिखलानेके लिये इसी ('इतिहास') शब्दका प्रयोग करते थे। इतिहासका मतलब था कोई प्राचीन ऐतिहासिक या उपाख्यानात्मक परंपरा जिसे एक अर्थपूर्ण गाथा या कथाके रूपमें सृजनके लिये प्रयुक्त किया जाता था और वह गाथा या कथा किसी आध्यात्मिक या धार्मिक अथवा नैतिक या आदर्शात्मक अर्थको प्रकट करती थी और इस प्रकार जातिके मनका गठन करती थी। महाभारत और रामायण भी बड़े पैमानेपर इसी प्रकारके इतिहास हैं जिनका उद्देश्य अत्यंत व्यापक है। जिन कवियोंने इन बृहत् काव्यमय ग्रंथोंकी रचना की और जिन्होंने इनमें कुछ चीजें जोड़ दीं उनका उद्देश्य केवल एक प्राचीन कथाका सुन्दर या श्रेष्ठ ढंगसे वर्णन करना नही था और न रस और भावके प्रचुर ऐश्वर्यसे परिपूर्ण कोई कविता रचना ही था, यद्यपि उन्होंने ये दोनों कार्य भी महान् सफलताके साथ संपन्न किये, पर वास्तवमें उन्होंने जीवनके शिल्पियों और मूर्तिकारों तथा राष्ट्रीय चिंतन, धर्म, नैतिकता और संस्कृतिके

---

[1] एड्डा (Edda) स्कैण्डिनेवियोंकी दो पुस्तकोंका नाम है। पहलीको 'older' या 'elder' edda (प्राचीनतर या ज्येष्ठ एड्डा) कहते हैं जिसमें प्राचीन पौराणिक और वीररसपूर्ण गीतोंका संग्रह है, दूसरीको 'younger' or prose edda ('लघुतर' या गद्यात्मक एड्डा) कहते हैं जिसमें पौराणिक कहानियां आदि हैं।

[2] सागा (Saga) आइसलैंड (Iceland) के प्राचीन गद्य-साहित्यमें पायी जानेवाली ऐतिहासिक या काल्पनिक कथाओंको कहते हैं।—अनु

प्रणालीका निर्माण बुद्धिमत्ताके साथ एक ऐसा आधार, ढांचा एवं क्रमव्यवस्था प्रदान करनेके लिये किया गया था जिसके द्वारा जीवन प्राणिक और मानसिक उद्देश्यसे आध्यात्मिक उद्देश्य-की ओर सुरक्षित रूपमें विकसित हो सके। प्रधान विचार यह था कि मानवीय 'काम' एवं 'अर्थ' को धर्म अर्थात् सामाजिक और नैतिक विधानके द्वारा नियंत्रित किया जाय ताकि समस्त प्राणिक आर्थिक सौंदर्यात्मक सुखभोगवादी बौद्धिक तथा अन्य आवश्यकताओंको यथोचित रूपमें और प्रकृतिके यथायथ विधानके अनुसार पूरा करते हुए, इसे (काम और अर्थको) आध्यात्मिक जीवनकी तैयारीका रूप दिया जा सके। यहां भी हमें एक प्रारंभिक विधानके रूपमें वैदिक गृह्यसूत्रोंकी सूत्रात्मक पद्धति दिखायी देती है और बादमें धर्मशास्त्रोंकी अधिक विस्तृत एवं पूर्णतर प्रणाली —इनमेंसे पहली सरल और सारभूत सामाजिक-धार्मिक सिद्धांत और व्यवहारके संक्षिप्त निर्देशोंसे ही संतुष्ट हो जाती है बादकी रचना व्यक्ति वर्ग और जातिके संपूर्ण-जीवनको अपने अंदर समाविष्ट करनेका यत्न करती है। इस प्रयास और इसकी समग्रता-का निज स्वरूप तथा इस सबपर आद्योपांत शासन करनेवाले विचारकी अटूट एकता ही एक अद्भुत बौद्धिक सौंदर्यात्मक और नैतिक चेतनाका तथा एक श्रेष्ठ और व्यवस्थित सभ्यता एवं संस्कृतिकी उच्च प्रवृत्ति और क्षमताका अद्भुत प्रमाण है। इसमें जिस बुद्धिने कार्य किया है एवं जो बोधग्राही और रचनात्मक शक्ति व्यक्त हुई है वह किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन जातिकी बुद्धि या शक्तिसे हीन कोटिकी नहीं है और यहां परिकल्पनाकी एक प्रकारकी गंभीरता एकरस विशदता एवं श्रेष्ठता भी है और वह कम-से-कम संस्कृति-विषयक किसी सच्ची धारणामें उस महत्तर नमनीयता अधिक अभिज्ञतापूर्ण अनुभव और विज्ञान तथा अनुभवप्राप्त साहसकी उत्सुक नमनशीलताको समुचित कर देती है जो हमारी परवर्ती मानवताकी विशेषता सूचित करनेवाली प्राप्तियां हैं। कुछ भी हो यह कोई बर्बर मन नहीं था जो समाजकी एक सुन्दर और संगठित व्यवस्थाकी ओर, उसका संचालन करनेवाले एक उच्च और विशद विचारकी ओर तथा जीवनके अंतमें महान् आध्यात्मिक पूर्णता और मुक्ति-की ओर इस प्रकार एकाग्रतापूर्वक ध्यान देता था।

इस युगके विशुद्ध साहित्यके प्रतिनिधि हैं दो बृहत् महाकाव्य एक तो महाभारत जिसने अपनी विशाल रचनाके अंदर भारतीय मनकी अनेक कृतियोंकी काव्यात्मक कृतिके अभि-व्यंजनाको संगृहीत किया और दूसरा रामायण। ये दोनों कविताएं अपने मूल हेतु और भावनामें महाकाव्यात्मक हैं परंतु ये काव्य संसारके किसी भी अन्य दो महाकाव्योंसे सादृश्य नहीं रखते बल्कि सर्वथा अपने ही ढंगके हैं और अपने मूलतत्त्वमें दूसरोंसे सूक्ष्मतः भिन्न भी। यद्यपि इनमें एक प्राचीन वीरतापूर्ण कथा है और अनेक आदिम तत्त्वोंका एक रूपांतर है फिर भी इनका रूप एक अद्भुत बौद्धिक नैतिक और सामाजिक संस्कृतिके युगसे संबंध रखता है प्रौढ़ विचारोंसे समानरूपसे समृद्ध है नैतिक स्वरकी परिपक्व उदात्तता और परिष्कृत गंभीरताके कारण ऊंचा उठा हुआ है और अतएव ये कविताएं आइसलैंड (Iceland) द्वीपके प्राचीन और मध्य

प्रस्तुत किया गया था, किसी परिचित कहानी और उपाख्यानके साथ जोड़ दिया गया था और जीवनके विशद निरूपणमें धुला-मिला दिया गया था और इस तरह एक ऐसी धनिष्ठ एव जीवन्त शक्ति बना दिया गया था जिसे काव्यमय वचनके द्वारा सभी लोग सहजमें ही आत्मसात् कर सकते थे क्योंकि वह वचन एक ही साथ अतरात्मा, कल्पना-शक्ति और बुद्धिको आकर्पित करता था।

विशेषकर महाभारत केवल भरतवशियोंकी कथा ही नहीं है, न यह राष्ट्रीय परपराका रूप ले लेनेवाली किसी प्राचीन घटनाका एक महाकाव्य ही है, बल्कि यह, एक बहुत बड़े पैमानेपर, भारतकी अतरात्माका, उसके धार्मिक एव नैतिक मन तथा सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों एव सस्कृति और जीवनका महाकाव्य है। इसके बारेमें एक उक्ति प्रसिद्ध है और उसमें कुछ हदतक सचाई भी है कि जो कुछ भी भारतमें है वह महाभारतमें भी है। महाभारत किसी एक ही व्यक्तिके मनकी नहीं बल्कि एक राष्ट्रके मनकी रचना एव अभिव्यक्ति है, यह तो एक सपूर्ण जातिकी अपने विषयमें लिखी हुई कविता है। इसपर काव्य-कलाके उन नियमोंको लागू करना निरर्थक होगा जो एक अपेक्षाकृत छोटे तथा सीमित उद्देश्य-वाले महाकाव्यपर लागू हो सकते है, किंतु फिर भी इसकी सभी छोटी-मोटी बातो तथा इसकी सपूर्ण रचना दोनोंपर एक महान् और सर्वथा सचेतन कलाका प्रयोग किया गया है। सपूर्ण कविताकी रचना एक विशाल राष्ट्रीय मदिरकी भाति की गयी है। वह (मदिर) अपने कक्षोंमें अपने महान् और जटिल विचारको एक-एक करके, शनै-शनै अनावृत करता है, उसमें अर्थपूर्ण सामूहिक चित्रो, मूर्तियो तथा शिलालेखोंकी भरमार है, सामूहिक चित्र दैवी या अर्ध-दैवी परिमापके अनुसार अकित किये गये हैं, वे एक ऐसी मानवताको अकित करते है जो समुन्नत होकर अतिमानवताकी ओर आधी ऊचाईतक ऊपर उठ चुकी है और फिर भी जो मानवीय उद्देश्य, विचार और भावके प्रति सदा सच्ची है, वहा यथार्थके सुरको आदर्शके स्वरोंके द्वारा निरतर ऊचा उठाया गया है, इस जगत्‌का जीवन भी विपुल परिमाणमें चित्रित किया गया है पर उसे पीछे अवस्थित जगतोकी शक्तियोंके सचेतन प्रभाव और उपस्थितिके अधीन रखा गया है, और सपूर्ण कृतिको एक सुसगत विचारकी जिसे काव्यमयी कहानीकी विशाल क्रम-परपरामें गुफित किया गया है, सुदीर्घ मूर्तिमत शृखलाके द्वारा एक अखड इकाईका रूप दे दिया गया है। जैसा कि महाकाव्यात्मक आख्यानमें आवश्यक ही है, कथा-नककी धारा इस काव्यका प्रमुख आकर्षण है और इसे अततक एक ऐसी गतिविधिके साथ निभाया गया है जो एक ही साथ व्यापक और सूक्ष्म है, अपनी समग्रतामें विशाल और सुस्पष्ट है, ब्योरोंमें आकर्षक और प्रभावशाली है तथा अपनी शैली और क्रमधारामें बराबर ही सरल, ओजस्वी और महाकाव्योचित है। यद्यपि इसका सारतत्त्व परम रोचक है और काव्यात्मक कथाके रूपमें इसकी वर्णन-शैली सजीव है पर इसके साथ ही यह इससे अधिक और कुछ भी है,—यह **इतिहास** है, अर्थात् एक अर्थपूर्ण कथा है जो आद्योपात भारतीय

अर्थपूर्ण आकारोंके सर्जनशील व्याख्याकारों तथा निर्माताओंके रूपमें अपना कर्तव्य समझते हुए इनका प्रणयन किया। जीवन-विषयक चिंतनका गहरा प्रभाव धर्म और समाजके संबंधमें एक व्यापक और जीवनप्रद दृष्टिकोण एवं दार्शनिक विचारका एक विशेष स्वर इन कविताओंमें सर्वत्र ओतप्रोत है और भारतकी समस्त प्राचीन संस्कृतिको बौद्धिक परिकल्पना और जीवंत निरूपणकी महान् शक्तिके साथ इनमें साकार रूप दिया गया है। महाभारतको पांचवां वेद कहा गया है इन दोनों कविताओंके बारेमें यह कहा गया है कि ये केवल महान् कविताएं ही नहीं अपितु धर्मशास्त्र हैं अर्थात् एक व्यापक धार्मिक नैतिक सामाजिक और राजनीतिक शिक्षाके ग्रंथ हैं और जातिके मन तथा जीवनपर इनका प्रभाव और प्रभुत्व इतने महान् रहे हैं कि इन्हें भारतवासियोंकी बाइबल कहा गया है। परंतु यह कोई बिलकुल ठीक उपमा नहीं है क्योंकि भारतवासियोंकी बाइबलमें वेद और उपनिषदें पुराण और तंत्र तथा धर्मशास्त्र भी समाविष्ट हैं प्रादेशिक भाषाओंके धार्मिक काव्यकी बृहत् राशिकी बात तो अलग ही रही। इन महाकाव्योंका कार्य उच्च दार्शनिक और नैतिक विचार तथा सांस्कृतिक आचारको जनतामें प्रचलित करना था भारतकी अंतरात्मा और विचारधारामें जो भी चीजें सर्वश्रेष्ठ थीं या जो उसके जीवनके लिये सच्ची थीं अथवा जो भी चीजें उस की सर्जनशील कल्पना और उसके आदर्श मनके लिये वास्तविक थीं या फिर उसकी सामा जिक नैतिक राजनीतिक और धार्मिक संस्कृतिके विशिष्ट स्वरूपको द्योतित करने तथा उस पर प्रकाश डालनेवाली थीं उन सबको सुस्पष्ट रूपमें हृदयग्राही उभार और प्रभावके साथ एक महान् काव्यके ढांचेमें तथा एक काव्यात्मक कथाकी पृष्ठभूमिमें और उन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियोंके जो जनताके लिये स्थायी राष्ट्रीय स्मृतियां और प्रसिद्ध प्रतिनिधि-पुरुष बन गये थे जीवन-लेखके चारों ओर प्रकट करना ही इन महाकाव्योंका कार्य था। इन सब चीजों-को एकत्र जुटाकर कलात्मक क्षमता और हृदयग्राही प्रभावके साथ एक ऐसे काव्य-संग्रहमें व्यवस्थित किया गया जो परंपराओंकी अभिव्यक्ति था। ये परंपराएं आधी काल्पनिक और आधी ऐतिहासिक थीं परंतु आगे चलकर लोगोंने उन्हें अत्यंत गंभीर और जीवंत सत्यके रूप में तथा अपने धर्मके एक अंगकी न्याईं मूल्य प्रदान किया। इस प्रकार लिपिबद्ध होकर महाभारत और रामायण चाहे मूल संस्कृतमें हों या प्रादेशिक भाषाओंमें फिरसे लिखे गये हों कथकों अर्थात् गानेवालों पाठ करनेवालों और व्याख्या करनेवालोंके द्वारा जनसाधारण तक पहुंचे लोक-शिक्षा और लोक-संस्कृतिका एक मुख्य साधन बन गये और बने रहे, इन्होंने भारतवासियोंके विचार चरित्र सौंदर्यात्मक और धार्मिक मनका गठन किया और यहांतक कि अनपढ़ लोगोंतक भी दर्शन नीतिशास्त्र सामाजिक और राजनीतिक विचारों सौंदर्यात्मक भाव काव्य गल्प और उपन्यासका एक प्रकारका पर्याप्त रंग चढ़ाया। जो चीज सुशिक्षित वर्गोंके लिये वेद और उपनिषदोंमें निहित थी गंभीर दार्शनिक सूत्र और ग्रंथमें बंद या धर्म-शास्त्र और अर्थशास्त्रमें प्रतिपादित थी उसे यहां सर्जनक्षम और सजीव आकारोंके रूपमें

प्रस्तुत किया गया था, किसी परिचित कहानी और उपाख्यानके साथ जोड दिया गया था और जीवनके विशद निरूपणमें घुला-मिला दिया गया था और इस तरह एक ऐसी घनिष्ठ एव जीवत शक्ति बना दिया गया था जिसे काव्यमय वचनके द्वारा सभी लोग सहजमें ही आत्मसात् कर सकते थे क्योकि वह वचन एक ही साथ अतरात्मा, कल्पना-शक्ति और बुद्धिको आकर्षित करता था।

विशेषकर महाभारत केवल भरतवशियोकी कथा ही नही है, न यह राष्ट्रीय परपराका रूप ले लेनेवाली किसी प्राचीन घटनाका एक महाकाव्य ही है, बल्कि यह, एक बहुत बडे पैमानेपर, भारतकी अतरात्माका, उसके धार्मिक एव नैतिक मन तथा सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों एव सस्कृति और जीवनका महाकाव्य है। इसके बारेमें एक उक्ति प्रसिद्ध है और उसमें कुछ हदतक सचाई भी है कि जो कुछ भी भारतमें है वह महाभारतमें भी है। महाभारत किसी एक ही व्यक्तिके मनकी नही बल्कि एक राष्ट्रके मनकी रचना एव अभिव्यक्ति है, यह तो एक सपूर्ण जातिकी अपने विषयमें लिखी हुई कविता है। इसपर काव्य-कलाके उन नियमोको लागू करना निरर्थक होगा जो एक अपेक्षाकृत छोटे तथा सीमित उद्देश्य-वाले महाकाव्यपर लागू हो सकते है, किंतु फिर भी इसकी सभी छोटी-मोटी बातो तथा इसकी सपूर्ण रचना दोनोपर एक महान् और सर्वथा सचेतन कलाका प्रयोग किया गया है। सपूर्ण कविताकी रचना एक विशाल राष्ट्रीय मदिरकी भाति की गयी है। वह (मदिर) अपने कक्षोमें अपने महान् और जटिल विचारको एक-एक करके, शनै-शनै. अनावृत करता है, उसमें अर्थपूर्ण सामूहिक चित्रो, मूर्तियो तथा शिलालेखोकी भरमार है, सामूहिक चित्र दैवी या अर्ध-दैवी परिमापके अनुसार अकित किये गये है, वे एक ऐसी मानवताको अकित करते हैं जो समुन्नत होकर अतिमानवताकी ओर आधी ऊचाईतक ऊपर उठ चुकी है और फिर भी जो मानवीय उद्देश्य, विचार और भावके प्रति सदा सच्ची है, वहा यथार्थके सुरको आदर्शके स्वरोंके द्वारा निरतर ऊचा उठाया गया है, इस जगत्का जीवन भी विपुल परिमाणमें चित्रित किया गया है पर उसे पीछे अवस्थित जगतोकी शक्तियोके सचेतन प्रभाव और उपस्थितिके अधीन रखा गया है, और सपूर्ण कृतिको एक सुसगत विचारकी जिसे काव्यमयी कहानीकी विशाल क्रम-परपरामें गुफित किया गया है, सुदीर्घ मूर्तिमत शृखलाके द्वारा एक अखड इकाईका रूप दे दिया गया है। जैसा कि महाकाव्यात्मक आख्यानमें आवश्यक ही है, कथा-नककी धारा इस काव्यका प्रमुख आकर्षण है और इसे अततक एक ऐसी गतिविधिके साथ निभाया गया है जो एक ही साथ व्यापक और सूक्ष्म है, अपनी समग्रतामें विशाल और सुस्पष्ट है, ब्योरोमें आकर्षक और प्रभावशाली है तथा अपनी शैली और क्रमधारामें बराबर ही सरल, ओजस्वी और महाकाव्योचित है। यद्यपि इसका सारतत्त्व परम रोचक है और काव्यात्मक कथाके रूपमें इसकी वर्णन-शैली सजीव है पर इसके साथ ही यह इससे अधिक और कुछ भी है,—यह इतिहास है, अर्थात् एक अर्थपूर्ण कथा है जो आद्योपात भारतीय

जीवन और संस्कृतिके केंद्रीय विचारों और आदर्शोंका प्रतिनिधित्व करती है। इसकी प्रमुख प्रेरणा है धर्म-विषयक भारतीय विचार। यहां सत्य प्रकाश और एकताकी दिव्य शक्तियों और अंधकार, विभाजन तथा असत्यकी शक्तियोंके बीच चलनेवाले संग्रामके वैदिक विचारको आध्यात्मिक धार्मिक और आभ्यंतरिक स्तरसे बाह्य बौद्धिक नैतिक और प्राणिक स्तरपर ले आकर प्रकट किया गया है। यहां कथाके रूपकमें यह विचार एक वैयक्तिक और राजनीतिक संघर्षका दोहरा रूप धारण कर लेता है वैयक्तिक संघर्ष तो भारतीय धर्मके महत्तर नैतिक आदर्शोंको मूर्तिमंत करनेवाले आदर्शस्वरूप और प्रतिनिधि-रूप व्यक्तियों तथा आसुरिक अहंकार, स्वेच्छा एवं धर्मके दुरुपयोगको मूर्तिमान् करनेवाले लोगोंके बीच है राजनीतिक संघर्ष वह संग्राम है जिसमें वैयक्तिक संघर्षकी परिसमाप्ति होती है। वह एक अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष है जिसके अंतमें सत्य और न्यायके नये शासनकी धर्मके राज्य अथवा साम्राज्यकी स्थापना होती है जो युद्ध करनेवाली जातियोंका एक करके राजाओं और उच्चश्रेणीय कुलोंकी महत्त्वाकांक्षापूर्ण उद्दंडताके स्थानपर न्यायपूर्ण और लोकोपकारी साम्राज्यकी प्रभुता चैन और शांतिकी प्रतिष्ठा करता है। यह देव और असुरका भगवान् और शैतानका चिरंतन संघर्ष है पर यहां इसे मानवजीवनकी परिभाषाओंमें प्रस्तुत किया गया है।

(संघर्षके) इस दोहरे रूपको जिस ढंगसे प्रकट किया गया है वैयक्तिक जीवनोंकी गतिविधिको जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है और राष्ट्रीय जीवनकी गतिविधिको पहले तो इन की (वैयक्तिक जीवनोंकी) पृष्ठभूमिके रूपमें और फिर राज्यों सेनाओं और राष्ट्रोंके कार्योंके रूपमें रंगमंचपर सामने लाकर जिस प्रकार दिखलाया गया है वह सब रचनाकी एक उच्च कोटिकी क्षमताको प्रकट करता है जो काव्यके क्षेत्रमें उस क्षमतासे मिलती-जुलती है जिसने भारतीय स्थापत्यमें कठिन कार्य किया और इस संपूर्ण रचनाका निर्वाह एक विशाल काव्यात्मक कला और अंतर्दृष्टिके साथ किया गया है। यहां भी विशाल व्योमाको एक समग्र दृष्टिमें भरा लेनेकी वैसी ही शक्ति दिखायी देती है और उन्हें सूक्ष्म प्रभावपूर्ण सजीव तथा अर्थपूर्ण ब्योरेकी बहुलतासे भर देनेकी वैसी ही प्रवृत्ति भी। आख्यानके ढांचेमें अन्य कहानियों उपकथाओं और प्रसंगोंके एक बहुत बड़े अंशको भी समाविष्ट किया गया है और इनका अधिकांश एक ऐसे अर्थपूर्ण ढंगका है जो इतिहासकी पद्धतिके उपयुक्त है और साथ ही दार्शनिक धार्मिक नैतिक सामाजिक और राजनीतिक विचारोंकी एक असाधारण राशि भी इसमें सम्मिलित की गयी है और ये विचार कभी तो सीधे और स्पष्ट रूपमें प्रतिपादित किये गये है और कभी किसी पौराणिक उपाख्यान और प्रासंगिक कथाके रूपमें ढालकर। उपनिषदोंके और महान् दार्शनिक विचार बीच-बीचमें बराबर ही लाये गये है और कभी-कभी उन्हें नव रूपोंमें विकसित भी किया गया है, जैसे गीतामें धार्मिक भावना और नैतिक भावना एवं शिक्षा इसके रेशे-रेशेमें ओतप्रोत है जातिके नैतिक आदर्शोंको या तो स्पष्ट रूपमें वर्णित किया गया है या फिर उन्हें किसी कथा उपाख्यानके आधारमें रूपांतरित और किन्हीं कहानियोंके

पात्रोंमें मूर्तिमत कर दिया गया है, राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों एवं प्रथाओंको भी इसी प्रकार अत्यंत सजीव और स्पष्ट रूपमें विकसित या चित्रित किया गया है और जनताके जीवनके साथ संबद्ध सौंदर्यात्मक तथा अन्य संकेतोंको भी स्थान दिया गया है। ये सब चीजें महाकाव्यके कथानकमें अद्भुत कुशलता और सूक्ष्मताके साथ गूंथी गयी हैं। ऐसी सम्मिलित और कठिन योजनामें तथा एक ऐसी रचनामें जिसके लिये विभिन्न योग्यतावाले अनेक कवियोंने योगदान किया है (शैली आदि संबंधी) कुछ विषमताओंका उत्पन्न हो जाना अनिवार्य ही था पर वे विषमताएं संपूर्ण योजनाकी व्यापक बृहत् जटिलतामें अपना-अपना स्थान प्राप्त कर लेती हैं और समग्र प्रभावमें बाधा न डालकर सहायता ही पहुंचाती हैं। यह संपूर्ण कृति एक जातिकी समग्र अंतरात्मा, विचारधारा और जीवनकी एक काव्यमय अभिव्यक्ति है जो अपनी ओजस्विता और पूर्णतामें अद्वितीय है।

रामायण भी मूलतः महाभारतसे मिलती-जुलती रचना है, भेद इतना ही है कि इसकी योजना अपेक्षाकृत अधिक सरल है, इसमें आदर्शात्मक प्रकृति अधिक सुकुमार है और काव्यात्मक ऊष्मा और रंगकी आभा अधिक सुंदर। यद्यपि इस कवितामें बहुत अधिक प्रक्षेप हुए हैं तथापि इसका अधिकांश, स्पष्टतः ही, एक ही व्यक्तिका रचा हुआ है और इसमें रचनाकी एकता कम जटिल एवं अधिक स्पष्ट है। इसमें दार्शनिककी मनोवृत्ति कम है और शुद्ध कविकी अधिक, इसमें कलाकार अधिक है, निर्माता कम। संपूर्ण कथा आदिसे अंततक बस एक ही है और उसमें कवि कथानककी धारासे कहीं भी अलग नहीं हटा है। साथ ही, यहां अंतर्दृष्टिकी वैसी ही विशालता है, परिकल्पनाकी महाकाव्योचित उदात्तताकी और भी अधिक उन्मुक्त उड़ान है और ब्योरेमें उस परिकल्पनाकी सूक्ष्म कार्यान्वितिकी सर्वत्र एकसी प्रचुरता है। महाभारतकी रचना-शक्ति, सशक्त कारीगरी और क्रम-पद्धति हमें भारतके गृह-शिल्पियोंकी कलाकी याद दिलाती है, रामायणकी रूपरेखाकी गरिमा और सुस्पष्टता, उसके रंगोंका वैभव और सूक्ष्म आलंकारिक विधान विशेषतः साहित्यमें भारतीय चित्रकलाकी भावना और शैलीकी छापको सूचित करते हैं। इस महाकाव्यके कविने भी अपनी रचनामें इतिहासको अर्थात् एक प्राचीन भारतीय वंशसे संबद्ध एक पुरातन कथा या आख्यायिकाको ही अपना विषय बनाया है और उसमें पौराणिक गाथा तथा लोक-कथाओंसे संगृहीत ब्योरों-को भर दिया है, परंतु इस सबको वे एक भव्य महाकाव्यात्मक चित्रणके स्तरपर उठा ले गये हैं ताकि यह उच्च उद्देश्य और मर्मको अधिक योग्यताके साथ वहन कर सके। इसका विषय महाभारतके जैसा ही है, पार्थिव जीवनमें दानवीय शक्तियोंके साथ दैवी शक्तियोंका संघर्ष, पर यहां इसे अधिक शुद्ध-आदर्शवादी रूपों तथा स्पष्टतः अतिलौकिक परिमाणमें प्रस्तुत किया गया है और मानव-चरित्रकी शुभ और अशुभ दोनों प्रकारकी वृत्तियोंको काल्पनिक रूपमें अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया है। एक ओर तो चित्रित है आदर्श मानवत्व, सद्गुण और नैतिक व्यवस्थाका दिव्य सौंदर्य एवं धर्मपर प्रतिष्ठित सभ्यता जो एक नैतिक

आदर्शके अत्युच्च रूपको चरितार्थ कर रही है और उस आदर्शको भी सुरुचिपूर्ण सौंदर्य सामंजस्य और माधुर्यके अपूर्वतया सफल आकर्षणके साथ प्रस्तुत किया गया है। दूसरी ओर है अमानुषी अहंकार और स्वेच्छा एवं उत्साहमयी हिंसाकी दुर्दांत अराजकतापूर्ण और प्राय: अनिश्चित आकारवाली शक्तियां और मानसिक प्रकृतिके इन दो विचारों और शक्तियों-को जीवंत और साकार रूप देकर इनका परस्पर संघर्ष कराया गया है और इसके चरम परिणामके रूपमें देवता-स्वरूप मानवकी राक्षसपर विजय दिखलायी गयी है। जो-जो छाया और जटिलता इस काव्यके प्रधान विचारकी एकांतिक मुखरताको पात्रोंकी रूपरेखामें प्रदर्शित प्रतिनिधि-रूप शक्तियों स्वभावके विशिष्ट रंगके महत्त्वको क्षीण करती उन सबका परि-त्याग कर दिया गया है और उनमें केवल उतने ही अंशको स्वीकार किया गया है जितना कि इसके आकर्षण और मूलार्थको मानवोचित रूप देनेके लिये पर्याप्त था। कवि हमें हमारे जीवनके पीछे विद्यमान अपरिमेय शक्तियोंसे अवगत कराते हैं और अपने [illegible] एक भव्य महाकाव्योचित दृश्यावलि—महान् राजकीय नगरी पर्वत और सागर वन और मरु-स्थल—के अंदर गढ़ देते हैं। इन सब चीजोंका वर्णन ऐसे विस्तारके साथ किया गया है जिससे हमें अनुभव हो कि मानो संपूर्ण जगत् उनके काव्यका दृश्यपट है और इसका विषय है मनुष्यकी समस्त दैवी और आसुरी सम्भवता जिसे शुभ एवं महान् या दानवीय पात्रोंके रूपमें चित्रित किया गया है। यहां भारतका नैतिक और सौंदर्यरसिक मन एक सुसमंजस एकताके अंदर परस्पर घुल-मिलकर आत्म-अभिव्यंजनाकी अभूतपूर्व विशुद्ध व्यापकता और सुन्दरतातक पहुंच गये हैं। रामायणने भारतीय कल्पनाशक्तिके लिये इसके चरित्र-संबंधी उच्चतम और कोमलतम मानवीय आदर्शोंको मूर्त रूप प्रदान किया बल साहस सज्जनता पतिव्रता विश्वासपात्रता और आत्मोत्सर्गका परिचय इसे अत्यंत मनोरम और सुसमंजस रूपोंमें कराया और उन रूपोंको इस प्रकार रंग दिया कि वे भावावेग और सौंदर्यभावनाको आकृष्ट कर सकें नैतिक नियमोंको उसने एक ओर तो समस्त घृणात्मक कठोरताके और दूसरी ओर निरी सामान्यताके आवरणसे मुक्त कर दिया और जीवनकी साधारण वस्तुओंको भी पति-पत्नी मां-बेटे और भाई-भाईके पारस्परिक प्रेमको राजा और नेताके कर्तव्य और प्रजा तथा अनुयायीकी राजभक्ति एवं निष्ठाको महान् व्यक्तियोंकी महत्ता और सरल लोगोंके सच्चे स्वरूप और मूल्यको एक प्रकारकी उच्च दिव्यता प्रदान की अपने आदर्श रंगोंकी आभासे नैतिक वस्तुओंको रंगकर एक अधिक आंतरात्मिक अर्थका सौंदर्य प्रदान कर दिया। भारत-के सांस्कृतिक मानसको गढ़नेमें वाल्मीकिकी कृतिने प्राय: एक अपरिमेय शक्तिसे युक्त साधन के रूपमें कार्य किया है इसने राम और सीता जैसे या फिर हनुमान लक्ष्मण और भरत सरीखे पात्रोंके रूपमें अपने नैतिक आदर्शोंकी सजीव मानव-प्रतिमूर्तियोंको उसके संमुख चित्रित किया है ताकि वह उनसे प्रेम कर सके और उनका अनुकरण कर सके राम और सीताको तो इतनी दिव्यताके साथ तथा मूल सत्यकी ऐसी अभिव्यक्तिके साथ चित्रित किया गया है

कि वे स्थायी भक्ति और पूजाके पात्र बन गये हैं, हमारे राष्ट्रीय चरित्रके सर्वोत्तम और मधुरतम तत्त्वोंमेंसे बहुतोंका गठन इन्हींने किया है, और इन्हींने उसके अदर उन सूक्ष्मतर और उत्कृष्ट पर सुदृढ आत्मिक स्वरोंको और उस अधिक सुकुमार मानव-प्रकृतिको उद्बुद्ध तथा प्रतिष्ठित किया है जो सद्गुण और आचार-व्यवहारके प्रचलित बाह्य अगोसे कहीं अधिक मूल्यवान् वस्तुए है।

इन महाकाव्योकी कवित्व-शैली इनके सारतत्त्वकी महानतासे निम्न कोटिकी नही है। जिस शैली और छदमे ये लिखे गये है उनमें बराबर ही एक उदात्त महाकाव्योचित गुण है, उज्ज्वल उच्चकोटिक सरलता और स्पष्टता है जो अभिव्यजनासे समृद्ध है पर है निरर्थक अलकारोंसे रहित, इनमे एक वेगमय, ओजस्वी, नमनीय और प्रवाहशील छद है जिसमें महा-काव्यका सगीत सदा ही निश्चित रूपसे विद्यमान रहता है। पर इन दोनोकी भाषाकी प्रकृतियोंमें कुछ अतर है। महाभारतकी अपनी विशिष्ट शब्दावलि प्राय कठोर रूपसे पुरु-षत्वपूर्ण है, यह अपने आतरिक आशयकी शक्ति और अपने मोडकी अत प्रेरित यथार्थतापर विश्वास रखती है, अपनी सादगी और स्पष्टतामें तथा बारबार आनेवाली सुन्दर और सुखद अलकारहीनतामें प्राय कठोर रूपसे सयत है, यह ओजस्वी और आशु काव्य-प्रतिभाकी और महान् तथा सरल प्राण-शक्तिकी वाणी है, यह सक्षिप्त और प्रभावपूर्ण पदोंमें भाव प्रकाशित करती है पर ऐसा यह एकनिष्ठ सच्चाईके बलपर ही करती है और, कुछेक जटिल स्थलो या उपाख्यानोको छोडकर, यह विषयको सक्षिप्त करनेके लिये अलकारोका किसी प्रकारका श्रम-पूर्ण प्रयोग नही करती। यह भाषा-शैली दौडनेवाले एक खिलाडीके उस हलके और पुष्ट तथा नग्न और निर्मल शरीरके समान है जिसमें स्वास्थ्यकी काति और स्वच्छता तो है पर मासकी निरर्थक वृद्धि या पेशियोका अतिरिक्त उभार नही है और जो दौड लगानेमें तेज और फुर्तीला है तथा कभी थकता नही। इस विशाल काव्यमे ऐसी चीजें भी बहुत-सी हैं जो निम्न शैलीकी है और ऐसा होना अनिवार्य ही था, पर इसमें ऐसी चीजें बहुत ही कम हैं या हैं ही नही जो उस विशेष प्रकारके स्थिर स्तरसे नीचेकी हो जिसमें इस गुणका कुछ-न-कुछ अश सदा ही विद्यमान रहता है। रामायणका शब्द-विन्यास एक अधिक आकर्षक साचे-में ढाला गया है जो ओज और माधुर्यका एव प्रसाद, ऊष्मा और लालित्यका एक आश्चर्य है, इसकी पदावलिमें केवल कवित्वका सत्य और महाकाव्यकी शक्ति एव भाषाशैली ही नहीं है बल्कि विचार, भाव या विषयकी अनुभूतिका सतत अतरग स्पदन भी है इसके स्थायी ओजमें और इसकी शक्तिके स्थायी श्वासोच्छ्वासमें एक सुन्दर आदर्श सुकुमारताका तत्त्व भी है। दोनो काव्योमें एक उच्च कवि-आत्मा और अत प्रेरित प्रज्ञा ही कार्य कर रही है दोनोंमें ही वेद और उपनिषदोका साक्षात्-अतर्ज्ञानात्मक मन बौद्धिक और बाह्यत -आतरात्मिक कल्पनाके पर्देके पीछे चला गया है।

यही है इन महाकाव्योका वह स्वरूप और ये ही है वे गुण जिनके कारण ये अमर हो

गये हैं भारतकी श्रेष्ठतम साहित्यिक और सांस्कृतिक निधियोंमें परिणमित होते हैं और राष्ट्रके मनपर अपना स्थायी प्रभुत्व प्राप्त किये हुए हैं। ऐसी छोटी-मोटी त्रुटियों और विषमताओंको छोड़कर जैसी इस उच्च स्तरपर प्रस्तुत की गयी और इतने दीर्घकालीन प्रयासके द्वारा रची गयी सभी रचनाओंमें पायी ही जाती हैं, पाश्चात्य आलोचकोंके अन्य आक्षेप केवल मनोवृत्ति और सौंदर्यात्मक रुचिके भेदको ही प्रकट करते हैं। योजनाकी विशालता और ब्योरेकी सुविस्तृत सूक्ष्मता पश्चिमी मनको चकरा और थका देती है क्योंकि वह क्षुद्रतर सीमाओं और अधिक आसानीसे पकड़नेवाली दृष्टि और कल्पनाका आदी है तथा उसका जीवन अल्पताओंसे भरा रहता है परंतु ये वृत्तियाँ उस विशालता और परिस्थितियोंके प्रति उस एकाग्रतापूर्ण जिज्ञासाके अनुकूल पड़ती हैं जो भारतीय मनकी स्वभावगत विशेषताएं हैं। स्थापत्यकलाके प्रसंगमें मैं संकेत कर ही चुका हूं कि ये विशेषताएं सार्वभौम चेतना और उसकी दृष्टि कल्पना तथा अनुभवसंबंधी क्रियाशीलताके स्वभावसे उत्पन्न होती हैं। (भारतीय और पश्चिमी मनोवृत्तिमें) दूसरा भेद यह है कि भारतमें पार्थिव जीवनको यथार्थवादी दृष्टिसे अर्थात् ठीक वैसे रूपमें जैसा कि वह स्थूल मनके लिये होता है नहीं देखा जाता बल्कि सदा ही उसे उसके पीछे अवस्थित बहुत-सी चीजोंके संपर्कमें रखकर देखा जाता है। भारतीय मनके अनुसार मनुष्यका कार्य-व्यापार महान् दैवी आसुरी और राक्षसी सत्ताओं और शक्तियोंसे घिरा होता है और उनसे प्रभावित होता है और अपने अतिमहान् विशिष्ट व्यक्ति इन अधिक विराट् व्यक्तित्वों और शक्तियोंके एक प्रकारके अवतार होते हैं। यह आक्षेप कि इससे व्यक्ति अपनी वैयक्तिक रुचि खो बैठता है और निर्व्यक्तिक शक्तियोंकी कठपुतली बन जाता है न तो वास्तविक दृष्टिसे ठीक है और न इस साहित्यके कल्पनामूलक पात्रोंकी यथार्थ रूपकी दृष्टिसे क्योंकि यहां हम देखते हैं कि इसके द्वारा उन व्यक्तियोंकी कर्मकी महानता एवं शक्ति और भी बढ़ जाती है निर्व्यक्तिकता उनके व्यक्तित्वकी क्रीड़ाको उच्च और उन्नत बनाती है और इस प्रकार इसके द्वारा वे ऊंचे ही उठते हैं। यहां लौकिक और अलौकिक प्रकृतिका जो सम्मिश्रण देखनेमें आता है वह कोई कोरी कल्पना नहीं है बल्कि यह पूर्ण सचाई और स्वाभाविकतासे युक्त है और इसके मूलमें वही उच्च धारणा काम कर रही है कि जीवनमें एक अधिक महान् सद्वस्तु विद्यमान है। यथार्थवादी आलोचक जिन बहुत-सी बातोंपर सख्त और असंगत उग्रताके साथ आपत्ति करता है—जैसे तपस्यासे शक्तियोंकी प्राप्ति दिव्य अस्त्रोंका प्रयोग आंतरात्मिक कर्म और प्रभावके पुनः-पुनः संकेत—उन्हें इस महत्तर सद्वस्तुके अर्थपूर्ण प्रतीक ही मानना होगा। इसी प्रकार, जहां सारा कार्य-कलाप ही साधारण मानवीय स्तरसे ऊंचे उठे हुए लोगोंका है वहां अतिशयोक्तिकी शिकायत भी समान रूपसे अयुक्तियुक्त ठहरती है क्योंकि हम कविसे उन्हीं अनुपातोंकी मांग कर सकते हैं जो उसकी कल्पनामें आये हुए जीवन-स्तरके सत्यके साथ सुसंगत हों हम उससे उन साधारण मापोंके प्रति कल्पना-विहीन निष्ठा रखनेके

लिये अनुरोध नही कर सकते जो यहा सर्वथा अप्रासगिक होनेके कारण मिथ्या ही होगे। इन महाकाव्योंके पात्रोमे निर्जीवता और व्यक्तित्वहीनताकी शिकायत भी ऐसी ही निराधार है राम और सीता, अर्जुन और युधिष्ठिर, भीष्म, दुर्योधन और कर्ण भारतीय मनके लिये तीव्र रूपमे वास्तविक, मानवीय और जीवत-जाग्रत् है। हा, इतनी बात जरूर है कि भारतीय कलाकी ही भाति यहा भी, मुख्य बल चरित्रके बाह्य लक्षणोपर नही दिया गया है, क्योकि इनका प्रयोग तो चित्रणमे सहायता करनेवाले साधनोकी न्याई गौण रूपमें ही किया गया है, यहा तो मुख्य रूपसे अतरात्माके जीवन तथा अतरीय आत्मिक गुणपर ही बल दिया गया है और इन्हे रूपरेखाकी यथासभव पूर्ण सजीवता, सबलता और शुद्धताके साथ निरूपित किया गया है। राम और सीता जैसे पात्रोकी आदर्शवादिता कोई निर्जीव और निस्तेज अवास्तविकता नही है, उनमे आदर्श जीवनके सत्यकी सजीवता है, जिस महानताको मनुष्य प्राप्त कर सकता है और अपनी अतरात्माको सुअवसर देकर प्राप्त कर ही लेता है उसके सत्यसे वे प्राणवत है। इस आक्षेपमे कोई बल नही है कि उनमें हमारी साधारण प्रकृतिकी खडित क्षुद्रताके लिये बहुत ही कम गुजायश है।

सुतरा, ये महाकाव्य अपरिष्कृत पौराणिक आख्यानो और लोककथाओका स्तूपमात्र नही है, जैसा कि अज्ञानपूर्वक आक्षेप किया जाता है, बल्कि जीवनके आभ्यतरिक अर्थोका अत्यत कलात्मक चित्रण है, ओजस्वी और उदात्त चितनका, विकसित नैतिक और सौंदर्यरसिक मन, तथा उच्च सामाजिक और राजनीतिक आदर्शका जीवत निरूपण है और एक महान् सस्कृतिकी चैतन्यमयी मूर्त्ति है। जीवनकी ताजगीमें यूनानके महाकाव्योंके समान भरपूर किंतु विचार और सारतत्त्वमें उनसे अनतत अधिक गभीर और विकसित, सस्कृतिकी परिपक्वतामें लैटिनके महाकाव्योंके समान समुन्नत पर ओज-गुणमें उनसे अधिक शक्तिशाली, प्राणवत और यौवनपूर्ण ये भारतीय महाकाव्य एक अधिक महान् और पूर्ण राष्ट्रीय एव सास्कृतिक कार्यकी पूर्तिके लिये रचे गये थे, इस प्राचीन भारतीय सस्कृतिकी महानता और उत्कृष्टताका इससे प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है कि उच्च और निम्न तथा सस्कृत और सर्वसाधारण दोनो श्रेणियोंके लोगोने इनका स्वागत किया है तथा इन्हे आत्मसात् किया है और बीस सदियोंसे ये बराबर ही सपूर्ण राष्ट्रके जीवनका अतरग और रचनात्मक भाग रहे है।

सुचारु अलकारोंसे भूषित, एक मूर्तिके समान सुगठित, और एक तस्वीरके समान चित्रित है, यद्यपि उसमें सिद्धहस्त कौशल और युक्ति है पर अभी वह कृत्रिमतासे मुक्त है, और फिर भी बुद्धिके द्वारा श्रमपूर्वक विरचित एक सावधानतापूर्ण कला-कृति है। वह सतर्कतापूर्वक स्वाभाविक है, प्रथम जन्मजात प्रकृतिकी स्वयस्फूर्त सहजताके द्वारा नही वरन् अभ्यास-अर्जित द्वितीय प्रकृतिकी सहजताकी सगठित मुद्राके द्वारा। बादमे आनेवाले लेखकोमें कौशल और युक्ति-कल्पनाके तत्त्व बढ जाते तथा प्रधानता प्राप्त कर लेते हैं, उनकी भाषा यद्यपि ओजस्वी और सुन्दर है, पर यह एक श्रमसिद्ध और सुविचारित रचना है और वह केवल सुशिक्षित श्रोतृवर्ग एव उच्चकोटिके विद्वानोको ही आकर्षित करती है। धार्मिक ग्रथ, पुराण और तत्र, एक अधिक गहरे तथा अभीतक तीव्र रूपमे जीवत स्रोतसे प्रेरित होते हैं, अपनी सरलताके द्वारा एक अधिक व्यापक आकर्षणको अपना लक्ष्य बनाते है और इस प्रकार महाकाव्योकी परपराको कुछ कालके लिये कायम रखते है, परतु उनकी सरलता एव स्पष्टता अधिक प्राचीन कालकी स्वाभाविक सहजता नही वरन् एक सकल्प-सिद्ध गुण है। अतमें सस्कृत पडितोकी भाषा बन जाती है और कुछ विशेष प्रकारके दार्शनिक, धार्मिक तथा विद्वत्तापूर्ण उद्देश्योको छोडकर जनताके जीवन और मनको व्यक्त करनेका मूल साधन नही रह जाती।

परतु साहित्यिक भाषाका यह परिवर्तन, समस्त प्रेरक अवस्थाओके होते हुए भी, हमारी सस्कृतिकी मनोवृत्तिके केद्रके महान् परिवर्तनसे सबध रखता है। केद्र अभी भी आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक एव नैतिक है और सदा ही ऐसा रहता है, पर अदरकी अधिक कठोर वस्तुए जरा पीछे हटकर पृष्ठभूमिमे स्थित होती दिखायी देती हैं, नि सदेह वे सर्वमान्य समझी जाती हैं और शेष सब वस्तुओपर छायी रहती है पर फिर भी अपने-आपको उनसे कुछ जुदा कर उन्हें उनके अपने विस्तार और लाभके लिये कार्य करने देती है। जो बाह्य शक्तिया स्पष्ट रूपमें सामने आ खडी होती हैं वे है जिज्ञासापूर्ण बुद्धि, प्राणिक आवेग, सौंदर्यप्रिय, शिष्टतापूर्वक क्रियाशील और सुखभोगात्मक ऐंद्रिय जीवन। यह तर्कमूलक दर्शन, विज्ञान, कला और उन्नत शिल्पोका, कानून, राजनीति, व्यापार और उपनिवेशीकरणका, व्यवस्थित एव समुन्नत प्रशासनोंसे युक्त बृहत् राज्यो और साम्राज्योका, चितन और जीवनके सभी विभागोमें शास्त्रोके सूक्ष्म शासनका महान् युग है, जो भी चीजें चमक-दमकवाली, इद्रिय-भोग्य और सुखप्रद है उन सबके उपभोगका, जो कुछ भी सोचा और जाना जा सकता था उस सबके विषयमें तर्क-वितर्क करनेका, जो कुछ भी बुद्धि और व्यवहारकी परिधिमें लाया जा सकता था उस सबको स्थिर और प्रणालीवद्ध रूप देनेका महायुग है,—भारतीय सस्कृतिका अत्यत भव्य, वैभवशाली और गौरवपूर्ण राम-राज्य है।

इस युगमें जिस बौद्धिकताका प्रभुत्व है वह किसी प्रकार भी चचल, सदेहवादी या निषेधात्मक नही है, बल्कि वह अत्यधिक अनुसधानशील और सक्रिय है, आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक

और सामाजिक सत्यकी जिन महान् धाराओंका अतीतमें अन्वेषण और प्रतिपादन हो चुका था उन्हें वह स्वीकार करती है पर साथ ही उनकी सब समग्र शाखा-प्रशाखाओंको विकसित करने पूर्ण बनाने सूक्ष्मता और समग्रताके साथ जानने तथा विस्तारपूर्वक सर्वथा सुप्रतिष्ठित प्रणालीका नियत रूप देने और उन्हें गठित करनेके लिये तथा बुद्धि इंद्रिय और जीवनको भरा-पूरा बनानेके लिये उत्सुक भी है। भारतीय धर्म दर्शन और समाजके महान् आधार मूल सिद्धांत और पद्धतियां उपलब्ध और प्रस्थापित हो चुकी हैं और भारतीय संस्कृतिके पग अब एक महत् परंपराकी सुदृढ़ता और सन्तोषकारी सुरक्षामें विचरण करते हैं परंतु इन क्षेत्रोंमें तथा इनसे अत्यधिक विस्तृत प्रदेशमें सृजन और अनुसंधान करनेके लिये महान् आरंभों विज्ञान शिल्प तथा साहित्यकी प्रबल प्रगतियों और शुद्ध बौद्धिक तथा सौन्दर्यबोधात्मक कार्य-कलापके स्वच्छंद विकासके लिए अभी भी बहुत अधिक गुंजायश है प्राणिक सत्ताके सुखभोगों और मानसिक सत्ताके संस्कार-परिष्कारके लिए और जीवनकी कला एवं तत्संबद्ध गतिविधिके विकासके लिये भी अभी विपुल क्षेत्र सामने पड़ा है। जीवन-क्षेत्रमें ऊंची बौद्धिकतासे रंगा हुआ एक प्राणिक दबाव तथा बहुमुखी रुचि देखनेमें आती है एक बौद्धिक और साथ-ही-साथ प्राणिक एवं ऐंद्रिय-तुष्टिको प्रश्रय देना इतना ही नहीं वरन् इससे भी आगे बढ़कर विषय-सुखकी स्थूल अनुभूतियोंको खुले रूपमें प्राप्त करना—यह सब कुछ इस युगमें पाया जाता है पर इस विषयोपभोगमें भी प्राचीन मनोवृत्तिके अनुसार एक प्रकारकी निष्ठा और व्यवस्था सौन्दर्यप्रिय संयमका तत्त्व एवं नियम-मर्यादाका पालन देखनेमें आता है जो सदा ही उस उद्दाम उच्छृंखलतासे बचाता है जिसकी शिकार अपेक्षाकृत कम संयमशील जातियां हुआ करती हैं। इस युगकी विशिष्ट केंद्रीय क्रिया है बौद्धिक समता क्षेम और सबल रुचिकी प्रधानता पायी जाती है। इससे अधिक प्राचीन युगमें भारतीय मन और प्राण-तत्त्वके अनेक तार एकीभूत तथा अभेद्य हैं वे एक अखंड और व्यापक झनकार हैं जिसे एक शक्तिशाली और विपुल पर सरल संगीतके लिये साधा गया है यहां वे संग-संग सब मिल—एक-दूसरेके साथ सबद्ध और सुसंगत अद्भुत और जटिल बहुलतामें एक प्रतीत होते हैं। अंतर्दर्शनात्मक मनकी महत्त्वपूर्ण पकड़का स्थान विश्लेषण और समन्वय करनेवाली बुद्धिको हथिया लेने न देती है। कला और धर्ममें अभी भी आध्यात्मिक और अंतर्दर्शनात्मक प्रेरणाकी प्रधानता है परन्तु साहित्यमें वह प्रेरणा उतनी प्रमुख नहीं है। धार्मिक और लौकिक पक्षोंमें एक निश्चित विभाजन कर दिया गया है जो पहलेके युगोंमें किसी महत्त्वपूर्ण मात्रामें विद्यमान नहीं था। महान् कवि और नाटककार लौकिक साहित्यका एक लिखा है और उनके दबावों रामायण और महाभारतकी भांति अपराजेय संग्राम धार्मिक और लौकिक अवस्था अब अलगसे कोई समाधान नहीं। धार्मिक काव्यकी सरिता तो अलग पुराणों और तन्त्रमें प्रवाहित हो रही है।

इस युगके महान् प्रतिनिधि-कवि हैं कालिदास। वह एक ऐसे मार्दव-कलाकी स्थापना

करते हैं जिसकी तैयारी उनके पहलेसे हो रही थी और जो उनके बाद भी सदियोतक कायम रहा, अवश्य ही इस बीच उसमें थोड़े-बहुत साज-शृगारकी वृद्धि तो अवश्य हुई पर सार-रूपमें कोई परिवर्तन नही हुआ। उनके काव्य एक विशेष प्रणाली और सार वस्तुका पूर्ण और सुसमजस रूपमें निर्मित नमूना हैं, अन्य कवियोने प्रतिभाके साथ सदा ही उस प्रणाली एव सारतत्वको उसी प्रकारके रूपोमे ढाला पर उनकी प्रतिभा अपनी क्षमतामें निम्न कोटिकी थी या फिर वह सुरतालकी दृष्टिसे कम सतुलित, कम निर्दोष और कम पूर्णांग थी। कालिदासके युगमें काव्यात्मक भाषाकी कला असाधारण पूर्णतातक पहुच गयी थी। स्वय काव्य एक ऐसी उच्च कोटिकी शिल्पकला बन चुका था जो अपने साधनोको जानती थी, अपने करणोका प्रयोग करते समय छोटी-मोटी बातोमे भी अत्यत सावधानता और सचाई बरतती थी, अपने शिल्पकौशलमे वास्तुकला, चित्रकारी और मूर्तिकलाके समान ही सतर्कता और यथार्थतासे काम लेती थी, रूपकी सुन्दरता और शक्तिको परिकल्पना, लक्ष्य और भावनाकी श्रेष्ठता और समृद्धताके समकक्ष तथा अपने रूप-विधानकी यथायथ पूर्णताको सौंदर्यात्मक अतर्दृष्टि अथवा भाविक या ऐंद्रिय अपीलकी पूर्णताके समकक्ष बनानेके लिये सजग थी। अन्य कलाओंकी भाति और सच पूछो तो इस सारे युगकी समस्त मानवीय कार्यप्रवृत्तियोकी भाति काव्य-कलामें भी एक शास्त्रकी, काव्यालोचनके एक सुसम्मत और सावधानतापूर्वक अनुसृत विज्ञान और कलाकी प्रतिष्ठा की गयी। वह कला एव विज्ञान प्रणालीकी पूर्णताको गठित करनेवाली सभी चीजोकी आलोचना करता तथा उन्हें सूत्रबद्ध करता था, वर्जनीय चीजोका निर्धारण करता था, मूलतत्त्वों और सभावनाओको जाननेके लिये अत्यत इच्छुक था पर इसके लिये वह आदर्शमानो और मर्यादाओके शासनके अधीन रहना पसद करता था। उन आदर्श-मर्यादाओंकी कल्पना अतिरजना या दोष-त्रुटि-रूपी समस्त प्रमादका निवारण करनेके उद्देश्यसे की गयी थी और इसलिये व्यवहारमें वे निकृष्ट या असावधानतापूर्ण, उतावली या अनियमित काव्यरचना करनेकी किसी प्रकारकी जरा-सी भी प्रवृत्तिके समान ही रचनाकी किसी प्रकारकी नियमहीनताके भी प्रतिकूल थी, यद्यपि कविका कल्पना और स्वच्छदताका जन्मसिद्ध अधिकार सिद्धात-रूपमें स्वीकार किया गया था। कविसे आशा की जाती है कि वह अपनी कलाके विषयमें पूर्णतया सचेत हो, इसके आवश्यक नियमो तथा स्थिर एव निश्चित मानदड और प्रणालीसे उतनी ही बारीकीके साथ परिचित हो जितनी बारीकीके साथ चित्रकार और मूर्तिकार होता है और अपनी आलोचक बुद्धि एव ज्ञानके द्वारा अपनी प्रतिभाकी उडानको नियत्रित करे। काव्य-रचनाकी यह सतर्क कला अतमें अत्यधिक मात्रामें एक कठोर परपरा बन गयी, यह अलकार-सबधी युक्ति-कौशलकी अत्यधिक सराहना करती थी, यहातक कि यूनानी काव्यके अलेग्जेंडरके समयके ह्रास-युगकी न्याईं, पण्डितोकी अत्यत विलक्षण विकृतियोंके लिये भी स्वीकृति देती तथा उनकी प्रशसा करती थी, पर अधिक प्राचीन कृतियोमें साधारणत ये त्रुटिया बिलकुल नही हैं या फिर ये केवल कभी-

कमी एवं कम ही पायी जाती है।

आजतक मानव मनने कम-से-कम आर्य या सेमिटिक[1] जातियोंके मनने विचार प्रकट करनेके जिन साधनोंका निर्माण किया है उनमेंसे विशुद्ध संस्कृत संभवतः सबसे अधिक अद्भुत रूपमें परिपूर्ण तथा सुक्षम साधन है। यह अभिव्यक्तिम संभव प्रसाद-गुणके द्वारा समुज्ज्वल है यथायथताकी परम सीमातक यथायथ है अपनी वाक्य-रचनामें सदा ही संक्षिप्त और अपने सर्वश्रेष्ठ रूपमें परिमित शब्दोंका व्यवहार करनेवाली भी है पर यह सब होते हुए भी यह श्री-हीन या निरलंकार कभी नहीं होती इसमें गंभीरताको स्पष्टतापर बलिदान नहीं किया गया है बल्कि इसमें अर्थकी अंतर्गर्भित समृद्धता उच्च ऐश्वर्य और सौंदर्यकी क्षमता तथा स्वर और भाषा-शैलीकी स्वाभाविक महत्ता है जो इसे प्राचीन कालसे परम्पराद्वारा प्राप्त हुई है। समास प्रचुर रचनाकी शक्तिका दुरुपयोग आगे चलकर गद्यके लिये घातक सिद्ध हुआ परंतु प्राचीनतर गद्य और काव्यमें जहां समासका प्रयोग सीमित है एक ऐसे संयत प्राचुर्यका वातावरण है जो संयमके द्वारा सबल हो उठा है और अपनी साधन-सम्पदाका अधिकतम उपयोग करनेमें और भी अधिक समर्थ हो गया है। प्राचीन श्रेष्ठ काव्यके महान्, सूक्ष्म और संगीतमय छंद ही जिनके नाम कल्पनाप्रधान आकर्षक और सुन्दर हैं तथा जिनकी क्षमता बहुविध और रचना सतर्कतापूर्ण है अपने-आपमें एक ऐसा सांचा है जो पूर्णताके लिये आग्रह करता है और निकृष्ट या फूहड़ कारीगरी या दोषपूर्ण सफलताकी संभावनाके लिये कदाचित् अवकाश ही नहीं देता। इस काव्यकलाकी इकाई है श्लोक अर्थात् चार पादोंवाला एक स्वयंपूर्ण पद्य और ऐसी आशा की जाती है कि प्रत्येक श्लोक अपने-आपमें एक पूर्ण कलाकृति हो किसी पदार्थ दृश्य विवरण विचार, भावना मनोदशा या भाव-तरंगकी सुसमंजस विचार और अर्थदिग्ध अभिव्यक्ति हो जो स्वयं एक स्वतंत्र चित्रके रूपमें टिक सके। श्लोकोंकी शृंखलाका पूर्ण इकाईमें पूर्ण इकाईकी वृद्धिके द्वारा एक अविच्छिन्न विकास होना चाहिये और इस प्रकार संपूर्ण कविताको या एक लंबे काव्यके किसी सर्गको एक कलात्मक और संतोषप्रद रचना होना चाहिये तथा एकके बाद एक आनेवाले सर्गोंको होना चाहिये समग्र स्वर-सामंजस्यका निर्माण करनेवाली सुनिश्चित मूर्च्छनाओंका विकास। इसी तरहके समर्थनापूर्ण कौशलके साथ रची हुई और अत्यंत सुसंस्कृत काव्य रचना कालिदासके काव्यमें अपनी पूर्णताकी पराकाष्ठातक पहुंची थी।

इस उत्कर्षके मूलमें दो गुण काम कर रहे हैं और वे यहां इतनी बड़ी मात्रामें विद्यमान हैं जिसकी समानता केवल महानसे महान् विश्व-कवियोंकी कृतियोंमें ही मिल सकती है और उन कवियोंमें भी वे सदा इतनी एकरस समरसताके साथ संयुक्त नहीं दिखायी देते न उन

---

[1] भूमध्य समुद्रके आसपास बसनेवाली यहूदी अरब सीरियन मिस्री आदि नयी-पुरानी जातियोंको सेमिटिक कहते हैं।—अनु

में रूप-विधान और सारतत्त्वका उतना समुचित सयोग ही दीख पडता है। कालिदास मिल्टन और वरजिलके साथ सर्वश्रेष्ठ काव्य-कलाकारोकी पक्तिमे स्थान ग्रहण करते है और उनकी कलामें भावना और सवेदना उक्त अग्रेज कविकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और सुकुमार है, तथा सहज-स्वाभाविक शक्तिका उच्छ्वास भी उक्त रोमन कविकी अपेक्षा अधिक महान् है और यह उसके रूप-विधानको जीवत और अनुप्राणित करता है। साहित्यमे उनकी शैली-से अधिक पूर्ण और सुसमजस शैली और कोई नही है, पूर्णत समस्वर और उपयुक्त वाक्-शैलीका उनमे अधिक अत प्रेरित, सतर्क और सिद्धहस्त शिल्पी और कोई नही है, उनकी वाक् शैलीमें शब्दोका प्रयोग तो कम-से-कम किया गया है पर इसके साथ ही वहा एक सुदक्ष सहजता और दिव्य सुषमाकी पूर्णतम अनुभूति प्राप्त होती है, और वहा एक ऐसी सुन्दर अतिशयोक्तिका भी बहिष्कार नही किया गया है, जो 'अति' से खाली है, वहा तो सौंदर्या-त्मक दृष्टिसे मूल्य रखनेवाली एक परिमार्जित सपदा है जो यथासभव अधिक-से-अधिक मात्रा-में विद्यमान है। भाव-प्रकाशनकी सुसमजस सक्षिप्तता---उसका एक भी शब्द, एक भी पद एव स्वर निरर्थक नही होता---तथा जो ज्ञानपूर्ण और प्रचुर वैभव प्राचीनतर उच्चकोटिक कवियो-का ध्येय था उसका सपूर्ण बोध, इन दोनो चीजोके कलात्मक सयोगको वह और किसीकी भी अपेक्षा अधिक पूर्ण रूपमें चरितार्थ करते है। किसी प्रकारकी अति किये बिना प्रत्येक पक्ति और प्रत्येक पदको समृद्धतम रग, मोहकता, आकर्षण और मूल्य, महत्ता या उत्कृष्टता अथवा ओजस्विता या मधुरता और सदा ही किसी प्रकार तथा यथोचित प्रकारके सौंदर्यकी पूर्णतम मात्रा प्रदान करनेमें उनके समान दिव्य कौशल और किसीमें नही है। उनका पद-सयोजन पद-चयनके समान ही उपयुक्त और प्रसादपूर्ण है। 'ऐंद्रिय' शब्दके उच्चतर अर्थमें वह सब कवियोमें अत्यत भव्य रूपमें ऐंद्रिय अर्थात् इद्रियसुखवादी हैं, क्योकि उन्हे अपने विषयकी स्पष्ट अतर्दृष्टि एव अनुभूति प्राप्त है, सुतरा उनकी ऐंद्रियता न तो लपटता-पूर्ण है और न अभिभूतकारी ही, वरन् यह सदा ही सतोषप्रद तथा समुचित होती है,. क्योकि यह बुद्धिके पूर्ण बलसे तथा उस गभीरता और ओजस्वितासे युक्त है जो कभी-कभी तो प्रत्यक्ष होती है और कभी-कभी सुन्दरताके अदर छिपी हुई पर अलकृत और चित्रित परिधानके भीतर भी पहचानी जा सकने योग्य होती है और क्योकि यहा राजसी भोगके अतस्तलमें एक राजोचित सयम निहित है। कालिदासको छदपर जो परिपूर्ण अधिकार प्राप्त है वह भी उतना ही महान् है जितना कि उनका भाषा-शैलीपर प्राप्त परिपूर्ण अधिकार। यहा हमें प्रत्येक प्रकारके छदमें सस्कृत-भाषाके शब्द-सामजस्यकी सर्वाधिक पूर्ण उपलब्धिया देखनेको मिलती है (शुद्ध गीत्यात्मक स्वर-माधुरी तो केवल आगे चलकर, इस युगके अतमें, जयदेव-जैसे दो-एक कवियोमें ही पायी जाती है), वे शब्द-सामजस्य सुन्दर स्वर-सगतियोकी सतत सूक्ष्म गहनतापर और उस अर्थपूर्ण सुरतालके शिष्ट प्रयोगपर आधारित हैं जो सगीतके स्वरकी प्रवाहशील एकताको कभी भग नही करता। और कालिदासके काव्यका दूसरा गुण

है सारतत्त्वकी अटूट पुष्कलता। विचार और सारतत्त्वके परिमाणरूप शब्द और स्वरके पूर्ण सौन्दर्यात्मक मूल्यको प्राप्त करनेके लिये सदा सतर्क रहते हुए वह इस बातकी ओर भी समान रूपसे सावधान रहते हैं कि स्वयं विचार और सारतत्त्व भी उच्च ओजोमय या प्रचुर बौद्धिक वर्णनात्मक या भावमय मूल्यसे संपन्न हों। उनकी परिकल्पना अपनी दृष्टिमें विशाल है यद्यपि इसमें प्राचीनतर कवियोंकी-सी वैसी विशालता नहीं है और साथ ही यह अपनी क्रियान्वितिके प्रत्येक पगपर अपने स्तरको कायम रखती है। अपनी साधन-सामग्रीका व्यवहार करनेमें इस कलाकारका हाथ कभी भूल-चूक नहीं करता—हां उनकी एक कृति[1] इस बातका अपवाद है जो रचनाके दोषसे विकृत है तथा उनकी कृतियोंमें सबसे कम महत्त्वपूर्ण है—और जिस प्रकार उनकी लेखनीका स्पर्श महान् और सूक्ष्म होता है उसी प्रकार उनकी कल्पना भी सर्वदा ही अपने कार्यके उपयुक्त होती है।

ये परमोच्च काव्योचित गुण जिस कार्यके लिये प्रयुक्त किये गये वह, अपने बाह्य-रूप और प्रणालीमें भिन्न होनेपर भी मूलतः बहुत कुछ वही था जो प्राचीनतर महाकाव्योंके द्वारा संपन्न किया गया था वह था—उसके अपने युगके भारतीय मन जीवन और संस्कृतिकी काव्यमय भाषामें व्याख्या करना तथा इन्हें अर्थपूर्ण रूपकों और अलंकारोंमें चित्रित करना। कालिदासके सात अद्यावधि जीवित काव्योंमेंसे प्रत्येक अपने ढंगसे अपनी सीमाओंके भीतर तथा अपने स्तरपर एक अत्युत्कृष्ट कृति है और सातों ही काव्य एक भव्य और सुसमालंकार युक्त चित्रमाला और लेखावलि हैं जिसका एकमात्र वास्तविक विषय भारतीय मानस जीवन और संस्कृतिकी व्याख्या और चित्रण ही है। उनका मन विपुल वैभवका भंडार था यह एक ही साथ एक ऐसे विद्वान् और पर्यवेक्षकका मन था जो अपने समयके समस्त ज्ञानसे संपन्न था अपने समयके राजनीति-विज्ञान और विधिशास्त्र समाज-विषयक धारणा प्रथाओं और उसके अंगोपांग धर्म गाथा-विज्ञान दर्शन और कला-शास्त्रमें निष्णात था राजदरबारोंके जीवनसे घनिष्ठ रूपमें परिचित तथा जनसाधारणके जीवनसे भी अभिज्ञ था प्रकृतिके जीवनका पशु-पक्षी ऋतु, वृक्ष और पुष्पका मनकी समस्त क्रिया तथा नेत्रकी समस्त क्रियाका व्यापक और अत्यंत सूक्ष्म रूपमें पर्यवलोकन करनेवाला था और साथ ही यह मन सर्वथा एक महान् कवि और कलाकारका मन था। उनकी कृतिमें उस पांडित्य या 'अति' विद्वताका स्पर्श नहीं है जो कि कुछ अन्य संस्कृत कवियोंकी कलाको विकृत करता है वह जानते हैं कि अपनी सब सामग्रीको अपनी कलाकी भावनाके अधीन कैसे रखा जाय और कैसे विद्वान् तथा पर्यवेक्षकको कविके लिये साधन-सामग्रीका संग्रह करनेवालेसे अधिक कुछ न बनने दिया जाय। परंतु प्रमाण-सामग्रीका ऐश्वर्य सदा ही तैयार और उपलब्ध रहता है और उसे

---

[1]यहां लेखकका संकेत कालिदासके सर्वप्रथम अप्रौढ़ खंड-काव्य 'ऋतुसंहार' की ओर है।—अनु

घटना, वर्णन तथा आनुषंगिक विचार और बाह्य-रचनाके अगके रूपमे निरंतर ही स्थान दिया जाता है अथवा वह सामग्री बीच-बीचमे उन रूपकोकी उज्ज्वल शृखलामें घुस आती है जो भव्य श्लोकों, श्लोकार्धो और युग्मकोकी सुदीर्घ मालाके रूपमे हमारे सामनेसे गुजरते है। भारत, उसके विशाल वन-पर्वत और मैदान और उसके निवासी, उसके नर-नारीगण और उसके जीवनकी परिस्थितिया, उसके जीव-जतु, उसके नगर और ग्राम, उसके तपोवन, नदिया, खेत और बाग-बगीचे कालिदासके उपाख्यान, नाटक और प्रेम-काव्यकी पीठिका हैं। उन्होंने इस सबको देख रखा तथा अपने मनको इससे परिपूरित कर रखा है और अपनी वर्णन-शक्तिके समस्त ऐश्वर्यके साथ इसे हमारे सामने सजीव रूपसे चित्रित करनेमें वह कभी नही चूकते। भारतके नैतिक और पारिवारिक आदर्श, वनमें रहनेवाले या पर्वतोपर ध्यान और तपमें सलग्न सन्यासीका जीवन और गृहस्थका जीवन, भारतके प्रसिद्ध रीति-रिवाज, सामाजिक आदर्श-मान और आचार-अनुष्ठान, उसके धार्मिक विचार, मत-विश्वास और प्रतीक उनके काव्योंकी शेष परिस्थितियो और वातावरणको प्रस्तुत करते है। देवताओ और राजाओंके उदात्त कार्य, मानवकी अधिक श्रेष्ठ या सुकुमार भावनाए, स्त्रियोका सौंदर्य और लावण्य, प्रेमी-प्रेमिकाओंका काम-परायण प्रेम, ऋतुओकी परपरा और प्रकृतिके दृश्य---ये उनके प्रिय विषय है।

अनुभवके कलासबधी, सुखभोगात्मक और ऐंद्रिय पक्षोका वर्णन करनेमें वह अपने युगकी सच्ची सतान है और प्रधान रूपसे प्रेम-शृगार, सौंदर्य, तथा जीवनके सुखके कवि हैं। उच्चतर वस्तुओंके लिये अपने प्रगाढ बौद्धिक अनुरागमें और ज्ञान, सस्कृति, धार्मिक विचार, नैतिक आदर्श, एव तपोमय आत्म-प्रभुत्वकी महत्ताकी अत्यधिक सराहनामें भी वह अपने युगका प्रतिनिधित्व करते है, और इन चीजोको भी वह जीवनके सौंदर्य और आकर्षणका अग बना देते हैं तथा इन्हे इसके पूर्ण और भव्य चित्रणके अत्युत्तम तत्त्वोंके रूपमें देखते है। उनकी समस्त कृतियोंके रेशे-रेशेमें यही चीज भरी हैं। उनका श्रेष्ठ साहित्यिक महाकाव्य, "रघुवंश", हमारी जातिकी उच्चतम धार्मिक और नैतिक सस्कृति तथा आदर्शोंके प्रतिनिधि-रूप प्राचीन राजाओंके एक वशकी कथाका वर्णन करता है और इसके गूढार्थोंको प्राय चित्रात्मक रूपमें वर्णित भावना और कार्य-कलाप, श्रेष्ठ या सुन्दर विचार और वाणी तथा सजीव घटना, दृश्य और परिपार्श्वकी अद्भुत साज-सज्जासे परिवेष्टित करके उन्हे हमारे सामने प्रकट करता है। एक और असपूर्ण महाकाव्य,[1] जो वैसे तो पूरे काव्यका एक बृहत् अश ही है पर कविकी रचना-पद्धतिकी उत्कृष्टताके कारण, जहातक कथानक दिया गया है वहातक, अपने-आपमें पूर्ण है, विषयकी दृष्टिसे देवताओंका एक पौराणिक उपाख्यान, देवासुर-सग्रामका चिरतन प्रसग है, जिसका समाधान यहा महादेव और महादेवी (पार्वती) के मिलनके द्वारा प्रस्तुत किया गया है, पर भाव-प्रकाशनकी दृष्टिसे यह काव्य प्रकृतिका तथा भारतके

---

[1]कुमारसभव---अनु०

जन-जीवनका वर्णन है जिसे पावन हिमगिरितक तथा महान् देवतात्माके धाममें दिव्य महत्ता-तक उठा ले जाया गया है। उनके तीन नाटक[1] प्रेम भावकी धुरीके चारों ओर चक्कर काटते हैं पर उनमें भी जीवनके विवरण और चित्रणपर इसी प्रकारका बल दिया गया है। एक काव्य भारतीय वर्षकी रंग-बिरंगी ऋतु-परम्पराका स्पष्ट प्रतिपादन करता है। एक और काव्य[2] प्रेम-रूपी दूतको उत्तर भारतके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक ले जाता है अपनी यात्रामें वह दूत इसकी सुदीर्घ दृश्यमालाको निहारता जाता है और इस काव्यका उपसंहार प्रेमके सजीव सुकुमारतया ऐंद्रिय और भावप्रधान चित्रणके द्वारा किया गया है। विषयवस्तुके इन विविध विन्यासोंमें हम उस युगके भारतके मानस उसकी परंपरा एवं भावना तथा उसके समृद्ध सुन्दर और व्यवस्थित जीवनका एक अद्भुत ढंगका पूर्ण चित्र पाते हैं उसकी अत्यंत गहनतम वस्तुओंका नहीं क्योंकि इन्हें तो और कहीं खोजना होगा बल्कि इसकी संस्कृतिके उस युगकी तत्कालीन अत्यंत विशिष्ट बौद्धिक प्राणिक और कलात्मक प्रवृत्तिका पूर्ण चित्र पाते हैं।

इस युगका शेष सारा काव्य अपनी शैलीमें मुख्यतः कालिदासके काव्यके ही समान है क्योंकि व्यक्तिगत विभेदोंके होते हुए भी इसमें विचार-मानस और स्वभाव तथा सामान्य विषयसामग्री एवं काव्यप्रणाली वैसी ही है और उसके अधिकांशमें ऊंची प्रतिभा या असाधारण गुण और वैशिष्ट्य है भले ही उसमें वैसी पूर्णता सुन्दरता और प्रौढ़ता न हो। भारवि और माघके साहित्यिक महाकाव्य[3] ह्रासकालके आरंभको घोषित करते हैं। इस ह्रासका लक्षण यह है कि रूप पद्धति और शैलीका अलंकारशास्त्रीय और श्रमसाध्य आदर्श जो कवित्वकी प्रतिभापर एक भारी बोझ डाल देता है तथा अंतमें इसका दम घोंटकर ही रहता है कवि और परंपराकी बढ़ती हुई कृत्रिमता तथा रुचिके स्थूल दोष जो इस बातकी साक्षी देते हैं कि भाषा साहित्य-स्रष्टाके हाथोंसे निकलकर पंडित और विद्याभिमानीके अधिकारमें जानेवाली है—ये सब चीजें बलपूर्वक और अधिकाधिक स्थान जमाती जाती हैं। माघकी कविता एक स्वाभाविक कृति होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक अलंकार-शास्त्रके नियमके द्वारा निर्मित एक कृत्रिम रचना है और वह श्रुतिमधुर अनुप्रास जटिल विशेषाक्षरबंध और कष्ट

---

[1] अभिज्ञानशाकुन्तल मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय। [2] ऋतुसंहार।

[2] मेघदूत। [3] किरातार्जुनीय और शिशुपालवध।

पद्यके आदिमें या अंतमें या आदि मध्य और अंतमें विशेष-विशेष अक्षरोंको रखते हुए कृत्रिम ढंगकी जो रचना की जाती है उसे विशेषाक्षरबंध कहते हैं। ऐसे पद्यको एक विशेष ढंगसे सजाकर लिखनेपर एक विशेष प्रकारकी आकृति या चित्र बन सकता है। इसीलिये ऐसी काव्य-रचनाको चित्रकाव्य भी कहते हैं। इससे बननेवाली आकृति या चित्रके भेदके अनुसार इसके कई प्रकार होते हैं जैसे—पद्मबंध खड्गबंध छत्रबंध चमरबंध मुरज बंध आदि।—अनु

साध्य श्लेषके अत्यत निकृष्ट आलोचित प्रयोगोको गुणोके रूपमे प्रदर्शित करते हैं। भारवि ह्रासकालके प्रभावसे अपेक्षाकृत कम कलकित है पर इससे सर्वथा मुक्त नही है, और इसके प्रभावके द्वारा वह अपनेको पथभ्रष्ट होने देते है और परिणामत ऐसी बहुत-सी चीजोमे जा भटकते है जो न तो उनकी प्रकृति और प्रतिभाके अनुकूल है और न अपने-आपमे सुन्दर या सत्य ही है। तथापि भारविमें गभीर काव्यात्मक चिंतन, तथा वर्णनकी महाकाव्योचित उदात्तताके अत्युत्कृष्ट गुण है और माघमें ऐसे नैसर्गिक काव्योचित गुण है जिनसे उन्हे साहित्यमें अधिक गण्य-मान्य पद उपलब्ध हो सकता था यदि पाडित्य-प्रदर्शन उनके कवित्वमें व्याघात न पहुचाता। प्रतिभामें रुचि और शैलीके दोषके इस मिश्रणमें प्राचीन युगके परवर्ती कवि एलिजावेथ-कालीन कवियोसे मिलते-जुलते है। भेद इतना ही है कि एलिजावेथ-कालीन कवियोमें तो असगति एक स्थूल और अभीतक अपरिपक्व सस्कृतिका परिणाम है और प्राचीन भारतीय कवियोमें एक अतिपक्व और ह्रासोन्मुख सस्कृतिका। तथापि वे सस्कृत साहित्यके इस युगके स्वरूपको, इसके गुणो पर साथ ही इनकी उन त्रुटियोको भी अत्यत सुस्पष्ट रूपसे प्रकट करते हैं जो कालिदासमें दृष्टिगत नही होती तथा उनकी प्रतिभा-की छटामें छिप जाती है।

यह काव्य प्रधान रूपसे उस विचारधारा और जीवन तथा उन वस्तुओका एक परिपक्व तथा सुचिंतित काव्यात्मक चित्रण और आलोचन है जिनमें सभ्यताके अत्यत उन्नत एव बौद्धिक युगमें अभिजात और सस्कृत वर्गकी परपरागत रुचि थी। इसमें सर्वत्र बुद्धिका प्राधान्य है और, जब यह बुद्धि एक ओर स्थित होकर शुद्ध विषयगत चित्रणके लिये अवकाश देती प्रतीत होती है तब, उसपर भी यह अपनी प्रतिमूर्तिकी छाप लगा देती है। प्राचीनतर महाकाव्यो-में विचार, धर्म, आचार-नीति और प्राणिक चेष्टाए—ये सभी चीजें सबल रूपमें जीवनसे अनुप्राणित है, कवित्व-बुद्धि वहा क्रियाशील है पर वह सदा ही अपने कार्यमें तल्लीन है, अपने-आपको भूलकर अपने विषयके साथ एक हो गयी है, और यही चीज उनकी महान् सर्जन-शक्ति और जीवत और काव्योचित सहृदयता और ओजस्विताका रहस्य है। बादके कवि भी इन्ही चीजोमें रुचि रखते है पर एक ऐसी तीव्र-चिंतनात्मक अनुभूति एव समीक्षात्मक बुद्धिके साथ जो अपने विषयोके सग निवास करनेकी अपेक्षा कही अधिक सदा ही उनका निरीक्षण किया करती है। साहित्यिक महाकाव्योमे जीवनका सच्चा स्पदन बिलकुल नही है, है केवल उसका एक अविकल भव्य वर्णन। कवि ऐसी चित्रित घटनाओ, दृश्यो, ब्योरो, पात्रो और मनोवृत्तियोकी सुदर शृखला हमारे सामनेसे गुजारता है जो समृद्ध रूपमें रजित, यथार्थ और सजीव होती है तथा आखके लिये विश्वासोत्पादक और आकर्षक भी, पर इस सौंदर्य एव आकर्षणके होते हुए भी हमें शीघ्र ही अनुभव हो जाता है कि ये केवल प्राणयुक्त चित्र है। नि सदेह, वस्तुओको स्पष्ट रूपमें देखा गया है, पर कल्पनाकी अधिक बाहरी आखके द्वारा ही, कविने अपनी बुद्धिके द्वारा

उनका पर्यालोचन किया है तथा अपनी ऐंद्रिय कल्पनाके द्वारा उनकी प्रतिमूर्ति भी गढ़ी है परन्तु आत्मामें पैठकर उन्हें गहराईके साथ जीवनमें नहीं उतारा है। केवल कालिदास ही रचना-पद्धतिकी इस त्रुटिसे मुक्त हैं क्योंकि उनमें एक महान् चिंतनशील कल्पनाकुशल तथा ऐंद्रिय संवेदनोंको ग्रहण करनेवाली कवि-आत्मा है जो उसके द्वारा चित्रित वस्तुओंको जीवनमें उतार चुकी है और उनका सृजन करती है न कि केवल भव्य दृश्यों और पात्रोंको कल्पनाके द्वारा गढ़ती है। शेष कवि केवल कभी-कभी ही इस त्रुटिसे ऊपर उठते हैं और तब वे केवल एक भव्य या प्रभावशाली ही नहीं अपितु महान् रचनाका सृजन करते हैं। किन्तु उनकी साधारण कृति भी इतने सुचारु रूपसे विरचित है कि वह अपने गुण-वैभवके लिये महत् और अपरिमित प्रशंसाकी अधिकारिणी है पर परमोच्च प्रशंसाकी नहीं। अंततः यह सर्जनात्मक होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक अलंकारात्मक ही है। इस कवित्व-पद्धतिके स्वरूपसे एक आध्यात्मिक निष्कर्ष निकलता है, वह यह कि हम यहां उस समयके भारतकी प्रचलित विचारधारा आचारनीति सौंदर्यरसिक संस्कृति तथा धर्मिष्ठ एवं ऐंद्रिय जीवनकी अत्यंत स्पष्ट झांकी पाते हैं पर यहां इन वस्तुओंका बाह्य रूप-स्वरूप जितना ठीक पड़ता है उतनी इनकी गंभीरतर आत्मा नहीं। काफी ऊंची और आदर्श कोटिका नैतिक और धार्मिक विचार यहां प्रचुर मात्रामें है और वह सर्वथा सत्यतापूर्ण भी है पर उसकी सत्यता केवल बौद्धिक ही है और इसीलिये यहां उस गंभीरतर धार्मिक भाव या जीवंत नैतिक शक्तिकी छाप नहीं है जिसे हम महाभारत और रामायणमें तथा भारतकी अधिकांश कला और साहित्यमें पाते हैं। समाधिमय जीवनका भी यहां चित्रण पाया जाता है पर केवल इसके विचारों और बाह्य रूपमें ऐंद्रिय जीवनका चित्रण भी वैसी ही सतर्क और यथार्थ रीतिसे किया गया है— इसका गहन निरीक्षण और मूल्यांकन किया गया है और आंख तथा बुद्धिके लिये सुचारु रूपसे इसकी प्रतिकृति उतारी गयी है पर कविकी आत्मामें न तो इसका गहराईके साथ अनुभव किया गया है और न सृजन। बुद्धि इतनी अधिक अनासक्त और सूक्ष्म-निरीक्षक बन गयी है कि वह जीवनकी स्वाभाविक शक्तिके साथ या अंतर्मनिमज्जक तदात्मताके साथ वस्तुओंको जीवनका अंग नहीं बना सकती। अतिविकसित बौद्धिकतावादका गुण और साथ ही इसका दोष भी यही है और यह सदा ही ह्रासका अग्रदूत रहा है।

बौद्धिकताप्रधान प्रवृत्ति एक और प्रकारकी रचना सुभाषित अर्थात् पद्यबद्ध सूक्तियोंकी बहुलताके रूपमें भी प्रकट हुयी है। यह श्लोककी स्वतंत्र पूर्णताका एक ऐसा प्रयोग होता है जिससे कि वह अपनी पृथक् स्वयंपूर्णतामें किसी विचारके जीवनकी किसी संक्षिप्त रूप रेखा या महत्वपूर्ण घटना एवं किसी भावनाके संहत सार और वर्णनको व्यक्त कर प्रकाश करे। यह विचार आदि इस प्रकार प्रकट किये जाते हैं कि उनका मूलभाव बुद्धिको हृदयंगम हो जाय। इस प्रकारकी रचना अत्यंत बहुल मात्रामें की गयी है और यह सराहनीय भी है क्योंकि यह उस युगकी तीक्ष्ण बुद्धि और विशाल परिपक्व तथा सुसंचित अनुभूतिके

अनुकूल थी परंतु भर्तृहरिकी रचनामें यह प्रतिभाका आकार धारण कर लेती है, क्योंकि वह केवल विचारके द्वारा ही नहीं बल्कि भावावेगके द्वारा, यूं कहिये कि भावकी द्रवीभूत बौद्धिकता तथा एक ऐसी अंतरीय अनुभूतिके द्वारा लिखते हैं जो उनकी वाणीको महत् शक्ति और कभी-कभी तो तीक्ष्णता भी प्रदान करती है। उनकी सूक्तियोंके तीन शतक हैं, पहलेमें[1] उच्च नैतिक विचार या सांसारिक ज्ञान, या जीवनके विभिन्न पक्षोंपर संक्षिप्त विचार-विमर्श व्यक्त किये गये हैं, दूसरेका[2] विषय है शृंगार-भाव, यह पहले शतककी अपेक्षा बहुत कम प्रभावशाली है क्योंकि यह कविकी अपनी प्रकृति और प्रतिभाकी अपेक्षा कहीं अधिक कुतूहल और पारिपार्श्विक वातावरणका फल है, और तीसरेमें[3] जगत्से वैराग्यपूर्ण क्लांति और पराङ्मुखताकी घोषणा की गयी है। भर्तृहरिकी यह त्रिविध रचना उस युगके मानसकी तीन प्रमुख प्रेरणाओंकी सूचक है, जीवनमें इसकी विचारणात्मक रुचि और उच्च, सबल तथा सूक्ष्म चिंतनाकी ओर प्रवृत्ति, ऐंद्रिय सुखभोगमें इसकी निमग्नता, और इसका वैराग्यमय आध्यात्मिक झुकाव—जो पहलीका परिणाम है तथा दूसरीका मुक्ति-मूल्य। इस आध्यात्मिकताके स्वरूपके कारण भी भर्तृहरिकी यह कृति एक गूढार्थकी सूचक है, यह आध्यात्मिकता अब पहलेकी तरह आत्माकी अपने उच्च स्तरकी पूर्णताकी ओर महान् स्वाभाविक उड़ान नहीं है, वरन् बुद्धि और इंद्रियोंका जो अपने-आपसे तथा जीवनसे ऊब चुकी हैं तथा वहां अपना अभीष्ट संतोष प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं, आत्माकी निष्क्रियतामें शांति पानेके लिये जीवनसे मुंह फेरना है ताकि बलात् मन और इंद्रिय उस निष्क्रियतामें अपनी पूर्ण शांति और विश्राम प्राप्त कर सकें।

परंतु नाटक इस युगके कवि-मानसकी सबसे अधिक आकर्षक रचना है, यद्यपि इसी कारण वह महत्तम रचना नहीं है। उसमें इसकी अतिशय बौद्धिकताको नाटकात्मक काव्यकी आवश्यकताओंसे बाध्य होकर जीवनके असली आकार और गतिविधिके साथ अधिक घनिष्ठ और सृजनशील रूपमें एक हो जाना पड़ा। संस्कृत नाटक जिस ढंगसे लिखे गये हैं वह एक सुन्दर शैली है और जो नाटक परंपराक्रमसे हमतक पहुंचे हैं उनमेंसे अधिकतरमें इसका प्रयोग एक सिद्धहस्त कला और सच्ची सर्जन-क्षमताके साथ किया गया है। तथापि यह भी सत्य है कि यह यूनानी या शेक्सपीयरके नाटकोंकी महानताओंतक नहीं पहुंचता। इसका कारण यह नहीं कि भारतीय नाटकोंसे शोकात्मक स्वरका बहिष्कार किया गया है,—क्योंकि मृत्यु, शोक, दुर्धर्ष विपत्ति या कर्मके हृदयविदारक प्रतिफलके रूपमें नाटकका उपसंहार दिखाये बिना भी महत्तम कोटिकी नाटक-रचना की जा सकती है, और फिर भी यह कोई ऐसा स्वर नहीं है जिसका भारतीय मनमें नितांत अभाव हो,—क्योंकि महाभारतमें यह पाया जाता है और रामायणके अधिक प्राचीन उल्लासपूर्ण एवं जयशाली उपसंहारमें भी यह आगे चलकर

---

[1]नीतिशतक। [2]शृंगारशतक। [3]वैराग्यशतक।

जोड़ दिया गया था पर शांति और स्थिरताका उपसंहारात्मक स्वर भारतीय स्वभाव और कल्पनाके सत्त्वोन्मुख झुकावके अधिक अनुकूल था। इसके विपरीत इसका कारण यह है कि इनमें नाटकीय ढंगसे जीवनके महान् प्रश्नों और समस्याओंका कोई साहसपूर्ण विवेचन नहीं किया गया है। ये नाटक अधिकतर रूमानी नाटक हैं जो उस समयके अत्यंत संस्कृत जीवन-को प्राचीन माया एवं आख्यायिकाके ढांचेमें ढालकर उसके चित्रों और सुस्थिर पहलुओंको प्रदर्शित करते हैं परंतु इनमेंसे कुछ एक अधिक यथार्थवादी हैं और उस युगके नागरिक गृहस्थके स्वरूप अथवा अन्य पुरुषोंका या किसी ऐतिहासिक विषयका चित्रण करते हैं। राजाओंके शानदार दरबार या प्रकृतिके पृष्ठभूमिका सौंदर्य इनका अधिक सामान्य दृश्य है। परंतु इनका विषय या प्रकार कोई भी क्यों न हो ये जीवनकी प्रोज्ज्वल प्रतिलिपियां या उसके कल्पनामूलक रूपांतर मात्र हैं और वस्तुतः-महत्तम या अत्यंत हृदयग्राहक नाट्य-रचना के लिये किसी और चीजकी भी जरूरत होती है। किंतु फिर भी इनका रचना-प्रकार एक उच्च या ओजस्वी या सुकुमार काव्यको और मानव कर्म एवं हेतुकी किसी अत्यंत गंभीर व्याख्याको न सही पर इसके चित्रणको स्थान देता है और इस प्रकार-विशेषकी दृष्टिसे इनमें कोई न्यूनता नहीं है। काव्य-सुषमा और सूक्ष्म अनुभूति तथा वातावरणका महान् आकर्षण-कालिदासके शाकुंतलमें जो समस्त साहित्यके बीच अत्यंत सर्वांगपूर्ण और मनोमोहक रूमानी नाटक है यह आकर्षण अपने सर्वाधिक पूर्ण रूपको प्राप्त कर लेता है—या भावना और अभिनयका रोचक मोड़ नाट्य-कलाके माने हुए सिद्धांत और सावधानतापूर्वक पालन किये हुए सूत्रके अनुसार घटनाके उग्र कोलाहलके बिना अथवा स्थिति-विशेषपर या पात्रोंकी बहुल-[illegible] अत्यधिक बल न देते हुए संयत मात्रामें कुशलता और शिष्टताके साथ कथानकका [illegible] मधुरता और स्थिरताके प्रधान स्वरके द्वारा गतिशीलताका नियमन सूक्ष्म मनोविज्ञान [illegible] रूपोंके द्वारा चरित्रका उस प्रकारका सुस्पष्ट अंकन नहीं जिसकी यूरोपकी नाटक-[illegible] साधारणत अपेक्षा की जाती है बरन् कथोपकथन और अभिनयके रूपमें हलके स्पर्शो-[illegible] हुए सूक्ष्म रेखित—[illegible] नाटकोंकी आम विशेषताएं हैं। यह एक ऐसी कला है [illegible] एक अत्यंत सुसंस्कृत वर्गने किया था जो उन्नत बौद्धिक और सूक्ष्म-दर्शी था [illegible] आकर्षण माधुर्य एवं सौंदर्यको सर्वाधिक पसंद करता था और इसी [illegible] वर्जित भी करती थी और इसमें इस प्रकार-विशेषकी त्रुटियां तो हैं [illegible] भी [illegible]मान हैं। इस कलाके सर्वश्रेष्ठ युगमें रचनाकी अटूट श्री-[illegible] नाममें और उनकी परंपराको आगे बढ़ानेवाले प्रेमकों-[illegible] भी उत्कृष्ट ओज है भवभूतिके नाटकोंमें विशालता और [illegible] और [illegible]रामकी पूर्णतामें एक उच्च सौंदर्यकी पराकाष्ठा है।

[illegible] प्यारोंसे परिपूर्ण कथात्मक कहानियां आम रचित हुई [illegible] राजतरंगिणी इतिहास-जैसे सर्वथा धार्मिक अथवा शास्त्र-

निक या यथार्थवादी कथाओंके संग्रह, जातक, पद्यात्मक कथाओंके वैभव और अखूट प्राचुर्यसे युक्त कथासरित्सागर, पञ्चतंत्र और उसकी अपेक्षा संक्षिप्त हितोपदेश जो प्रखर व्यवहार-ज्ञान, नीति और राजकौशलकी विशाल राशिके सबको एक चुभती योजना बनानेके लिये पशु-पक्षियोंकी किस्से-कहानियोंकी पद्धतिका विकास करते हैं, तथा अन्य कम प्रसिद्ध कृतियोंकी वृहत् राशि—ये सब तो उस साहित्यिक कृतित्वके अबतक बचे हुए अवशेष मात्र हैं जो, जैसा कि अनेकानेक संकेतोंसे पता चलता है, अवश्य ही अत्यंत विशाल रहा होगा। परन्तु ये अव-शेष भी इतने पर्याप्त रूपमें प्रचुर और प्रतिनिधि-स्वरूप हैं कि एक उच्च संस्कृति, वैभवशाली बौद्धिकता, समृद्ध धार्मिक, सौंदर्यात्मक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्राणिक कर्मण्यतासे संपन्न एक महान् और व्यवस्थित समाज, एक बहुमुखी विकास, तथा जीवनकी यथेष्ट हल-चलकी सघन और उज्ज्वल छाप एवं बहुरंगी तस्वीर चित्तपर अंकित कर देते हैं। प्राचीनतर महाकाव्योंके समान ही ये इस जनश्रुतिको पूर्ण रूपसे असत्य सिद्ध कर डालते हैं कि भारत तत्त्वज्ञान और धार्मिक स्वप्नोंमें डूबा हुआ था तथा जीवनके महान् कार्योंको करनेमें असमर्थ था। इस धारणाको जन्म देनेवाला एक अन्य तत्त्व यह है कि यहां दार्शनिक चिंतना और धार्मिक अनुभूतिका एक उत्कट आयास जारी था। पर सच पूछो तो इस युगमें यह आयास प्राय एक पृथक् गतिधाराका अनुसरण करता है और इस बाह्य कर्मण्यताकी धूमधाम और चहल-पहलके पीछे उस विचारधाराको और उन प्रभावों, स्वभाव एवं प्रवृत्तियोंको क्रमशः विकसित करता है जिन्हें एक और सहस्राब्दीतक भारतवासियोंके जीवनका परिचालन करना था।

जोड़ दिया गया था पर शांति और स्थिरताका उपसंहारात्मक स्वर भारतीय स्वभाव और कल्पनाके सत्त्वोन्मुख झुकावके अधिक अनुकूल था। इसके विपरीत इसका कारण यह है कि इनमें नाटकीय ढंगसे जीवनके महान् प्रश्नों और समस्याओंका कोई साहसपूर्ण विवेचन नहीं किया गया है। ये नाटक अधिकतर रूमानी नाटक हैं जो उस समयके अत्यंत संस्कृत जीवन-को प्राचीन गाथा एवं आख्यायिकाके ढांचेमें ढालकर उसके चित्रों और सुस्थिर पदक्षेपोंको प्रदर्शित करते हैं परन्तु इनमेंसे कुछ एक अधिक यथार्थवादी हैं और उस युगके नागरिक गृहस्थक स्वरूप अथवा अन्य दृश्योंका या किसी ऐतिहासिक विषयका चित्रण करते हैं। राजाओंके शानदार दरबार या प्राकृतिक परिपार्श्वका सौंदर्य इनका अधिक सामान्य दृश्य है। परंतु इनका विषय या प्रकार कोई भी क्यों न हो ये जीवनकी प्रोज्ज्वल प्रतिलिपियाँ या उसके कल्पनामूलक रूपांतर मात्र हैं और वस्तुतः महत्तम या अत्यंत हृदयग्राहक नाट्य-रचना-के लिये किसी और चीजकी भी जरूरत होती है। किन्तु फिर भी इनका रचना-प्रकार एक उच्च या ओजस्वी या सुकुमार काव्यको और मानव कर्म एवं हेतुकी किसी अत्यंत गंभीर व्याख्याको न सही पर इसके चित्रणको स्थान देता है और इस प्रकार-विशेषकी दृष्टिसे इनमें कोई न्यूनता नहीं है। काव्य-सुषमा और सूक्ष्म अनुभूति तथा वातावरणका महान् आकर्षण — कालिदासके शाकुंतलमें जो समस्त साहित्यके बीच अत्यंत सर्वांगपूर्ण और मनोमोहक रूमानी नाटक है यह आकर्षण अपने सर्वाधिक पूर्ण रूपको प्राप्त कर लेता है—या भावना और अभिनयका रोचक मोड़ नाट्य-कलाके माने हुए सिद्धांत और सावधानतापूर्वक पालन किये हुए सूत्रके अनुसार घटनाके उग्र कोलाहलके बिना अथवा स्थिति-विशेषपर या पात्रोंकी बहुल-तापर अत्यधिक बल न देते हुए सतत मात्रामें कुशलता और शिष्टताके साथ कथानकका विकास मधुरता और स्थिरताके प्रधान स्वरके द्वारा गतिक्रमका नियमन सूक्ष्म मनोविज्ञान तीव्र स्पर्शोंके द्वारा चरित्रका उस प्रकारका सुस्पष्ट अंकन नहीं जिसकी यूरोपकी नाटक-कलामें साधारणतः अपेक्षा की जाती है वरन् कथोपकथन और अभिनयके रूपमें हल्के स्पर्शों-के द्वारा सूक्ष्म संकेत—ये इन नाटकोंकी खास विशेषताएं हैं। यह एक ऐसी कला है जिसका निर्माण एक अत्यंत सुसंस्कृत वर्गने किया था जो उन्नत बौद्धिक और सूक्ष्म-दर्शी था और शांत-रसात्मक आकर्षण माधुर्य एवं सौंदर्यको सर्वाधिक पसंद करता था और इसी वर्गको यह कला आकर्षित भी करती थी और इसमें इस प्रकार-विशेषकी त्रुटियाँ तो हैं पर साथ ही इसके गुण भी विद्यमान हैं। इस कलाके सर्वश्रेष्ठ युगमें रचनाकी अद्भुत भी सुषमा और उत्कृष्टता पायी जाती है भासमें और उनकी परंपराको आगे बढ़ानेवाले लेखकों-में अधिक स्पष्ट, प्रत्यक्ष पर फिर भी उत्कृष्ट ओज है भवभूतिके नाटकोंमें विशालता और शक्तिमत्ताका उच्छ्वास है और कालिदासकी पूर्णतामें एक उच्च सौंदर्यकी पराकाष्ठा है।

यह नाटक यह काव्य धर्मगाथात्मक ओजोंसे परिपूर्ण कथात्मक कहानियाँ बाण-रचित हर्ष-का जीवनचरित या सोमराज-लिखित कश्मीरका इतिहास-जैसे प्रबंध धार्मिक अथवा काव्य

निक या यथार्थवादी कथाओंके संग्रह, आनंदक, पद्यात्मक कथाओंके वैभव और अखूट प्राचुर्यसे युक्त कथासरित्सागर, पंचतंत्र और उसकी अपेक्षा संक्षिप्त हितोपदेश जो प्रसर व्यवहार-ज्ञान, नीति और राजकौशलकी विशाल राशिके ढांचेमें एक सुघटित योजना बनानेके लिये पशु-पक्षियोंकी किस्से-कहानियोंकी पद्धतिका विकास करते हैं, तथा अन्य कम प्रसिद्ध कृतियोंकी बृहत् राशि—ये सब तो उस साहित्यिक कृतित्वके अबतक बचे हुए अवशेष मात्र हैं जो, जैसा कि अनेकानेक संकेतोंसे पता चलता है, अवश्य ही अत्यंत विशाल रहा होगा। परंतु ये अव-शेष भी इतने पर्याप्त रूपमें प्रचुर और प्रतिनिधि-स्वरूप हैं कि एक उच्च संस्कृति, वैभवशाली बौद्धिकता, समृद्ध धार्मिक, सौंदर्यात्मक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्राणिक कर्मण्यतासे संपन्न एक महान् और व्यवस्थित समाज, एक बहुमुखी विकास, तथा जीवनकी यथेष्ट हल-चलकी सघन और उज्ज्वल छाप एवं बहुरंगी तस्वीर चित्तपर अंकित कर देते हैं। प्राचीनतर महाकाव्योंके समान ही ये इस जनश्रुतिको पूर्ण रूपसे असत्य सिद्ध कर डालते हैं कि भारत तत्त्वज्ञान और धार्मिक स्वप्नोंमें डूबा हुआ था तथा जीवनके महान् कार्योंको करनेमें असमर्थ था। इस धारणाको जन्म देनेवाला एक अन्य तत्त्व यह है कि यहां दार्शनिक चिंतना और धार्मिक अनुभूतिका एक उत्कट आयास जारी था। पर सच पूछो तो इस युगमें यह आयास प्रायः एक पृथक् गतिधाराका अनुसरण करता है और इस बाह्य कर्मण्यताकी धूमधाम और चहल-पहलके पीछे उस विचारधाराको और उन प्रभावों, स्वभाव एवं प्रवृत्तियोंको क्रमशः विकसित करता है जिन्हें एक ओर सहस्राब्दीतक भारतवासियोंके जीवनका परिचालन करना था।

पर्यालोचन करती है और अपनी समीक्षात्मक या पुन-सर्जक पर्यालोचना एव स्वीकृतिको कलात्मक चित्रण और अलकारक रूपककी तीव्र रेखाओ और समृद्ध रगोके द्वारा सजीव बना देती है। मूल शक्ति और अतर्ज्ञानात्मक दृष्टि अब सत्ताके बाह्य, अर्थात् ऐंद्रिय, वस्तुगत एव प्राणिक पक्षोमें अत्यत प्रबलताके साथ कार्य करती है, और इस युगमे इन्ही पहलुओको अधिक पूर्णताके साथ हाथमे लेकर प्रकट किया जा रहा है और धार्मिक क्षेत्रमें आध्यात्मिक अनुभवके विस्तारके लिये आधार बनाया जा रहा है।

भारतीय सस्कृतिके इस विकासका आशय शुद्ध साहित्यके क्षेत्रके बाहर इस समयके दार्शनिक ग्रथोमें और पुराणो तथा तत्रोंके धार्मिक काव्यमें अधिक स्पष्ट रूपसे प्रकट होता है। ये दोनो प्रवृत्तिया एक साथ मिलकर शीघ्र ही एक अखड वस्तु बन गयी और इस सुसस्कृत युगकी एक अत्यत सजीव एव स्थायी क्रियावली सिद्ध हुई। जनताके मनपर इनका अत्यत स्थिर प्रभाव पडा। इन्होने सर्जनशील शक्तिका काम किया और परवर्ती लोकप्रिय साहित्योमें इन्हीने सर्वाधिक प्रधान भाग लिया। जातीय मनके जन्मजात स्वभाव, सामर्थ्य और गभीर आध्यात्मिक बुद्धि एव भावनाका ही यह एक अद्भुत प्रमाण है कि इस युगका दार्शनिक चितन अपने पीछे ऐसा अपरिमित प्रभाव छोड गया, क्योकि यह चितन ऊचे-से-ऊचे तथा कठोर-से-कठोर बौद्धिक ढगका था। (हमारी जातिकी) यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीन कालमें ही आरभ हो चुकी थी और इसने बौद्ध धर्म, जैनधर्म तथा महान् दार्शनिक सम्प्रदायोको जन्म दिया था, यह उसकी तत्त्वचितक प्रज्ञाका प्रयास थी जिसका उद्देश्य अतर्ज्ञानात्मक अध्यात्म-अनुभवसे उपलब्ध सत्योको तर्कबुद्धिके समक्ष निरूपित करना था तथा उन्हे यौक्तिक एव कठोरत-न्यायशास्त्रीय तर्क-अनुमानकी सूक्ष्म कसौटीपर कसकर उनसे वे सब फलितार्थ निकालना था जिनकी खोज विचारशक्ति कर सकती है। छठी और तेरहवी शतियोंके बीचके युगकी प्रचुर दार्शनिक रचनाओमे यह प्रवृत्ति किंवा प्रयास अपनी सुविस्तृत एव सावधानतापूर्ण तर्कणा, सूक्ष्म समीक्षा एव मीमासा और प्रबल तार्किक रचना एव क्रमबद्धताकी शक्तिकी चरम सीमापर पहुच जाता है। दक्षिणके महान् विचारको, शकर, रामानुज और मध्व, की कृतिया इस युगके विशेष चिह्न है। यह प्रवृत्ति यही आकर नही समाप्त हो गयी, बल्कि अपने अत्यत भव्य दिनोके बाद भी जीवित बची रही और हमारे इस युगतक भी चलती चली आयी और प्रचलित प्रणालीपर आधारित भाष्यो एव टीकाओकी अविच्छिन्न शृखलाके बीच यह कभी-कभी महान् सर्जनशील विचारधारा तथा प्राय नूतन एव सूक्ष्म दार्शनिक भावना उद्भासित करती रही यहा जातिके मनमें दार्शनिक प्रवृत्तिका ह्रास कभी नही हुआ बल्कि इसका तेज बराबर ही बना रहा। इसने दार्शनिक ज्ञान घर-घरमें प्रसारित कर दिया। इसका परिणाम हम यह देखते है कि औसत भारतीय मन भी, एक बार प्रबुद्ध होते ही, अति सूक्ष्म एव गभीर विचारोका भी आश्चर्यजनक तीव्रताके साथ प्रत्युत्तर देता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नया या पुराना कोई

भी हिन्दू संप्रदाय तबतक जन्म नहीं ले सका जबतक कि उसने अपने आधारके रूपमें किसी स्पष्ट दार्शनिक तत्त्व और सिद्धांतका विकास नहीं कर लिया।

गद्यात्मक दार्शनिक कृतियां साहित्यकी श्रेणीमें आनेकी अधिकारिणी नहीं हैं, इनमें आलोचनात्मक पहलू प्रधान है। इनका कोई सुनिश्चित सर्जनात्मक स्वरूप नहीं है पर कुछ अन्य ऐसी रचनाएं भी हैं जिनमें संपूर्ण विचारका एक अधिक सुविरचित भवनके रूपमें निर्माण करनेका प्रयास किया गया है और इसके लिये साहित्यका जो रूप अपनाया गया है वह साधारणतः दार्शनिक कविताका है। इस रूपको पसंद करनेका अर्थ यह है कि उपनिषदों और गीताकी परंपराका सीधा प्रवाह सुरक्षित रखा गया है। इन कृतियोंको काव्यके रूपमें बहुत ऊंचा स्थान नहीं दिया जा सकता, ये विचारोंके भारसे इतनी अधिक दबी हुई हैं और भाषाकी अंतर्ज्ञानात्मक क्षमतासे भिन्न बौद्धिक क्षमताकी प्रधानताके कारण इतनी अधिक बोझिल हैं कि इनमें वह जीवनोच्छ्वास और प्रत्याभास हो ही नहीं सकते जो सर्जनकारी कवि-मानसके अपरिहार्य गुण होते हैं। इनमें जो चीज अत्यंत सक्रिय है वह है खंडन-मंडनात्मक बुद्धि न कि साक्षात्कार करने और उसे प्रकाशित करनेवाली दृष्टि। आत्मा और परमात्माके दर्शन और परमोच्च विश्व-दर्शन करके उस दर्शनका स्तुतिगान करनेवाली आत्मा-की अतिविशाल महानता इसमें नहीं पायी जाती और न ही इसमें वह आत्मस्पर्शी ज्योति देखनेमें आती है जो उपनिषदोंकी शक्ति है। आत्माके जीवन और अनुभवसे सीधा उद्भूत होनेवाला प्रत्यक्ष विचार, पूर्ण ओजस्वी और सर्वेक्षमय सम्यामति और स्पष्टताकी दीप्त सुषमा जो गीताकी काव्यात्मक गरिमाका निर्माण करनेवाली चीजें हैं—इन सबका भी इसमें अभाव है। तथापि इनमेंसे कुछ कविताएं, उत्कृष्ट काव्य न सही, सराहनीय साहित्य अवश्य हैं। इनमें सर्वोच्च दार्शनिक प्रतिभा और विलक्षण साहित्यिक योग्यताका सम्मिश्रण है। निःसंदेह ये मौलिक कृतियां तो नहीं हैं पर ऐसी उदात्त एवं दक्षतापूर्ण रचनाएं अवश्य हैं जो ऊंची-से-ऊंची संभव विचार-धाराको मूर्तिमंत करती हैं, प्राचीन उत्कृष्ट संस्कृत भाषाकी सारी-की-सारी गुर्वर्थ संहत एवं परिमित पदावलिका सम्यक्तया प्रयोग करती हैं और उसके लय-तालकी समस्वरता एवं भव्य सुषमाको सफलतापूर्वक साधित करती हैं। विवेक-चूडामणिमें जो शंकर-प्रणीत मानी जाती है तथा उसी प्रकारकी अन्य कविताओंमें हमें ये गुण अपने अत्युत्तम रूपमें दिखायी देते हैं। यहांतक कि विवेकचूडामणिमें तो हमें इसकी अति गुरु प्रवृत्तिके होते हुए भी उपनिषदोंकी वाणी और गीताकी शैलीकी बौद्धिक प्रतिध्वनि सुनायी देती है। ये कविताएं, अधिक प्राचीन भारतीय ग्रंथोंकी गरिमा एवं सुषमासे निम्न कोटिकी भले ही हों पर अन्य किसी भी देशकी ऐसी कविताओंकी तुलनामें ये कम-से-कम काव्य-शैलीकी दृष्टिसे समकक्ष तथा विचारकी उच्चताकी दृष्टिसे उत्कृष्टतर हैं और, अतएव यह सर्वथा उचित ही है कि ये अपने रचयिताओंके अभिमत उद्देश्यको परिपूर्ण करनेके लिये आज तक भी जीवित हैं। हमें यहां-वहां बिखरे पड़े उन कतिपय दार्शनिक गीत-ग्रंथोंका उल्लेख

करता भी कदापि नहीं भूलना चाहिये जो एक साथ ही दार्शनिक विचार तथा काव्यात्मक सौंदर्यका घनीभूत सार हैं। नाही हमें उन स्तोत्रोंके विपुल साहित्यको दृष्टिसे ओझल करना चाहिये जिनमेंसे अनेकों अपनी शक्ति और उच्छ्वासमें और छंद एवं व्यंजनाकी छटामें चरम सीमाको पहुंचे हुए हैं। ये शक्ति और उच्छ्वास आदि हमें बादके प्रादेशिक साहित्यमें इसी प्रकारकी पर बृहत्तर रचनाके लिये तैयार करते हैं।

भारतकी दार्शनिक कृतियां यूरोपके विशालकाय तत्त्वचिंतनसे इस बातमें भिन्न हैं कि जब वे बौद्धिक रूप और प्रणालीको अधिक-से-अधिक अपनाती हैं तब भी उनका वास्तविक सारतत्त्व बौद्धिक नहीं होता, वरंच वह दर्शन और आध्यात्मिक अनुभूतिकी सामग्रीपर क्रिया करनेवाली एक सूक्ष्म तथा अत्यंत गंभीर प्रज्ञाका फल होता है। इसका मूल कारण यह है कि भारतने दर्शन, धर्म और योगमें बराबर ही अटूट ऐक्य बनाये रखा है। भारतीय दर्शन उस सत्यका अंतर्ज्ञानात्मक वा बौद्धिक निरूपण है जिसे कि सर्वप्रथम धार्मिक मन तथा उसके अनुभवोंके द्वारा खोजा गया था। यह सत्यको विचारके सम्मुख प्रकाशित करने और तर्क-बुद्धिके समक्ष प्रमाणित करनेभरसे कभी संतुष्ट नहीं होता, यद्यपि यह कार्य भी इसमें सराह-नीय रूपसे संपन्न किया गया है; बल्कि इसकी दृष्टि तो बराबर आत्माके जीवनमें इस सत्यका साक्षात्कार करनेकी ओर, अर्थात् योगके ध्येयकी ओर लगी रहती है। इस युगका चिंतन, बौद्धिक पहलूको इतनी अधिक प्रधानता देनेपर भी, भारतीय स्वभावकी इस अटल आवश्यक-ताका कभी व्यतिक्रम नहीं करता। यह आध्यात्मिक अनुभवको लेकर बुद्धिके यथायथ एवं श्रमपूर्ण निरीक्षण एवं अंतःप्रेक्षणके द्वारा बाहरकी ओर क्रिया करता है और फिर बौद्धिक प्रत्ययोंको लेकर उनसे अध्यात्म-अनुभवकी नयी प्राप्तियोंके लिये पीछेकी ओर तथा अंदरकी ओर क्रिया करता है। निःसंदेह, सत्यको खंड-खंड करने और एकांगी रूप देनेकी प्रवृत्ति भी देखनेमें आती है, उपनिषदोंका महान् सर्वांगीण सत्य, पहलेसे ही, चिंतनके विभिन्न संप्रदायोंमें विभाजित हो चुका है और ये भी अब आगे और कम व्यापक दार्शनिक संप्रदायोंमें विभक्त होते जा रहे हैं, परंतु इन संकुचित शाखा-संप्रदायोंमेंसे हरएकमें सूक्ष्म या गूढ़ अन्वेषणकी अधिकाधिक वृद्धि देखनेमें आती है और, सब मिलाकर, शिखरोंपर विशालताकी कमी होते हुए भी उसके बदलेमें आत्मसात् करने योग्य अध्यात्मज्ञानका कुछ विस्तार-सा पाया जाता है। आत्मा और बुद्धिके बीच होनेवाले आदान-प्रदानका यह जो ताल-छंद था कि आत्मा प्रकाश देती थी और बुद्धि खोज करती, उपलब्धि करती तथा निम्न जीवनको आत्माकी स्फुरणाएं आत्मसात् करनेमें सहायता देती थी, इस (ताल-छंद) ने भारतीय आध्यात्मिकताको ऐसी अद्भुत तीव्रता, सुरक्षितता और दृढ़ता प्रदान करनेमें योग दिया जिसका दृष्टांत अन्य किसी जातिमें नहीं मिलता। निःसंदेह, अधिकांशमें यह इन्हीं दार्शनिकोंका, जो साथ-ही-साथ योगी भी थे, कार्य था जिसने भारतकी आत्माकी उसके अधःपतनकी घनघोर निशामें भी रक्षा की एवं इसे जीवित रखा।

परन्तु यह कार्य किया ही न जा सकता यदि लोगोंकी कल्पना और भाव-तरंगोंको तथा उनकी नैतिक एवं सौंदर्यात्मक बुद्धिको आकर्षित करनेवाले अधिक सुबोध विचारों रूपों और प्रतीकोंके एक विपुल समुदायकी सहायता इस कार्यमें प्राप्त न होती। इन विचारों रूपों आदिके लिये यह आवश्यक था कि ये कुछ अंशमें तो उच्चतर अध्यात्म-सत्य-की अभिव्यक्ति हों और कुछ अंशमें सामान्य धार्मिक मनोवृत्ति तथा आध्यात्मिक मनोवृत्ति-के बीच एकसे दूसरीतक पहुँचनेके लिये सेतुका काम करें। इस आवश्यकताकी पूर्ति तन्त्रों और पुराणोंने की। पुराण इस युगका अपना विशिष्ट धार्मिक काव्य है क्योंकि यद्यपि काव्यका यह रूप संभवतः प्राचीन कालमें भी विद्यमान था तथापि इसका पूर्ण विकास इस युगमें आकर ही हुआ और यह धार्मिक भावनाकी एक विशिष्ट एवं प्रधान साहित्यिक अभिव्यंजना बन पाया और निःसंदेह पुराण-शास्त्रोंके संपूर्ण सार-तत्त्वका तो नहीं पर उनके मुख्य एवं बृहत् अंश तथा वर्तमान रूपका श्रेय इसी युगको देना होगा। आधुनिक युगमें जबसे कि पश्चिमी बुद्धिवादसे रंगे हुए अर्वाचीन विचारोंका प्रवेश हुआ है तथा हम आवेगोंके अधीन होकर बुद्धि फिरसे प्राचीन संस्कृतिके अधिक आरंभिक मूलभूत विचारोंकी ओर मुड़ गयी है पुराणोंकी बहुत बदनामी और निन्दा की गयी है। परन्तु इस निन्दाके अधिकांशका कारण मध्ययुगीन धार्मिक ग्रंथोंके प्रयोजन उनकी रचना-पद्धति एवं उनके आशयको सर्वथा गलत रूपमें समझना ही है। भारतकी धर्म-संबंधी कल्पनाकी दिशाको तथा उसकी संस्कृतिके विकासमें इन ग्रंथोंके स्थानको समझ लेनेपर ही हम पुराणों-के आशयको हृदयंगम कर सकते हैं।

वास्तवमें अपनी सत्ता और अपने अतीतके संबंधमें जो श्रेष्ठतर ज्ञान हमें आज पुन प्राप्त हो रहा है उससे पता चलता है कि पौराणिक धर्म प्राचीन आध्यात्मिकता दर्शन और सामाजिक-धार्मिक संस्कृतिके सत्यका ही एक नया रूप और विस्तार है। अपने घोषित उद्देश्यमें ये भारतजातिके सृष्ट्युत्पत्तिवाद उसकी प्रतीकात्मक गाथा और प्रतिमूर्ति परंपरा मत-विश्वास और सामाजिक नियमके लोकप्रिय सार-संग्रह हैं और ये सृष्ट्युत्पत्ति-सिद्धांत आदि जैसा कि 'पुराण' नामसे सूचित होता है, प्राचीन कालसे ही चले आ रहे हैं। यहां इनके सारमें कोई परिवर्तन नहीं होता परिवर्तन होता है केवल रूपोंमें। वैदिक युग-में सत्यके जो चैत्य प्रतीक या उसकी जो सच्ची प्रतिमूर्तियां थीं वे लुप्त हो जाती हैं या फिर उनका अर्थ परिवर्तित एवं क्षीण करके उन्हें एक गौण योजनाके सुपुर्द कर दिया जाता है उनका स्थान अन्य प्रतीक या प्रतिमूर्तियां ले लेती हैं जिनका लक्ष्य अधिक प्रत्यक्ष रूप-में व्यापक होना है और जो सार्वभौम एवं सर्वग्राही होती हैं तथा स्थूल जगत्‌से आहरण की हुई परिकल्पनाओंको लेकर नहीं चलतीं बल्कि अपना संपूर्ण उपादान हमारे अंदरके चैत्य जगत्‌से ही प्राप्त करती हैं। वैदिक देव-देवियां अपने स्थूल रूपके द्वारा अधार्मिक लोगोंसे अपना चैत्य और आध्यात्मिक अर्थ छुपाये रखती हैं। इसके विप-

रीत, पौराणिक त्रिमूर्ति, और इसकी स्त्री-शक्तियोंके रूप भौतिक मन या कल्पनाके लिये बिलकुल अर्थहीन है, वे तो 'सब कुछ'को प्रकट करनेवाले परमेश्वरके एकत्व और बहुत्व-की दार्शनिक और आतरात्मिक परिकल्पनाए एव अभिव्यक्तिया हैं। पौराणिक धर्ममतो-को वैदिक धर्मका अवनत रूप कहकर वर्णित किया गया हैं, परतु उन्हे सारतत्त्वमें तो नही, क्योकि वह सदा ज्योका त्यो रहता है, वरन् उनकी बाह्य गतिविधिमें, सभाव्यत उस-का विस्तार एव विकास कहा जा सकता हैं। मूर्तिपूजा, मदिरोपासना और प्रचुर क्रिया-अनुष्ठानका दुरुपयोग चाहे किसी भी अधविश्वास या बाह्यानुष्ठानवादकी ओर क्यो न ले जाय, फिर भी ये धर्मका पतित रूप ही हो यह आवश्यक नही। वैदिक धर्मको मूर्ति-योंकी आवश्यकता नही थी, क्योकि इसके देवताओके भौतिक चिह्न भौतिक प्रकृतिके रूप थे और यह बाह्य जगत् उनका प्रत्यक्ष निवासधाम था। पौराणिक धर्म हमारे अतरस्थ भगवान्‌के आतरात्मिक रूपोकी पूजा करता था और उसे प्रतीकात्मक रूपोमें उनकी बाह्य अभिव्यक्ति करनी होती थी तथा उन्हे मदिरोमें प्रतिष्ठित करना होता था जो मदिर कि विश्वके रहस्यार्थोके वास्तुकलागत सकेत थे। और, जिस प्रकारकी आतरिकता इसका उद्देश्य थी ठीक उसीके कारण बाह्य प्रतीककी बहुलता आवश्यक हो उठी ताकि वह बहुलता इन अतरीय वस्तुओकी जटिलताको भौतिक कल्पना और दृष्टिके निकट साकार रूपमें प्रकट कर सके। यहा (पुराणोमें) धार्मिक सौदर्यवृत्तिमें परिवर्तन आ गया है, परतु धर्मका अर्थ सारतत्त्वमें नही वरन् केवल प्रकृति और रीति-नीतिमें ही परिवर्तित हुआ है। वास्तविक अतर यह है कि प्राचीन धर्मका निर्माण उच्चतम गुह्य और आध्यात्मिक अनुभवसे सपन्न व्यक्तियोने किया था जो एक ऐसे जनसमुदायके बीच रहते थे जिसपर अभीतक स्थूल जगत्‌के जीवनका ही अधिकतर प्रभाव था उपनिषदोने भौतिक आवरणको दूर फेंककर एक मुक्त विश्वातीत और विश्वगत अतर्दृष्टि एव अनुभूतिका सृजन किया और परवर्ती युगने इसे जनसाधारणके प्रति एक विशाल दार्शनिक एव बौद्धिक अर्थसे युक्त मूर्तियोमें प्रकट किया जिनके केंद्रीय रूप हैं त्रिमूर्ति, और विष्णु तथा शिवकी शक्तिया बुद्धि और कल्पनाके इस आकर्षणको पुराणोने और आगे बढाया तथा इसे चैत्य अनुभव, हृद्गत भावो, सौंदर्यानुभूति और इद्रियोंके लिये एक जीवत वस्तु बना दिया। योगी और ऋषिके द्वारा उपलब्ध आध्यात्मिक सत्योको मनुष्यकी सपूर्ण प्रकृतिके लिये सर्वांगीण रूपसे स्पष्ट, आक-र्षक और प्रभावशाली बनाने और साथ ही ऐसे बाह्य साधन जुटानेके लिये सतत प्रयत्न करना जिनके द्वारा साधारण मन, सपूर्ण जातिका मन उन सत्योमें प्रथम प्रवेश पानेके लिये आकृष्ट हो सके—यही भारतीय सस्कृतिके धर्म्य-दार्शनिक विकासका आशय हैं।

यह ध्यानपूर्वक देखने योग्य है कि पुराणो और तत्रोमें उच्चतम आध्यात्मिक और दार्श-निक सत्य विद्यमान हैं, पर वहा उन्हें न तो उस प्रकार खडित किया गया है और न एक दूसरेके विरोधमें प्रकाशित ही किया गया हैं जिस प्रकार कि विचारकोंके वाद-विवादोमें किया

जाता है बल्कि भारतीय मनोवृत्ति और भावनाकी उदारताके अन्तर्गत अनुकूल पड़नेवाले ढंगसे उन्हें एक साथ मिलाकर उनमें परस्पर संबंध जोड़कर या उन्हें एकत्र करके समन्वित कर दिया गया है। यह समन्वय कभी कभी तो स्पष्ट रूपमें पर अधिकतर एक ऐसे रूपमें किया गया है जो किस्से-कहानी प्रतीक नीतिकथा चमत्कार और दृष्टांतके द्वारा इसके कुछ अंशको जनसाधारणकी कल्पना और भाव भावनातक पहुंचा सके। तन्त्रोंमें चैत्य-आध्यात्मिक अनुभव की एक बृहत् और जटिल राशिको लिपिबद्ध करके दृश्य प्रतिमाओंके द्वारा सपुष्ट किया गया है तथा योग-साधनाकी पद्धतियोंके रूपमें व्यवस्थित कर दिया गया है। यह तत्त्व भी पुराणोंमें पाया जाता है पर अधिक शिथिल रूपमें इसे क्रमबद्ध करनेके लिये वहां अपेक्षा-कृत कम श्रम किया गया है। आखिरकार, यह पद्धति वेदोंकी पद्धतिका ही एक विस्तार मात्र है हां इसका रूप कुछ और प्रकारका है तथा इसमें स्वाभावगत परिवर्तन भी देखनेमें आता है। पुराण भौतिक रूपकों और अनुष्ठानोंकी एक प्रणालीका निर्माण करते हैं जिनमेंसे प्रत्येकका अपना चैत्य अर्थ है। इस प्रकार, गंगा यमुना और सरस्वती इन तीन नदियोंके संगमकी पवित्रता एक आंतरिक संगमका प्रतीक है और मानवकी मनोभौतिक प्रक्रियामें एक निर्णायक अनुभवकी ओर संकेत करती है तथा इसके अन्य रहस्यार्थ भी हैं जैसा कि इस प्रकारके प्रतीकवादकी पद्धतिमें प्रायः ही देखनेमें आता है। पुराणोंके तथाकथित कल्पनात्मक भौगोलिक विवरण —स्वयं पुराणोंमें भी स्पष्ट रूपसे ऐसा ही कहा गया है—आभ्यंतरिक चैत्य जगत्‌का समृद्ध काव्यात्मक रूपक एवं प्रतीकात्मक भूगोल है। सृष्ट्युत्पत्तिका जो सिद्धांत इनमें कभी-कभी स्थूल जगत्‌के उपयुक्त परिभाषाओंमें वर्णित किया गया है उसका वेदकी ही भांति यहां भी एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ एवं आधार है। यह सहज में ही देखा जा सकता है कि कैसे बादके युगकी बढ़ती हुई अज्ञानतामें पौराणिक प्रतीक-विज्ञानके अधिक पारिभाषिक अंग आध्यात्मिक और आंतरात्मिक वस्तुओंके विषयमें अनि-वार्यतः ही अत्यधिक अंधविश्वास तथा स्थूल भौतिक धारणाओंके शिकार हो गये। परंतु यह खतरा तो उन सभी प्रयत्नोंके साथ लगा रहता है जो इन वस्तुओंको जनसाधारणके समझने लायक बनानेके लिये किये जाते हैं और इस हानिके कारण हमें इस तथ्यके प्रति अंध नहीं बन जाना चाहिये कि उन्होंने जनताके मानसको शिक्षित करनेमें बड़ा भारी कार्य किया है ताकि यह उस मनोधार्मिक एवं चैत्य आध्यात्मिक आकर्षणका प्रत्युत्तर दे सके जो उच्चतर वस्तुओंके लिये क्षमता प्रदान करता है। यह प्रभाव अभीतक बना हुआ है भले ही पौराणिक पद्धतिका एक सूक्ष्मतर आकर्षणके द्वारा तथा अधिक प्रत्यक्षतः सूक्ष्म अर्थोंके प्रति जागरणके द्वारा अतिक्रम करनेकी आवश्यकता हो और यदि इस प्रकार अतिक्रम करना संभव बन जाय तो स्वयं यह भी अधिकांशमें पुराणोंद्वारा किये गये इस कार्यके कारण ही संभव होगा।

पुराण मूलतः एक सच्चा धार्मिक काव्य है अर्थात् वे धार्मिक सत्यके सौंदर्यात्मक निरू-

पणकी कला है। निःसदेह, अठारहो पुराणोका समस्त स्तूप इस प्रकारकी कलामें उच्च पदका अधिकारी नही ठहरता इनमें निरर्थक सामग्री भी बहुत-सी है और निर्जीव और नीरस वस्तु भी कम नही है, पर वहा जो काव्य-पद्धति प्रयुक्त की गयी है वह, मोटे तौर-पर रचनाकी समृद्धता और ओजस्विताके द्वारा उचित ठहरती है। इनमेंसे प्राचीनतम कृतिया ही श्रेष्ठ है—हा, एक अतिम रचना इसका अपवाद है, वह एक नयी शैलीमें है जो अपना स्वतत्र अस्तित्व रखती है एव अद्वितीय है। उदाहरणार्थ, विष्णु-पुराण, एक या दो शुष्क स्थलोके होते हुए भी, बहुत मूल्यवान् गुणोंसे सपन्न एक अनूठी साहित्यिक रचना है जिसमें प्राचीन महाकाव्योकी शैलीकी प्रत्यक्ष ओजस्विता और उच्चताको अधिकाशमें सुरक्षित रखा गया है। इसमे एक विविधतापूर्ण गति है, बहुत-सी ओजस्वी और कुछ-थोडी उदात्त महाकाव्योचित रचना है, कही-कही प्रसादपूर्ण मधुरता और सुन्दरताका गीत्यात्मक तत्त्व भी देखनेमें आता है, ऐसी अनेक कथाए भी पायी जाती है जो काव्य-शिल्पके सर्वो-त्तम ओज और निपुणतापूर्ण सरलतासे सपन्न है। भागवत पुराण (पौराणिक कालके) अतमें आता है तथा अधिक प्रचलित शैली एव प्रणालीसे बहुत कुछ दूर चला जाता है, क्योकि यह भाषाके एक विद्वत्तापूर्ण और अधिक अलकृत एव साहित्यिक रूपसे प्रबलतया प्रभावित है। यह विष्णु-पुराणसे भी अधिक विलक्षण कृति है जो सूक्ष्मता और समृद्ध एव गभीर विचारधारा और सुषमासे परिपूर्ण है। इसीमें हम उस आदोलनकी चरम परि-णति देखते है जिसका भविष्यपर, अर्थात् भावुकतापूर्ण और उल्लासजनक भक्ति-सप्रदायोंके विकासपर अनेक प्रकारसे अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा। इस विकासके मूलमें जो प्रवृत्ति कार्य कर रही थी वह भारतके धर्मप्रधान मनके प्राचीनतर रूपोमें भी विद्यमान थी और शनैः-शनैः प्रगति कर रही थी, पर अबतक वह ज्ञान और कर्मकी तपस्याओकी ओर तथा सत्ताके केवल उच्चतम स्तरोपर आध्यात्मिक हर्षविशेषकी खोजकी ओर (भारतीय मनकी) प्रबल प्रवृत्ति होनेके कारण दबी हुई थी तथा उसके पूर्ण स्वरूपका गठन रुका पडा था। उच्चसाहित्यिक युगकी बाह्य जीवन तथा इन्द्रिय-तुष्टिकी ओर झुकी हुई बहिर्मुख प्रवृत्तिने एक नयी अतर्मुख प्रवृत्तिका सूत्रपात किया जिसकी पूर्णतम अभिव्यक्ति वैष्णव धर्मके परवर्ती अत्यत आनदमय रूपोंके द्वारा हुई। प्राण और इद्रियोके अनुभवकी इस प्रकार थाह लेना यदि सासारिक और बाह्य वस्तुओतक ही सीमित रहता तो यह केवल स्नायु और प्राण-शक्ति-के बहलाव तथा नैतिक पतन या स्वेच्छाचारकी ओर हो ले गया होता, पर भारतीय मन अपनी प्रधान प्रवृत्तिके द्वारा सदा ही अपने समस्त जीवनानुभवको अनुरूप आध्यात्मिक अवस्था और तत्त्वमें परिणत करनेके लिये बाध्य होता रहा है और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसने इन अत्यत बाह्य वस्तुओको भी नये आध्यात्मिक अनुभवके आधारके रूप-में परिवर्तित कर डाला है। सत्ताकी भावुकतापूर्ण, ऐंद्रिय और यहातक कि कामुक चेष्टाए भी अतरात्माको और अधिक बहिर्मुख तर भी नहीं पाती कि उन्हें हृदयमें लेकर

चैत्य रूपमें रूपांतरित कर डाला गया और इस प्रकार परिवर्तित होकर यह सूक्ष्म और इंद्रियोंके द्वारा भगवान्‌की सूक्ष्म प्राप्ति तथा ईश्वरीय प्रेम, आनंद और सौंदर्यजन्य उन्मादके धर्मका अंग बन गयी। इसमें इन सब अंगोंको लेकर योगका एक सर्वांगपूर्ण चैत्य-आध्यात्मिक एवं मनोभौतिक विज्ञानमें अपना स्थान दे दिया गया है। वैष्णव धर्ममें इसका प्रचलित रूप बालक कृष्णके गोप-जीवनकी सूक्ष्म भौतिकगाथाकी धुरीपर केंद्रित है। विष्णु-पुराणमें कृष्णकी कथा दिव्य अवतारका गौरवपूर्ण उपाख्यान है, पीछेके पुराणोंमें हम सौंदर्यात्मक एवं शृंगारमय प्रतीकका विकास होते देखते हैं और भागवतमें इसे इसकी पूर्ण शक्तिके साथ प्रकट किया गया है तथा इसका आयोजन इस प्रकार किया गया है कि यह अपने आध्यात्मिक दार्शनिक तथा चैत्य अर्थको पूरेका पूरा व्यक्त करे और ज्ञानके स्थानपर आध्यात्मिक प्रेम एवं आनन्दको समन्वयका शिखर बनाकर वेदान्तके प्राचीनतर अर्थको नये सिरेसे अपनी ही पद्धतिके अनुरूप ढाल दे। इस विकासकी सर्वांगपूर्ण परिणति चैतन्यके द्वारा प्रचारित दिव्य प्रेमके दर्शन और धर्ममें पायी जाती है।

वैदान्तिक दर्शनकी परवर्ती विकासधाराओं और पौराणिक विचारों एवं रूपकोंने तथा भक्ति-संप्रदायोंकी काव्यमय और सौंदर्यमयी आध्यात्मिकताने अपने जन्मसे ही प्रादेशिक साहित्योंको प्रेरणा प्रदान की। पर संस्कृत भाषाके साहित्यकी शृंखला एकाएक कहीं नहीं टूट जाती। उच्चसाहित्यिक शैलीके काव्यकी रचना विशेषकर दक्षिणमें अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन कालतक जारी रहती है और संस्कृत अब भी दर्शन तथा सब प्रकारकी विद्वत्ताकी भाषा बनी रहती है, समस्त गद्यात्मक रचना, आलोचक मनकी समस्त कृति अभीतक प्राचीन भाषामें ही लिखी जाती है। परंतु प्रतिभा इसमेंसे शीघ्र ही लुप्त हो जाती है, यह कर्कश भारी और कृत्रिम बन जाती है और अब केवल कोई पांडित्यपूर्ण प्रतिभा ही इसे जारी रखनेवाली रह जाती है। प्रत्येक प्रांतमें स्थानीय बोलियां कहीं पहले और कहीं कुछ पीछे साहित्यके गौरवके अनुरूप उठ खड़ी होती हैं और काव्य-रचनाका साधन तथा लोक-संस्कृतिका माध्यम बन जाती हैं। संस्कृत यद्यपि लोकप्रिय तत्त्वोंसे शून्य नहीं हो जाती फिर भी मूल रूपमें तथा सर्वोत्तम अर्थमें यह कुलीन वर्गोंकी भाषा रह जाती है। यह उदात्त अभीप्साकी आवश्यकताके तथा महान् शैलीके अनुरूप एक ऐसी उच्च आध्यात्मिक बौद्धिक नैतिक और सौंदर्यप्रिय संस्कृतिका विकास तथा संरक्षण करती है जो उस समय इस शैलीमें केवल उच्चतर वर्गोंके लिये ही प्राप्य थी और प्रभावोत्पादन तथा संचारणकी विविध प्रणालिकाओंके द्वारा एवं विशेषकर धर्म कला और सामाजिक तथा नैतिक नियमके द्वारा इस संस्कृतिको यह (भाषा) जनसमुदायतक पहुंचाती है। बौद्धोंके हाथमें पाली इस संचारणका प्रत्यक्ष साधन बन जाती है। इसके विपरीत प्रादेशिक भाषाओंका काव्य 'सार्वजनीन' शब्दके प्रत्येक अर्थमें सार्वजनीन साहित्यका सृजन करता है। संस्कृतके केवल तीन उच्चतम वर्गोंके व्यक्ति थे अधिकतर तो वे ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते थे

और आगे चलकर वे कुछ ऐसे विद्वान् थे जो अत्यत सुसस्कृत प्रबुद्ध व्यक्तियोंके लिये ही लिखते थे, बौद्ध लेखक भी अधिकाशमें दार्शनिक, भिक्षु, राजा एव उपदेशक थे जो कभी तो अपने लिये और कभी अधिक लोकप्रिय शैलीमें सर्वसाधारणके लिये लिखते थे, किंतु प्रादेशिक भाषाओंका काव्य सीधे जनताके हृदयसे फूटा और इसके रचयिता ब्राह्मणसे लेकर निम्नतम शूद्र और चाडालतक सभी वर्गोसे आये। केवल उर्दूमें और कुछ कम मात्रामें, दक्षिणी भाषाओंमें ही, उदाहरणार्थ, तमिलमें,—जिसका महान् युग उच्चश्रेणिक सस्कृतके समकालीन है, इसका परवर्ती साहित्य-निर्माण दक्षिणके स्वतत्र या अर्द्ध-स्वतत्र दरबारो और राज्योंके अवशेषके समयमें जारी दिखायी देता है,—पाडित्यपूर्ण या उच्चसाहित्यिक प्रकृति और स्वभावका प्रबल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, परतु यहा भी लोकप्रिय तत्त्व काफी बडी मात्रामें पाया जाता है, जैसे, शैव सतो और वैष्णव आल्वारोंके भजनोमें। यहा क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसे समग्र रूपमें आसानीसे नही जाना जा सकता और न उसका विहगावलोकन ही किया जा सकता है, परतु इस परवर्ती साहित्यके स्वरूप और मूल्यके सबध-में कुछ तो कहना ही होगा जिससे हम यह देख सके कि भारतीय सस्कृति एक ऐसे युगमें भी जिसे इसके महत्तर युगोकी तुलनामें गतिरोध और ह्रासका काल माना जा सकता है, कैसी प्राणवत एव निरतर सर्जनशील बनी रही।

जैसे सस्कृत साहित्यका आरभ वेदो और उपनिषदोंसे होता है, वैसे ही इन परवर्ती साहित्योका आरभ सतो और भक्तोके अत प्रेरित काव्यसे होता है क्योकि भारतमें सदा आध्यात्मिक आदोलन ही (सृजनका) मूलस्रोत होता है, अथवा, कम-से-कम, वही नये विचारो और नयी सभावनाओको रचनाका आवेग प्रदान करता है तथा जातीय जीवनमें परिवर्तनोका सूत्रपात करता है। आधुनिक युगसे पूर्व इन भाषाओमेंसे अधिकतरकी सर्जनशील क्रियाशीलतामें प्राय आद्योपात इसी प्रकारके काव्यकी प्रधानता रही, क्योकि इस प्रकारका काव्य ही सदा लोगोके हृदय और मनके अधिक-से-अधिक निकट होता था, और जहा रचना अधिक ऐहलौकिक भावसे युक्त होती है वहा भी धार्मिक प्रवृत्ति उसमें प्रविष्ट हो जाती है तथा उसे उसका ढाचा, उसके प्रधान स्वर या प्रत्यक्ष प्रेरक भावका एक अश प्रदान करती है। बाहुल्यमे, कवित्वके उत्कर्षमें, प्रेरकभावकी सहज सुन्दरता और गीत्यात्मक कुशलता दोनोंके सयोगमें यह काव्य अपने निजी क्षेत्रके भीतर किसी भी अन्य साहित्यमें अपना सानी नही रखता। इस उच्च कोटिके सौंदर्यसे सपन्न कृतिके निर्माणके लिये सच्चे प्रकारका भक्ति-भाव ही यथेष्ट नही है, जैसा कि इस प्रकारकी रचनामें किञ्चियन यूरोपकी असफलतासे सिद्ध होता है, इसके लिये आवश्यकता होती है समृद्ध और गभीर आध्यात्मिक सस्कृतिकी। इस समयके साहित्यके एक अन्य अगके द्वारा पुरानी मस्कृतिके सारके कुछ अशको प्रचलित भाषाओंमें लाया गया है, इसके लिये महाभारत और रामायणकी कथाको नये काव्यमय रूपोमें ढाला गया है अथवा प्राचीन पौराणिक आख्यानोंके आधारपर रूमानी

बनाये रखा गया है और वह भी इतने सगत रूपमे कि अब बहुतसे लोग ऐसा मानने लगे हैं कि इस प्रतीकका इसके सिवा और कोई अर्थ ही नही है, परतु चैतन्यके धर्मके भक्त कवियो-के द्वारा भी इन्ही रूपकोका प्रयोग किये जानेसे यह बात सर्वथा खडित हो जाती है। इस प्रतीकके पीछे जो भी आध्यात्मिक अनुभव निहित था वह सारेका सारा दिव्य प्रेमके हर्षाति-रेकके उस अत प्रेरित प्रभुदूत और अवतारमें मूर्तिमत हो उठा था और इसका आध्यात्मिक दर्शन उसकी शिक्षामें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित था। उसके अनुयायियोंने अपनेसे प्राचीन गायकोकी काव्य-परपराको जारी रखा और यद्यपि प्रतिभामें वे उनसे नीची श्रेणीके हैं, फिर भी वे अपने पीछे इस प्रकारके काव्यकी एक वृहत् राशि छोड गये है जो रूपमें सर्वदा ही सुन्दर है और सारतत्त्वमें प्राय ही गभीर और हृदयस्पर्शी। इसका एक अन्य प्रकार राज-पूत रानी मीराबाईके सर्वांगपूर्ण गीतोमें सृष्ट हुआ है। उसमे कृष्णके प्रतीकके रूपकोको गायिकाकी अतरात्माने अधिक प्रत्यक्ष रूपमे प्रेमके गीत और दिव्य प्रेमीकी खोजमें परिणत कर दिया है। बगालके काव्यमे जो व्यजना पसद की गयी है वह एक ऐसा प्रतीकात्मक रूपक है जो कविके लिये निर्व्यक्तिक है पर यहा एक सव्यक्तिक स्वर हृद्भावको निराली तीव्रता प्रदान करता है। इसे दक्षिणकी एक कवयित्रीने अपने-आपको कृष्णकी वधूके रूपमें चित्रित करके एक और भी अधिक प्रत्यक्ष मोड दे दिया है। इस प्रकारके वैष्णव धर्म एव काव्यकी विशिष्ट शक्ति इस बातमें है कि यह समस्त मानवीय भावावेगोको भगवानकी ओर फेर देता है, इनमेंसे प्रेमके आवेगको सबसे अधिक तीव्र एव तन्मयकारी समझकर उसे अधिक पसद किया गया है और यद्यपि, जहा कही भी भक्तिप्रधान धर्मका प्रवल विकास हुआ है वहा यह भावना पुन-पुन उदित होती है तथापि यह कही भी उतनी अधिक ओजस्विता और सच्चाईके साथ प्रयुक्त नही की गयी है जितनी कि भारतीय कवियो-की रचनामें।

अन्य प्रकारका वैष्णव काव्य कृष्णके प्रतीकका प्रयोग नही करता, वरन् वह एक अधिक प्रत्यक्ष भक्तिकी भाषामें विष्णुके प्रति सबोधित किया गया है या फिर कभी-कभी रामाव-तारकी धुरीपर घूमता है। तुकारामके गाने इस प्रकारके काव्यमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ एक अत्यत विरले दृष्टातोको छोडकर वगालका वैष्णव काव्य बौद्धिकताका पुट देनेवाले विचारके प्रत्येक तत्त्वका परित्याग करता है और केवल भावुकतापूर्ण वर्णन, रागावेगके ऐंद्रिय चित्रण तथा हृदयानुभवकी तीव्रतापर ही निर्भर करता है उधर मराठा काव्यमें आरभसे ही एक सबल बौद्धिक स्वर पाया जाता है। मराठीका पहला कवि एक साथ ही भक्त, योगी और विचारक है, सत रामदासका काव्य, जो एक राष्ट्रके जन्म और जागरणके साथ सबद्ध है, प्राय पूर्ण रूपसे एक धार्मिक नैतिक चितनकी धारा है जिसे गीतिके शिखरतक उठा ले जाया गया है, और भक्तिके अतस्तलसे उमडनेवाले विचारका मर्मस्पर्शी सत्य एव उत्साह ही तुकारामके गानोका बल और आकर्षण है। उसने जो स्वर बजाया था उसे भक्त कवियोंकी

एक लंबी परंपरा प्रचारित रखती है और मराठी-काव्यके क्षेत्रका बृहत्तर भाग उनकी रचनाओंसे ही परिपूरित है। काव्यका यही प्रकार कबीरकी कविताओंमें एक अधिक प्रांजल एवं अक्षुण्ण दिशा ग्रहण कर लेता है। बंगालमें पुनः मुस्लिम कालके अंतमें मां भगवतीके प्रति रामप्रसादके गानोंमें उत्कट भक्तिका धार्मिक विचारकी अनेकानेक गहराइयों और प्रवृत्तियोंके साथ इसी प्रकारका संमिश्रण पाया जाता है यहां वह एक ऐसी कल्पनाकी सजीव क्रीड़ासे युक्त है जो सब परिचित वस्तुओंको उपयुक्त और अर्थगर्भित रूपकोंमें बदल डालती है और साथ ही यहां अनुभूतिकी तीव्र सहृदयताका पुट भी विद्यमान है। दक्षिणमें विशेष कर शैव कवियोंमें गंभीरतर दार्शनिक उक्ति भक्तिके स्वरमें प्रायः ही घुली-मिली रहती है और, प्राचीन संस्कृत काव्यकी भांति यह सजीव भाषा-शैली और रूपकावलिकी महती शक्तिसे अनुप्राणित होती है और सुदूर उत्तरमें सूरदासके हिन्दी काव्यमें उच्च वैदांतिक आध्यात्मिकता पुनः जीवित हो उठती है और नानक तथा सिक्ख गुरुओंको प्रेरणा प्रदान करती है। प्राचीन सभ्यताके द्वारा निरंतर दो सहस्र वर्षोंतक तैयार की गयी और पूर्ण बनायी गयी आध्यात्मिक संस्कृतिने इन सब जातियोंके मानसको परिप्लावित किया है और महान् नये साहित्योंको जन्म दिया है और इसकी वाणी इनकी समस्त मतिधारामें अनवरत सुनायी देती है।

कुछ एक महान् या प्रसिद्ध रचनाओंको छोड़कर इस युगका वर्णनात्मक कथा-काव्य कम आकर्षक एवं कम मौलिक है। इनमेंसे अधिकतर भाषाओंने महाभारतके संपूर्ण प्रधान कथानक या इसके कुछ एक उपाख्यानोंका और, इनसे भी अधिक व्यापक रूपमें रामायणकी कथाको प्रचलित भाषामें रूपांतरित करनेकी सांस्कृतिक आवश्यकता अनुभव की है। बंगालमें काशीरामका महाभारत देखनेमें आता है। इसमें पुरातन महाकाव्यकी मूल कहानीका ही वर्णन उच्च साहित्यिक शैलीमें फिरसे किया गया है। इसी प्रकार यहां कृत्तिवासका रामायण भी है जो बंगाल-प्रांतकी प्रतिभाके अधिक निकट है। यद्यपि इनमेंसे कोई भी महाकाव्यकी शैलीतक नहीं पहुंच पाया है पर फिर भी ये सरल काव्य-कौशल और प्रवाहशील वर्णन-शक्तिके साथ लिखे गये हैं। तथापि इस वर्गके कवियोंमेंसे केवल दो ही प्राचीन कथाकी सजीव एवं विशद पुनःरचना कर पाये और एक परमोत्कृष्ट कृतिका सृजन करनेमें सफल हुए। उनमेंसे एक हैं तमिल कवि कम्बन जो अपने विषयको एक श्रेष्ठ मौलिक महाकाव्यका रूप दे देते हैं और, दूसरे, तुलसीदास जिनके सुप्रसिद्ध हिंदी रामायणमें गीतिकाव्यकी तीव्रता और रोमांचकी समृद्धता तथा महाकाव्योचित कल्पनाकी उदात्तताका सम्मिश्रण विलक्षण कौशलके साथ किया गया है। तुलसी-रामायण एक साथ ही भगवदवतारकी कथा तथा भगवद्भक्तिका एक लंबा गान है। भारतीय साहित्यका इतिहास लिखने वाले एक अंग्रेज लेखकने तुलसीदासकी कविताको वाल्मीकिके महाकाव्यसे भी अधिक श्रेष्ठ बतलाया है यह तो एक अतिशयोक्ति ही है और इसके गुण चाहे जो भी हों, पर श्रेष्ठ-

1

उससे भी श्रेष्ठतर कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, तथापि तुलसीदास और कम्बनके लिये जो ऐसे दावे किये जा सकते हैं वह बात भी, राम-स-रम, इन कवियोंकी कवित्व-शक्तिका प्रमाण है तथा इस बातका भी साक्षी है कि भारतीय मनकी सर्जनक्षम प्रतिभा अपनी सस्कृति एव ज्ञानका क्षेत्र सकुचित हो जानेके समय भी ह्रासको नहीं प्राप्त हुई। निसदेह यह समस्त काव्य गभीरताकी वृद्धिको सूचित करता है और यह गभीरता प्राचीन उच्चता एव व्यापकताकी कमीको कुछ हदतक पूरा कर देती है।

जहा इस प्रकारका वर्णनात्मक साहित्य अपने आधारके लिये महाकाव्योंकी ओर मुडता है वहा एक अन्य प्रकारका साहित्य अपना प्राथमिक आकार और प्रेरणा कालिदास, भारवि और माघके उच्चश्रेणिक काव्योंमे पाता प्रतीत होता है। इस प्रकारकी कुछ कृतिया उस प्राचीनतर काव्यकी भाति, महाभारतके प्रसगों अथवा अन्य प्राचीन या पौराणिक आख्यानोको अपना विषय बनाती हैं, परन्तु उनमें प्राचीन उच्चसाहित्यिक एव महाकाव्योचित शैली दृष्टि-गोचर नही होती, उनकी प्रेरणा पुराणोंकी प्रेरणासे ही अधिक मिलती-जुलती है और उनमें प्रचलित रोमासका स्वर तथा उसका एक अधिक शिथिल एव सहज विकास देखा जाता है। यह शैली पश्चिमी भारतमें अधिक प्रचलित है और गुजराती कवियोमे सर्वाधिक गण्यमान्य प्रेमानदकी ख्यातिका कारण इस शैलीमें उनकी उत्कृष्टता ही है। बगालसे हम आधे रूमानी और आधे यथार्थवादी वर्णनका एक अन्य ही प्रकार देखते है। वह अपने युगके धार्मिक सन्त और जीवन तथा दृश्य-समूहका काव्यमय चित्रण करता है तथा अपनी मूल प्रेरणामें राजपूत-चित्रकलाके लक्ष्यके अधिक बाह्य तत्त्वके साथ प्रबल साम्य रखता है। चैतन्यका जीवन जो सीधे-सादे रूमानी पद्यमें लिखा गया है और अपनी स्पष्टता तथा सरलताके कारण प्रिय लगता है पर काव्य-शैलीमे अपूर्ण है, एक धार्मिक आदोलनके जन्म और प्रतिष्ठापनका अनुपम समसामयिक चित्रण है। दो अन्य कविताए जो उच्चकोटिक रचनाए बन गयी हैं शिवकी शक्ति-रूपा देवी दुर्गा या चडीकी महिमाका कीर्तन करती हैं,—उनमेंसे एक तो है मुकुन्दरामकी "चडी", महान् काव्य-छटासे सपन्न एक शुद्ध रूमानी उपन्यास जो प्रचलित पौराणिक कथाके ढाचेमे लोगोके जीवनका एक अत्यत सजीव चित्र प्रस्तुत करता है और दूसरी, भारतचद्रकी "अन्नदा-मगल", यह अपने पहले भागमे देवताओकी पौराणिक कहानियोका नये ढगसे वर्णन करती है जैसी कि वे एक ग्रामीण बगालीके द्वारा अपने निज मानवीय जीवनके रूपमें कल्पनामें लायी जा सकती थी, दूसरे भागमें एक रोमाचक प्रेम-कथा और तीसरेमें जहागीरके समयकी एक ऐतिहासिक घटनाका वर्णन करती है, ये सब विषम तत्त्व एक ही केद्रीय उद्देश्यका विकास करते हैं और कल्पनाकी किसी उच्चताके बिना पर वर्णनकी अतुलनीय विशदता और प्राणवत तथा असदिग्ध भाषा-शैलीकी ओजस्विताके साथ चित्रित किये गये हैं। यह समस्त काव्य, महाकाव्य और रूमानी उपन्यास, यह नीति-काव्य, रामदासकी कविता और तिरुवल्लुवरका प्रसिद्ध कुरल जिसके मुख्य प्रतिनिधि है, और दार्शनिक

तथा भक्तिपूर्ण गीत किसी सुशिक्षित वर्गकी रचना नहीं हैं न ये उस वर्गकी सराहना प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही लिखे गये हैं बल्कि कुछ एक अपवादोंको छोड़कर एक लोकप्रिय संस्कृतिकी अभिव्यक्ति हैं। तुलसीदासका रामायण, रामप्रसादके और बाउलों अर्थात् भ्रमणशील वैष्णव भक्तोंके गाने, रामदास और तुकारामका काव्य, तिरुवल्लुवर और कबीरके धर्मोंके नीति-वाक्य और दक्षिणी सन्तों तथा आल्वारोंके अंतःप्रेरित गीत सभी वर्गोंके लोगोंमें प्रसिद्ध थे और उनका विचार या भावावेग लोगोंके जीवनमें गहरे पैठा हुआ था।

भारतीय साहित्यका मैंने इतने विस्तारके साथ वर्णन किया है क्योंकि निःसंदेह यह एक जातिकी संस्कृतिका पूरा न सही पर फिर भी अत्यंत वैचित्र्ययुक्त और विपुल इतिवृत्त है। इस कोटिके तथा ऐसी महत्तासे युक्त सृजनकी कम-से-कम तीन सहस्राब्दियाँ निश्चय ही एक वास्तविक और अत्यंत अद्भुत संस्कृतिकी साक्षी हैं। अंतिम युग निःसंदेह एक क्रमिक ह्रासको दर्शाता है परंतु हम ह्रासके भी समयको और विशेषकर धार्मिक साहित्यिक और कलात्मक सृजनकी अविच्छिन्न जीवनी-शक्तिको भी देख सकते हैं। जिस समय यह अपने अवसानके निकट पहुंचती प्रतीत होती थी उस समय भी यह सहसा अवसर मिलते ही पुनरुज्जीवित हो उठी है और फिरसे विकासका एक और चक्र प्रवर्तित कर रही है सर्वप्रथम यह ठीक उन्हीं तीन चीजोंमें जो सबसे अधिक चिरस्थायी रहीं अर्थात् आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रवृत्ति साहित्य और चित्रकलामें पुनरुज्जीवित हो रही है, पर अभीसे यह पुनर्जागरण जीवन और संस्कृतिकी उन सब अनेकों प्रवृत्तियोंतक अपनेको विस्तारित करनेकी सुनिश्चित आशा बंधाता है जिनमें भारत कभी एक महान् और अग्रणी देश था।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पंद्रहवां अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

मानव-संस्कृतिके लिये अत्यत महत्त्व रखनेवाली वस्तुओमे तथा उन कार्यप्रवृत्तियोमें जो मनुष्यको एक मानसिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, बौद्धिक, नैतिक और सौदर्यप्रिय प्राणीके रूपमें उसकी श्रेष्ठतम सभाव्यताओतक उठा ले जाती है, भारतीय सभ्यताकी महानताका वर्णन मै पिछले अध्यायोमें कर चुका हू। इन सभी विषयोमे आलोचकोंके मिथ्या आक्षेप उस उच्चता, विशालता एव गभीरताके आगे तुरत छिन्न-भिन्न हो जाते है जो तब प्रकट होती है जब हम भारतीय सस्कृतिके मूल भाव और उद्देश्यके यथार्थ बोधके प्रकाशमें तथा इसकी वास्तविक सफलतापर सूक्ष्म विवेकशील दृष्टि डालते हुए इसके समग्र स्वरूप तथा इसके सभी अगोका अवलोकन करते हैं। इस प्रकार अवलोकन करनेपर केवल इतना ही प्रकट नही होता कि भारतीय सभ्यता महान् है वरन् यह भी कि यह उन छ महत्तम सभ्यताओंमें एक है जिनका इतिवृत्त हमें आज भी उपलब्ध है। परतु ऐसे बहुतसे लोग है जो मन और आत्माके विषयोमें तो भारतकी उपलब्धिकी महानताको स्वीकार करेगे पर फिर भी यह कहेगे कि वह जीवनमें असफल रहा है, उसकी सस्कृति जीवनका वैसा सबल, सफल या प्रगतिशील सगठन करनेमें समर्थ नही हुई है जिसका दृष्टात यूरोप हमारे सामने रखता है, और वे यह भी कहेगे कि कम-से-कम अतमें भारतके उच्चतम मनीषी जीवनसे सन्यासकी ओर तथा कर्म और ससारका त्याग करके अपनी निजी आध्यात्मिक मुक्तिकी व्यक्तिगत खोज करनेकी ओर झुक गये। अथवा (वे यह कहेगे कि) अधिक-से-अधिक वह उन्नतिकी एक विशेष सीमातक हो पहुच पाया और उसके बाद उसकी प्रगति रुक गयी और अवनति होने लगी।

यह आरोप आजके मानदडोंके अनुसार विशेष बल रखता है क्योकि आधुनिक मनुष्य, यहातक कि आधुनिक सुशिक्षित मनुष्य भी सर्वथा अभूतपूर्व मात्रा में एक ऐसा 'पोलितिकान जून' (Politikon zoon) अर्थात् एक ऐसा राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक जीव है

या जानना चाहता है जो बाह्य जीवनकी दक्षताको अन्य सब चीजोंसे बढ़कर मान्य करता है और मन तथा आत्माकी चीजोंको ऐकांतिक रूपसे नहीं तो मुख्य रूपसे मानवजातिकी जीवन संबंधी और यांत्रिक प्रगतिमें सहायक होनेके कारण ही महत्त्व प्रदान करता है उसमें प्राचीन लोगोंकी वह दृष्टि नहीं है जो ऊपर उच्चतम ऊंचाइयोंकी ओर देखती थी और मानसिक तथा आध्यात्मिक विषयोंमें उपलब्धि प्राप्त करनेको मानव संस्कृति और प्रगतिके लिये यथा-संभव अधिक-से-अधिक महान् दान मानती हुई उसे उसकी अपनी खातिर असंदिग्ध प्रशंसा या गंभीर सम्मानके भावके साथ देखती थी। और यद्यपि यह आधुनिक प्रवृत्ति अतिरंजित और कुत्सित है तथा अपनी अतिरंजनामें अवनतिकारक है मानवजातिके आध्यात्मिक विकास की विरोधिनी है तथापि इसके पीछे इतना सत्य अवश्य है कि जहां किसी संस्कृतिकी प्रथम उपयोगिता मानवकी आंतरिक सत्ता अर्थात् मन अंतरात्मा एवं आत्माको उन्नत और विशाल बनानेकी उसकी शक्तिमें निहित है वहां उसे तबतक पूर्ण रूपसे स्वस्थ नहीं कहा जा सकता जबतक वह उसकी बाह्य सत्ताको भी बढ़कर उच्च और महान् आदर्शोंकी ओर प्रगति करने-के एक स्वरतालका रूप नहीं दे देती। प्रगतिका सच्चा आशय यही है और इसके अंगके रूपमें यह आवश्यक है कि राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक जीवन स्वस्थ हो एक ऐसी शक्ति और क्षमता हो जो जातिको जीवित रहने विकसित होने तथा सामूहिक पूर्णताकी ओर सुरक्षित रूपसे बढ़नेके योग्य बनाये और एक ऐसी सजीव नमनशीलता और अनुकूलता हो जो मन और आत्माको बाहरकी ओर सतत प्रकट होते रहनेके लिये अवकाश दे। यदि कोई संस्कृति इन उद्देश्योंको पूरा नहीं करती तो स्पष्ट ही या तो उसकी मूल धारणाओं-में अथवा उसकी समग्रतामें या उसकी क्रियान्वितिमें कहीं कोई दोष है जो पूर्ण और सर्वां-गीण रूपमें उपयोगी होनेके उसके दावेको बहुत अधिक व्यर्थ करता है।

भारतीय समाजका बाहर एवं बाह्य जीवन जिन भावनाओंसे द्वारा संचालित होता था वे उच्चात्मपूर्ण शान्तिके थे उसकी सामाजिक व्यवस्थाका आधार अवश्य रूपमें सुदृढ़ हो चुका था उसके अंदर जो प्रबल जीवनी-शक्ति कार्य कर रही थी वह एक असाधारण ऊर्जा समृद्धि और सुख-सुविधाका सृजन करती थी और उसने जिस जीवनका सृजन किया था वह अपनी ऐश्वर्यशालितामें एकत्रापन्न विविधतामें सुन्दरता उत्पादकता और गतिमयतामें अद्भुत था। भारतीय इतिहास शिल्प और साहित्यके समस्त अभिलेख इस प्रकारके सांस्कृतिक जीवनकी साक्षी देते हैं और इसके ह्रास और विघटनके समयमें भी इसकी कुछ छाप बची रहती है जो अस्पष्ट और मलिन रूपमें ही क्यों न हो भारतके अतीतकी महानताकी याद दिलाती है। तो फिर जीवन-शक्तिके एक साधनके रूपमें भारतीय संस्कृतिके विरुद्ध जो अभियोग लगाया जाता है उसका अर्थ क्या है और वह कहांतक ठीक है? अपने अतिरंजित रूपमें यह ह्रास और विघटनके विशेष रूपों एवं अवनतिके लक्षणोंपर ही आधारित है उन्हींको (भ्रान्तिवश) विकृत नामके कारणोंके रूपमें पढ़कर महानताके युगपर भी आरोपित कर दिया

गया है, और इसका अर्थ यह है कि कोई स्वतन्त्र या सबल राजनीतिक सगठन कायम करनेमें भारत सदैव अयोग्य सिद्ध हुआ है, वह निरन्तर ही एक विभक्त एव अपने सुदीर्घ इतिहासके अधिकतर कालमें परतत्र राष्ट्र रहा है, अतीतमें उसकी आर्थिक व्यवस्थाके चाहे कोई भी गुण—यदि कोई गुण थे भी तो—क्यो न रहे हो, पर वह एक अनमनीय एव स्थितिशील व्यवस्था ही बनी रही जिसके परिणामस्वरूप वह वर्तमान अवस्थाओमें दरिद्रता और विफलताका शिकार हो गया है, इसी प्रकार उसका समाज ऊची-नीची श्रेणियोकी एक अप्रगतिशील परपरा बना रहा जिसपर जातपातका भूत सवार था और जिसमें अर्द्ध-बर्बर कुप्रथाओकी भरमार थी। अतएव उसकी वह समाज-व्यवस्था केवल भूतकालके भग्नावशेषोंके स्तूपमें टूटी-फूटी रही चीजोके बीच फेक देनेके लायक ही है और उसकी जगह यूरोपीय समाज-व्यवस्थाकी स्वतत्रता, सबलता और पूर्णताको या कम-से-कम उसकी प्रगतिशील सभाव्य पूर्णताको प्रतिष्ठित करना ही उचित है। सुतरा, इन सब विषयोमें पहले वास्तविक तथ्यो और उनके अर्थका दृढतापूर्वक पुन प्रतिपादन करना आवश्यक है और उसके बाद ही भारतीय सस्कृतिके राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पहलुओपर कोई मत प्रकाशित करना सभव होगा।

भारतकी राजनीतिक अक्षमताकी कहानी उसकी ऐतिहासिक विकास-धाराको गलत दृष्टिसे देखने और उसके प्राचीन भूतकालका पर्याप्त ज्ञान न होनेके कारण उद्भूत हुई है। यह धारणा बहुत समयतक प्रचलित रही है कि वह एक अधिक स्वतत्र प्रकारकी आदिम आर्य या वैदिक समाज-व्यवस्था और राष्ट्र-व्यवस्थासे एक ऐसी व्यवस्थामें जा पहुचा जिसपर सामाजिक रूपमें एकदम ही ब्राह्मणोके धर्मशासनकी स्वेच्छाचारिताकी छाप थी और राजनीतिक रूपमें पूर्वीय, अर्थात् पश्चिम-एशियाई ढगके निरकुश राजतत्रकी। ऐसी व्यवस्थामें पहुचनेके बादसे वह सदैव इन्ही दो चीजोमें फसा रहा है। भारतीय इतिहासके इस सरसरी अध्ययनको उसके अधिक सतर्क एव प्रबुद्ध विद्वानोने निर्मूल सिद्ध कर डाला है और असली तथ्य सर्वथा भिन्न प्रकारके हैं। यह सच है कि भारतने उस प्रतिद्वद्वितापूर्ण और उत्पीडक व्यवसायवादका या स्वाधीनता और ढोगपूर्ण जनतत्रके ससदीय सगठनका विकास कभी नही किया जो यूरोपीय सभ्यताके विकास-चक्रके बुर्जुआ या वैश्य-युगकी विशेषताए है। परतु अब वे दिन बीत रहे हैं जब इन चीजोको सामाजिक और राजनीतिक प्रगतिकी आदर्श अवस्था एव अतिम बात मानकर बिना सोचे-विचारे इनकी प्रशसा करनेका फैशन था, अब इनकी त्रुटिया दिखलायी पड रही है और एक पूर्वीय सभ्यताकी महानताको इन पश्चिमी प्रगतियोके मानदण्डसे नापनेकी कोई आवश्यकता नही। भारतीय विद्वानोंने भारतके अतीतमें जनतत्रके आधुनिक विचारो एव नमूनो और यहातक कि ससदीय प्रणालीको भी पढनेका यत्न किया है, परतु मुझे यह प्रयत्न भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है। यदि पश्चिमी परिभाषाओका प्रयोग करना आवश्यक ही हो तो हम कह सकते है कि भारतीय शासनप्रणालीमें जनतत्रका शक्तिशाली

इस आदिम रूपमेंसे बादमें जो रूप विकसित हुआ उसने कुछ हदतक विकासकी उस साधारण पद्धतिका ही अनुसरण किया जो कि अन्य समाजोंमें देखनेमें आती है, पर साथ ही उसने अपनी कुछ अत्यद्भुत विशेषताएं भी प्रकट कीं जिन्होंने हमारी जातिकी विलक्षण मनोवृत्तिके कारण उसकी राष्ट्र-व्यवस्थाके स्थिर अंग एवं प्रमुख विशेषताएं बनकर भारतीय सभ्यताके राष्ट्रनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अंगोंपर अपनी एक अलग ही छाप लगा दी। आनुवंशिकताके सिद्धांतका प्रादुर्भाव एक बहुत शुरूकी अवस्थामें ही हो गया था और समाज-पर इसका प्रभाव एवं प्रभुत्व निरंतर बढ़ता ही चला गया जिससे कि अंतमें यह सभी जगह उसके कार्य-कलापके संपूर्ण संगठनका आधार बन गया। वंशानुगत राजतंत्रकी स्थापना हुई, एक शक्तिशाली शासक और क्षात्र वर्ग उत्पन्न हो गया, शेष लोगोंको व्यापारियों, शिल्पियों और कृषकोंकी एक पृथक् श्रेणीके रूपमें विभाजित कर दिया गया और फिर सेवकों तथा श्रमिकोंकी एक दास या निम्नश्रेणीका भी जन्म हो गया—शायद कभी तो विजयके परिणाम-स्वरूप पर अधिक संभव या सामान्य रूपमें आर्थिक आवश्यकताके कारण। भारतवासियोंके मनमें प्राचीन कालसे ही जो धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तिकी प्रधानता रही है उसीके फल-स्वरूप यहां समाज-व्यवस्थाके शिखरपर ब्राह्मण-संप्रदायका, पुरोहितों, पंडितों, विधानकारों एवं वेदोंकी पवित्र ज्ञान-निधिके रक्षकोंका आविर्भाव हुआ। अवश्य ही, इस प्रकारके विकास-का दृष्टांत अन्य देशोंमें भी पाया जाता है, किंतु इसे जैसी स्थायिता, सुनिश्चितता एवं परम महत्ता यहां प्रदान की गयी है वैसी और कहीं भी देखनेमें नहीं आती। अन्य देशोंमें, जहां लोगोंका मनोभाव भारतकी अपेक्षा कम जटिल है, इस प्रकारकी प्रधानताका परिणाम संभवत यह होता कि पुरोहितोंका राज्य कायम हो जाता किंतु भारतमें यद्यपि ब्राह्मणोंका प्रभाव निरंतर बढ़ता ही चला गया और अंतमें तो वह सर्वोपरि हो गया फिर भी उन्होंने राज-सत्तापर अपना अधिकार कभी नहीं जमाया किंवा वे नहीं जमा सके। राजा और जनसाधा-रणके अति पवित्र पुरोहितों, विधायकों और अध्यात्म-गुरुओंके रूपमें उनका निश्चय ही बड़ा भारी प्रभाव था, परंतु वास्तविक या सक्रिय राजशक्ति राजा, अभिजात क्षत्रिय-वर्ग और जनसाधारणके हाथोंमें ही बनी रही।

बीचमें कुछ समय ऐसा भी आया जब ऋषिको एक विशिष्ट और असाधारण पद दिया जाता था। ऋषि उस व्यक्तिको कहते थे जो उच्चतर आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञानसे संपन्न होता था और जो चाहे किसी भी वर्णमें क्यों न उत्पन्न हुआ हो, पर अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्वके बलपर सभी लोगोंपर प्रभुत्व रखता था। राजा भी उसका सम्मान करता तथा उससे परामर्श करता था। कभी-कभी वह राजाका धर्मगुरु भी होता था और सामाजिक विकासकी तत्कालीन तरल अवस्थामें केवल वही नये आधारभूत विचारोंको विक-सित करने तथा लोगोंकी सामाजिक-धार्मिक धारणाओं और प्रथाओंमें सीधे और तुरत परि-वर्तन लानेमें महत्त्वपूर्ण भाग लेनेकी सामर्थ्य रखता था। भारतीय मानसका यह एक विशेष

ही विभाजनके कारण वे आपस-आपसमें शक्तिशाली होते हुए भी वे इस प्रायद्वीपके संगठन के लिये कुछ भी नहीं कर सके निःसंदेह संपूर्ण प्रायद्वीप इतना विशाल था कि छोटे-छोटे राज्योंके महासंघकी कोई भी प्रणाली संभव नहीं हो सकती थी—और वस्तुतः प्राचीन युग में संसारमें ऐसा प्रयास कहीं भी सफल नहीं हुआ किन्हीं विशेष प्रकारकी संकीर्ण सीमाओंके परे विस्तृत होनेकी चेष्टामें यह सत्ता ही छिन्न-भिन्न हो गया और एक अधिक केन्द्रीभूत शासनके लिये किये गये आंदोलनके विरुद्ध नहीं टिक सका। अन्य देशोंकी भांति भारतमें भी राजतन्त्रात्मक राज्य प्रणाली ही उन्नत होती गयी और अंतमें राजनीतिक सघ ठनके अन्य सभी रूपोंको पदच्युत करके उसने उनका स्थान ले लिया। प्रजातंत्रात्मक राज्य व्यवस्था उसके इतिहाससे लुप्त हो गयी और अब हम केवल सिक्कों तथा यहां-वहां बिखरे पड़े उल्लेखोंके प्रमाणके द्वारा ही इसके विषयमें कुछ बातें जान पाते हैं। साथ ही यूनानी ग्रंथकारों तथा उनके समकालीन उन राजनीतिक लेखकों और सिद्धांतकारोंके वर्णनोंसे भी हमें इसका कुछ ज्ञान प्राप्त होता है जिन्होंने संपूर्ण भारतमें राजतंत्रात्मक राज्य-प्रणालीका समर्थन किया था तथा इसे संपुष्ट और विकसित करनेमें सहायता पहुंचायी थी।

परंतु भारतमें यद्यपि राजाको दैवी शक्तिका प्रतिनिधि और धर्मका संरक्षक मानते हुए उसके राजोचित पद एवं उसके व्यक्तित्वको एक विशेष प्रकारकी पवित्रता तथा महत् प्रभुतासे संपन्न समझा जाता था तथापि मुसलमानोंके आक्रमणसे पहले भारतीय राजतंत्र किसी प्रकार भी एक व्यक्तिका स्वेच्छाचारी शासन या निरंकुश तानाशाही नहीं था फारसके प्राचीन राजतंत्र या पश्चिमी और मध्य-एशियाके राजतंत्रों अथवा रोमके साम्राज्यीय शासन या यूरोपकी परवर्ती तानाशाहियोंसे यह कुछ भी साम्य नहीं रखता था यह पठान या मुगल बादशाहोंकी शासन-प्रणालीसे बिलकुल ही भिन्न प्रकारका था। भारतीय राजा प्रशासनिक और न्याय-संबंधी कार्योंमें सर्वोपरि शक्ति रखता था राज्यकी समस्त सामरिक शक्तियां उसीके हाथमें होती थीं और अपनी मंत्रिपरिषदके साथ अकेला वही शांति और युद्धके लिये उत्तरदायी होता था और समाजके जीवनकी सुव्यवस्था और सुख-सुविधाका सामान्य निरीक्षण और नियमन भी वही करता था। परंतु उसकी यह शक्ति व्यक्तिगत नहीं होती थी साथ ही इसे कई-एक संरक्षणोंसे परिवेष्टित रखा जाता था ताकि राजा इसका दुरुपयोग न कर सके और न बलपूर्वक इसपर अपना अधिकार ही जमा सके। इसके अतिरिक्त इसे अन्य सार्वजनिक अधिकारियों और नाना हितोंके प्रतिनिधियोंकी स्वाधीनताओं और शक्तियोंके द्वारा भी सीमामें रखा जाता था। वे अधिकारी और प्रतिनिधि एक प्रकारसे प्रभुताके प्रयोगमें तथा शासनव्यवस्थाके विधान और नियमनमें उसके छोटे सहभागी होते थे। अब पूछो तो वह एक सीमाबद्ध या सवैधानिक राजा होता था पर जिस मशीनरीके द्वारा राज्यके संविधानकी रक्षा की जाती थी तथा राजाकी शक्तिको सीमामें रखा जाता था वह उससे भिन्न प्रकारकी थी जो कि यूरोपके इतिहासमें पायी जाती है। यहांतक कि उसके शासन

की स्थायिता भी मध्ययुगीन यूरोपीय राजाओके शासनकी अपेक्षा कही अधिक प्रजाकी इच्छा और सम्मतिके बराबर बने रहनेपर निर्भर करती थी।

राजासे भी बडा राजा था धर्म, अर्थात् धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, न्यायिक और प्रथानुगत विधान जो लोगोके जीवनको मूलत परिचालित करता था। इस निर्व्यक्तिक धर्म-सत्ताको इसके मूल भावमे तथा इसके बाह्य-रूपकी समष्टिमे पवित्र और सनातन माना जाता था। इसका मूल स्वरूप सदा एक ही रहता था, पर समाजके विकासके कारण इसके प्रत्यक्ष आकारमें सजीव और सहज-स्वाभाविक रूपसे जो परिवर्तन आते थे उन्हे इसमे सदा ही समाविष्ट कर लिया जाता था, देशगत और कुलगत तथा अन्य आचार-धर्म इसकी देहके एक प्रकारके गौण और सहचारी अग थे जिनमे केवल भीतरी प्रेरणासे ही परिवर्तन किया जा सकता था,—और मूल धर्ममे हस्तक्षेप करनेका किसी भी लौकिक सत्ताको कोई निरकुश अधिकार नही था। स्वय ब्राह्मण भी धर्मसबधी लेखोको सुरक्षित रखनेवाले तथा धर्मके व्याख्याकार थे, वे न तो धर्मकी रचना करते थे न उन्हे अपनी इच्छानुसार उसमे कोई परिवर्तन करनेका ही अधिकार था, यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि अपने मतको प्रामाणिक रूपसे व्यक्त करके वे धर्मके मूलतत्त्व या ब्योरेको परिवर्तित करनेकी इस या उस प्रवृत्तिका समर्थन या विरोध कर सकते थे और करते भी थे। राजा तो धर्मका केवल रक्षक, परिचालक और सेवक होता था, उसके जिम्मे यह कार्य रहता था कि वह धर्मका पालन करवाये और हर प्रकारके अपराध, भयानक उच्छृखलता तथा धर्मोल्लघनको रोके। वह स्वय सबसे पहले धर्मका अनुसरण करने तथा उस कठोर नियमका पालन करनेके लिये बाध्य होता था जिसे यह उसके व्यक्तिगत जीवन और कर्मपर तथा उसके राजकीय पद और प्रभुत्वके क्षेत्र, सामर्थ्यों और कर्तव्योपर लागू करता था।

धर्मके प्रति राजशक्तिकी इस प्रकारकी अधीनता कोई ऐसा मन-गढत सिद्धात नही थी जो व्यवहारमें क्रियाशील न हो, क्योकि सामाजिक-धार्मिक विधानका शासन जनताके सपूर्ण जीवनको सक्रिय रूपसे मर्यादित रखता था और इसलिये वह एक जीवित-जागृत सत्य था तथा राजनीतिक क्षेत्रमें अत्यत व्यापक और क्रियात्मक परिणामोको उत्पन्न करता था। इसका मतलब सबसे पहले तो यह था कि सीधे ही कानून बनानेकी शक्ति राजाके पास नही थी। उसकी शक्ति प्रशासनसबधी आदेशोकी घोषणा करनेतक ही सीमित थी। उन आदेशोका निर्धारण तो जातिके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सविधानके अनुरूप ही करना होता था,—और घोषणा करनेकी यह शक्ति भी राजाके सिवा कुछ अन्य अधिकारियोके पास भी रहती थी, वे इसमें उसके सहभागी होते थे, अर्थात् वे भी उसकी तरह प्रशासनसबधी आदेशोको स्वतत्र रूपसे जारी करने थे तथा उनका प्रचार करने और उनकी कार्यान्विति की देख-रेख करनेका अधिकार रखते थे। इसके अतिरिक्त, अपने प्रशासनके सामान्य भाव और स्वरूपमे तथा इसके प्रभावपूर्ण परिणाममे वह प्रजागणकी प्रकट या

तथा अनेकों सदियोंतक चिरस्थायी रहनेके योग्य सिद्ध हुईं। उन जातियोंकी शासन-व्यवस्था कहीं-कहीं तो जनतांत्रिक सभाके द्वारा पर अधिकतर स्थानोंमें कुलीन-सभाके द्वारा परिचालित होती थी। दुर्भाग्यका विषय है कि इन भारतीय गणराज्योंके संविधानके ब्योरोंके बारेमें हम बहुत ही कम जानते हैं और इनके अंदरूनी इतिहाससे तो बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। परंतु इस बातका प्रमाण स्पष्ट रूपमें पाया जाता है कि इनका राजनीतिक संगठन अपनी उत्कृष्टताके लिये तथा इनका सैनिक संगठन अपनी दुर्धर्ष कार्यदक्षताके लिये संपूर्ण भारतमें सुविख्यात था। बुद्धका एक मनोरंजक वचन है कि जबतक प्रजातांत्रिक संस्थाओंको उनके शुद्ध और बलशाली रूपमें सुरक्षित रखा जायगा तबतक इस प्रकारका एक छोटा-सा राज्य भी मगधके शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजतंत्रके शस्त्रास्त्रोंसे भी अजेय रहेगा। राजनीतिक लेखकोंने भी इस मतका प्रचुर रूपमें समर्थन किया है। उनकी राय है कि प्रजातांत्रिक राज्योंके साथ मैत्री करनेसे किसी राजाको अत्यंत ठोस और मूल्यवान् राजनीतिक एवं सैनिक सहायता मिल सकती है और वे सलाह देते हैं कि प्रजातंत्र राष्ट्रोंका दमन शस्त्रास्त्रोंकी शक्तिसे नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस उपायमें सफलता मिलनेकी संभावना अत्यंत संदिग्ध ही रहेगी, वरन् उनका दमन कहीं अधिक माकियावेली (Machiavelli) के साधनोंसे ही करना चाहिये, —उस प्रकारके साधनोंसे जिनका प्रयोग मैसिडोन (Macedon) के फिलिपने यूनानमें वास्तवमें किया था और जिनका लक्ष्य होता है उनकी आतरिक एकताकी जड़ें खोद डालना तथा उनके संविधानकी कार्यदक्षताको नष्ट-भ्रष्ट कर देना।

ये गणराज्य बहुत प्राचीन कालसे ही स्थापित हो चुके थे और ईसासे पूर्वकी छठी शताब्दीमें पूरे जोर-शोरसे कार्य कर रहे थे, अतएव ये यूनानके शानदार पर अस्थायी और विक्षुब्ध नगर-गणतंत्रोंके समकालीन थे, पर भारतमें राजनीतिक स्वाधीनताका यह रूप यूनानकी प्रजातांत्रिक स्वाधीनताके युगके बाद भी दीर्घकालतक जीवित रहा। प्राचीन भारतीय मानसको जो राष्ट्रनीतिक आविष्कारमें कम उर्वर नहीं था, दृढ संगठन और सुस्थिर संवैधानिक व्यवस्था स्थापित करनेकी योग्यतामें भूमध्यसागरके तटपर बसनेवाले अशांत और चंचलमति लोगोंके मनसे श्रेष्ठ ही मानना होगा। प्रतीत होता है कि इनमेंसे कुछ गणराज्योंकी तेजस्वी स्वाधीनताका इतिहास प्रजातांत्रिक रोमकी अपेक्षा अधिक सुदीर्घ और सुप्रतिष्ठित रहा है। क्योंकि वे चंद्रगुप्त और अशोकके प्रतापशाली साम्राज्यके विरुद्ध भी अपने अस्तित्वको अक्षुण्ण बनाये रहे और ईसवी सन्‌की आरंभिक शताब्दियोंतक भी जीवित थे। परंतु उनमेंसे किसीने भी रोमके प्रजातंत्रकी आक्रामक भावनाका और विजय पाने तथा सुविस्तृत संगठन करनेकी क्षमताका विकास नहीं किया, वे अपने स्वतंत्र आभ्यंतरिक जीवन तथा अपनी स्वाधीनताको सुरक्षित रखनेभरसे संतुष्ट रहे। भारतने विशेषकर सिकंदरके आक्रमणके बाद ही एकीकरणके आंदोलनकी आवश्यकताका अनुभव किया और ये प्रजातंत्र-राज्य

ही विभाजनके कारण वे अपने आपमें शक्तिशाली होते हुए भी वे इस प्रायद्वीपके संगठन के लिये कुछ भी नहीं कर सके। निःसंदेह संपूर्ण प्रायद्वीप इतना विशाल था कि छोटे-छोटे राज्योंके महासंघकी कोई भी प्रणाली संभव नहीं हो सकती थी—और वस्तुतः प्राचीन युग-में संसारमें ऐसा प्रयास कहीं भी सफल नहीं हुआ। किसी विशेष प्रकारकी संकीर्ण सीमा-ओंके परे विस्तृत हालकी क्षेत्रमें यह सदा ही छिन्न-भिन्न हो गया और एक अधिक केन्द्री-भूत शासनके लिये किये गये आक्रमणके विरुद्ध नहीं टिक सका। अन्य देशोंकी भाँति भारतमें भी राजतंत्रात्मक राज्य प्रणाली ही उत्पन्न होती गयी और अंतमें राजनीतिक संग-ठनके अन्य सभी रूपोंको पदच्युत करके उसने उनका स्थान ले लिया। प्रजातंत्रात्मक राज्य-व्यवस्था उसके इतिहाससे लुप्त हो गयी और अब हम केवल सिक्कों तथा यहाँ-वहाँ बिखरे पड़े उल्लेखोंके प्रमाणके द्वारा ही इसके विषयमें कुछ बातें जान पाते हैं। साथ ही यूनानी लेखकों तथा उनके समकालीन उन राजनीतिक लेखकों और सिद्धान्तकारोंके वर्णनोंसे भी हम इसका कुछ ज्ञान प्राप्त होता है जिन्होंने संपूर्ण भारतमें राजतंत्रात्मक राज्य प्रणालीका सम-र्थन किया था तथा इसे संपुष्ट और विकसित करनेमें सहायता पहुँचायी थी।

परंतु भारतमें यद्यपि राजाको दैवी शक्तिका प्रतिनिधि और धर्मका संरक्षक मानते हुए उसके राजोचित पद एवं उसके व्यक्तित्वको एक विशेष प्रकारकी पवित्रता तथा महत् प्रभु-तासे संपन्न समझा जाता था तथापि मुसलमानोंके आक्रमणसे पहले भारतीय राजतंत्र किसी प्रकार भी एक व्यक्तिका स्वेच्छाचारी शासन या निरंकुश तानाशाही नहीं था। फारसके प्राचीन राजतंत्र या पश्चिमी और मध्य-एशियाके राजतंत्रों अथवा रोमके साम्राज्यीय शासन या यूरोपकी परवर्ती तानाशाहियोंसे यह कुछ भी साम्य नहीं रखता था। यह पठान या मुगल बादशाहोंकी शासन प्रणालीसे बिलकुल ही भिन्न प्रकारका था। भारतीय राजा प्रशासनिक और न्याय-संबंधी कार्योंमें सर्वोपरि शक्ति रखता था। राज्यकी समस्त सामरिक शक्तियाँ उसीके हाथमें होती थीं और अपनी मंत्रिपरिषद्के साथ अकेला वही शांति और युद्धके लिये उत्तर-दायी होता था और समाजके जीवनकी सुव्यवस्था और सुख-सुविधाका सामान्य निरीक्षण और नियंत्रण भी वही करता था। परंतु उसकी यह शक्ति व्यक्तिगत नहीं होती थी साथ ही इसे कई-एक संरक्षणोंसे परिवेष्टित रखा जाता था ताकि राजा इसका दुरुपयोग न कर सके और न बलपूर्वक इसपर अपना अधिकार ही जमा सके। इसके अतिरिक्त इसे अन्य सार्वजनिक अधिकारियों और नाना हितोंके प्रतिनिधियोंकी स्वाधीनताओं और शक्तियोंके द्वारा भी सीमामें रखा जाता था। ये अधिकारी और प्रतिनिधि एक प्रकारसे प्रभुताके प्रयोगमें तथा शासनव्यवस्थाके विधान और नियंत्रणमें उसके छोटे सहभागी होते थे। सच पूछो तो वह एक सीमाबद्ध या संवैधानिक राजा होता था पर जिस मशीनरीके द्वारा राज्य-के संविधानकी रक्षा की जाती थी तथा राजाकी शक्तिको सीमामें रखा जाता था वह उससे भिन्न प्रकारकी थी जो कि यूरोपके इतिहासमें पायी जाती है। यहाँतक कि उसके शासन-

की स्थायिता भी मध्ययुगीन यूरोपीय राजाओंके शासनकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रजाकी इच्छा और सम्मतिके बराबर बने रहनेपर निर्भर करती थी।

राजासे भी बड़ा राजा था धर्म, अर्थात् धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, न्यायिक और प्रथानुगत विधान जो लोगोंके जीवनको मूलत परिचालित करता था। इस निर्व्यक्तिक धर्म-सत्ताको इसके मूल भावमें तथा इसके बाह्य-रूपकी समष्टिमें पवित्र और सनातन माना जाता था। इसका मूल स्वरूप सदा एक ही रहता था, पर समाजके विकासके कारण इसके प्रत्यक्ष आकारमें सजीव और सहज-स्वाभाविक रूपसे जो परिवर्तन आते थे उन्हें इसमें सदा ही समाविष्ट कर लिया जाता था, देशगत और कुलगत तथा अन्य आचार-धर्म इसकी देहके एक प्रकारके गौण और सहचारी अंग थे जिनमें केवल भीतरी प्रेरणासे ही परिवर्तन किया जा सकता था,—और मूल धर्ममें हस्तक्षेप करनेका किसी भी लौकिक सत्ताको कोई निरंकुश अधिकार नहीं था। स्वयं ब्राह्मण भी धर्मसबंधी लेखोंको सुरक्षित रखनेवाले तथा धर्मके व्याख्याकार थे, वे न तो धर्मकी रचना करते थे न उन्हें अपनी इच्छानुसार उसमें कोई परिवर्तन करनेका ही अधिकार था, यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि अपने मतको प्रामाणिक रूपसे व्यक्त करके वे धर्मके मूलतत्त्व या ब्योरेको परिवर्तित करनेकी इस या उस प्रवृत्तिका समर्थन या विरोध कर सकते थे और करते भी थे। राजा तो धर्मका केवल रक्षक, परिचालक और सेवक होता था, उसके जिम्मे यह कार्य रहता था कि वह धर्मका पालन करवाये और हर प्रकारके अपराध, भयानक उच्छृंखलता तथा धर्मोल्लंघनको रोके। वह स्वयं सबसे पहले धर्मका अनुसरण करने तथा उस कठोर नियमका पालन करनेके लिये बाध्य होता था जिसे यह उसके व्यक्तिगत जीवन और कर्मपर तथा उसके राजकीय पद और प्रभुत्वके क्षेत्र, सामर्थ्यों और कर्तव्योंपर लागू करता था।

धर्मके प्रति राजशक्तिकी इस प्रकारकी अधीनता कोई ऐसा मन-गढ़त सिद्धांत नहीं थी जो व्यवहारमें क्रियाशील न हो, क्योंकि सामाजिक-धार्मिक विधानका शासन जनताके संपूर्ण जीवनको सक्रिय रूपसे मर्यादित रखता था और इसलिये वह एक जीवित-जागृत सत्य था तथा राजनीतिक क्षेत्रमें अत्यंत व्यापक और क्रियात्मक परिणामोंको उत्पन्न करता था। इसका मतलब सबसे पहले तो यह था कि सीधे ही कानून बनानेकी शक्ति राजाके पास नहीं थी। उसकी शक्ति प्रशासनसंबंधी आदेशोंकी घोषणा करनेतक ही सीमित थी। उन आदेशोंका निर्धारण तो जातिके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सविधानके अनुरूप ही करना होता था,—और घोषणा करनेकी यह शक्ति भी राजाके सिवा कुछ अन्य अधिकारियोंके पास भी रहती थी, वे इसमें उसके सहभागी होते थे, अर्थात् वे भी उसकी तरह प्रशासनसंबंधी आदेशोंको स्वतंत्र रूपसे जारी करते थे तथा उनका प्रचार करने और उनकी कार्यान्विति की देख-रेख करनेका अधिकार रखते थे। इसके अतिरिक्त, अपने प्रशासन-के सामान्य भाव और स्वरूपमें तथा इसके प्रभावपूर्ण परिणाममें वह प्रजागणकी प्रकट या

अप्रकट इच्छाकी अवहेलना नहीं कर सकता था।

धार्मिक कार्योंमें सर्वसाधारणको सुनिश्चित स्वाधीनता प्राप्त थी तथा कोई भी लौकिक सत्ता सामान्यतया उसका अतिक्रम नहीं कर सकती थी प्रत्येक धार्मिक समाज प्रत्येक नया या पुरातन धर्म अपनी निजी जीवन प्रणाली तथा संस्थाओंका निर्माण कर सकता था और उसके धर्माधिकारी या व्यवस्थापक संघ होते थे जो अपने निज क्षेत्रमें पूर्ण स्वतंत्रताका प्रयोग करते थे। राज्यका कोई एक ही धर्म नहीं होता था और न राजा जनताका धर्माध्यक्ष ही होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषयमें अशोकने राजाके अधिकार या प्रभावको विस्तारित करनेकी चेष्टा की थी और अन्य शक्तिशाली राजाओंने भी कभी-कभी छोटे परिमाणमें इस प्रकारकी प्रवृत्तियां प्रदर्शित कीं। परन्तु अशोककी तथाकथित धर्मसंबंधी राजघोषणाओंमें कोई आदेश जारी नहीं किया गया है वरन् एक धर्मकी स्तुतिमात्र की गयी है और जो राजा किसी धार्मिक विश्वास या किन्हीं धार्मिक प्रथाओंमें परिवर्तन लाना चाहता था उसे सदा ही साम्प्रदायिक स्वाधीनताके तथा संबद्ध लोगोंकी इच्छाओंका सम्मान करने तथा उनसे पहले ही विचार-विमर्श करनेके अनिवार्य कर्तव्यके भारतीय सिद्धांतके अनुसार सर्वमान्य अधिकारी व्यक्तियोंकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी अथवा उसे यह विषय विचारके लिये मन्त्रणा-परिषद्के सामने पेश करना पड़ता था जैसा कि प्रसिद्ध बौद्ध परिषदों (संगीतियों) में किया गया था या फिर उसे विभिन्न धर्मोंके व्याख्याकारोंमें शास्त्रार्थकी व्यवस्था करनी होती थी तथा उसके परिणामको स्वीकार करना पड़ता था। राजा व्यक्तिगत रूपमें किसी विशेष सम्प्रदाय या धर्मसतका पक्ष ले सकता था और स्पष्ट ही उसकी सक्रिय अभिरुचिका अत्यधिक प्रचारात्मक प्रभाव पड़ सकता था किंतु फिर भी अपने सार्वजनिक पदके कारण उसे कुछ हदतक निष्पक्ष भावसे लोकसम्मत सभी धर्मोंका सम्मान और समर्थन करना पड़ता था यह एक ऐसा नियम था जिससे यह बात समझमें आ जाती है कि क्यों बौद्ध और ब्राह्मण-धर्मी सम्राटोंने इन दोनों ही प्रतिद्वंद्वी धर्मोंको प्रश्रय दिया था। किसी-किसी समय मुख्यतया दक्षिण भारतमें राजाके द्वारा धार्मिक मामलोंमें छोटे-मोटे या भीषण अत्याचार किये जानेके दृष्टांत भी मिलते हैं। परन्तु ये विस्फोट एक प्रकारका धर्मोन्मत्तपन ही होते थे जो किसी तीव्र धार्मिक कलहके समय अधिक उत्तेजनाके कारण किया जाता था और ये सदा ही स्थानीय एवं अल्पकालीन ही होते थे। पर साधारणत भारतकी राजनीतिक प्रणालीमें धार्मिक अत्याचार और असहिष्णुताके लिये कोई स्थान नहीं था और इस प्रकारकी स्थिर राष्ट्र-नीतिकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

इसी प्रकार जनताका सामाजिक जीवन भी निरंकुश हस्तक्षेपसे मुक्त था। इस क्षेत्रमें राजाके द्वारा कानून बनाये जानेके दृष्टान्त बहुत ही कम मिलते हैं और यहां भी जब कानून बनाया जाता था तो सबद्ध व्यक्तियोंका मत लेना पड़ता था उदाहरणार्थ बौद्धोंके दीर्घकालीन प्राधान्यके कारण वर्ण-व्यवस्थाके अस्तव्यस्त हो जानेके बाद बंगालमें सेन राजाओंने

इसकी पुनर्व्यवस्था या पुनःसघटन करनेके लिये ऐसा ही किया था। समाजमे परिवर्तन लाया तो जाता था पर कृत्रिम ढगसे, ऊपरसे, नही बल्कि स्वत ही भीतरसे लाया जाता था और मुख्यतया कुलो या विशेष-विशेष समाजोको अपने जीवनके नियम, आचार, का स्वाभाविक रीतिसे विकास या परिवर्तन करनेके लिये जो स्वाधीनता दी गयी थी, उसके द्वारा लाया जाता था।

इसी प्रकार, शासन-व्यवस्थाके क्षेत्रमे भी राजाकी शक्ति धर्मके प्रचलित सविधानके द्वारा मर्यादित थी। उसका कर लगानेका अधिकार राजस्वके अत्यत प्रधान स्रोतोमें तो एक नियत प्रतिशतसे अधिक कर न लगा सकनेकी सीमाके द्वारा सीमित था, कुछ अन्य स्रोतोमें समाजके विविध अगोका प्रतिनिधित्व करनेवाले सघोके इस विषयमे प्राय ही अपना मत-प्रकाश करनेके अधिकारके द्वारा, और फिर इस साधारण नियमके द्वारा सीमित रहता था कि उसका शासन करनेका अधिकार प्रजाजनकी सतुष्टि और सद्भावनापर ही आश्रित है। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह सब धर्मके सरक्षक ब्राह्मणोकी धार्मिक इच्छा या सम्मतिमात्रका परिणाम नही था। स्वय राजा ही, व्यक्तिगत रूपसे, दीवानी और फौजदारी कानूनको चलानेमें प्रधान विचारपति और सर्वोच्च नियन्ता होता था, परतु यहा भी उसका पद कार्य-सचालकका ही होता था कानूनका जो भी स्वरूप निर्धारित हुआ हो उसे अपने न्यायाधीशो-के द्वारा या इन विषयोके ज्ञाता विधान-निपुण ब्राह्मणोकी सहायतासे सच्चाईके साथ कार्यान्वित करनेके लिये वह बाध्य होता था। अपनी मत्रणा-परिषद्में उसे केवल वैदेशिक नीति, सैनिक प्रशासन और युद्ध तथा शाति-स्थापनाके एव शासन-सचालनसबधी अनेक कार्योंके बारे-में ही पूर्ण एव अप्रतिहत प्रभुत्व प्राप्त रहता था। शासन-व्यवस्थाके अगभूत जो भी कार्य समाजके कल्याण और सुप्रबध तथा सार्वजनिक सदाचारकी वृद्धि और सुरक्षामें सहायक होते थे उन सबकी, एव जिन विषयोका निरीक्षण या नियमन राजसत्ताके द्वारा ही सुचारु रूपसे हो सकता था ऐसे सब विषयोकी उपयुक्त व्यवस्था करनेके लिये वह स्वतत्र होता था। कानूनके अनुसार सरक्षण करने एव दड देनेका उसे अधिकार होता था और उससे आशा की जाती थी कि वह इस अधिकारका प्रयोग सर्वसाधारणके हित-रूपी फलको और सार्वजनिक कल्याणकी वृद्धिको कठोरतापूर्वक दृष्टिमें रखकर ही करेगा।

अतएव, साधारणत, प्राचीन भारतीय राज्य-प्रणालीमें मनमानी स्वेच्छाचारिता या राज-तत्रीय अत्याचार एव उत्पीडनका स्थान नहीके बराबर ही हो सकता था या फिर बिलकुल ही नही हो सकता था, उस बर्बर क्रूरता एव निष्ठुरताकी बात तो दूर रही जो कुछ अन्य देशोके इतिहासमें इतने सामान्य रूपमें पायी जाती है। तथापि राजाद्वारा धर्मकी अवहेलना करने या राज्य-शासनसबधी आदेश जारी करनेकी अपनी शक्तिका दुरुपयोग करनेके कारण ऐसी घटनाओका होना सभव था, इस प्रकारकी घटनाए घटित भी हुईं,—यद्यपि इनका जो सबसे बुरा दृष्टात इतिहासमे मिलता है वह एक विदेशी राजवशसे सबध रखनेवाले अत्या-

चारी राजाका है। अन्य उदाहरणोंमें ऐसा मालूम होता है कि किसी स्वेच्छाचारी राजाके शासक अत्याचार या अन्यायके किसी अंश विस्फोटका परिणाम यह हुआ कि प्रजाने शीघ्र ही उसका प्रबल विरोध या उसके विरुद्ध जबर्दस्त विद्रोह किया। विधान-निर्माताओंने अत्याचारकी संभावनाको दृष्टिमें रखकर उसकी रोकथामके लिये एक धारा बना दी थी। राज पदकी पवित्रता और मान-मर्यादा स्वीकार करते हुए भी यह नियम बनाया गया था कि यदि राजा धर्मको सच्चाईके साथ कार्यान्वित करना छोड़ दे तो प्रजा उसका आदेश माननेके लिये बाध्य नहीं होगी। प्रजाके मंतव्यके अनुसार शासन करनेमें अयोग्यता और इस अनिवार्य कर्तव्यका उल्लंघन उसे पदच्युत करनेके लिए सिद्धान्ततः और कार्यतः पर्याप्त कारण होते थे। मनुने तो यहांतक व्यवस्था दी है कि अन्यायी और अत्याचारी राजाको पागल कुत्तेकी तरह मार डालना प्रजाका कर्तव्य है। और एक सर्वोच्च प्रामाणिक स्मृतिकारने चरम कोटिकी अवस्थाओंमें राजविद्रोह एवं राजहत्याके अधिकार किंवा कर्तव्यतकका इस प्रकारका जो समर्थन किया है वह इस बातको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है कि राजाओंकी निरंकुशता या ईश्वरप्रदत्त अनियंत्रित अधिकार भारतीय राज्यप्रणालीके उद्देश्यका कोई अंग नहीं था। वस्तुतः इतिहास और साहित्य दोनोंसे यह पता चलता है कि प्रजा अपने इस अधिकारका प्रयोग सचमुचमें किया करती थी। एक और अधिक शांतिपूर्ण उपाय था—संबंध-विच्छेद करने या राज्य छोड़कर दूसरे राज्यमें चले जानेकी धमकी देना। इस उपायका प्रयोग अधिक आम तौरपर किया जाता था। बहुधा यही उपाय कर्तव्यच्युत शासककी बुद्धिको ठिकाने लानेके लिये पर्याप्त होता था। यह मजेदार बात है कि दक्षिण भारतमें इधर सत्रहवीं शताब्दीमें भी एक अप्रिय राजाको प्रजाने उससे संबंध विच्छेद कर लेनेकी धमकी दी थी और सर्वसाधारणकी सभाने यह घोषित किया था कि उस राजाको दी गयी किसी भी प्रकारकी सहायता विश्वासघातके कार्यकी भांति निंद्य समझी जायगी। एक और अधिक प्रचलित उपाय यह था कि मंत्रियोंकी परिषद् या जनसाधारणकी सभाओंके द्वारा राजाको पदच्युत कर दिया जाता था। इस प्रकार यहां जो राजतंत्र गठित हुआ था वह कार्यतः सफल कार्यकुशल और हितकर सिद्ध हुआ,—जो कार्य उसे सौंपे गये थे उन्हें उसने सुचारु रूपसे संपन्न किया और जनताके हृदयको स्थायी रूपसे वशमें कर लिया। तथापि राजतंत्रीय प्रणाली भारतकी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थाका केवल एक अंग ही थी। अवश्य ही यह अंग जनताके द्वारा अनुमोदित तथा अत्यंत महत्त्वपूर्ण था पर जैसा कि हमें प्राचीन प्रजातंत्रोंके अस्तित्वसे पता लगता है यह उसका कोई अनिवार्य अंग नहीं था। अतएव यदि हम भारतीय राज्य-शासनके सामनेके भागको देखकर ही रुक जायं तथा इसके पीछे आधारके रूपमें जो कुछ विद्यमान था उसे देखनेसे चूक जायं तो हम भारतीय राष्ट्रतंत्रके वास्तविक सिद्धांत और इसकी कार्यपद्धतिको जरा भी नहीं समझ पायेंगे। इसकी संपूर्ण रचनाके मूल स्वरूपका सूत्र तो हमें उस आधारभूत वस्तुमें ही प्राप्त होगा।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

सोलहवां अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

भारतीय शासनतंत्रका सच्चा स्वरूप हमारी समझमें केवल तभी आ सकता है यदि हम इसे एक पृथक् वस्तुके रूपमें, अर्थात् अपनी जातिके चिंतन और जीवनके अन्य अंगोसे स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाले एक यंत्रके रूपमें न देख अपनी सामाजिक सत्ता-रूपी सजीव समष्टिके एक अंगके रूपमें तथा उसके संबंधमें इसपर दृष्टिपात करें।

कोई जाति या कोई महान् मनुष्य-समुदाय, वास्तवमें, एक सुसंगठित सजीव अस्तित्व होता है। इसकी एक सामूहिक अंतरात्मा, मन और शरीर होता है, जिसे सामूहिक नहीं बल्कि सर्वगत या समष्टिगत कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि 'सामूहिक' शब्द इतना यांत्रिक या निर्जीव है कि अंतरीय सद्वस्तुका ठीक-ठीक बोध नहीं करा सकता। एक पृथक् मनुष्यके स्थूल जीवनकी भांति समाजका जीवन भी जन्म, वृद्धि, यौवन, प्रौढ़ता और ह्रासके चक्रमेंसे गुजरता है। इनमेंसे अंतिम अवस्था यदि काफी आगे बढ़ जाय और इसकी ह्रासोन्मुखी धारा किसी प्रकार रोकी न जा सके तो समाजका जीवन भी वैसे ही नष्ट हो सकता है, जैसे एक मनुष्य बुढ़ापेसे मर जाता है। भारत और चीनको छोड़कर अन्य सभी प्राचीनतर जातियां और राष्ट्र इसी प्रकार मिट गये। परंतु सामूहिक सत्तामें भी पुनरुज्जीवित होने, पूर्वावस्था प्राप्त करने और एक नया चक्र आरंभ करनेकी सामर्थ्य होती है। कारण, प्रत्येक जातिमें एक आत्म-भावना या जीवन-भावना काम कर रही है, जो उसके शरीरकी अपेक्षा कम नश्वर है। यदि वह भावना अपने-आपमें पर्याप्त बलशाली, विशाल एवं शक्तिदायक हो और जातिके मन तथा स्वभावमें इतना पर्याप्त बल, जीवन-शक्ति एवं नमनीयता हो कि वह अपनी सत्ताकी आत्म-भावना या जीवन-भावनाकी शक्तिका अनवरत विस्तार या नवीन प्रयोग करनेके साथ-साथ उसे स्थायित्व भी दे सके तो वह अपने अंतिम विनाशसे पहले ऐसे अनेक जीवन-चक्रोंमेंसे गुजर सकती है। और फिर, स्वयं यह भावना समष्टि-सत्ताकी आत्माकी अभिव्यक्तिका मूलतत्त्व मात्र है तथा प्रत्येक समष्टि-

कार्यव्यापार, के दो प्रारंभिक एवं स्थूलतर अंगों, अर्थ और काम (सुखभोगकी कामना), के स्वाभाविक क्षेत्र हैं। इनसे अधिक ऊंचा विधान है धर्म और इसे जीवनके इस बाह्य क्षेत्रमें केवल आंशिक रूपसे ही स्थान दिया गया है और राजनीतिमें तो इसे अति न्यूनतम मात्रामें ही लाया गया है, क्योंकि राजनीतिक कार्यको नीतिशास्त्रके अनुसार संचालित करनेका यत्न साधारणतः पाखंडसे अधिक कुछ नहीं होता। आजतक अप्रौढ़-प्राय मानवजातिके अतीत इतिहासमें इस बातकी तो शायद कल्पना या चेष्टा भी नहीं की गयी कि सामाजिक बहिर्जीवन तथा मोक्ष, अर्थात् मुक्त आध्यात्मिक अस्तित्वमें समन्वय या सच्चा मेल साधा जा सकता है, इसके सही सफल होनेकी बात तो दूर रही। मुतरा, हम देखते हैं कि भारतकी प्राचीन राज्य-प्रणाली केवल इतनी ही दूर अग्रसर हो पायी थी कि उसके जीवनकी सामाजिक, आर्थिक और यहांतक कि राजनीतिक——यद्यपि इस क्षेत्रमें यह प्रयत्न अन्य क्षेत्रोंकी अपेक्षा अधिक शीघ्र भंग हो गया——विधि-व्यवस्था, प्रणाली और प्रवृत्ति धर्मके अनुसार नियंत्रित होती थी और इन सबके मूलमें आध्यात्मिक अर्थकी एक क्षीण आभा विद्यमान रहती थी और आध्यात्मिक जीवनका पूर्ण रूपसे चरितार्थ करनेका परम लक्ष्य व्यक्तिके निजी पुरुषार्थपर छोड़ दिया गया था। निःसंदेह इतना-सा प्रयत्न उसने धैर्य और अध्यवसायके साथ किया और इसने उसकी सामाजिक व्यवस्थाको एक विशिष्ट रूप प्रदान किया। संभवतः यह काम भावी भारतका होगा कि वह अपने प्राचीन भगवत्प्रदत्त कार्यको पूरा करनेवाले अर्थात् जीवन और आत्माके बीच समन्वय साधित करनेवाले एक अधिक पूर्ण लक्ष्य, एक अधिक व्यापक अनुभव, एक अधिक सुनिश्चित ज्ञानको ग्रहण कर और उनके द्वारा स्वयं महान्-विशाल बनकर गभीरतर आध्यात्मिक सत्यकी, हमारी सत्ताकी अभीतक अनुपलब्ध आध्यात्मिक संभावनाओंकी अनुभूतिके आधारपर मनुष्य-समाजकी परमार्थ-सत्ता और व्यवहारको प्रतिष्ठित करे और अपनी प्रजाके जीवनमें इस प्रकार नयी जान फूंक दे कि यह मानवजातिमें विद्यमान महत्तर आत्माकी लीला, 'विराट्' अर्थात् विश्व-पुरुषकी सचेतन समष्टिगत आत्मा और शरीर बन जाय।

एक और बात ध्यानमें रखना आवश्यक है, जो भारतके प्राचीन शासन-तंत्र तथा यूरोपीय जातियोंके शासन-तंत्रमें भेद उत्पन्न करती है और जिसके कारण पश्चिमके मानदंड इस क्षेत्रमें भी उतने ही अव्यवहार्य ठहरते हैं जितने मन तथा आंतरिक संस्कृतिके विषयोंमें। मानवसमाजको अपनी संभावनाओंकी पराकाष्ठातक पहुंचनेसे पहले अपनी प्रगतिमें विकासकी तीन अवस्थाओंमेंसे गुजरना पड़ता है। पहली अवस्था वह है जिसमें समष्टिसत्ताके रूप और व्यवहार वही होते हैं जो उसके जीवनकी शक्तियों और मूल वृत्तियोंकी स्वाभाविक क्रीड़ाके होते हैं। उसकी संपूर्ण प्रगति, उसकी सभी रचनाएं, प्रथाएं, संस्थाएं तब एक प्रकारका स्वाभाविक सुगठित विकास होती हैं और इन्हें अपना प्रेरक तथा निर्मायक बल प्रायः उसके अंतःस्थ जीवनके अवचेतन तत्त्वसे ही प्राप्त होता है। ये बिना चाहे

ही समाजके मनोव्यापार, स्वभाव तथा प्राणिक एवं शारीरिक आवश्यकताको प्रकट करती है और अस्थिर बनी रहती है अथवा कुछ तो भीतरी आवेगके और कुछ समष्टिगत मन एवं स्वभावपर क्रिया करनेवाली परिस्थितिके दबावके कारण बदलती है। इस अवस्थामें जाति अभीतक बुद्धिके तरीकेसे ज्ञानपूर्वक आत्मसचेतन नहीं होती अभीतक चिंतनशील सामूहिक सत्ता नहीं होती। यह अपने सम्पूर्ण सामुदायिक जीवनको तर्कशील इच्छा-शक्तिके द्वारा व्यवस्थित नहीं करती बल्कि अपने प्राणिक सहज-बोधों या इनके प्रथम मानसिक प्रतिरूपोंके अनुसार जीवन यापन करती है। अधिकांश प्राचीन तथा मध्ययुगीन जातियोंकी भांति भारतीय समाज और राज्यतन्त्र भी प्रारंभिक बोध एवं ही कालमें विकसित हुए। परंतु बढ़ती हुई सामाजिक आत्मचेतनताके परवर्ती युगमें भी इन्हें त्याग नहीं दिया गया बल्कि इस तरह और भी अधिक सुगठित, विकसित एवं व्यवस्थित किया गया जिससे ये सदा राजनीतिज्ञ, विधायक और सामाजिक एवं राजनीतिक विचारकोंकी रचना न रहकर एक ऐसी दृढ़-स्थिर प्राचीन व्यवस्था बन जाएं भारतीय जातिके मन, सहज प्रेरणाओं और प्राणिक मनबोधोंके लिए स्वाभाविक हो।

समाजकी दूसरी अवस्था वह है जिसमें समष्टि-मन बौद्धिक रूपमें अधिकाधिक आत्मसचेतन होता जाता है पहले तो समाजके अधिक संस्कृत मनुष्योंमें फिर अधिक व्यापक रूपसे, पहले स्थूल रूपसे, तदनन्तर अधिकाधिक सूक्ष्म रूपसे और उसके जीवनके अंग-प्रत्यंगमें। वह अपने निजी जीवन, सामाजिक विचारों, आवश्यकताओं और समस्याओंको विकसित बुद्धिके प्रकाशमें और अन्तमें आलोचनात्मिका एवं रचनात्मिका बुद्धिकी शक्तिके द्वारा देखना और उनके साथ यथोचित व्यवहार करना सीख जाता है। यह अवस्था महान् सम्भावनाओंसे परिपूर्ण होती है पर इसके अपने विशिष्ट भयानक खतरे भी इसके साथ लगे होते हैं। इसके प्राथमिक लाभ वे हैं जो स्पष्ट [illegible] और [illegible] यथार्थ एवं वैज्ञानिक [illegible] वृद्धिके साथ-साथ बराबर ही प्राप्त होते हैं। इसकी चरम अवस्था है यथार्थ एवं सुव्यवस्थित [illegible] और [illegible] वैज्ञानिक बौद्धिकता पूर्णतम साधन प्रदान करके उसके परिणाम और प्रति[illegible] [illegible] होता है। सामाजिक विकासकी इस अवस्थामें एक और महान् कदम होता है उसके एक उच्चतर आदर्शोंका आविर्भाव। ये आदर्श मनुष्यको उसकी प्रारम्भिक सत्ताकी सीमाओं तथा उसकी प्रथम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आवश्यकताओं एवं कामनाओंके द्वारा [illegible] और इनके [illegible] विचारकी [illegible] देते हैं। ये इस सामाजिक जीवनको [illegible] अनुप्राणित करते हैं और वह [illegible] [illegible] सामाजिक एवं राजनीतिक [illegible] इस गुणधर्म [illegible]

भूमिकी सूचक है—ये सब, जिन किन्हीं त्रुटियों और कमियोंके होते हुए भी, यूरोपके राजनीतिक एवं सामाजिक प्रयत्नके अपने विशिष्ट लाभ रहे हैं।

दूसरी ओर, जब बुद्धि अपनेको जीवनकी एकछत्र शासिका समझकर उसके उपादानोंपर क्रिया करनेका दावा करती है तो वह स्वभावतः ही समाजके इस सच्चे स्वरूपको अपनी दृष्टिसे कोसों दूर रखती है कि यह एक सजीव विकसनशील सत्ता है। वह इसके साथ ऐसे व्यवहार करती है मानो यह एक मशीन हो जो इच्छानुसार चलायी जा सकती हो और बुद्धि-के मनमाने आदेशोंके अनुसार कितने सारे निष्प्राण काठ या लोहेकी तरह गढ़ी या ढाली जा सकती हो। विकृतिजनक, संघर्षशील, रचनाशील, कार्यदक्ष, यान्त्रीकारक बुद्धि एक जाति-की जीवनी-शक्तिके सरल तत्त्वोंको खो बैठती है, वह इसे इसके जीवनके गुप्त मूलोंसे विच्छिन्न कर देती है। इसका परिणाम होता है शासनतंत्र और सभा-संस्थापर, विधि-व्यवस्था और राज्यप्रबंधपर अति निर्भरता और एक जीती-जागती जातिके बजाय यान्त्रिक राज्यको विक-सित करनेकी घातक प्रवृत्ति। सामाजिक जीवनका यंत्र ही स्वयं जीवनका स्थान लेनेकी चेष्टा करता है और एक प्रबल पर यान्त्रिक एवं कृत्रिम संगठनका जन्म होता है, परंतु, इस बाह्य लाभके मूल्य-स्वरूप हम एक स्वतंत्र एवं जीवंत जातिके शरीरके अंदर सुगठित रूपमें आत्मविकास करनेवाली समष्टि-आत्माके जीवनका सत्य गवा देते हैं। वैज्ञानिक बुद्धि अपनी यान्त्रिक पद्धतिके बोझके नीचे प्राणिक एवं आध्यात्मिक अंतर्जातिके कार्यको कुचल डालती है। यह उसकी एक भूल है। यही यूरोपकी दुर्बलता है और इसने उसकी अभीप्साको धोखा दिया है और उसे उसके उच्चतर आदर्शोंको सच्चे रूपमें उपलब्ध करनेसे रोका है।

अतएव मानव-व्यष्टिकी तरह ही समाजरूपी समष्टिको अपने विकासकी एक तीसरी अवस्थामें पहुंचना होता है और वहां पहुंचनेपर ही मनुष्यके चिंतनद्वारा प्रारंभमें ही अधिकृत, एवं पोषित आदर्श अपना सच्चा उद्गम एवं स्वरूप तथा अपनी चरितार्थताके सच्चे साधन एवं अवस्थाएं उपलब्ध कर सकते हैं, अथवा तभी पूर्ण समाजका आदर्श स्वप्नसे अधिक कुछ हो सकता है। आज तो वह एक चमकीले मेघपर भासमान स्वप्न-दृश्यकी भांति है, जिसके पीछे मनुष्य लगातार चक्कर काटता रहता है और जो लगातार उसकी आशाको दुराशामें परिणत करता रहता है तथा उसकी पकड़से बचता रहता है। यह स्वप्न तभी पूरा होगा जब समाजके अंदर मनुष्य अधिक गहरा जीवन बिताने लगेगा और अपने सामूहिक जीवनका नियंत्रण तो न मुख्यतः अपने प्राण-पुरुषसे उद्भूत आवश्यकताओं, सहज-प्रेरणाओं एवं स्फुरणा-ओंके अनुसार करेगा और न गौणतः तर्कशील मनकी रचनाओंके द्वारा, बल्कि प्रथमतः, प्रधानतः और सदा-सर्वदा अपनी उपलब्ध महत्तर अंतरात्मा और आत्माकी एकता, सहानुभूति, सहज स्वतंत्रता और सुनम्य एवं सजीव व्यवस्थाकी शक्तिके द्वारा करेगा। उस आत्मामें ही व्यक्ति और समाजकी स्वतंत्रता, पूर्णता एवं एकताका अपना-अपना विधान निहित है। यह एक ऐसा नियम है जिसे अपना प्रयत्न आरंभ करनेके लिये भी अभीतक कहीं भी उपयुक्त

अवस्थाएं प्राप्त नहीं हुई है। क्योंकि यह चरितार्थ तभी हो सकता है जब आध्यात्मिक जीवनके विधानको उपलब्ध करने और उसका अनुसरण करनेका मानवीय प्रयत्न केवल कुछ एक व्यक्तियोंके ही असाधारण लक्ष्यके रूपमें सीमित न रहे अथवा अधिक व्यापक अभीप्सा-का विषय बननेपर कहीं यह एक प्रचलित धर्मका बाना पहनकर पतित ही न हो जाय बल्कि जब मनुष्य इसे अपनी सत्ताकी अन्तस्तम मांग मानकर तथा इसकी सच्ची और सही उपलब्धिको जातिके विकासके अगले कदमके लिये आवश्यक समझता हुआ इसका अनुसरण करे।

छोटे-मोटे प्राचीन भारतीय समाज अन्य समाजोंकी भांति प्रबल और सहजस्फूर्त जीवन शक्तिकी प्रथम अवस्थाओंसे गुजरकर ही विकसित हुए, उन्होंने इसके आदर्श और इसकी कार्यप्रणालीको स्वतंत्र और स्वाभाविक रूपमें ही उपलब्ध किया और जीवन तथा सामाजिक और राजनीतिक संस्थाके रूपका समष्टि-सत्ताके प्राणिक सहज-ज्ञान और स्वभावके द्वारा ही गठित किया। जैसे-जैसे ये एक-दूसरेके साथ घुलमिलकर एक बढ़ती हुई सांस्कृतिक और राजनीतिक एकतामें आबद्ध होते गये और उत्तरोत्तर विशाल राजनीतिक संघ बनाते गये वैसे-वैसे उन्होंने एक समान भावना समान आधार एवं सर्वसामान्य रचनाका विकास किया जो गौण रूप रेखाओंमें विविधताके लिये अत्यधिक स्वाधीनता प्रदान करती थी। वहां कठोर एकरूपताकी कोई आवश्यकता नहीं थी समान भावना और जीवन प्रेरणा ही इस नमनशीलतापर सर्वसामान्य एकताका नियम लागू करनेके लिये पर्याप्त थी। और जब महान् राज्यों और साम्राज्योंका विकास हुआ तब भी अधिक छोटे राज्यों प्रजातंत्रों और गणों-जैसी विशिष्ट संस्थाओंको नष्ट नहीं कर दिया गया या अलग नहीं फेंक दिया गया बल्कि उन्हें सामाजिक-राजनीतिक रचनाके नये ढांचेमें यथासंभव अधिकसे अधिक समाविष्ट कर लिया गया। जो कुछ जातिके स्वाभाविक विकासमें जीवित नहीं रह सका या जिसकी अब और जरूरत नहीं थी वह अपने-आप मरकर व्यवहारके क्षेत्रसे अलग हो गया जो कुछ अपने आपको नयी परिस्थिति और नये वातावरणके अनुसार बदलकर टिका रह सका उसे जीवित रहने दिया गया जो कुछ भारतवासियोंकी सत्ताके आध्यात्मिक और प्राणिक विधानके तथा उनके स्वभावके साथ घनिष्ठ संगति रखता था उसने सर्वत्र प्रचलित होकर समाज तथा शासनप्रणालीके स्थायी स्वरूपमें स्थान ग्रहण कर लिया।

विकसित होती हुई वैदिक संस्कृतिके युगने जीवनके इस सहज-स्वाभाविक सिद्धांतका सम्मान किया। समाज अर्थनीति और राजनीतिपर, अर्थात् धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रपर विचार करनेवाले भारतीय मनीषियोंका कार्य यह नहीं था कि वे मात्र प्रधान बुद्धिके द्वारा समाज और राज्यके आदर्शों एवं प्रणालियोंका निर्माण करें बल्कि समष्टिगत मन और प्राणने सामाजिक जीवनकी जो संस्थाएं और प्रणालियां पहलेसे विकसित कर रखी हैं उन्हें व्यावहारिक बुद्धिके द्वारा समझें तथा नियमबद्ध करें और उनके मूलतत्त्वोंको नष्ट किये बिना स्थिर और सुसंगत बनायें। जिस किसी भी नये तत्त्व या विचारकी आवश्यकता

होती थी उसे एक क्रांतिपूर्ण एवं विध्वंसकारी सिद्धान्त के रूपमें नहीं बल्कि एक ऊपरी रचना या संशोधनात्मक तत्त्वके रूपमें बढ़ाया या प्रचलित किया जाता था। इसी ढंगसे सामाजिक विकासकी प्रारंभिक अवस्थाओंमें एक पूर्ण-विकसित राजतन्त्रात्मक प्रणालीकी ओर अग्रसर होनेकी व्यवस्था की गयी थी,-यह कार्य राजा या सम्राट्के सर्वोच्च नियन्त्रणके अधीन, उस समयकी प्रचलित संस्थाओंको एकमित करके किया गया। उनके ऊपर राजतन्त्रात्मक या साम्राज्यीय प्रणालीकी स्थापना कर देनेसे उनमेंसे बहुतोंका स्वरूप एवं स्थिति तो बदल गयी पर यथासंभव, उनका अस्तित्व लुप्त नहीं हुआ। परिणामस्वरूप, भारतमें हम बौद्धिकतया आदर्शवादी राजनीतिक प्रगति या क्रांतिपूर्ण परीक्षणका वह तत्त्व नहीं देखते जो प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपका इतना सुस्पष्ट लक्षण रहा है। अतीतकी रचनाओंको भारतीय मन और जीवनका स्वाभाविक प्रकाश, उसके 'धर्म' अर्थात् सत्ताके यथार्थ विधानकी सच्ची अभिव्यक्ति मानते हुए उनका गहरा सम्मान करना भारतीय मनोवृत्तिका प्रबलतम अंग था और उच्च बौद्धिक संस्कृतिकी महान् सहस्राब्दीमें यह रक्षणात्मक प्रवृत्ति भंग नहीं हुई वरन् और भी अधिक दृढ़ रूपमें सुस्थिर एवं प्रतिष्ठित हो गयी। प्रगतिका एकमात्र संभव या ग्राह्य साधन यही समझा जाता था कि प्रथाओं और संस्थाओंका क्रमशः विकास होने दिया जाय जो सुप्रतिष्ठित व्यवस्थाके सिद्धांतकी, समाज-व्यवस्था और राजनीतिके पूर्व-दृष्टांतकी एवं प्रचलित ढांचे और रचनाकी रक्षा करे। इसके विपरीत, भारतीय शासनप्रणालीने जनताके जीवनकी स्वाभाविक व्यवस्थाके स्थानपर हानिकारक यांत्रिक व्यवस्थाकी स्थापना कभी नहीं की जो यूरोपीय सभ्यताकी व्याधि रही है और जिसका चरम परिणाम आज हमें नौकरशाही एवं व्यावसायिक राज्य-पद्धतिके कृत्रिम दैत्याकार संगठनके रूपमें दिखायी पड़ रहा है। आदर्शोंकी परिकल्पना करनेवाली बुद्धिके लाभ उसमें नहीं थे तो सभी चीजोंको यांत्रिक रूप देनेवाली तर्कबुद्धिकी हानियां भी नहीं थीं।

भारतीय मन जब तर्कबुद्धिके विकासमें अत्यधिक व्यस्त था तब भी वह अपने स्वभावमें सदैव गहरे रूपसे अंतःस्फुरणात्मक बना रहा, और इसलिये उसका राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन सदैव प्राणकी स्फुरणाओं और आत्माकी स्फुरणाओंको संयुक्त करनेके लिये एक प्रकारका प्रयत्न ही रहा जिसमें बुद्धिके प्रकाशने एक मध्यवर्ती, व्यवस्थापक और नियामक तत्त्वका काम किया। उसने जीवनके प्रचलित और सुदृढ़ यथार्थ तथ्योंकी मजबूत नींवपर अपनेको प्रतिष्ठित करने और अपने आदर्शवादके लिये बुद्धिपर नहीं वरन् आत्माकी ज्ञान-दीप्तियों, अंतःप्रेरणाओं और उच्चतर अनुभवोंपर निर्भर करनेका यत्न किया है, और उसने बुद्धिका प्रयोग एक समीक्षक शक्तिके रूपमें ही किया है जो उसके चिंतनके क्रमोंकी परीक्षा करती और उन्हें निश्चित करती है तथा प्राण और आत्माकी जो सदा ही सच्चे और प्रबल निर्माता होते हैं, सहायता करती है पर उनका स्थान नहीं ले लेती। भारतका आध्यात्मिक मन जीवनको आत्माकी एक अभिव्यक्ति मानता था उसके लिये समाज सृष्टिकर्ता ब्रह्माका शरीर था, जाति समष्टि-ब्रह्मका प्राण-शरीर थी; वह समष्टिगत नारायण थी, जैसे कि व्यक्ति था

व्यष्टि-भाव पृथक् जीव व्यक्तिगत नारायण, राजा भगवान्‌का जीवंत प्रतिनिधि होता था तथा समाजकी अन्य श्रेणियां समष्टिगत आत्माकी स्वाभाविक शक्तियां, प्रकृतयः, कहलाती थीं। अतएव यही नहीं कि समस्त रूढ़ियों संस्थाओं तथा प्रथाओंका और सामाजिक एवं राजनीतिक संगठनका संविधान और उसके सब अंगोंकी सत्ताको अलंघ्य माना जाता था बल्कि इनका स्वरूप भी एक प्रकारकी विशेष पवित्रतासे युक्त समझा जाता था।

प्राचीन भारतीय विचारके अनुसार, मानवजीवन तथा जगत्‌की यथायथ व्यवस्था तभी सुरक्षित रहती है जब कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वधर्मका अर्थात् अपनी प्रकृति तथा अपनी जातिकी प्रकृतिके सच्चे विधान और आदर्शका सच्चाईके साथ अनुसरण करता है तथा समाज अर्थात् सुघटित समष्टिगत जीवन भी अपने स्वधर्मका उसी प्रकार पालन करता है। कुल तथा वर्ण वर्ग सामाजिक धार्मिक औद्योगिक या अन्यविध समुदाय राष्ट्र जाति—ये सब ही सुघटित सामूहिक सत्ताएं हैं जो अपने-अपने धर्मका विकास करती हैं और उसका अनुसरण करना उनकी सुरक्षा उनके स्वास्थ्यपूर्ण स्थायित्व और समुचित कार्यकी शर्त है। पद और कर्तव्यका तथा दूसरोंके साथ विशिष्ट संबंधका भी अपना धर्म होता है इसी प्रकार एक धर्म वह भी होता है जो अवस्था परिस्थिति एवं युगके द्वारा मनुष्यपर लादा जाता है उसे युगधर्म अर्थात् सार्वभौम ईश्वरवादी या नैतिक धर्म कहते हैं। ये सब धर्म स्वभावज धर्मपर, अर्थात् स्वभावानुसारी कर्मपर क्रिया करते हुए विधानके बहिरंगकी सृष्टि करते हैं। प्राचीन सिद्धांतके अनुसार यह माना जाता है कि मनुष्यकी व्यक्ति और समाजकी सर्वथा यथार्थ और निर्दोष अवस्थामें—उस अवस्थामें जिसे पौराणिक स्वर्णयुग या सत्ययुगके द्वारा सूचित किया गया है—किसी भी प्रकारके राजनीतिक शासन या 'राज्य' (State) की अथवा समाजकी किसी कृत्रिम रचनाकी कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि तब सभी लोग अपनी आलोकित आत्मा और ईश्वराधिष्ठित सत्ताके सत्यके अनुसार और अतएव सहज स्वाभाविक रूपसे अपने आभ्यंतरिक दैवी धर्मके अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक जीवन यापन करते हैं। इसलिये अपनी सत्ताके यथायथ और स्वतंत्र विधानके अनुसार जीवन यापन करनेवाला आत्म-व्यवस्थित व्यक्ति एवं आत्म-व्यवस्थित समाज ही आदर्श है। परंतु मानवजातिकी वर्तमान अवस्थामें सच्चे वैयक्तिक और सच्चे सामाजिक धर्मके विकारों और व्यतिक्रमोंके वशीभूत उसकी भ्रष्ट और विपथगामी प्रकृतिकी अवस्थामें समाजके स्वाभाविक जीवनके ऊपर एक राज्यकी प्रभुत्वपूर्ण सत्ताकी एक राजा या शासक-संस्थाकी स्थापना करना आवश्यक है। परन्तु उस राज्य आदिका कार्य यह नहीं कि वह समाजके जीवनमें जिसे अधिकांशमें उसके स्वाभाविक नियम और रीति-रिवाज एवं सहज विकासके अनुसार कार्य करने देना होगा अनुचित रूपसे हस्तक्षेप करे बल्कि यह है कि इसकी यथार्थ प्रक्रियाका निरीक्षण करे और इसमें सहायता पहुंचाये तथा यह देखे कि धर्मका पालन किया जाय और वह शक्तिशाली भी बना रहे। निषेधात्मक रूपमें राज्य आदिका कार्य यह है कि वह धर्म-विरुद्ध आचरणोंके लिये

दंड दे और उनका दमन करे, और जहांतक हो सके, उनका प्रतिकार भी करे। धर्मके विकृत होनेकी और भी आगेकी अवस्थाका लक्षण यह है कि उसमें एक विधान-निर्माताके आविर्भावकी तथा संपूर्ण जीवनको, वैधिक रूपमें, बाह्य या लिखित विधि-विधान और नियम-के द्वारा शासित करनेकी आवश्यकता पड़ती है, परंतु, राज्य-प्रबंधकी छोटी-मोटी बाहरी बातोंको छोड़कर, इस विधानका निर्माण करनेका कार्य राजनीतिक अधिकारीका नहीं, सामाजिक धर्मके स्रष्टा ऋषिका या ग्रंथोंकी रक्षा एवं व्याख्या करनेवाले ब्राह्मणका होता था। राजनीतिक अधिकारीका काम तो विधानके अनुसार राज्य-प्रबंध करना होता था। स्वयं विधान भी, वह लिखित हो या अलिखित, कोई ऐसी वस्तु नहीं होता था जिसका राजनीतिक एवं विधायक सत्ताको नये सिरेसे सृजन या निर्माण करना पड़ता हो, बल्कि वह एक ऐसी वस्तु होता था जो पहलेसे ही अस्तित्व रखती थी, और वह जैसा भी होता था या पहलेसे विद्यमान विधान और सिद्धांतमेंसे वह सामाजिक जीवन और चेतनाके अंदर जिस रूपमें स्व-भावतः ही विकसित होता था उस रूपमें उसकी व्याख्या एवं निरूपणमात्र करना होता था। इस बढ़ती हुई कृत्रिमता और, रूढ़ि-परंपरामेंसे उत्पन्न होती है समाजकी अंतिम और निकृष्ट-तम अवस्था, अर्थात् अराजकता तथा संघर्षकी और धर्मके विनाशकी अवस्था,—कलियुग,—जिस-के बाद आती है प्रलय और संघर्षकी लोहित-धूसर संध्या और फिर होता है मनुष्यमें आत्मा-का नवोदय और नव-प्रकाश।

अतएव राजनीतिक अधिकारी, राजा और परिषद्का तथा राष्ट्रतंत्रके अन्य शासक सदस्योंका मुख्य कार्य समाजके जीवनके यथार्थ विधानकी रक्षा करनेके लिये सेवा और सहा-यता करना था राजा धर्मका संरक्षक और परिचालक होता था। स्वयं समाजके कर्तव्यका एक अंग यह भी था कि वह मनुष्यकी प्राणिक, आर्थिक तथा अन्य आवश्यकताओंको और सुख तथा भोगके लिये उसकी चार्वाकपंथीय मांगको समुचित रूपसे पूरा करे, परंतु करे उन-की पूर्तिके यथायथ नियम और मान-प्रमाणके अनुसार तथा नैतिक, सामाजिक और ईश्वर-वादी धर्मके अधीन और नीचे रहकर। समाज और राष्ट्र-रूपी समष्टिके सभी सदस्यों और वर्गोंका अपना-अपना धर्म था जो उनकी प्रकृति, उनके पद, तथा संपूर्ण समष्टिके साथ उनके संबंधके अनुसार उनके लिये निर्धारित था और उसके स्वतंत्र तथा यथोचित प्रयोगमें उनका रक्षण और प्रतिपालन करना होता था, अपनी सीमाओंके भीतर अपने स्वाभाविक और स्वयं-निर्धारित कर्तव्य-संपादनके लिये उन्हें स्वतंत्रता देते हुए भी अपने यथोचित कर्तव्य और अपनी वास्तविक सीमाओंका किसी प्रकारका उल्लंघन एवं अतिक्रमण करने या उनसे विचलित होनेसे उन्हें रोकना आवश्यक होता था। सर्वोच्च राजनीतिक अधिकारीका किंवा अपनी परिषद्के समेत सम्राट्का कार्य यही था और जनसभाएं इस कार्यमें उसकी सहायता करती थीं। राज्याधिकारीका काम यह नहीं था कि वह किसी वर्ण, धार्मिक संप्रदाय, शिल्पि-संघ, ग्राम एवं नगर-विभागके स्वतंत्र कर्तव्य-संपादनमें अथवा किसी प्रदेश या प्रांतके सुघटित रीति-

रिवाजके स्वतंत्रतापूर्वक क्रियान्वित होनेमें हस्तक्षेप करे या अनधिकार दखल दे अथवा उनके अधिकारोंका हरण कर ले, क्योंकि ये सामाजिक धर्मके स्वाभाविक प्रयोगके लिये आवश्यक होनेके कारण उनके स्वाभाविक अधिकार थे। उसे बस यही करनेके लिये कहा जाता था कि वह सबमें सामंजस्य स्थापित करे, एक व्यापक और सर्वोच्च नियंत्रणका प्रयोग कर समाजके जीवनको बाहरी आक्रमण या भीतरी क्षयसे बचाये, अपराध और अव्यवस्थाका दमन करे, आर्थिक और औद्योगिक उत्थानमें सहायता पहुँचाये, उसे समुन्नत करे और उसकी अधिक व्यापक दिशाओंमें उसे व्यवस्थित कर सुविधाएँ प्रदान करनेकी ओर ध्यान दे और जो शक्तियाँ दूसरोंके क्षेत्रमें पड़ती हैं उनका इन कार्योंके लिये प्रयोग करे।

इस प्रकार वस्तुतः भारतीय शासनप्रणाली एक अत्यंत जटिल सामुदायिक स्वाधीनता और आत्म-निर्णयकी प्रणाली थी। समाजकी प्रत्येक वर्ग-रूपी इकाईका अपना स्वाभाविक अस्तित्व होता था और वह अपने निज जीवन और कार्यकी व्यवस्था करती थी, अपने क्षेत्र और अपनी सीमाओंके स्वाभाविक विभाजनके कारण वह शेष इकाइयोंसे पृथक् होती थी, किंतु अच्छी तरह जाने-समझे हुए संबंधोंके द्वारा संपूर्ण समष्टिके साथ संबद्ध रहती थी। सामुदायिक सत्ताके अधिकारों और कर्तव्योंमें प्रत्येक इकाई अन्योंकी सहभागिनी होती थी, वह अपने निजी नियमों और विधानोंको कार्यान्वित करती तथा अपनी निजी सीमाओंके भीतर शासन-प्रबंधका कार्य करती थी, पारस्परिक या सर्वसामान्य हितके विषयोंके विवेचन तथा नियमनके काममें अन्योंके साथ हाथ बँटाती थी और राज्य या साम्राज्यकी महासभाओंमें किसी-न-किसी रूपमें तथा अपने महत्त्वकी मात्राके अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त करती थी। राज्य, राजा या सर्वोच्च राजनीतिक अधिकारी संगति-स्थापन और सामान्य नियंत्रण एवं कार्यदक्षताका माध्यम होता था और वह एक सर्वोच्च अधिकारका प्रयोग करता था जो निरपेक्ष और निरंकुश नहीं होता था, क्योंकि अपने सभी अधिकारों और शक्तियोंमें वह विधान और प्रजाकी इच्छाके द्वारा सीमाबद्ध रहता था और राज्यके भीतरके अपने सभी कार्योंमें सामाजिक और राष्ट्रीय संस्थाके अन्य सदस्योंका सहभागी मात्र होता था।

भारतीय शासनप्रणालीका सिद्धांत, मूलभूत एवं वास्तविक संविधान यही था, वह सामुदायिक स्वाधीनता और आत्म-निर्धारणका एक जटिल मिश्रण थी जिसके ऊपर एक सर्वोच्च संगति-स्थापक सत्ता, एक शासक व्यक्ति एवं संस्था होती थी जो कार्यक्षम शक्तियों, पद और प्रतिष्ठासे सुसंपन्न होते हुए भी अपने विशिष्ट अधिकारों और कर्तव्योंकी सीमासे बँधी रहती थी, शेष सबको नियमित करती और साथ ही उनके द्वारा नियमित रहती थी, सभी विभागों-में उन्हें अपने ऐसे सक्रिय सहयोगियोंके रूपमें स्थान देती थी जो सामुदायिक सत्ताके नियमन और प्रशासनमें उसका हाथ बटाते थे, और राजा, जनता तथा उसके अंगभूत सभी समाज इनके सब समान रूपसे धर्मकी रक्षा करनेके लिये बाध्य होते थे तथा उसके सूक्ष्म नियंत्रित रहते थे। इसके अतिरिक्त सामुदायिक जीवनके आर्थिक और राजनीतिक पक्ष धर्मका ही

केवल एक भाग होते थे और सो भी एक ऐसा भाग जो शेष सबसे, अर्थात् समाजके धार्मिक, नैतिक एवं उच्चतर सांस्कृतिक लक्ष्यसे किसी भी प्रकार पृथक् नहीं बल्कि उनके साथ अविच्छेद्य रूपमें जुड़ा हुआ होता था। नैतिक विधान राजनीतिक और धार्मिक विधानपर अपना रंग चढ़ाता था और राजा तथा उसके मंत्रियों और परिषद् तथा व्यवस्थापिका सभाओंके, व्यक्तिके और समाजके अंगभूत वर्गोंके प्रत्येक कार्यपर लागू होता था, मतदानमें तथा मंत्री, अधिकारी और परिषद्की योग्यताओंमें नैतिक और सांस्कृतिक विचारणाएं महत्त्व रखती थीं, आर्य जातिके राजकार्यमें जो लोग भी पदाधिकारी होते थे उन सबसे उच्च चरित्र और प्रशिक्षाकी आशा की जाती थी। धार्मिक भाव, और धर्मका स्मरण करानेवाले व्यक्ति, ही राजा और प्रजाके संपूर्ण जीवनका अधिष्ठातृत्व करते थे और वही इसकी पृष्ठभूमिमें भी काम करते थे। यद्यपि समाजकी जीवन-प्रणालीके अंगोंका आवश्यक विशेष ज्ञान आयत्त किया जाता था तथापि समाजके जीवनको अपने-आपमें लक्ष्य नहीं माना जाता था, वरन् इससे कहीं अधिक उसे उसके सभी भागोंमें तथा समूचे रूपमें मानव मन और अंतरात्माकी शिक्षाके लिये तथा प्राकृत जीवनमेंसे आध्यात्मिक जीवनकी ओर इसके विकसित होनेके लिये एक महान् आधार और अभ्यास-क्षेत्र समझा जाता था।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

सत्रहवां अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

जहांतक हम उपलभ्य अभिलेखोंसे अनुमान लगा सकते हैं भारतीय सभ्यताका सामाजिक राजनीतिक विकास चार ऐतिहासिक अवस्थाओंमेंसे गुजरा। पहली थी आर्योंके सरल समाजकी अवस्था, उसके बाद आया संक्रमणका लंबा काल जिसमें भारतीय जीवन राजनीतिक संगठन और संश्लेषणके क्षेत्रमें अनेकविध परीक्षणात्मक रचनाओंमेंसे गुजरता हुआ आगे बढ़ रहा था, तीसरी अवस्थामें राजतंत्रात्मक राज्यने सुनिश्चित रूप ग्रहण किया और जातिके सामुदायिक जीवनके सभी जटिल तत्त्वोंका प्रादेशिक एवं साम्राज्यीय एकताओंके रूपमें सुसमन्वित कर दिया, और अन्तमें आया ह्रासका युग जिसमें आन्तरिक गत्यवरोध उत्पन्न होनेसे सर्वत्र निश्चेष्टता छा गयी और पश्चिमी एशिया तथा यूरोपसे आयी हुई नयी संस्कृतियां एवं प्रणालियां हमारे देशपर लादी गयीं। पहली तीन अवस्थाओंका विशिष्ट स्वरूप है—सभी रचनाओंमें एक विलक्षण दृढ़ता और स्थिरता तथा जातिके जीवनका स्वस्थ, प्राणवंत और शक्तिशाली विकास जो उसकी जीवन-व्यवस्थाकी इस मूलभूत रक्षणात्मक स्थिरताके कारण धीर और मन्थर गतिसे संपादित होता था पर फिर भी अपने संघटनमें अत्यधिक सुनिश्चित था और अपनी रचनामें जीवन्त और पूर्ण भी। और ह्रासके समय भी यह दृढ़ता विध्वंसकी प्रक्रियाके विरुद्ध डटकर उसका प्रबल प्रतिरोध करती है। विजातीय शासनसे इसकी रचना ऊपरसे टूट-फूट जाती है पर अपने आधारको दीर्घ कालतक सुरक्षित रखती है, जहां कहीं यह आक्रमणके विरुद्ध अपने आपको कायम रख सकती है वहां यह अपनी विशिष्ट प्रणालीको भी अविनाशसे बचाये रखती है और यहांतक कि मिटते समय भी अपने रूप और मूल-भावके पुनरुज्जीवनके लिये प्रयत्न करनेमें सक्षम होती है। और आज भी यद्यपि वह संपूर्ण राजनीतिक प्रणाली लुप्त हो गयी है और उसके अंतिम बचे-खुचे तत्त्वोंको भी नेस्तनाबूद कर दिया गया है, तथापि जिस विशिष्ट सामाजिक मन एवं स्वभावने उसकी रचना की थी वह समाजकी वर्तमान गतिहीनता, दुर्बलता, विकृति और विघटनके समय भी बचा हुआ है और एक बार यदि वह

पुन अपनी इच्छाके अनुसार और अपने ढगसे कार्य करनेकी स्वतत्रता प्राप्त कर ले तो वह अब भी, तात्कालिक प्रवृत्तियो और प्रतीतियोके रहते भी, विकासकी पश्चिमी धाराका अनुसरण न कर अपनी मूल भावनामेंसे नयी रचनाका सृजन करनेकी ओर अग्रसर हो सकता है और वह मूल भावना, सभवत, उस मांगकी पुकारपर जो आज जातिके उन्नतचेता व्यक्तियोमे अस्पष्ट रूपसे उठनी शुरू हो रही है, सामुदायिक जीवनकी तीसरी अवस्थाके प्रारभ और मानवसमाजके आध्यात्मिक आधारकी ओर ले जा सकती है। कुछ भी हो, भारतके सास्कृतिक मनकी रचनाओकी चिरस्थायिता एव उनकी छत्रछायामें पनपे जीवनकी महानता, निश्चय ही, उसकी अक्षमताका नही बल्कि अद्भुत राजनीतिक सहज-बुद्धि और क्षमताका चिह्न है।

भारतीय शासनप्रणालीके समस्त निर्माण, विस्तार और पुनर्निर्माणमें रचनाका आधारभूत एकमात्र स्थायी सिद्धात था—सजीव रूपसे आत्म-निर्धारण करनेवाले सामुदायिक जीवनका सिद्धात, पर वह सामुदायिक जीवन केवल समष्टि-रूपमें तथा मतदानकी मशीनरीके द्वारा और राष्ट्रके किसी भागके राजनीतिक मनका ही प्रतिनिधित्व करनेवाली एक बाहरी प्रतिनिधि-सस्थाके द्वारा आत्म-निर्धारण नही करता था,—आधुनिक राष्ट्र-तत्र केवल इतनी ही व्यवस्था कर सका है,—बल्कि उसके जीवनकी रग-रगमें तथा उसकी सत्ताके प्रत्येक पृथक्-पृथक् अगमें आत्म-निर्धारण करता था। एक स्वतत्र समन्वयात्मक सामुदायिक व्यवस्था ही इसकी विशेषता थी, और स्वाधीनताकी जो अवस्था इस शासनतत्रका लक्ष्य थी वह उतनी वैयक्तिक नही जितनी कि सामाजिक थी। आरभमें समस्या काफी सरल थी क्योकि केवल दो प्रकारकी सामाजिक इकाइयो, ग्राम और कुल, वश या छोटी प्रादेशिक जातिको ही विचारमें लाना होता था। इनमेंसे पहलीका स्वतत्र सुघटित जीवन स्व-शासक ग्राम-समाजकी प्रणालीपर प्रतिष्ठित किया गया और यह कार्य ऐसी / पर्याप्तता और दृढताके साथ किया गया था कि यह प्रणाली कालजनित समस्त क्षय-अपचयका तथा अन्य प्रणालियोके आक्रमणका प्रतिरोध करती हुई लगभग हमारे समयतक स्थायी बनी रही और केवल हालमें ही ब्रिटिश नौकरशाही व्यवस्थाकी निष्ठुर और निर्जीव मशीनरीके द्वारा कुचलकर मटियामेट कर दी गयी। सपूर्ण जाति अपने ग्रामोमें अधिकतर कृषिके आधारपर जीवन यापन करती हुई समष्टि रूपसे एक ही धार्मिक, सामाजिक, सैनिक एव राजनीतिक सघका रूप लिये हुई थी जो अपनी व्यवस्थापिका सभा, **समिति**, में राजाके नेतृत्वमें अपने ऊपर शासन करता था, पर तबतक न तो कर्तव्योका कोई स्पष्ट विभाजन हुआ था और न श्रेणीवार श्रमका।

यह प्रणाली कृषको और पशुपालकोके सरलतम ढगके जीवनको छोडकर अन्य सब प्रकारके जीवनके लिये और एक अत्यत सीमित क्षेत्रमे रहनेवाली छोटीसी जातिके सिवा शेष सब जातियोंके लिये अनुपयुक्त थी। इसी कारण एक अधिक जटिल सामुदायिक प्रणालीका

विकास करने तथा मूल भारतीय सिद्धान्तका संशोधित एवं अधिक जटिल रूपमें प्रयोग करने का प्रश्न अनिवार्य हो उठा। कृषि और गोपालनका जीवन जो आरंभमें आर्य जातिके सभी [illegible] के लिये सर्वसामान्य था सदा ही एक व्यापक आधार रहा पर उस आधार के ऊपर इसने व्यापार-व्यवसाय और अनेकविध उद्योग-धन्धोंकी एक अधिकाधिक समृद्धिशील रचनाका तथा विशेष प्रकारसे निर्दिष्ट सैनिक राजनीतिक धार्मिक और विद्यासंबंधी कार्यों तथा कर्तव्योंकी एक अद्भुत रचनाका विकास किया। ग्राम-समाज बराबर ही सामाजिक संगठनकी स्थिर इकाई उसका मजबूत रेशा या अटूट अणु-परमाणु बना रहा परंतु बीसियों और सैकड़ों ग्रामोंका एक समुदाय-जीवन विकसित हो गया ऐसे प्रत्येक समुदायका अपना-अपना मध्यस्थ होता था तथा प्रत्येकको अपनी शासन-व्यवस्थाकी आवश्यकता पड़ती थी और जैसे कि कुल विजयके द्वारा या दूसरोंके साथ संयुक्त होकर एक बड़ी जातिके रूपमें विकसित हुआ ये समुदाय एक राज्य या महाजनपदाधीन मण्डलात्मक राष्ट्रके अंग बन गये। और फिर ये भी बृहत्तर राष्ट्रोंमें तथा उनमें एक या अधिक महान् साम्राज्योंके मंडल बन गये। सामाजिक और राजनीतिक रचनाके कार्यमें भारतीय प्रतिभाकी परीक्षा अपने सामुदायिक आत्म-निर्धारित स्वतंत्रता और व्यवस्थाके सिद्धान्तका परिस्थितियोंकी इस विकासशील प्रगति एवं नयी व्यवस्थाके अनुकूल सफलतापूर्वक प्रयोग करनेमें निहित थी।

इस आवश्यकताको पूरा करनेके लिये भारतीय मनने चार वर्णोंकी स्थिर सामाजिक-धार्मिक प्रणाली विकसित की। बाहरसे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उस प्रसिद्ध सामाजिक प्रणालीका जो किसी-न-किसी समय अनेकों मानवीय जन-समुदायोंमें स्वाभाविक रूपसे विकसित हुई थी केवल एक रूपान्तर मात्र ही है। ये चार वर्ण हैं—पुरोहितवर्ग सैनिक एवं राजनीतिक अभिजातवर्ग शिल्पियों और स्वतंत्र कृषकों एवं व्यापारियोंकी श्रेणी और दासों या श्रमिकोंका सर्वहारा वर्ग। परंतु इन दोनों प्रणालियोंमें समानता केवल बाहरी बातोंमें ही है और भारतमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी मूल भावना कुछ और ही थी। उत्तरकालीन वैदिक युगमें और महाराज्योंके समयमें चातुर्वर्ण्य एक साथ ही और अविच्छेद्य रूपमें समाजका एक धार्मिक सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक ढांचा था और उस ढांचेके अंतर्गत प्रत्येक वर्ण का अपना स्वाभाविक भाग होता था और मुख्य-मुख्य कार्योंमेंसे किसीमें भी उनमेंसे केवल किसी एकका ही भाग या अधिकार नहीं होता था। यह विशेषता प्राचीन प्रणालीको समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है परन्तु यह उन मिथ्या धारणाओंके कारण ढक गयी है जो पीछेकी घटनाओंसे तथा अधिकतर हालके ज़मानेसे ही संबंध रखनेवाली अवस्थाओंको गलत रूपमें समझने या बढ़ा-चढ़ा देखनेसे उत्पन्न हो गयी हैं। उदाहरणार्थ शास्त्रीय शिक्षाका या उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान एवं शुद्धताका अधिकार एकमात्र ब्राह्मणोंका ही नहीं था। आरंभमें हम आध्यात्मिक सत्यके लिये ब्राह्मण और क्षत्रियमें एक प्रकारकी प्रतिद्वंद्विता पाते हैं और विद्यमान पुरोहित-वर्गके बावजूद विशुद्ध क्षत्रियने चिरकालतक अपना सिक्का जमाये रखा।

तथापि स्मृतिकारों, शिक्षकों, पुरोहितों तथा ऐसे व्यक्तियोंके रूपमें जो अपना सारा समय और सारी शक्ति दर्शन, विद्याध्ययन और शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगा सकते थे, ब्राह्मण अंतमें विजयी हुए और उन्होंने स्थिर तथा महान् प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। ज्ञानसंपन्न पुरोहित-वर्गके लोग धर्मके अधिकारी, धर्मग्रंथोंके और परंपराके संरक्षक, विधान और शास्त्रके व्याख्या-कार, ज्ञानकी सभी शाखाओंके माने हुए शिक्षक तथा अन्य श्रेणियोंके साधारण धार्मिक उप-देष्टा या गुरु बन गये और सबके सब तो नहीं पर फिर भी अधिकतर दार्शनिक, विचारक, साहित्यिक और विद्वान् उन्हींके वर्गसे आये। वेदों और उपनिषदोंका अध्ययन मुख्यतः उन्हीं-के हाथमें चला गया, यद्यपि तीन उच्चतर वर्णोंके लिये इसका द्वार सदा ही खुला रहा, पर शूद्रोंको सिद्धाततः इसकी मनाही थी। फिर भी, सच पूछो तो, धार्मिक आंदोलनोंकी शृंखलाने पीछेके युगमें भी प्राचीन स्वतंत्रताका मूल तत्त्व सुरक्षित रखा, उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान और सुअवसर सबके लिये सुलभ बना दिया और, जैसे आरंभमें हम देखते हैं कि वैदिक और वेदांतिक ऋषि सभी वर्गोंसे उत्पन्न हुए, वैसे ही हम यह भी पाते हैं कि अंततक योगी, संत, आध्यात्मिक मनीषी, संशोधक और पुनरुद्धारक, धार्मिक कवि और गायक, परंपरागत अधि-कार और विद्वत्तासे भिन्न जीवंत आध्यात्मिकता और ज्ञानके मूल-स्रोत समाजके सभी स्तरोंसे, निम्नतम शूद्रों और घृणित एवं दलित चंडालोंतकसे प्राप्त होते रहे।

चारों वर्ण एक स्थिर सामाजिक स्तर-परंपराके रूपमें परिणत हो गये, किंतु, चंडालोंके स्तरको एक ओर छोड़कर, प्रत्येक वर्णके साथ एक प्रकारका आध्यात्मिक जीवन एवं प्रयोजन जुड़ा हुआ था, प्रत्येककी एक विशेष सामाजिक पद-मर्यादा एवं शिक्षा होती थी, सामाजिक और नैतिक सम्मानका एक सिद्धांत होता था तथा सामुदायिक संगठनमें एक स्थान, कर्तव्य और अधिकार भी। और फिर इस व्यवस्थाने श्रमका नियत विभाजन करने तथा सुप्रति-ष्ठित आर्थिक स्थिति प्राप्त करनेमें एक स्वाभाविक साधनके रूपमें कार्य किया। पहले-पहल वंशागत वर्णव्यवस्थाका सिद्धांत ही प्रचलित था,—यद्यपि यहां भी व्यवहारकी अपेक्षा सिद्धांत ही अधिक कठोर था,—किंतु धन-संचय करने और अपने वर्णमें प्रभाव या पद प्राप्त कर समाज, शासन-व्यवस्था और राजनीतिमें एक विशिष्ट व्यक्ति बननेके अधिकार या अवसरसे किसीको भी वंचित नहीं किया जाता था। कारण, अंततः, वह स्तर-परंपरा सामाजिक ही थी राजनीतिक नहीं नागरिकके सर्वसामान्य राजनीतिक अधिकारोंमें चारों वर्णोंका भाग होता था और व्यवस्थापिका सभाओं तथा प्रशासनिक संगठनोंमें उनका अपना स्थान तथा अपना प्रभाव होता था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कम-से-कम वैधानिक और सैद्धा-तिक रूपमें प्राचीन भारतमें, अन्य प्राचीन जातियोंकी भावनाके विपरीत, स्त्रियोंको नागरिक अधिकारोंसे वंचित नहीं रखा गया था, यद्यपि क्रियात्मक रूपमें, पुरुषके प्रति उनकी सामा-जिक अधीनता तथा उनके घरेलू काम-धंधेके कारण कुछ एक स्त्रियोंको छोड़कर शेष सभीके लिये यह समानता निरर्थक ही रह गयी थी, फिर भी उपलब्ध अभिलेखोंमें इस बातके

उदाहरण पाये जाते हैं कि स्त्रियोंने केवल रानियों, प्रशासिकाओं और यहांतक कि रण-नायिकाओंके रूपमें ही ख्याति नहीं प्राप्त की—ऐसी घटनाएं तो भारतीय इतिहासमें काफी अधिक पायी जाती हैं—बल्कि उन्होंने नागरिक संगठनोंमें निर्वाचित प्रतिनिधियोंके रूपमें भी प्रसिद्धि प्राप्त की।

संपूर्ण भारतीय प्रणालीकी स्थापना इस आधारपर की गयी थी कि सार्वजनीन जीवनमें सभी वर्ण घनिष्ठ रूपसे भाग लें, प्रत्येक वर्ण अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधान हो, ब्राह्मण धर्म और विद्यामें, क्षत्रिय युद्ध, राज्य-कौशल और अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक कार्रवाईमें, वैश्य धनोपार्जन तथा उत्पादनात्मक आर्थिक कार्य-व्यापारमें, परंतु नागरिक जीवनमें अपना भाग प्राप्त करने तथा राजनीति, प्रशासन और न्यायमें एक प्रभावपूर्ण स्थान पाने तथा अपना मत प्रकाश करनेसे किसीको भी यहांतक कि शूद्रको भी वंचित न रखा जाय। परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीय शासनतंत्रने किसी भी रूपमें वर्ग-शासनके उन एकांगी रूपोंको जो अन्य देशोंके राजनीतिक इतिहासकी इतनी दीर्घकालतक एक प्रबल विशेषता रहे हैं विकसित नहीं किया या कम-से-कम उन्हें दीर्घकालतक कायम नहीं रखा। कोई पुरोहितोंका राज्य जैसा कि तिब्बतमें है, या कोई भूमिपतियों और सैनिकोंके अभिजात-वर्गका शासन जैसा कि फ्रांस और इंगलैंडमें तथा यूरोपके अन्य देशोंमें शताब्दियोंतक प्रचलित रहा, या कोई व्यापारियोंका अल्पजन-राज्य जैसा कि कार्थेज और वेनिसमें रहा—शासनके ये सभी रूप भारतीय भावनाके लिये विजातीय थे। महाभारतमें जो परंपराएं सुरक्षित हैं उनमें ऐसा संकेत दिखलायी देता है कि व्यापक युद्ध और संघर्ष एवं साम्राज्य-विस्तारके समय जब कि कुल और कबीले राष्ट्रों और राज्योंके रूपमें विकसित हो रहे थे तथा नेतृत्व एवं सर्वोपरि प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये अभी भी एक दूसरेके साथ संघर्ष कर रहे थे, महान् क्षत्रिय कुलोंने एक विशेष प्रकारका राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था और ऐसा प्रभुत्व मध्यकालीन राजपूतानामें कुल-राष्ट्र (clan nation) की अवस्थाकी ओर लौटनेके समय पुनः एक स्थूलतर रूपमें प्रकट हुआ, परंतु प्राचीन भारतमें यह अवस्था अस्थायी होती थी और क्षत्रिय वर्गका प्रभुत्व अन्य वर्गोंके लोगोंके राजनीतिक एवं नागरिक प्रभावका उच्छेद नहीं कर देता था, न वह समाजकी विभिन्न इकाइयोंके स्वतंत्र जीवनमें हस्तक्षेप करता था या उनपर उत्पीड़क नियंत्रणका प्रयोग ही करता था। वैदिक युगोंके जनतंत्रात्मक गणराज्य अथवा संभवतः ऐसे शासनतंत्र थे जिन्होंने इस प्राचीन सिद्धान्तको पूर्ण रूपमें लागू करनेका यत्न किया कि व्यवस्थापिका सभाओंमें संपूर्ण जनता समष्टि रूपसे सक्रिय भाग ले। वे गणराज्य यूनानी ढंगके जनतंत्र नहीं थे, अल्पजन शासित गणराज्य कुल-शासन थे अथवा उनका शासन समाजके प्रतिष्ठित वर्गोंसे गठित अधिक सीमित [illegible] (Senates) के द्वारा होता था और यह प्रणाली आगे चलकर ऐसी परिषदों या व्यवस्थापिका सभाओंके रूपमें विकसित हो गयी जिनमें परवर्ती राजकीय परिषदों और पौर सभाओंकी भांति चारों वर्णोंको प्रतिनिधित्व प्राप्त था। कुछ भी हो अंततः

जिस शासने-व्यवस्थाका विकास हुआ वह एक ऐसी मिश्रित राज्यप्रणाली थी जिसमें किसी भी वर्णका अनुचित प्रभुत्व नहीं था। अतएव भारतमे हम न तो समाजके कुलीन और साधारण जनोंके बीच, अभिजात-तन्त्र और प्रजातंत्र-सबधी विचारोंके बीच वह सघर्ष पाते हैं जिसके परिणामस्वरूप निरकुश राजतन्त्रात्मक शासनकी स्थापना हुई और जो यूनान और रोमके क्षोभमय इतिहासकी एक विशेषता है, और न हम वहा वर्ग-सघर्षमे एकके बाद एक विकसित होती हुई शासनप्रणालियोका वह चक्र ही देखते हैं जो हमें बादकेे यूरोपमे दृष्टिगोचर होता है,—वहा हम पहले तो अभिजात-वर्गको शासन करते देखते है, उसके बाद धनिक एव व्यावसायिक वर्ग आक्रमण या विप्लवके द्वारा उसे पदच्युत करके सत्ताको अपने हाथमें ले लेते हैं, फिर आता है मध्यवर्गका शासन जो समाजको उद्योगप्रधान बना देता है तथा सर्वसाधारण या जनताके नामपर उसका शासन और शोषण करता है ओर, अतमें, हम देखते हैं दरिद्र श्रमजीवि-वर्गके शासनकी ओर वर्तमान प्रवृत्ति। इसके विपरीत, भारतीय मन एव स्वभाव जो पश्चिमी जातियोके मन एव स्वभावकी अपेक्षा कम एकागी रूपमें बौद्धिक एव प्राणिक है तथा अधिक अतर्ज्ञानात्मक रूपमें समन्वयकारी और नमनशील है, निश्चय ही समाज और राजनीतिकी किसी आदर्श व्यवस्थापर न पहुचकर भी कम-से-कम सभी स्वाभाविक शक्तियो और वर्णोंके एक बुद्धिमत्तापूर्ण एव स्थिर समन्वयपर अवश्य पहुचा—वह समन्वय कोई ऐसा सतुलन नही था जो अस्थिर एव सकटजनक हो, न वह कोई समझौता या समतोलता ही था। साथ ही, भारतीय मन एव स्वभाव एक ऐसे सुघटित एव सजीव सामजस्यपर भी पहुचा जो समाज-रूपी देहके सभी अगोंके स्वतत्र कार्य-व्यापारका आदर करता था। अतएव उसने सभी मानवीय प्रणालियोको आक्रात करनेवाले ह्राससे न सही पर कम-से-कम हर प्रकारके आभ्यतरिक उपद्रव या अव्यवस्थासे समाजकी रक्षा की।

राजनीतिक भवनका शिखर तीन शासक सस्थाओद्वारा अधिकृत था, मन्त्रि-परिषद् समेत राजा, राजधानीकी व्यवस्थापिका सभा और राज्यकी महाससद्। परिषद्के सदस्य और मत्री सभी वर्णोंसे लिये जाते थे। परिषद्में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रतिनिधि नियत सख्यामें सम्मिलित किये जाते थे। नि सदेह सख्याकी दृष्टिसे उसमें वैश्योका भारी बहुमत होता था, किंतु यह एक न्यायोचित अनुपात होता था क्योकि यह सपूर्ण जनसमाजमें उनकी सख्याकी अधिकताके अनुरूप ही होता था कारण, आर्योंके प्राचीन समाजमे वैश्य वर्णके अदर केवल सौदागर और छोटे व्यापारी ही नही बल्कि कारीगर, शिल्पी तथा कृषक भी आ जाते थे और अतएव वैश्य वर्ण जन-साधारण, विश, का बहुत बडा भाग होता था, और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा शूद्र, दो उच्चतर वर्णोंके पद एव प्रभावकी चाहे जितनी महानताके होते हुए भी, समाजमें बादमें चलकर ही विकसित हुए और सख्यामें वे अपेक्षाकृत बहुत ही कम थे। सास्कृतिक ह्रासके युगमें बौद्ध क्रातिके द्वारा उत्पन्न अव्यवस्था तथा ब्राह्मणोंके द्वारा समाजके पुन -सघटनके बाद ही कृषको, शिल्पियो और छोटे व्यापारियोका

बृहत् समुदाय भारतके अधिक बड़े भागमें शूद्रोंकी अवस्थामें आ गिरा, समाजके शिखर पर रह गया छोटासा ब्राह्मण-समुदाय और बीचमें जहां-तहां मध्य अवस्थामें क्षत्रिय और वैश्य छितरे दिखायी देने लगे। इस प्रकार संपूर्ण समाजका प्रतिनिधित्व करनेवाली परिषद् सर्वोच्च कार्यसंचालक और प्रशासनिक संस्था थी और सामाजिक हितोंके संपूर्ण क्षेत्रमें शासन, अर्थव्यवस्था और नीतिके सभी अधिक महत्त्वपूर्ण विषयोंमें राजाकी समस्त कार्रवाई और समस्त आज्ञप्तियोंके लिये परिषद्की सहमति एवं सहयोग प्राप्त करना आवश्यक था। राजा, परिषद् और मंत्रिगण ही राज्य-प्रबंध करनेवाली बोर्डोंकी प्रणालीकी सहायतासे राज्य-कार्य के सभी विविध विभागोंकी देखरेख और नियंत्रण करते थे। निःसंदेह समयके साथ-साथ राजाकी शक्ति बढ़ती चली गयी और बहुधा ही वह अपनी स्वतंत्र इच्छा और प्रेरणाके अनुसार कार्य करनेके लिये प्रलोभित होता था, किंतु फिर भी जबतक यह प्रणाली तेजस्वी बनी रही तबतक वह निरापद रूपमें मंत्रियों और परिषद्की सम्मति एवं इच्छाकी उपेक्षा या अवज्ञा नहीं कर सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि महान् सम्राट् अशोक जैसा शक्तिशाली और दृढ़संकल्प राजा भी अपनी परिषद्के साथ संघर्ष होनेपर अन्तत पराजित हो गया था और अन्तत उसे अपनी सत्ता छोड़नेके लिये बाध्य होना पड़ा था। परिषद्के सचिव दुराग्रही या अयोग्य राजाको पदच्युत करके उसके स्थानपर उसके कुलके अन्य व्यक्तिको राजा बनाने या उसका स्थान किसी नये राजवंशको देनेके लिये कदम उठा सकते थे और प्राय ऐसा करते भी थे और उन दिनों जितने भी ऐतिहासिक परिवर्तन इसी ढंगसे संपन्न हुए, उदाहरणार्थ मौर्यवंशियोंके स्थानपर शुंग-वंशियोंको राजगद्दीपर प्रतिष्ठित करनेकी क्रांति हुई और फिर कण्व-वंशके सम्राटोंके शासनका सूत्रपात हुआ। संविधानीय सिद्धांत और साधारण व्यवहारके रूपमें राजाका समस्त कार्य वास्तवमें मंत्रियोंकी सहायतासे किया गया स-परिषद् राजाका कार्य होता था और उसका समस्त व्यक्तिगत कार्य केवल तभी वैध होता था जब वह उनकी सहमतिके अधीन रहते हुए किया जाता था तथा यह वहींतक वैध होता था जहांतक वह धर्मके द्वारा उसे सौंपे गये कर्तव्योंका सच्चा और यथोचित संपादन होता था। और क्योंकि परिषद् मानो एक प्रकारका सारभूत मस्तिष्क-संगठनका कार्य-यंत्र थी जो चार वर्णों अर्थात् समाज-रूपी देहके मुख्य अंगोंको एक प्रबंध-साध्य सीमामें अपने अंदर समाविष्ट करता था और उन्हें कार्यरत करके अपने संविधानमें प्रतिनिधित्व प्रदान करता था, अतएव राजा भी इस व्यवस्थामें केवल एक सक्रिय अध्यक्ष ही हो सकता था, वह एक स्वेच्छाचारी शासककी भांति स्वयं ही 'राज्य-सत्ता' नहीं हो सकता था, न वह स्वयं देशका स्वामी एवं आज्ञाकारी प्रजाओंके रक्षक एवं दायित्वहीन व्यक्तिगत शासक ही हो सकता था। प्रजाओंकी भांति धर्मका ही आज्ञापालन करना होता था और परिषद्समेत राजाके पास जातियोंका शासन भी केवल इसी रूपमें करना होता था कि वे धर्मकी सेवा और रक्षा करनेका प्रशासनिक साधन हैं।

किंतु यदि परिषद्-जैसी एक छोटी-सी सत्ता हो तो राजा और उसके मंत्रियोंके बीच ऐसा सतत प्रभावके अधीन रहती थी एकमात्र साधारण सभा होती तो वह अधिकारोंको प्राप्त होकर तानाशाही शासनके यंत्रके रूपमें परिणत हो सकती थी। परन्तु राज्यमें दो अन्य परिषदोंकी संस्थाएं भी थीं। वे समाज-रूपी सत्ताका अधिक बड़े पैमानेपर प्रतिनिधित्व करती थीं और राजाके सीधे प्रभावसे स्वतंत्र रहकर तथा राज-प्रबंध और प्रशासनिक विधान-निर्माणकी व्यापक और अटल शक्तियोंका प्रयोग करती हुई समाजके मन, प्राण और इच्छाको अधिक निकट और अनवरत रूपमें प्रकट करती थीं और सदा-सर्वदा राज-शक्तिके नियंत्रकके रूपमें कार्य करनेकी सामर्थ्य रखती थीं, क्योंकि अपने असंतोषकी अवस्थामें वे एक अप्रिय या अत्याचारी राजासे छुटकारा पा सकती थीं अथवा जबतक वह जनताकी इच्छाके आगे शीश न झुकाता तबतक उसके लिये शासन चलाना असंभव कर सकती थीं। ये संस्थाएं थीं—महान् राजधानीय सभा और साधारण सभा (General Assembly) जो अपनी पृथक् शक्तियोंके प्रयोगके लिये तो पृथक् रूपमें अधिवेशन करती थीं और सारी प्रजासे संबंध रखनेवाले विषयोंके लिये सम्मिलित रूपमें।[1] पौर या राजधानीय नगर-सभाके अधिवेशन सदा ही राज्य या साम्राज्यके मुख्य नगरमें हुआ करते थे—और ऐसा प्रतीत होता है कि साम्राज्यीय प्रणालीमें प्रांतोंके प्रधान नगरोंमें भी इसी प्रकारकी छोटी-छोटी सभाएं थीं, ये उन व्यवस्थापिका सभाओंके अवशेष थीं जो, इनके स्वतंत्र राज्योंकी राजधानियां होनेपर, उनपर शासन करती थीं—और यह (पौर सभा) नगर-निकायोंके तथा समाजके सभी वर्णों या कम-से-कम तीन निम्न वर्णोंकी विविध जातिगत संस्थाओंके प्रतिनिधियोंसे गठित होती थी। स्वयं निकाय और जातिगत संस्थाएं भी देश और नगर दोनोंमें समाजके सुघटित स्व-शासक अंग होती थीं और नागरिकोंकी सर्वोच्च सभा संपूर्ण संस्थानकी, जैसा कि वह राजधानीकी सीमाओंके भीतर अस्तित्व रखता था, समष्टि-सत्ताकी कृत्रिम नहीं वरन् सजीव प्रतिनिधि-संस्था होती थी। यह सीधे ही अथवा पांच, दस या अधिक सदस्योंवाली अधीनस्थ लघुतर सभाओं और प्रशासनिक पर्षदों या समितियोंके द्वारा कार्य करती हुई नगरके संपूर्ण जीवनपर शासन करती थी, और, कुछ ऐसे नियमों एवं आज्ञप्तियोंके द्वारा जिनका निकायोंको पालन करना पड़ता था तथा सीधी शासन-व्यवस्थाके द्वारा नगर-समाजके व्यावसायिक, औद्योगिक, आर्थिक एवं पौर कार्योंका नियंत्रण तथा निरीक्षण करती थी। परन्तु इसके साथ ही वह एक ऐसी शक्ति थी जिसका राज्यके अधिक व्यापक कार्योंमें परामर्श लेना आवश्यक होता था और जो ऐसे कार्योंमें, कभी तो पृथक् रूपमें और कभी साधारण

[1] इन सभाओंसे संबंध रखनेवाले तथ्य इस विषयकी श्रीजायसवालकी विशद कृतिसे लिये गये हैं जिसमें सब बातोंको अति सावधानतापूर्वक प्रमाणोंसे पुष्ट किया गया है। मैंने उन्हीं तथ्योंको चुना है जो मेरे कामके लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

सभाके सहयोगसे कार्रवाई कर सकती थी और राजधानीमें निरंतर विद्यमान रहने तथा कार्य करनेके कारण यह एक ऐसी शक्ति बन गयी थी जिसे राजा और उसके मंत्रियों तथा उसकी परिषद्को भी सदैव मान्यता देनी पड़ती थी। राजाके मंत्रियों या राज्यपालोंके साथ सम्पर्क होनेकी दशामें प्रांतोंमें अवस्थित दूरवर्ती पौर सभाएँ भी अपने पद या विशेषाधिकारोंके विषयमें स्पष्ट होनेपर या राजाके प्रबंधकर्ताओंसे असंतुष्ट होनेपर अपने असंतोषको महसूस करा सकती तथा अपराधी अफसरको पदच्युत करनेके लिए बाध्य कर सकती थी।

इसी प्रकार साधारण सभा (General Assembly) राजधानीके सिवाय सम्पूर्ण देशके मन एवं उसकी इच्छाका सुसंगत रूपमें प्रतिनिधित्व करती थी क्योंकि यह नगर-प्रदेशों और ग्रामोंके प्रतिनिधियों निर्वाचित अध्यक्षों या प्रधान व्यक्तियोंसे गठित होती थी। प्रतीत होता है कि इसकी रचनामें एक प्रकारका श्रमिक-वर्गीय तत्त्व प्रविष्ट हो गया था क्योंकि इसमें मुख्यतया प्रतिनिधित्व प्राप्त करनेवाले समाजोंके मुखमुख्य व्यक्तियोंसे ही इसकी पूर्ति की जाती थी और अतएव यह सर्वसाधारणकी सभाके समकी ही एक सभा थी पर इसका रूप पूर्णतया जनतांत्रिक नहीं था—यद्यपि बिलकुल हालकी आधुनिक संसदोंको छोड़कर अन्य सभी संसदोंके विपरीत यह क्षत्रियों और वैश्योंके समान ही शूद्रोंको भी समाविष्ट करती थी—पर फिर भी यह जनताके जीवन और मनको पर्याप्त सच्चे रूपमें प्रस्तुत करती थी। तथापि यह परमोच्च सत्ता नहीं थी क्योंकि राजा और परिषद् या पौर-सभाके समान ही इसे भी साधारणतः विधान बनानेका मूल अधिकार प्राप्त नहीं थे बल्कि केवल आज्ञप्ति जारी करने और व्यवस्थित करनेका ही अधिकार था। इसका काम यह था कि राष्ट्रके जीवनकी विविध प्रवृत्तियोंके बीच सुसंगति स्थापित करनेमें यह जनताकी इच्छाके एक प्रत्यक्ष माध्यमके रूपमें कार्य करे इसकी यथोचित व्यवस्थाकी देखरेख करे और राष्ट्रके उद्योग-वाणिज्य कृषि-कार्य तथा सामाजिक एवं राजनीतिक जीवनकी सामान्य व्यवस्था और उन्नतिको साधित करनेकी ओर ध्यान दे इस कार्यके लिये नियम और आज्ञप्तियाँ पास करे और राजा तथा उसकी परिषद्से विशेषाधिकार एवं सुविधाएं प्राप्त करे, राजाके कार्योंके लिये जनताकी सहमति प्रदान करे या राय देवे और, यदि आवश्यकता हो तो सक्रिय रूपमें उसका विरोध करके कुशासनका प्रतिकार करे या फिर प्रजाके प्रतिनिधियोंको जो भी उपाय सुलभ हों उनके द्वारा इसका अंत ही कर डाले। पौर और साधारण सभाओंके संयुक्त अधिवेशनसे उत्तराधिकारके मामलोंमें परामर्श लिया जाता था, यह राजाको गद्दीसे उतार सकता था, राजाके अपुत्र होने पर उत्तराधिकारमें परिवर्तन कर सकता था, शासक कुलसे बाहरके किसी व्यक्तिको गद्दीपर बिठा सकता था, राजनीतिक संघर्ष उठनेवाले मामलोंमें राजद्रोहों या व्यक्तियोंकी हत्या करनेके मामलोंमें कभी-कभी सर्वोच्च न्यायालयके रूपमें कार्य कर सकता था। राजनीतिक किसी भी विषयपर राजाके प्रस्ताव इन सभाओंके प्रति निवेदित किये जाते थे और किसी विशेष कर अथवा युद्ध एवं निर्माणकी विशाल योजनाओं आदिके संबंध सभी विषयोंमें सभा देनेके

रिय सम्पन्न समुदाय, व्यापारिक संघ और ग्रामोंमें उनकी स्वीकृति लेना आवश्यक होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों सभाओंका अधिवेशन निरन्तर हुआ करता थे, क्योंकि इनकी ओरसे एक छोटी-सी कार्य-परिषद् प्रतिदिन ही राजाके पास पहुंचती थी और इनके कार्य राजाके द्वारा रजिस्टर किये जाते थे और अतएव स्वयं ही ये कानून-जैसा प्रभाव रखते थे। निश्चय ही, इनके अधिकारों और कार्योंका पूर्णतया पर्यालोचन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये राज्यके अधिकारमें हिस्सा बटानेवाली थीं तथा राजाकी शक्तियां इनमें अन्तर्निहित थीं और यहां-तक कि जो शक्तियां साधारणतः इनके क्षेत्रके भीतर नहीं आती थीं उन्हें भी ये असाधारण अवसरोंपर प्रयोगमें ला सकती थीं। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि समाजके धर्मको परिवर्तित करनेके अपने प्रयत्नमें अशोकने केवल अपनी राजाज्ञा जारी करके ही नहीं बल्कि व्यवस्थापिका सभाके साथ विचार-विमर्श करके आगे कदम बढ़ाया था। अतएव इन दो संस्थाओं-(की विद्यमानता) का यह प्राचीन वर्णन बिलकुल ठीक प्रतीत होता है कि ये राजकार्यकी परि-चालिका होती थीं और आवश्यकता पड़नेपर राजाके शासनका विरोध करनेवाले उपकरणोंके रूप-में कार्य करती थीं।

यह स्पष्ट रूपसे पता नहीं चलता कि ये महान् संस्थाएं कब लुप्त हो गयीं, मुसलमानोंके आक्रमणसे पहले या विदेशियोंकी विजयके परिणामस्वरूप। यदि ऊपरसे एकाएक यह प्रणाली किसी प्रकार भंग हो गयी हो जिससे राज-शासन तथा सामाजिक-राजनीतिक संग-ठनके अन्य अंगोंमें खाई पैदा हो गयी हो और, परिणामतः, राजा अपने पार्थक्यके कारण अधिक स्वेच्छाचारी बन गया हो तथा अधिक व्यापक राष्ट्रीय कार्योंका नियन्त्रण उसने एक-मात्र अपने हाथमें ले लिया हो और सामाजिक-राजनीतिक संगठनके अन्य अंगोंमेंसे प्रत्येक अपना आंतरिक कार्य-व्यापार तो स्वयं चलाता हो—ग्राम-समाजोंकी अवस्था अंततक ऐसी ही रही—पर राज्यके उच्चतर विषयोंके साथ किसी प्रकारका जीवंत संबंध न रखता हो तो इस प्रकारकी अवस्था जटिल सामुदायिक स्वतंत्रताके संगठनमें जहां जीवनके परस्पर-सामंजस्यकी अनिवार्य आवश्यकता थी, स्पष्टतः ही दुर्बलताका एक महान् कारण हुई होगी। कुछ भी हो, मध्य एशियासे जो आक्रमण हुआ वह अपने साथ एक ऐसे व्यक्तिगत एवं निरंकुश शासन-की परंपरा लेकर आया जो इन प्रतिबंधोंसे अपरिचित था। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि वह ऐसी संस्थाओंको, अथवा इनके अवशेषों या अद्यावधि जीवित रूपोंको, जहां कहीं भी वे अबतक विद्यमान हों, तुरंत उन्मूलन कर दे, और संपूर्ण उत्तर-भारतमें यही हुआ। दक्षिणमें भारतीय राजनीतिक प्रणाली फिर भी अनेक सदियोंतक कायम रही, पर ऐसा प्रतीत होता है कि जो जनसभाएं वहां प्रचलित रहीं उनकी रचना वैसी नहीं थी जैसी इन प्राचीन राजनीतिक संस्थाओंकी थी, बल्कि वास्तवमें वे कुछ अन्य सामाजिक संगठन और सभाएं थीं जिनका ये एक सुसमन्वित रूप थीं तथा जिनके नियन्त्रणका एक सर्वोच्च साधन थीं। इन हीन कोटिके सभासंगठनोंमें ऐसी संस्थाएं समाविष्ट थीं जिनका मूल स्वरूप राज-

नीतिक था ये भी किसी समयकी सर्वोच्च शासक सभाएं, कुल और गण। नये विधानके अंतर्गत ये बनी तो रहीं पर अपना सर्वोच्च अधिकार खो बैठीं और अपने अंगभूत समाजोंके कार्य-व्यापारका गौण एवं मर्यादित अधिकारके साथ प्रबंधभर कर सकती थीं। कुल अपना राजनीतिक स्वरूप खो चुकनेके बाद भी एक सामाजिक-धार्मिक संस्थाके रूपमें विशेषकर क्षत्रियोंमें, दृढ़ रूपमें कायम रहा और उसने अपने सामाजिक एवं धार्मिक विधान कुलधर्मकी परंपराको तथा कहीं-कहीं अपनी जातीय सभा कुल-संघको भी सुरक्षित रखा। दक्षिण भारतमें हम देखते हैं कि सर्वथा अर्वाचीन समयमें भी जनसभाएं प्राचीन साधारण सभाकी स्थानपूर्ति करती रहीं एक ही समय ऐसी एकसे अधिक जनसभाएं भी विद्यमान रहीं और वे अलग-अलग या मिलकर कार्य करती रहीं। ये उक्त प्रकारकी साधारण सभा (General Assembly) के ही प्रकारान्तर प्रतीत होती हैं। राजपूतानेमें भी कुलने अपना राज-नीतिक वैशिष्ट्य एवं कर्तृत्व फिरसे प्राप्त किया पर इसका रूप कुछ और था और इसमें न तो प्राचीन संस्थाएं थीं और न सूक्ष्मतर सांस्कृतिक प्रकृति यद्यपि इन कुलोंने साहस, शूर-वीरता, उदारता और सम्मान-रूपी क्षत्रिय धर्मको उच्च मात्रामें सुरक्षित रखा।

भारतीय समाज-तंत्रमें एक इससे भी प्रबल स्थायी तत्त्व विद्यमान था। वह चार वर्णोंके रूपमें ही विकसित हुआ—यहांतक कि अन्तमें उसने इसका स्थान ही ले लिया—और असाधारण जीवन-शक्ति स्थायिता और प्रबल महत्ता प्राप्त कर ली। वह था ऐतिहासिक जाति प्रथाका तत्त्व जो आज ह्रासकी ओर भले ही बढ़ रहा हो पर अबतक भी दृढ़ रूपमें विद्यमान है। मूल रूपमें यह प्रथा चार वर्णोंके उपविभागोंसे उद्भूत हुई जो प्रत्येक वर्णमें विविध शक्तियोंके स्वभाववश बन विकसित हुए। ब्राह्मण वर्णका उपविभाजन मुख्यतः धार्मिक सामाजिक-धार्मिक और कर्मकांडीय कारणोंसे हुआ परंतु कुछ विभाजन प्रादेशिक और स्थानीय भी थे क्षत्रिय अधिकांशमें एक ही भेदरहित वर्ग रहे यद्यपि कुलोंके रूपमें विभाजित अवश्य थे। दूसरी ओर आर्थिक कार्योंके उपविभाजनकी आवश्यकताके वश वैश्य और शूद्र वर्ग आनुवंशिकताके सिद्धांतके आधारपर अगणित जातियोंमें विभक्त हो गये। आनुवंशिकता-के सिद्धान्तके अधिकाधिक कठोर प्रयोगके बिना भी कार्य-व्यापारका यह स्थिर उपविभाजन अन्य देशोंकी भांति नियम-प्रणालीके द्वारा काफी सुचारु रूपसे साधित हो सकता था और यूरोपमें हम एक समान अर्थ कार्यवश नियम प्रणालीका अस्तित्व पाते ही हैं। परंतु आगे चल-कर नियम प्रणालीका प्रचलन समाप्त हो गया और जातिकी अधिक सामान्य प्रथा ही सर्वत्र आर्थिक कार्यका एकमात्र आधार बन गयी। नगर और ग्राममें जाति एक पृथक् सामाजिक इकाई थी जो एक साथ ही धार्मिक सामाजिक और आर्थिक होती थी और अपने धार्मिक सामाजिक एवं अन्यान्य प्रश्नोंका निपटारा करती थी समस्त बाह्य हस्तक्षेपसे पूर्णतः मुक्त रहते हुए अपने आंतरिक कार्योंका संचालन करती तथा अपने सदस्योंपर न्यायसंगत अधि-कारका प्रयोग करती थी केवल धर्मविषयक सूक्ष्मसूक्ष्म प्रश्नोंपर शास्त्रीय व्याख्या या निर्णय

प्राप्त करनेके लिये शास्त्रके संरक्षकोंके रूपमें ब्राह्मणोंसे सम्मति ली जाती थी। कुलकी भांति प्रत्येक जातिका भी अपना जातीय विधान तथा जीवन एवं आचरणका नियम, जातिधर्म, होता था और साथ ही अपना जातिसंघ भी। क्योंकि भारतीय शासनप्रणाली अपनी सभी संस्थाओंमें वैयक्तिक नहीं बल्कि सामाजिक आधारपर प्रतिष्ठित थी, जाति भी राज्यके राजनीतिक एवं प्रशासनिक कार्य-व्यापारमें महत्त्व रखती थी। इसी प्रकार निगम भी समाजकी ऐसी व्यापारिक एवं औद्योगिक इकाइयां थे जो अपना कार्य आप चलाती थीं, वे अपने कार्योंपर विचार-करने तथा उनका प्रबंध करनेके लिये सभाएं करते थे और इसके साथ ही उनकी संयुक्त सभाएं भी होती थीं जो, प्रतीत होता है कि किसी समय, शासन करनेवाली पौर संस्थाएं रही होंगी। ये निगम-सरकारें, यदि इन्हें ऐसा नाम दिया जा सकता हो,—क्योंकि ये नगरपालिकाओंसे अधिक कुछ थीं,—आगे चलकर एक अधिक व्यापक पौर संस्थामें विलीन हो गयीं जो निगमों तथा सभी वर्णोंके जातिसंघों दोनोंकी सुघटित एकताका प्रतिनिधित्व करती थी। जातियां अपने निज रूपमें राज्यकी साधारण सभामें सीधा प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त करती थीं, पर स्थानीय कार्य-व्यापारके प्रशासनमें उनका अपना स्थान अवश्य होता था।

ग्राम-समाज और नगर-समाज अत्यंत प्रत्यक्ष रूपमें, संपूर्ण प्रणालीका एक स्थिर आधार थे, पर, यह ध्यानमें रखना होगा कि ये केवल निर्वाचन एवं प्रशासनसंबंधी या अन्य उपयोगी सामाजिक एवं राजनीतिक प्रयोजनोंके लिये प्रादेशिक इकाइयां या सुविधापूर्ण साधन नहीं थे, बल्कि ये सदा ही सच्चे एकतात्मक समाज होते थे जिनका अपना ही सुघटित जीवन होता था जो राज्यकी मशीनरीके केवल एक गौण अंगके रूपमें नहीं वरन् अपने पूरे अधिकारके साथ कार्य करता था। ग्राम-समाजको एक छोटा-सा ग्राम-गणराज्य कहकर वर्णित किया गया है, और इस वर्णनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है क्योंकि प्रत्येक गांव अपनी सीमाओंके भीतर स्वायत्त और आत्म-निर्भर था, अपनी ही निर्वाचित पंचायतों और निर्वाचित या वंशानुगत अफसरोंके द्वारा शासित होता था, अपनी आवश्यकताएं आप पूरी करता था, अपनी शिक्षा, पुलिस और अदालतोंकी, अपनी सभी आर्थिक आवश्यकताओं और कार्य-प्रवृत्तियोंकी स्वयं व्यवस्था करता था, एक स्वतंत्र और स्व-शासक इकाईके रूपमें अपने जीवनका आप ही प्रबंध करता था। गांव एक दूसरेके साथके अपने कार्योंको भी नाना प्रकारके समवायोंके द्वारा परिचालित करते थे और इसके साथ ही ग्रामोंके समूह भी बनाये जाते थे जो निर्वाचित या वंशक्रमागत अध्यक्षोंके अधीन होते थे और अतएव, कम घनिष्ठ रूपमें संगठित ही सही, एक स्वाभाविक संघका गठन करते थे। परंतु यह तथ्य इससे कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है कि भारतमें नगर-प्रदेश भी स्वायत्त और स्वशासक संस्थान होते थे जो, निर्वाचन-प्रणालीसे युक्त तथा मतका प्रयोग करनेवाली अपनी ही सभा-समितियोंके द्वारा शासित होते थे, अपने ही निज अधिकारसे अपने कार्य-कलापका प्रबंध करते थे और ग्रामोंके ही समान राज्यकी साधारण सभामें अपने प्रतिनिधि भेजते थे। इन पौर सरकारोंके शासन-

प्रबंधमें वे सभी कार्य आ जाते थे जो नागरिकोंके भौतिक या अन्य प्रकारके हितमें सहायक होते हैं, जैसे पुलिस, न्यायसंबंधी मामले, सार्वजनिक कार्य और पवित्र एवं सार्वजनिक स्थानों की देख-भाल, रजिस्ट्री और करोंका संग्रह और व्यापार तथा उद्योग-वाणिज्यसे संबंध रखने वाले सभी विषय। यदि ग्राम-समाजको एक छोटा-सा ग्राम-गणराज्य कहा जा सकता है तो बिल्कुल उसी प्रकार नगर-प्रदेशके संविधानको एक अधिक बड़ा नगर-गणराज्य कहकर वर्णित किया जा सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि नैगम और पौर सभाओंको —निगम सरकारों और पौर संस्थाओंको —अपने सिक्के ढालनेका विशेषाधिकार प्राप्त था जो कि वैसे राज्यों तथा गणतंत्रोंके अध्यक्षभूत राजाओंके द्वारा ही प्रयोगमें लाया जाता था।

कुछ अन्य प्रकारके समाजोंको भी ध्यानमें रखना होगा जिनकी सत्ता राजनीतिक तो बिल्कुल नहीं थी पर फिर भी जिनमेंसे प्रत्येक अपने-अपने ढंगसे एक स्व-शासक समष्टि था क्योंकि वे भारतीय जीवनकी अपनी सभी अभिव्यक्तियोंमें अपने-आपको सत्ताके एक प्रतिष्ठित सामाजिक रूपमें प्रकट करनेकी प्रबल प्रवृत्तिको निदर्शित करते हैं। उनका एक उदाहरण है संयुक्त परिवार जो भारतमें सर्वत्र प्रचलित है और केवल अब आकर ही आधुनिक अवस्थाओंका दबाव पड़नेके कारण छिन्न-भिन्न हो रहा है। इसके दो मूल सिद्धांत थे—प्रथमतः पितृवंशीय संबंधियों और उनके परिवारोंका अपनी संपत्तिपर सामुदायिक अधिकार और जहांतक बन पड़े परिवारके प्रधान व्यक्तिके प्रबंधके अधीन एक अविभक्त सामाजिक जीवन यापन करना और दूसरे अपने पिताके भागमें प्रत्येक लड़केका समान भागका दावा जो मान कि अलग होने तथा जायदादका बंटवारा करनेकी हालतमें उसको प्राप्त होता। व्यक्तिके अलग पृथक अधिकारसे युक्त यह सामाजिक एकता इस बातका उदाहरण है कि भारतीय मन और जीवनमें समन्वयात्मक प्रवृत्ति विद्यमान थी उसने मौलिक प्रवृत्तियों-को जाना-पहचाना था और यद्यपि वे अपने व्यावहारिक रूपमें एक-दूसरीकी विरोधिनी मालूम होती थीं फिर भी उनमें सामंजस्य बैठानेकी चेष्टा की थी। यह वही समन्वयकारी प्रवृत्ति है जिसने भारतकी सामाजिक-राजनीतिक प्रणालीके सभी अंगोंमें वर्णतंत्रीय राजतंत्रीय और अभिजाततंत्रीय जनतंत्रीय और प्रजातंत्रीय प्रवृत्तियोंको नाना प्रकारसे एक-दूसरीके साथ घुला-मिलाकर एक समग्र प्रणालीमें परिणत करनेका यत्न किया, और यह प्रणाली उनमेंसे किसीके भी विशुद्ध स्वरूपसे युक्त नहीं थी न यह उनका एक-दूसरीके साथ कोई ऐसा अनुकलन या मिश्रण ही थी जो नियमों एवं अनुभवागी पद्धतिके द्वारा या बुद्धि-निर्मित समन्वयके द्वारा स्थापित किया गया हो बल्कि यह भारतके जटिल सामाजिक मन और प्रकृति की महान् प्रवृत्तियों एवं शक्तियोंका स्वाभाविक बाह्य रूप थी।

दूसरी ओर यदि भारतीय धार्मिक मनका संन्यासमार्गीय एवं शुद्ध आध्यात्मिक द्वार है, हम धार्मिक समाजोंको देखते हैं और फिर यह भी सामाजिक रूप धारण कर लेता है। आदि वैदिक समाजमें किसी प्रकारके 'चर्च' या धार्मिक संघ या पुरोहित-संप्रदायके लिये कोई

स्थान नहीं था, क्योंकि उसकी प्रणालीमें संपूर्ण जन-समुदाय एक ही अखंड सामाजिक-धार्मिक समष्टि थी जिसमें 'धार्मिक' और 'लौकिक' में, सामान्य मनुष्य और पुरोहितमें, कोई भेद नहीं था, और बादकी प्रगतियोंके होनेपर भी हिंदू धर्म, समग्रतया या कम-से-कम आधारके रूपमें, इस मूल सिद्धांतपर दृढ़ रहा है। दूसरी ओर, एक संन्यासमार्गीय प्रवृत्ति बढ़ती चली गयी जिसने समय पाकर धार्मिक जीवन और सांसारिक जीवनके भेदको जन्म दिया तथा पृथक् धार्मिक समाजकी रचनामें सहायता की। बौद्धों और जैनोंके मत-सम्प्रदायों तथा साध-नाभ्यासोंके प्रादुर्भावसे उस प्रवृत्तिको बल प्राप्त हुआ। बौद्धोंका भिक्षु-संघ संगठित धार्मिक समाजके पूर्ण रूपका सर्वप्रथम विकास था। यहां हम देखते हैं कि बुद्धने केवल भारतीय समाज और शासनतंत्रके प्रसिद्ध मूलसूत्रोंका संन्यास-जीवनपर प्रयोग मात्र किया। उन्होंने जिस संघका निर्माण किया वह एक धर्म-संघके रूपमें अभिप्रेत था, और प्रत्येक मठ एक ऐसे धार्मिक संस्थानके रूपमें अभिमत था जो एक ग्रामवत् सामाजिक संस्थाका जीवन यापन करता था, वह संस्था धर्मके बौद्ध-सम्मत स्वरूपकी एक अभिव्यक्तिके रूपमें अस्तित्व रखती थी तथा अपने जीवनके सभी नियमों, विशेष लक्षणों तथा रूप-रचनामें धर्मके परि-पालनपर ही आधारित थी। जैसा कि हमें तुरत पता चल सकता है, संपूर्ण हिंदू समाजका मूलतत्त्व एवं सिद्धांत ठीक यही था, परंतु यहां इसे वह उच्चतर तीव्रता प्रदान कर दी गयी थी जो आध्यात्मिक जीवन तथा शुद्ध धार्मिक संस्थाके लिये संभव हो सकती थी। यह संघ अपने कार्योंकी व्यवस्था भी भारतकी सामाजिक और राजनीतिक अखंड समष्टियोंकी भांति करता था। संघकी सभा धर्म और इसके प्रयोगके विवादास्पद प्रश्नोंपर बहस करती थी और गणराज्योंके सभा-भवनोंकी भांति मतसंग्रहके द्वारा अपनी कार्रवाई चलाती थी, किंतु फिर भी वह एक सीमाकारी नियंत्रणके अधीन रहती थी जिसका उद्देश्य एक कोरी और निपट जनतांत्रिक प्रणालीकी संभव बुराइयोंसे बचना होता था। इस प्रकार जब यह मठ-प्रणाली एक बार दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो गयी तो कट्टरपंथी धर्मने इसे बौद्ध धर्मसे लेकर अपना लिया, पर इसका विस्तृत संगठन उसने नहीं अपनाया। ये धार्मिक समाज जहां कहीं भी प्राचीनतर ब्राह्मण-प्रणालीके विरुद्ध विजय लाभ कर सके, जैसे, शंकराचार्य-प्रवर्तित संप्रदायमें,-वहां ये समाजके साधारण जन-समुदायके एक प्रकारके धार्मिक नायक बनते चले गये, किंतु इन्होंने राजनीतिक पदपर स्वत्व रखनेका दावा बिलकुल नहीं किया और 'चर्च' तथा राज्यका संघर्ष भारतके राजनीतिक इतिहासमें कभी देखनेमें नहीं आया।

अतएव यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतके संपूर्ण जीवनने महान् राज्यों एवं साम्राज्योंके समयमें भी अपने प्रथम सिद्धांत एवं मूलभूत कार्यप्रणालीको सुरक्षित रखा और इसकी समाज-व्यवस्था, मूलत, स्व-निर्धारित तथा स्व-शासक सामाजिक संस्थाओंकी एक जटिल प्रणाली ही रही। अन्य देशोंकी भांति भारतमें भी इस प्रणालीके स्थानमें एक संगठित राज्य-सत्ताका विकास करना जो आवश्यक हो उठा, इसका कारण कुछ तो यह था कि व्यावहारिक

युक्ति उतना अधिक प्रसार तथा वैज्ञानिक रूपमें पूर्णतर सामञ्जस्यकी माँग भी जितना कि छोटे क्षेत्रोंसे हटकर, जीवनके शिथिलतर स्वाभाविक सामञ्जस्यके लिये संभव था और इस से अधिक अनिवार्य कारण यह था कि एक तो सुव्यवस्थित सैनिक आक्रमण प्रतिरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाईकी आवश्यकता पैदा हो गयी जो एक ही केन्द्रीय सत्ताके हाथमें केंद्रित हो। इनमेंसे पहली माँगको पूरा करनेके लिये स्वतन्त्र गणतान्त्रिक राज्यका विस्तार भी पर्याप्त हो सकता था क्योंकि उसमें स्पष्ट ही इस उपयोगी क्षमता और आवश्यक संस्थाएं विद्यमान थीं परन्तु अपनी अधिक संकुचित और सहज प्राप्य केन्द्रीयताके कारण राजतन्त्रात्मक राज्यने युद्धनिर्मे एक अधिक आसान तथा प्रबंध-योग्य उपाय-व्यवस्था एवं एक अधिक सुगम तथा प्रत्यक्ष कार्यक्षम मशीनरी प्रस्तुत कर दी। और (इसकी प्रतिरक्षा आदिके) बाह्य कार्योंमें तो राज-तन्त्र सुस्पष्ट ही आवश्यक था तब देशकी अपेक्षा नहीं अपितु एक महाद्वीप था, राजनीतिक एकीकरणकी अतीव विकट युगव्यापी समस्या भी सम्मिलित थी। सुतरां इस बाह्य कार्यके लिये गणतान्त्रिक प्रणाली अपने पर्याप्त सैनिक संगठनके द्वारा हुए भी अनुपयुक्त सिद्ध हुई क्यों-कि वह आक्रमणकी अपेक्षा प्रतिरक्षात्मक शक्तिके लिये ही अधिक उपयुक्त थी। अतएव अन्य देशोंकी भाँति भारतमें भी राजतन्त्रात्मक राज्यका प्रकार रूप ही अंतमें विजयी हुआ तथा अन्य सबको निगल गया। तथापि अपनी मूलभूत संस्थाओं और आदर्शोंके प्रति भार-तीय मनकी निष्ठाने सामुदायिक स्वशासनके जो अवशेष आभ्यंतरिक प्रवृत्तिके लिये स्वा-भाविक था आधारको सुरक्षित रखा, राजतंत्रात्मक राज्यको तानाशाहीके रूपमें विकसित नहीं होने दिया न उसे अपने समुचित कर्तव्यका अतिक्रमण ही करने दिया साथ ही समाजके जीवनको यांत्रिक रूप देनेकी उसकी प्रवृत्तिका सफलतापूर्वक विरोध भी किया। हां ह्रासके सुदीर्घ कालमें ही हम देखते हैं कि राजतंत्रीय शासन और जनताके आत्म-निर्धारक सामा-जिक जीवनके बीचकी स्वतंत्र संस्थाएं विलीन होने लगीं या फिर अपनी प्राचीन शक्ति और तेजको अधिकांशमें खोने लगी और वैयक्तिक शासनकी त्रुटियाँ तथा अफसरोंकी नौकरशाही की तथा एक अति प्रबल केन्द्रीभूत सत्ताकी बुराइयां किसी भोंडे मात्रामें प्रकट होनी शुरू हो गयीं। जबतक भारतीय शासन-पद्धतिकी प्राचीन परंपराएं कायम रहीं और जिस अनु-पातमें वे सजीव और प्रभावशाली बनी रहीं तबतक और उस अनुपातमें ये बुराइयां केवल कहीं-कहीं एवं कभी-कभी ही पैदा होती रहीं या फिर कोई भीषण आकार नहीं ग्रहण कर सकीं। विदेशियोंके आक्रमण तथा उनकी विजय और प्राचीन भारतीय संस्कृतिके अधिक ह्रास एवं अंतिम पतन—इन दोनोंने मिलकर ही पुरानी रचनाके प्रधान-प्रधान भागोंको विध्वस्त कर डाला तथा ग्रामोंके सामाजिक-राजनीतिक जीवनको अवनत और छिन्न-भिन्न कर डाला यहांतक कि पुनरुज्जीवन या नव-निर्माणके पर्याप्त साधन भी नहीं बच रहे।

इसके विकासकी अस्पृष्ट अवस्थामें तथा भारतीय सभ्यताके महान् दिनोंमें हम एक अत्युत्तम राजनीतिक प्रणाली देखते हैं जो सर्वोच्च मात्रामें कार्यक्षम थी और सामाजिक स्व-

शासन तथा नियन्त्रण एवं व्यवस्थाका सारा अन्तर पूर्ण स्वराज धारण किये हुई थी। राज्य अपने प्रशासनिक, न्यायसम्बन्धी आर्थिक और रक्षणात्मक भागको जनताके तथा उन्हीं विभागोंमें सम्बन्धित उसकी अन्तर्गत संस्थाओंके अधिकार एवं स्वतन्त्र कार्य-कलापोंको विनष्ट किये बिना या उनमें हस्तक्षेप किये बिना परिचालित करता था। राजधानी और शेष सारे देशके राजकीय न्यायालय एक सर्वोच्च न्यायसत्ता थे जो राज्यभरमें न्याय-प्रबन्धमें सामञ्जस्य स्थापित करती थी, परन्तु वे न्यायालय ग्राम तथा नगरके संस्थानोंके द्वारा अपनी अदालतोंको सौंपे गये न्याया-धिकारोंमें अनुचित हस्तक्षेप नहीं करते थे, और, यहांतक कि, राजकीय प्रणाली मध्यस्थताके एक विशाल साधनके रूपमें कार्य करनेवाले निगम, जाति और कुलके न्यायालयोंको भी अपने साथ सम्बन्धित रखती थी और केवल अधिक भयानक अपराधोंपर ही एकमात्र अपना नियन्त्रण रखनेका आग्रह रखती थी। ग्राम और नगरके संस्थानोंकी प्रशासनिक एवं आर्थिक शक्तियोंके प्रति भी इसी प्रकारका सम्मान प्रदर्शित किया जाता था। शहर और देहातमें राजाके राज्यपालों और पदाधिकारियोंके साथ-ही-साथ, जनता और उसकी व्यवस्थापिका सभाओंके द्वारा नियुक्त पौर शासक और पदाधिकारी तथा सामाजिक मुखिया और पदधारी भी रहा करते थे। राष्ट्रकी धार्मिक स्वाधीनता या उसके सुप्रतिष्ठित आर्थिक एवं सामा-जिक जीवनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करता था, वह अपनेको सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षातक तथा समस्त राष्ट्रीय कार्यकलापके समृद्ध एवं शक्तिशाली सञ्चालनके लिये अपेक्षित निरीक्षण एवं साहाय्य तथा सुसंगति एवं सुविधाओंके प्रवर्त्तक ही सीमित रखता था। भारतके सामा-जिक मनके द्वारा पहलेसे ही सृष्ट स्थापत्य, कला-शिल्प, संस्कृति, ज्ञान और साहित्यके लिये भव्य और उदार प्रेरणाके स्रोतके रूपमें अपने सुयोगोंको भी वह बराबर ही समझता था और उन्हें समुज्ज्वल रूपसे चरितार्थ भी करता था। राजाके व्यक्तित्वके रूपमें वह एक महान् एवं सुस्थिर सभ्यता-तथा स्वतन्त्र एवं जीवंत जातिका प्रतिष्ठित और शक्तिशाली नायक था तथा राजाके प्रशासनकी पद्धतिके रूपमें वह इस सभ्यता एवं जातिका एक सर्वोच्च यन्त्र था जो न तो कोई मनमानी तानाशाही या नौकरशाही था और न जीवनका दमन करने-वाली या उसका स्थान ले लेनेवाली मशीन।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

अठारहवाँ अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

भारतीय समाजतंत्र एवं राष्ट्रतंत्रके तथ्योंका यथार्थ ज्ञान एवं इसके स्वरूप और सिद्धांतका यथायथ बोध पश्चिमी आलोचकोंके इस तर्कका तुरंत निराकरण कर देता है कि भारतीय मन यद्यपि दर्शन, धर्म, कला और साहित्यमें विलक्षण था तथापि जीवनका संगठन करनेमें अयोग्य था, व्यावहारिक बुद्धिके कार्योंमें हीन कोटिका था और, विशेषकर, राजनीतिक परीक्षणमें असफल था तथा इसका इतिवृत्त सफल राजनीतिक निर्माण, चिंतन एवं कर्मसे शून्य है। इसके विपरीत, भारतीय सभ्यताने एक उच्च कोटिकी राजनीतिक प्रणालीका विकास किया था जो ठोस रूपमें तथा स्थायी दृढ़ताके साथ निर्मित की गयी थी, साथ ही और संभवतः अपने प्रयत्नोंमें मनुष्यका मन जिन राजतंत्र, जनतंत्र तथा अन्य शासनतंत्रोंके सिद्धांतों और प्रवृत्तियोंकी ओर झुका है उन सबको भारतीय सभ्यताने अद्भुत कौशलसे एक-दूसरेके साथ संयुक्त किया और फिर भी वह यन्त्रीकारक प्रवृत्तिकी उस अतिसे मुक्त रही जो कि आधुनिक यूरोपीय राज्यका दोष है। पश्चिमके विकाससम्बन्धी दृष्टिकोण तथा प्रगति विषयक विचारको लेकर इसपर जो आक्षेप किये जा सकते हैं उनपर मैं आगे चलकर विचार करूंगा।

परन्तु राजनीतिका एक और भी पहलू है जिसके बारेमें यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीतिक मानसने अपने इतिहासमें असफलताके सिवा और कुछ भी अर्जित नहीं किया। इसने जिस राष्ट्र-व्यवस्थाका विकास किया वह प्राचीन अवस्थाओंमें स्थिरता तथा प्रभावशाली प्रशासनके लिये और प्राचीन अवस्थाओंमें सामाजिक सुशृंखलता एवं सर्वविध स्वाधीनता तथा जनहितको अविच्छिन्न करनेके लिये भले ही सराहनीय रही हो, पर यद्यपि इस देशकी अनेकों जातियोंमेंसे प्रत्येक पृथक्-पृथक् स्व-शासित, सुव्यवस्थित और समृद्ध थी और, व्यापक रूपमें सारा देश भी अपनी अन्तर्भूत सभ्यता एवं संस्कृतिमें स्थिरतापूर्वक कार्य करते रहनेके बारेमें आश्वस्त था तथापि वह राष्ट्र-व्यवस्था भारतके राष्ट्रीय और राजनीतिक

एकीकरणको साधित करनेमें असफल रही और अंतमें विदेशी आक्रमणसे, इसकी संस्थाओंके विघटन तथा इसकी युगव्यापी दासतासे इसकी रक्षा करनेमें भी असमर्थ रही। इसमें संदेह नहीं कि किसी समाजकी राजनीतिक प्रणालीकी परीक्षा, प्रथमत और प्रधानत, इस बातके द्वारा करनी होगी कि वह जनताके लिये सुस्थिरता, समृद्धि, आतरिक स्वाधीनता एव व्यवस्या-को कहातक सुनिश्चित करती है, पर साथ ही इसके द्वारा भी कि कहातक वह अन्य राज्यो-के विरुद्ध सुरक्षाकी दीवार खडी करती है तथा बाह्य प्रतिद्वद्वियो और शत्रुओंके विरुद्ध उसमें कितनी एकता है एव प्रतिरक्षा और आक्रमण करनेकी कितनी शक्ति है। संभवत यह मानवजातिके लिये पूर्ण रूपसे प्रशंसाकी बात नही है कि राजनीतिक प्रणाली ऐसी ही होनी चाहिये, और जो राष्ट्र या जाति इस प्रकारकी राजनीतिक शक्तिमें हीन है, जैसे कि प्राचीन यूनानी और मध्ययुगीन इटालियन थे, वह आध्यात्मिक और सास्कृतिक दृष्टिसे अपने विजेता-ओंकी अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ हो सकती है और सच्ची मानव-प्रगतिमें उसका योगदान सफल सैनिक राज्यो, आक्रमणशील समाजो तथा लुटेरे साम्राज्योंकी अपेक्षा अधिक महान् हो सकता है। परन्तु मनुष्यका जीवन अभी भी प्रधान रूपसे प्राणिक है और अतएव यह विस्तार, अधिकार और आक्रमणकी तथा दूसरेको निगलने एव उसे जीतकर उसपर आधिपत्य जमानेके लिये पारस्परिक सघर्षकी प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होता है जो कि जीवनका प्रथम नियम है, और जो सामूहिक मन एव चेतना लगातार ही आक्रमण और प्रतिरक्षामें अक्षमताका प्रमाण देती है तथा अपनी सुरक्षाके लिये आवश्यक केंद्रीभूत एव कार्यक्षम एकताको सघटित नही करती वह स्पष्टत ही एक ऐसा मन एव चेतना है जो राजनीतिक क्षेत्रमें प्रथम श्रेणीसे बहुत ही नीचे रह जाती है।, राष्ट्रीय और राजनीतिक रूपमें भारत कभी भी एक नही रहा है। करीब एक हजार सालतक भारत बर्बर आक्रमणोंसे क्षत-विक्षत होता रहा तथा लगभग और एक हजार वर्षतक एकके बाद एक विदेशी प्रभुओंका दास रहा। इसलिये, स्पष्टत ही, भारतजातिके विरुद्ध यह निर्णय देना होगा कि यह राजनीतिक दृष्टिसे अक्षम थी।

यहा, फिर, पहली आवश्यकता इस बातकी है कि हम अतिरंजनाओंको त्याग कर अपने मनमें यथार्थ तथ्यो एव उनके अर्थके सबधमें स्पष्ट धारणा बनायें और जो समस्या स्पष्टत ही भारतके सारे लबे इतिहासमें अपना ठीक हल नही पा सकी, उसकी अतर्निहित प्रवृत्तियो और सिद्धातोको हृदयगम करे। और सर्वप्रथम, यदि किसी जाति और सभ्यताकी महानता-का मूल्य उसकी सैनिक आक्रमणकारिता, उसकी विदेश-विजयके मापदड, अन्य राष्ट्रोंके साथ युद्धमें उसकी सफलता तथा उसकी सगठित धन-लिप्सा और डकैतीकी प्रवृत्तियोकी विजय, राज्य-विस्तार और शोषणके लिये उसके अदम्य आवेगके द्वारा आका जाना हो तो यह स्वी-कार करना पडेगा कि जगत्की महान् जातियोंकी सूचीमें भारत शायद सबसे नीचे स्थान पायेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत अपनी सीमाओंके परे आक्रमणके द्वारा सैनिक और राजनीतिक विस्तार करनेके लिये कभी प्रेरित नही हुआ, भारतीय सफलताके इतिहासमें

विश्व-प्रभुत्वका कोई भी महान् शास्त्र, सुदूरव्यापी आक्रमण या विस्तारशील औपनिवेशिक साम्राज्यकी कोई भी महान् कथा कभी नहीं लिखी गयी। जिस विस्तार, आक्रमण और विजयके लिये उसने एकमात्र महान् प्रयास किया वह था अपनी संस्कृतिका विस्तार तथा बौद्ध विचारके द्वारा और अपनी आध्यात्मिकता, कला तथा विचार-शक्तियोंके प्रवेशके द्वारा पूर्वीय जगत्पर आक्रमण एवं विजय। और यह युद्धका नहीं बल्कि शान्तिका आक्रमण था, क्योंकि बल-प्रयोग एवं भौतिक विजयके द्वारा, जो आधुनिक साम्राज्यवादकी मिथ्या बड़ाई या छल है, आध्यात्मिक सभ्यताका प्रसार करना उसके मन और स्वभावकी प्राचीन पद्धतिके तथा उसके धर्मके आधारभूत विचारके विपरीत होता। निःसंदेह उपनिवेश बसानेवाले अभियानोंकी एक शृंखला भारतीय रक्त और भारतीय संस्कृतिको द्वीपमय सागर (Archipelago) के द्वीपांतर ले गयी, परंतु पूर्वीय और पश्चिमी दोनों तटोंसे जिन जहाजोंने प्रस्थान किया वे कोई ऐसे आक्रमणात्मक जहाजी बेड़े नहीं थे जिनका उद्देश्य उन सीमांतवर्ती देशोंको भारतीय साम्राज्यमें मिला लेना हो, बल्कि वे उन निर्वासितों या साहसिक कार्य करनेवालोंके थे जो उस युगकी सभ्यताविहीन जातियोंके लिये भारतीय धर्म, स्थापत्य, कला, काव्य, विचार, जीवन तथा आचार-रीतियोंको अपने संग ले गये। साम्राज्यके, यहांतक कि जगत्-साम्राज्यके विचारका भी भारतीय मनमें सर्वथा अभाव हो ऐसी बात नहीं थी, पर उसका जगत् था भारतीय जगत् तथा उसका उद्देश्य था इसकी जातियोंकी साम्राजीय एकत्वकी स्थापना।

यह विचार, इस आवश्यकताका बोध, इसकी पूर्तिके लिये सतत आवेग भारतीय इतिहासकी संपूर्ण परंपरामें स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होता है। ये विचार आदि प्राचीनतर वैदिक युगसे आरंभ हुए और रामायण तथा महाभारतकी परंपराओंद्वारा एवं मौर्य तथा गुप्त वंशीय चक्रवर्ती सम्राटोंके प्रयत्नसे सूचित दीर्घतापूर्ण कालमेंसे होते हुए मुगल एकीकरण तथा पेशवाओंकी अंतिम महत्त्वाकांक्षातक बराबर बने रहे जबतक कि यह उद्देश्य अंतिम रूपसे असफल ही नहीं हो गया तथा सभी संघर्षरत शक्तियां विदेशी जूएके नीचे एक ही स्तरपर नहीं पहुंच गयीं अर्थात् एक स्वतंत्र जातिके स्वतंत्र ऐक्यके स्थानपर एकसमान परतंत्रताकी शिकार नहीं हो गयीं। तब प्रश्न यह है कि क्या एकीकरणकी प्रक्रियाकी मंदता, कठिनाई और अस्थिर गतिविधियोंका तथा सुदीर्घ प्रयत्नकी विफलताका कारण यह था कि भारतवासियोंकी सभ्यता या राजनीतिक चेतना एवं योग्यतामें किसी प्रकारकी मौलिक दुर्बलता थी अथवा इस सबके मूलमें कोई और ही शक्तियां काम कर रही थीं। भारतवासियोंकी एक होनेकी अयोग्यता तथा उनमें एक राष्ट्रीय देशभक्तिके अभावके संबंधमें—कहा जाता है कि देशभक्ति तो उनमें केवल अब ही पश्चिमी संस्कृतिके प्रभावसे पैदा हो रही है—और धर्म तथा जातिके द्वारा उनपर थोपे गये भेदोंके बारेमें बहुत कुछ कहा और लिखा गया है। इन प्रतिकूल आलोचनाओंकी बातको यदि इनकी पूर्ण मात्रामें स्वीकार कर लिया जाय—इनमेंसे सभी न तो पूर्णतः सत्य हैं न ठीक रूपमें वर्णित की गयी हैं और न सभी इस विषयपर अपरिहार्य

रूपमें लागू ही हो सकती है,—तो भी ये केवल बाह्य लक्षण हैं और इनसे अधिक गहरे कारणोंकी खोज करना अभी बाकी ही है।

इनके प्रतिवादके लिये साधारणत जो उत्तर दिया जाता है वह यह है कि भारत वस्तुत एक महाद्वीप है जो लगभग यूरोप जितना ही बडा है और जिसमें बहुत अधिक जातिया निवास करती हैं और अतएव समस्याकी कठिनाइया भी उतनी ही बडी या, कम-से-कम, सख्यामें लगभग उतनी ही अधिक रही हैं। और तब यूरोपकी एकताका विचार जो अभी-तक आदर्शके स्तरपर विद्यमान एक निष्प्रभाव कल्पना ही रह गया है और जिसे क्रियात्मक रूपमें सिद्ध करना आजतक असभव ही रहा है, वह यदि पश्चिमी सभ्यताकी अक्षमताका या यूरोपीय जातियोंकी राजनीतिक अयोग्यताका प्रमाण नही है तो भारतीय जातियोंके इतिहासमें एकता या कम-से-कम एकीकरणके जिस अत्यधिक स्पष्ट आदर्शका, उसकी सिद्धिके लिये अनवरत प्रयत्न करने तथा पुन-पुन उसके सफलताके निकट पहुचनेका प्रमाण पाया जाता है उसपर मूल्योंकी भिन्न प्रणालीका प्रयोग करना न्यायसगत नही है। इस तर्कमें कुछ बल अवश्य है, पर इसका स्वरूप पूर्णत सगत नही है, क्योंकि भारत और यूरोपमें जो सादृश्य दिखलाया गया है वह बिलकुल ही पूर्ण नही है और दोनोंकी अवस्थाए बिलकुल एक ढगकी नही थी। यूरोपकी जातिया ऐसी जातिया है जो अपने सामुदायिक व्यक्तित्वमें एक-दूसरीसे अत्यत तीव्र रूपमें भिन्न हैं और ईसाई धर्ममें उनकी आध्यात्मिक एकता या यहातक कि एक सर्व-सामान्य यूरोपीय सभ्यतामें उनकी सास्कृतिक एकता, जो कभी भी उतनी वास्तविक और पूर्ण नही थी जितनी भारतकी प्राचीन आध्यात्मिक एव सास्कृतिक एकता थी, उनके जीवनका वास्तविक केंद्र भी नही थी, उनके अस्तित्वका आधार या दृढ भित्ति नहीं थी, उनकी आश्रय-भूमि नही थी, थी केवल उनकी सामान्य भाव-भगिमा या पारिपार्श्विक वातावरण। उनके अस्तित्वका आधार राजनीतिक और आर्थिक जीवनमें निहित था जो प्रत्येक देशमें तीव्र रूपसे पृथक्-पृथक् था, और पाश्चात्य मनमें राजनीतिक चेतनाका जो प्राबल्य था ठीक उसीने यूरोपको विभक्त एव सदा लडते रहनेवाले राष्ट्रोंका एक समूह बनाये रखा। आज सपूर्ण यूरोपमें राजनीतिक आदोलनोंका पारस्परिक सपर्क बढता जा रहा है और आर्थिक दृष्टिसे वह अब पूर्णरूपेण परस्पर-निर्भर बन गया है। इन दोनो बातोंने ही आखिर वहा किसी प्रकारकी एकताको तो नही पर एक उदीयमान एव अभीतक निष्प्रभाव राष्ट्रसघ (League of Nations) को जन्म दिया है[1] जो युगव्यापी पृथक्तावादसे उत्पन्न मनोवृत्तिको यूरोपीय जातियोंके सर्वसामान्य स्वार्थोंपर लागू करनेकी व्यर्थमें ही चेष्टा कर रहा है। परतु भारतमें अत्यत

[1]स्मरण रहे कि यह लेखमाला प्रथम महायुद्धके पश्चात्, १५ दिसबर सन् १९१८ से १५ जनवरी १९२१ के बीच, लिखी गयी थी जब राष्ट्रसघ (League of Nations) का हालमें ही जन्म हुआ था।—अनुवादक

प्राचीन कालमें ही आध्यात्मिक और सांस्कृतिक एकता पूर्णरूपेण स्थापित हो चुकी थी और हिमालय तथा दो (अरब और बंग) समुद्रोंके बीच अवस्थित इस समस्त महान् जन-धारा भागके जीवनका वास्तविक उपादान ही बन गयी थी। प्राचीन भारतकी जातियां कभी भी ऐसी विभिन्न जातियां नहीं थीं जो एक पृथक् राजनीतिक एवं आर्थिक जीवनके द्वारा एक-दूसरीसे तीव्रतया विभक्त हों बल्कि इससे कहीं अधिक वे एक महान् आध्यात्मिक और सांस्कृतिक राष्ट्रकी उपजातियां थीं—ऐसे राष्ट्रकी जो स्वतः ही भौतिक रूपमें समुद्रों और पर्वतोंके द्वारा अन्य देशोंसे दृढ़तया पृथक् था और भिन्न होनेकी अपनी तीव्र भावना तथा अपने विलक्षण सार्वजनीन धर्म और संस्कृतिके द्वारा अन्य जातियोंसे भी दृढ़तया पृथक् था। अतएव इसका क्षेत्रफल चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो और क्रियात्मक कठिनाइयां चाहे कितनी ही अधिक क्यों न हों तो भी राजनीतिक एकताका निर्माण उससे अधिक सुगमताके साथ संपन्न हो जाना चाहिये था जितनी सुगमतासे कि यूरोपकी एकता संभवतः साधित हो सकती थी। इस विषयकी असफलताका कारण अधिक गहराईमें जाकर ढूंढ़ना होगा और हम देखेंगे कि इस समस्याको जिस रूपमें दृष्टिके सामने रखा गया या रखा जाना चाहिये था और ऐक्य-प्राप्तिके प्रयत्नको वस्तुतः जो मोड़ दिया गया उन दोनोंमें असंगति ही असफलताका कारण थी और एकताके प्रयत्नको जो मोड़ दिया गया वह तो जातिकी विशिष्ट मनोवृत्तिका ही विरोधी था।

भारतीय मनका संपूर्ण आधार है इसका आध्यात्मिक एवं अन्तर्मुख झुकाव, आत्म-तत्त्व और अन्तःसत्ताकी वस्तुओंको प्रथम और प्रधान रूपमें खोजना तथा अन्य सभी वस्तुओंको इस रूपमें देखनेकी इसकी प्रवृत्ति कि वे गौण एवं पराधीन हैं, तदनन्तर ज्ञानके प्रकाशमें ही स्वत हुए और निर्मित करनेके साध्य हैं और गभीरतर आध्यात्मिक सत्यकी एक अभिव्यक्ति हैं उसका आरम्भिक साधन या क्षेत्र या सहायक उपकरण अथवा कम-से-कम एक सहभागी तत्त्व हैं—अतएव इस जो कुछ निर्मित करना हो उसे पहले आन्तरिक स्तरपर और बादमें ही उसके अन्य पहलुओंमें निर्मित करनेकी प्रवृत्ति। यह मनोवृत्ति और इसके परिणामस्वरूप अन्दरसे बाहरकी ओर निर्माण करनेकी इस प्रवृत्तिको स्वीकार करते हुए, यह अनिवार्य ही था कि भारत सबसे पहले जिस ऐक्यको अपने लिये निर्मित करे वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक एकता ही हो। सर्वप्रथम वह कोई ऐसा राजनीतिक एकीकरण नहीं हो सकता था जो एक विजयी राज्यके द्वारा या सैनिक एवं संघटनकारी जातिकी प्रतिभाके द्वारा एक केंद्रीभूत आरोपित या निर्मित बाह्य शासनकी सहायतासे साधित किया गया हो जैसा कि रोम या प्राचीन फारसमें किया गया था। मेरे विचारमें यह उचित रूपमें नहीं कहा जा सकता कि यह भारतीय मनकी एक भूल थी अथवा यह उसकी अव्यावहारिक प्रवृत्तिका एक प्रमाण था और उसे अपना राजनीतिक संगठन निर्माण पहले करना चाहिये था और बादमें भारतके राष्ट्रीय साम्राज्यके विशाल संगठनमें आध्यात्मिक एकता सुरक्षित रूपमें

विकसित हो सकती थी। आरभमें जो समस्या उपस्थित थी वह यह थी कि एक विशाल भूभाग विद्यमान था जिसपर शताधिक राज्य, कुल, समाज, कबीले और जातियां निवास करती थी, और जो इस बातमें एक दूसरा यूनान ही था, बल्कि यूनान भी एक बहुत बडे पैमानेपर, लगभग आधुनिक यूरोप जितना ही विशाल। जिस प्रकार यूनानमें एकत्वकी मूल भावना उत्पन्न करनेके लिये सास्कृतिक, यूनानी (Hellenic) एकता आवश्यक थी, उसी प्रकार यहा भी तथा उससे कही अधिक अनिवार्य रूपमे इन सब जातियोकी एक सचेतन आध्यात्मिक एव सास्कृतिक एकता पहली और अपरिहार्य शर्त थी जिसके बिना कोई भी स्थायी एकता सभव नही हो सकती थी। इस विषयमे भारतीय मनकी और भारतके महान् ऋषियो तथा उसकी सस्कृतिके सस्थापकोकी सहजप्रवृत्ति सर्वथा युक्तियुक्त थी। और चाहे हम यह मान भी ले कि प्राचीन भारतकी ,जातियोमें सैनिक और राजनीतिक साधनोके द्वारा रोमन जगत्‌की एकता जैसी बाह्य साम्राजीय एकता स्थापित की जा सकती थी तो भी हमे यह नही भूल जाना चाहिये कि रोमन एकता स्थायी नही रही, यहातक कि रोमन विजय और सगठनके द्वारा स्थापित प्राचीन इटलीकी एकता भी स्थायी नही रही, और यह सभव नही था कि पहलेसे आध्यात्मिक एव सास्कृतिक आधार स्थापित किये बिना भारतके विशाल क्षेत्रोमें इस प्रकारका प्रयत्न स्थायी रूपमे सफल होता। भले ही यह दृढतापूर्वक कहा जाय कि आध्यात्मिक एव सास्कृतिक एकतापर अत्यत अनन्य या अतिरजित रूपमें बल दिया गया है और राजनीतिक एव बाह्य एकतापर बहुत ही कम आग्रह किया गया है तथापि यह भी नही कहा जा सकता कि इस तरह प्रधानता देनेका परिणाम केवल अनिष्टकारी ही हुआ है और इसका लाभ कुछ भी नही हुआ है। इस मौलिक विशिष्टता तथा इस अमिट आध्यात्मिक छापके कारण, समस्त विभिन्नताओके बीच इस आधारभूत एकत्वके विद्यमान रहनेके कारण ही, भारत यद्यपि राजनीतिक दृष्टिसे अभी एक अखड सघटित राष्ट्र नही है तो भी वह अभीतक जीवित है और अभीतक भारत ही है।

आखिरकार, आध्यात्मिक एवं सास्कृतिक एकता ही एकमात्र स्थायी एकता है और एक स्थायी भौतिक शरीर तथा बाह्य सगठनकी अपेक्षा कही अधिक एक सुस्थिर मन और आत्माके द्वारा ही किसी जातिकी अतरात्मा जीवित रहती है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे समझने या स्वीकार करनेके लिये पाश्चात्य मन अनिच्छुक हो सकता है और फिर भी इसके प्रमाण युगोकी सपूर्ण कहानीके अदर सर्वत्र लिखे पडे हैं। भारतके समकालीन प्राचीन राष्ट्र और बहुतसे उसकी अपेक्षा अर्वाचीन राष्ट्र भी मर चुके हैं और केवल उनके स्मारक चिह्न ही उनके पीछे बच रहे है। यूनान और मिस्र केवल नक्शेपर और नामभरके लिये ही अस्तित्व रखते हैं, क्योकि आज हम एथेन्स या काहिरामें जो चीज देखते हैं वह हेलस (Hellas) की अतरात्मा, या मेम्फीज (Memphis) का निर्माण करनेवाली गभीरतर राष्ट्रीय आत्मा

नहीं है। रोमने भूमध्यसागरके आसपास रहनेवाली जातियोंपर राजनीतिक एवं निरी बाह्य सांस्कृतिक एकता थोपी थी परंतु उनमें जीवंत आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता वह उत्पन्न नहीं कर सका और इसलिये पूर्व पश्चिमसे अलग हो गया अधिकांश मध्यवर्ती सम्मिश्र रोमन शासनकी कोई भी छाप बची नहीं रहने दी और यहांतक कि पश्चिमी राष्ट्र जो अभी तक लैटिन राष्ट्र कहलाते हैं बर्बर आक्रांताओंका कार्य जीवंत प्रतिरोध नहीं कर सके और उन्हें आधुनिक इटली स्पेन और फ्रांस बननेके लिये विदेशी जीवनी-शक्तिसे संचारित होकर पुनः जन्म लेना पड़ा। परंतु भारत अभीतक जीवित है और युगोंके भारतके साथ अपने आंतरिक मन अंतरात्मा और आत्माके अविच्छिन्न संबंधको सुरक्षित रखे हुए है। उस के वैदिक ऋषियोंने उसके लिये जो शरीर बनाया था उसमेंसे उसकी प्राचीन आत्माको निकाल बाहर करने या कुचल डालनेमें आक्रमण और विदेशी शासन यूनानी पार्थियन और हूण इस्लामकी दुर्धर्ष शक्ति स्टीम रोलर (Steam roller) के जैसा ब्रिटिश आधिपत्य और ब्रिटिश राज्यप्रणालीका भारी भरकम बोझ पश्चिमका गुरुतर दबाव—ये सब असमर्थ हुए हैं। प्रत्येक पगपर प्रत्येक संकट आक्रमण और स्वेच्छाचारी शासनके समय वह सक्रिय या निष्क्रिय प्रतिरोधके द्वारा मुकाबला करने और जीवित बच रहनेमें समर्थ हुआ है। और यह कार्य वह अपने महान् दिनोंमें अपनी आध्यात्मिक एकसूत्रताके तथा आत्मसात्करण और प्रतिक्रियाकी शक्तिके द्वारा करनेमें समर्थ हुआ जो कुछ भी आत्मसात् होने योग्य नहीं था उस सबको उसने बहिष्कृत कर डाला जो कुछ बहिष्कृत नहीं किया जा सकता था उस सबको आत्मसात् कर लिया और ह्रासका आरंभ होनेके बाद भी वह उसी शक्तिके द्वारा जीवित रह सका जो कम तो हो गयी थी पर नष्ट नहीं की जा सकी थी उसने पीछे हटकर कुछ समयतक दक्षिणमें अपनी प्राचीन राजनीतिक प्रणालीको सुरक्षित रखा इस्लामका दबाव पड़नेपर अपनी प्राचीन आत्मा और अपनी भावनाकी रक्षा करनेके लिये राजपूतों सिक्खों और मराठोंका मन उत्पन्न कर दिया जहां वह सक्रिय रूपसे प्रतिरोध नहीं कर सका वहां निष्क्रिय रूपमें डटा रहा जो भी साम्राज्य उसकी पहेलीका समाधान नहीं कर सका या उस के साथ समझौता नहीं कर सका उसे विध्वस्त हो जानेका दंड दे दिया और बराबर अपने पुनरुज्जीवनके दिनकी प्रतीक्षा करता रहा। और आज भी हम अपनी आंखोंके सामने इसी प्रकारके दृश्यको घटित होते देख रहे हैं। और तब भला जो सभ्यता ऐसा चमत्कार कर सकी उसकी सर्वातिशायी जीवन-शक्तिके बारेमें हम क्या कहेंगे तथा उन लोगोंकी बुद्धि मत्ताके बारेमें क्या कहेंगे जिन्होंने उसकी आधारशिलाको बाह्य वस्तुओंपर नहीं बल्कि आत्मा और आंतरिक मनपर स्थापित की और आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकताको भारतकी सत्ता का केवल मधुर कुसुम नहीं बरन् इसकी सत्ताका मूल और तना बनाया ऊपरकी नश्वर रचना नहीं बरन् सनातन भित्ति बनाया?

परंतु आध्यात्मिक एकता एक विशाल एवं नमनशील वस्तु है और वह राजनीतिक एवं

बाह्य एकताकी भांति केंद्रीकरण तथा एकरूपतापर आग्रह नहीं करती, वरंच वह राष्ट्रके सस्थानमें सर्वत्र व्याप्त हुई रहती है और जीवनकी अत्यधिक विविधता और स्वतंत्रताके लिये सहज ही अवकाश देती है। यहां हम प्राचीन भारतमें एकता स्थापित करनेकी समस्याकी कठिनाईके रहस्यका यत्किंचित् उल्लेख करेंगे। यह एक ऐसे केंद्रीभूत एकरूप साम्राजीय राज्यके साधारण साधनके द्वारा साधित नहीं की जा सकती थी जो स्वच्छंद विभिन्नता, स्थानीय स्वायत्त शासनों तथा सुप्रतिष्ठित सामुदायिक स्वाधीनताओंका समर्थन करनेवाली सभी वस्तुओंको कुचल डाले, और इस दिशामें जब-जब भी प्रयत्न किया गया तब-तब वह प्रतीयमान सफलताकी चाहे कितनी भी लंबी अवधिके बाद विफल ही हो गया, और हम यहांतक कह सकते हैं कि भारतकी भवितव्यताके रक्षकोंने बुद्धिमत्तापूर्वक ही उसे विफल होनेके लिये विवश किया ताकि इसकी आभ्यंतरिक आत्मा नष्ट न हो जाय और इसकी अंत-रात्मा अस्थायी सुरक्षाके इजनके बदलेमें अपने जीवनके गंभीर स्रोतोंको न बेच डाले। भारत-के प्राचीन मनको अपनी आवश्यकताका सहजज्ञान था, साम्राज्यके विषयमें उसका विचार यह था कि यह एक ऐसा एकीकारक शासन होना चाहिये जो प्रत्येक वर्तमान प्रादेशिक एवं सामाजिक स्वाधीनताका सम्मान करे तथा किसी भी जीवित स्वायत्त-शासनको अनावश्यक रूपसे कुचल न डाले और जो भारतका यांत्रिक एकत्व नहीं वरन् इसके जीवनका समन्वय साधित करे। आगे चलकर वे अवस्थाएं लुप्त हो गयीं जिनमें ऐसा समाधान सुरक्षित रूपसे विकसित होकर अपना सच्चा साधन, आकार और आधार प्राप्त कर सकता था, और इसके स्थानपर एक ही प्रशासनिक साम्राज्य स्थापित करनेका यत्न किया गया। वह प्रयास तात्का-लिक और बाह्य आवश्यकताके दबावसे परिचालित हुआ तथा अपनी महानता और तेजस्वि-ताके होते हुए भी पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त कर सका। वह सफल हो भी नहीं सकता था क्योंकि उसने एक ऐसी दिशाका अनुसरण किया जो, अंतत, भारतीय भावनाके वास्तविक झुकावके साथ संगत नहीं थी। हम देख ही चुके हैं कि भारतीय राजनीतिक-सामाजिक प्रणालीका मूलभूत सिद्धांत था—सामुदायिक स्वायत्त-शासनों, अर्थात् ग्रामके, नगर और राज-धानीके, जाति, निगम, कुल, धार्मिक समाज एवं प्रादेशिक इकाईके स्वायत्त शासनोंका सम-न्वय। राष्ट्र या राज्य या संघबद्ध गणराज्य इन स्वायत्त-शासनोंको एक सूत्रमें आबद्ध करके स्वतंत्र तथा जीवंत सुघटित प्रणालीमें समन्वित करनेका एक साधन था। सर्वप्रधान समस्या यह थी कि फिर इन राज्यों, जातियों और राष्ट्रोंमें एकता लाते हुए पर इनके स्वा-यत्त-शासनका सम्मान करते हुए इन्हें एक विशालतर स्वतंत्र एवं जीवंत संस्थानके रूपमें कैसे समन्वित किया जाय। एक ऐसे शासनतंत्रकी खोज निकालना आवश्यक था जो अपने सदस्योंमें शांति और एकताको बनाये रखे, बाह्य आक्रमणके विरुद्ध सुरक्षाकी सुनिश्चित व्यव-स्था करे और, अपनी एकता तथा विविधतामें, अपनी सभी अंगभूत सामुदायिक एवं प्रादेशिक इकाइयोंके अप्रतिहत और सक्रिय जीवनमें, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिकी अंतरात्मा और

देहके तथा बृहत् और पूर्ण परिमाणमें धर्मके क्रियान्वयनके उन्मुक्त विकास एवं विकासको एक सर्वांगीण रूप प्रदान करे।

भारतका प्राचीनतर मन प्रस्तुत समस्याका यही अर्थ समझता था। परवर्ती युगके प्रशासनिक साम्राज्यने इस केवल आंशिक रूपमें ही स्वीकार किया परंतु उसकी प्रवृत्ति जैसी कि केंद्रीकारक प्रवृत्ति सदा ही हुआ करती है, यह थी कि अधीनस्थ स्वायत्त-शासनोंकी शक्तिको यदि सक्रिय रूपमें नष्ट न भी किया जाय तो भी अत्यंत धीमे-धीमे और अचेतन से रूपमें उसे क्षीण और जर्जर तो कर ही दिया जाय। परिणाम यह हुआ कि जब कभी केंद्रीय सत्ता कमजोर हुई प्रादेशिक स्वायत्त-शासनके सुदृढ़ सिद्धांतने जो भारतके जीवनके लिये अत्यावश्यक था सुस्थापित कृत्रिम एकताको हानि पहुंचाकर फिरसे अपना अधिकार जमा लिया पर उसने जैसा कि उसे करना चाहिये था इस बातके लिये यत्न नहीं किया कि संपूर्ण जीवन सुसमंजस रूपमें सबल हो जाय तथा अधिक स्वतंत्रतापूर्वक पर फिर भी संयुक्त होकर कार्य करता रहे। चक्रवर्ती राज्यकी प्रवृत्ति भी स्वतंत्र व्यवस्थापिका-सभाओंकी शक्तिको अवरोधित करनेकी ओर ही थी और इसका परिणाम यह हुआ कि सामुदायिक इकाइयां संयुक्त बलके अंग होनेके बदले पृथग्भूत और विभाजक तत्त्व बन गयीं। ग्राम-समाजने अपनी शक्तिको कुछ-कुछ सुरक्षित रखा परन्तु सर्वोच्च शासन-सत्ताके साथ उसका कोई जीवंत संबंध नहीं रहा और, विलास्तर राष्ट्रीय भावनाको खोकर वह किसी भी स्वदेशी या विदेशी शासनको जो उसके अपने आत्म-निर्भर संकीर्ण जीवनका सम्मान करता हो स्वीकार करनेको उद्यत रहता था। धार्मिक समाज भी इसी भावनाके रंगमें रंग गये। जातियां किसी वास्तविक आवश्यकताके बिना किंवा देशकी आध्यात्मिक या आर्थिक आवश्यकताके साथ कोई सच्चा संबंध रखे बिना मोहरी बढ़ती चली गयीं और केवल असंख्य एवं जड़ विभाजन बन गयीं अब वे जैसी कि वे मूल रूपमें थी समग्र जीवन-समन्वयके सुसमंजस कार्य-निर्वाहके साधन न रहकर एक पृथक् करनेवाली शक्ति बन गयीं। यह बात सत्य नहीं है कि प्राचीन भारतमें जाति-भेद लोगोंके संयुक्त जीवनमें बाधक थे या वे पीछेके समयमें भी राजनीतिक कलह और फूट पैदा करनेवाली एक सक्रिय शक्ति थे—निःसंदेह अंतमें आकर चरम अव नतिके समय और विशेषकर मराठा राज्यमण्डलके परवर्ती इतिहासके समय वे ऐसे ही हो गये परंतु वे सामाजिक विभाजन और गतिहीन उपविभागवादकी एक ऐसी निष्क्रिय शक्ति अवश्य बन गये जो सक्रिय रूपसे संयुक्त स्वतंत्र जीवनके पुनर्निर्माणमें बाधा डालती थी।

जाति-प्रथाके साथ जो-जो भी बुराइयां जुड़ी हुई थी वे सबकी सब मुस्लिम आक्रमणोंसे पहले किसी प्रबल रूपमें प्रकट नहीं हुई थी परंतु अपने आरंभिक रूपमें वे अवश्य पहलेसे ही विद्यमान रही होंगी और पठान तथा मुगल साम्राज्यद्वारा उत्पन्न अवस्थाओंमें वे तजीत हो गयीं। य बादकी साम्राज्य प्रणालियां चाहे कितनी ही भव्य और शक्तिशाली क्यों न हो अपने तानाशाही स्वरूपके कारण केंद्रीकरणकी बुराइयोंकी अपनेसे पहलेकी राज्यप्रणालियोंकी

अपेक्षा भी अधिक विचार रही और भारतके प्रादेशिक जीवनकी कृत्रिम एकात्मक शासन (Unitarian regime) के विरुद्ध अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी उसी प्रवृत्तिके कारण निरंतर छिन्न-भिन्न होती रही, जब कि जनताके जीवनके साथ कोई सच्चा, जीवत और स्वतंत्र संबंध न होनेके कारण ये उस सार्वजनीन देशभक्तिको उत्पन्न करनेमें असमर्थ सिद्ध हुईं जो इन्हें विदेशी आक्रांताके विरुद्ध सफल रूपमें सुरक्षित रखती। और इन सबके अंतमें आया है एक यांत्रिक पश्चिमी शासन जिसने अबतक विद्यमान सभी सामुदायिक या प्रादेशिक स्वायत्त-शासनोंको कुचल डाला है और उनके स्थानपर मशीनकी निर्जीव एकता स्थापित कर दी है। परन्तु फिर इसके विरुद्ध एक प्रतिक्रियाके रूपमें हम उन्हीं प्राचीन प्रवृत्तियोंको पुनरुज्जीवित होते देख रहे हैं, वे हैं---भारतीय जातियोंके प्रादेशिक जीवनके पुनर्निर्माणकी प्रवृत्ति, जाति और भाषाके सच्चे उपविभाजनोंपर आधारित प्रांतीय स्वायत्त-शासनकी मांग, विलुप्त ग्राम-समाजको राष्ट्र-शरीरके स्वाभाविक जीवनके लिये आवश्यक एक सजीव इकाई मानते हुए उसके आदर्शकी ओर भारतीय मनका प्रत्यावर्तन, और भारतीय जीवनके लिये उपयुक्त सामुदायिक आधारके विषयमें एक अधिक ठीक विचार जो अभीतक पुन प्रादुर्भूत तो नहीं हुआ पर अधिक उन्नत मनवाले लोगोंको अस्पष्ट रूपमें अपनी झलक दिखाना आरभ कर रहा है, तथा एक आध्यात्मिक आधारपर भारतीय समाज और राजनीतिका पुनर्नवीकरण और पुनर्निर्माण।

अतएव, भारतकी एकता साधित करनेमें जो असफलता प्राप्त हुई, जिसके परिणामस्वरूप पहले तो इसपर आक्रमण होते रहे और अतमें इसे विदेशी शासनके अधीन होना पड़ा, उसका कारण यह था कि यह कार्य अत्यत विस्तृत और साथ ही निराले ढंगका था, क्योंकि केंद्रीभूत साम्राज्यकी सुगम प्रणाली भारतमें सच्चे अर्थमें सफल नहीं हो सकी, जब कि फिर भी यही एकमात्र सभव उपाय प्रतीत होती थी और इसका पुन-पुन प्रयोग किया गया तथा उसमें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई जिससे उस समय एव दीर्घ कालतक ऐसा जान पड़ा कि यह एक समुचित उपाय है, पर अंतमें सदा असफलता ही हाथ लगी। इस बातकी ओर मैं संकेत कर ही चुका हूं कि भारतका प्राचीन मन इस समस्याके वास्तविक स्वरूपको अधिक अच्छी तरह समझता था। वैदिक ऋषियों और उनके उत्तराधिकारियोंने अपना प्रधान कार्य यही बनाया था कि भारतीय जीवनका आध्यात्मिक आधार स्थापित किया जाय और इस प्रायद्वीपकी अनेकानेक जातियोंको आध्यात्मिक एव सांस्कृतिक एकताके सूत्रमें पिरोया जाय। परतु राजनीतिक एकीकरणकी आवश्यकताकी ओरसे उन्होंने आखें नहीं मूद रखी थीं। उन्होंने आर्य जातियोंके कुल-जीवनकी विभिन्न आकारोंवाले राज्यसघों तथा राज्यमडलोंके, वैराज्य और साम्राज्यके अधीन सगठित होनेकी अटल प्रवृत्तिका निरीक्षण किया और देखा कि इस धाराका इसके पूर्ण परिणामतक अनुसरण करना ही ठीक मार्ग है और अतएव उन्होंने चक्रवर्ती राजाके, अर्थात् एक ऐसे एकीकारक साम्राजीय शासनके आदर्शका विकास किया जो एक

समुद्रसे दूसरे समुद्रतक भारतके अनेक राज्यों और जातियोंके स्वायत्त-शासनको ध्वस्त किये बिना उन्हें एक कर दे। इस आदर्शका उद्बोधन भारतीय जीवनकी अन्य प्रत्येक वस्तुकी भांति आध्यात्मिक एवं धार्मिक स्वीकृतिके द्वारा समर्थित किया, इसके बाह्य प्रतीकके रूपमें अश्वमेध और राजसूय यज्ञोंका आदर्श स्थापित किया और यह निश्चित कर दिया कि शक्तिशाली राजाका धर्म किंवा उसका राजोचित और धार्मिक कर्तव्य यह है कि वह इस आदर्शकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करे। धर्म उसे इस बातकी अनुमति नहीं देता था कि वह अपने शासनके अधीन होनेवाली जातियोंकी स्वतंत्रताका अपहरण करे अथवा उनके राजवंशोंको सिंहासनसे च्युत या विनष्ट कर दे या उनके शासकोंके स्थानपर अपने पदाधिकारियों एवं शासकोंको आसीन कर दे। उसका कर्तव्य एक ऐसी सर्वोपरि सत्ताकी स्थापना करना था जो इतनी काफी सैनिक शक्तिसे युक्त हो कि आन्तरिक शांतिकी रक्षा कर सके और आवश्यकता पड़नेपर देशकी संपूर्ण सैन्य-शक्तियोंको समवेत कर सके। और इस प्राथमिक कर्तव्यमें पीछेसे यह आदर्श भी जोड़ दिया गया कि एक शक्तिशाली ऐक्यसाधक सत्ताके अधीन भारतीय धर्मका पूर्णतया पालन कराया जाय तथा उसकी रक्षा की जाय और भारतकी आध्यात्मिक धार्मिक नैतिक एवं सामाजिक संस्कृति अपना कार्य यथावत् करती रहे।

इस आदर्शका पूर्ण विकास हमारे उत्कृष्ट महाकाव्योंमें दृष्टिगोचर होता है। महाभारत ऐसे साम्राज्य अर्थात् धर्मराज्यकी स्थापनाके काल्पनिक या संभवतः ऐतिहासिक प्रयत्नका लेखा है। यहां इस आदर्शको ऐसे अलंघ्य एवं सर्वमान्य रूपमें चित्रित किया गया है कि उद्दंड शिशुपालको भी इस आधारपर कि युधिष्ठिर एक धर्म-निर्दिष्ट कार्य कर रहे हैं उनके राजसूय यज्ञमें निज प्रेरणासे भाग लेते और अधीनता स्वीकार करते दिखाया गया है। और रामायणमें हमें ऐसे धर्मराज्य सुप्रतिष्ठित विश्वसाम्राज्यका एक आदर्शात्मक चित्र मिलता है। यहां भी जिस राज्यप्रणालीको आदर्शके रूपमें प्रस्थापित किया गया है वह कोई तानाशाही निरंकुश शासन नहीं बल्कि एक ऐसा सार्वभौमिक राजतंत्र है जिसे नगरों और प्रांतोंकी तथा सभी वर्गोंकी स्वतंत्र व्यवस्थापिका-सभाका समर्थन प्राप्त है अर्थात् यह राजतन्त्रात्मक राज्यका ही एक विस्तार है जो भारतीय राज्यप्रणालीके सामुदायिक स्वायत्त-शासनको समन्वित करता और धर्मके नियम एवं संविधानकी रक्षा करता है। विजयके जिस आदर्शकी यहां स्थापना की गयी है वह कोई ऐसा विनाशकारी एवं उत्पात करनेवाला आक्रमण नहीं है जो विजित जातियोंकी मौलिक स्वतंत्रता तथा राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओंको विनष्ट कर दे तथा उनकी आमदनीके साधनोंका शोषण कर डाले बल्कि यह तो एक प्रकारकी ससीम प्रगति है जिसमें सैनिक शक्तिकी परीक्षा की जाती थी और उस परीक्षाका परिणाम आसानीसे स्वीकार कर लिया जाता था क्योंकि पराजयके कारण न तो अपमान भोगना पड़ता था और न दासता एवं कष्ट बल्कि केवल पराजितको सर्वोपरि सत्ताके साथ संयुक्त होना पड़ता था जिससे उसकी शक्तिमें वृद्धि ही होती थी और उस सर्वोपरि सत्ताका उद्देश्य केवल राष्ट्र और

धर्मकी प्रत्यक्ष एकता स्थापित करना ही होता था। प्राचीन ऋषियोंका आदर्श स्पष्ट ही है, तथा भारतभूमिकी विभक्त और परस्पर लड़ती हुई जातियोंको एकतामें बांधनेकी राजनीतिक उपयोगिता और आवश्यकता उन्होंने स्पष्ट रूपमें अनुभव कर ली थी, पर उन्होंने यह भी देख लिया था कि इसकी प्राप्ति प्रादेशिक जातियोंके स्वतंत्र जीवनकी या सामुदायिक स्वाधीनताकी बलि देकर नहीं करनी चाहिये और अतएव केंद्रीभूत राजतंत्र या कठोरत-एकात्मक साम्राजीय राज्यके द्वारा नहीं करनी चाहिये। वे जनताके मनपर जिस कल्पनाको दृढ़तया अंकित करना चाहते थे उसे (मिलते-जुलते, निकटतम) पाश्चात्य शब्दोंमें प्रकट करना चाहें तो कह सकते हैं कि वह एक सम्राट्के छत्रके अधीन एक सर्वोपरि प्रभुत्व या एक राज्यसंघकी कल्पना थी।

इस बातका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है कि यह आदर्श कभी सफलतापूर्वक चरितार्थ किया गया था, यद्यपि महाकाव्यकी परंपरा युधिष्ठिरके धर्मराज्यसे पहलेके ऐसे कई साम्राज्योंकी चर्चा करती है। बुद्धके समय और बादमें जब चंद्रगुप्त और चाणक्य प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्यका निर्माण कर रहे थे, भारतवर्षमें अभी स्वतंत्र राज्य तथा गणराज्य छाये हुए थे और सिकंदरके महान् आक्रमणका सामना करनेके लिये कोई भी एकीभूत साम्राज्य विद्यमान नहीं था। यह स्पष्ट ही है कि यदि कोई सर्वोपरि सत्ता पहलेसे विद्यमान थी, तो वह दृढ़ रूपसे स्थायी रहनेवाले किसी साधन या प्रणालीको ढूंढ निकालनेमें असफल ही रही थी। तथापि यदि इसके लिये समय मिलता तो संभवतः यह विकसित हो सकती, पर इस बीच देशकी स्थितिमें एक गुरुतर परिवर्तन आ गया जिसका अविलंब समाधान ढूंढना अत्यंत अनिवार्य हो उठा। भारतीय प्रायद्वीपकी ऐतिहासिक दुर्बलता आधुनिक कालतक सर्वदा यही रही है कि उत्तर-पश्चिमी दर्रोंके द्वारा इसपर आक्रमण करना संभव रहा है। जबतक प्राचीन भारत उत्तरकी ओर सिंधु नदीके परे दूर-दूरतक फैला हुआ था और गांधार तथा वाह्लीक देशोंके शक्तिशाली राज्य, विदेशी आक्रमणके विरुद्ध एक मजबूत किलेबंदीका काम करते थे तबतक इस दुर्बलताका नाम-निशान नहीं था। परंतु वे राज्य अब फारसके संगठित साम्राज्यके आगे ध्वस्त हो चुके थे और तबसे लेकर सिंधु-पारके देश भारतका भाग न रहनेके कारण उसके रक्षक भी नहीं रहे और इसके बजाय एकके बाद एक आनेवाले सभी आक्रांताओंके लिये सुरक्षित सैनिक-केंद्र बन गये। सिकंदरके आक्रमणने भारतके राजनीतिक मनीषियोंको संकटकी विशालता पूर्ण रूपसे अनुभव करा दी और हम देखते हैं कि उस समयसे यहांके कवि, लेखक, और राजनीतिक विचारक बराबर ही चक्रवर्ती राज्यके आदर्शको उद्घोषित करने लगे अथवा इसे चरितार्थ करनेके उपाय सोचने लगे। इसके क्रियात्मक परिणामके रूपमें तुरत ही एक साम्राज्यका उदय हुआ जिसे चाणक्यने अपनी राजनीतिज्ञताके द्वारा अद्भुत शीघ्रताके साथ स्थापित किया और जिसे, दुर्बलता तथा आरंभिक विघटनके कालोंके आनेपर भी, क्रमशः मौर्य, शुंग, कण्व, आंध्र और गुप्त राजवंशोंने आठ-नौ सदियोंतक

निरंतर कायम रखा या पुनः-पुनः प्रतिष्ठापित किया। इस साम्राज्यका इतिहास इसका आश्चर्यजनक संगठन प्रशासन और सार्वजनिक निर्माण-कार्य इसकी समृद्धता और प्रतापशाली संस्कृति तथा इसकी छत्रछायामें भारत-प्रायद्वीपके जीवनकी शक्तिशालिता तेजस्विता एवं भव्य उर्वरता इधर-उधर बिखरे-पड़े अपर्याप्त अभिलेखोंसे ही प्रकट होती है किंतु यह उन महान्से महान् साम्राज्योंकी श्रेणीमें आता है जिनकी रचना और रक्षा संसारकी महान् जातियोंकी प्रतिभाने की है। इस दृष्टिकोणसे ऐसा कोई कारण नहीं कि भारत साम्राज्य-निर्माणके क्षेत्रमें अपनी प्राचीन सफलतापर गर्व न अनुभव करे अथवा उस उतावले निर्णयके आगे शीश नवाये जो उसकी पुरातन सभ्यतामें सशक्त व्यावहारिक प्रतिभा या उच्च राजनीतिक गुणके अस्तित्वसे इन्कार करता है।

तथापि एक अपरिहार्य आवश्यकताकी पूर्तिके लिये की गयी इस साम्राज्यकी प्रथम रचना-में जिस अनिवार्य उतावली जोर-जबर्दस्ती एवं कृत्रिमतासे काम लिया गया उसके कारण इसे बहुत क्षति पहुंची क्योंकि उसने इसे प्राचीन ठोस भारतीय शैलीके अनुसार भारतके गभीरतम आदर्शके रूपके एक सुनिश्चित स्वाभाविक एवं सुस्थिर विकासके रूपमें नहीं पनपने दिया। केंद्रित साम्राजीय राजतंत्रको स्थापित करनेका प्रयत्न अपने साथ प्रादेशिक स्वायत्त-शासनोंके स्वतंत्र समन्वयको न लाकर उनके विध्वंसका कारण बना। यद्यपि भारतीय सिद्धांतके अनु-सार उनकी संस्थाओं और प्रथाओंका सम्मान किया गया और प्रारंभमें उनकी राजनीतिक संस्थाओंको भी कम-से-कम अनेक प्रदेशोंमें पूर्णतः नष्ट नहीं किया गया वरन् केवल साम्राजीय प्रणालीके अंदर सम्मिलित ही किया गया तथापि साम्राज्यके केंद्रीकरणकी छायाके तले वे वास्तविक रूपमें फल-फूल नहीं सकीं। प्राचीन भारतीय जगत्के स्वतंत्र जन-समुदाय लुप्त होने लगे उनके टूटे-फूटे उपादानोंने बादमें जाकर वर्तमान भारतीय जातियोंकी सृष्टि करनेमें सहायता की। और मेरे विचारमें मोटे तौरपर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यद्यपि महान् जन-सभाएं दीर्घकालतक शक्तिशाली बनी रहीं फिर भी अंतमें उनका कार्य अधिक यांत्रिक बनता चला गया और उनकी जीवनी-शक्ति क्षति और अवनतिको प्राप्त होने लगी। पौर नगरराज्य भी अधिकाधिक संगठित राज्य या साम्राज्यकी नगर पालिकाएं मात्र अंग बन गये। साम्राज्यके केंद्रीकरणसे उत्पन्न मानसिक अभ्यासोंने और अतीतकी अधिक गौरवपूर्ण स्वतंत्र लोक-संस्थाओंकी दुर्बलता या उनके विलोपने एक प्रकारकी आध्यात्मिक खाई पैदा कर दी। जब कि एक ओर तो वे शासित जन या किसी भी ऐसी सरकारसे संतुष्ट थे जो उन्हें सुरक्षा प्रदान करे तथा उनके धर्म जीवन और रीति-रिवाजोंमें अत्यधिक हस्तक्षेप न करे और जबकि दूसरी ओर था साम्राजीय प्रशासन जो कल्याणकारी और भव्य तो अवश्य था पर अब पहलेकी तरह, एक स्वतंत्र एवं जीवित जागृत जातिका वह जीवन शीर्ष-संगठन नहीं रहा था जिसकी परिकल्पना भारतके प्राचीनतर एवं वास्तविक राजनीतिक मनने की थी। ये परिणाम सुस्पष्ट और

सुनिश्चित रूपमें तो तभी सामने आये जब कि ह्रास आरभ हुआ, पर बीज-रूपमें ये वहा पहलेसे ही विद्यमान थे और एकीकरणकी यात्रिक पद्धतिका अवलबन करनेसे ये लगभग अनिवार्य ही हो उठे थे। इससे जो लाभ प्राप्त हुए वे थे एक अधिक प्रबल एव सुसघटित सैनिक कार्रवाई तथा एक अधिक व्यवस्थाबद्ध एव एकरूप प्रशासन, पर भारतवासियोके मन और स्वभावको सच्चे रूपमे अभिव्यक्त करनेवाले स्वतत्र एव सुघटित वैविध्ययुक्त जीवनको इससे जो क्षति पहुची उसे ये लाभ अतत पूरा नही सके।

एक ओर, इनसे भी बुरा परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रका मानस धर्मके उच्च आदर्शसे कुछ अशमें पतित हो गया। प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये एक राज्यका दूसरे राज्यके साथ जो सघर्ष हुआ उसमें माकियावेली-के-से (Machiavellian) राजकौशलके अभ्यासने भूतकालके श्रेष्ठतर नैतिक आदर्शोका स्थान ले लिया, आक्रमणात्मक महत्त्वाकाक्षाको किसी पर्याप्त आध्यात्मिक या नैतिक नियन्त्रणके विना खुला छोड दिया गया और राजनीति एव शासनकी नैतिकताके विषयमें राष्ट्रका मानस स्थूल बन गया जिसका प्रमाण मौर्य कालके निष्ठुर दड-विधानमें और अशोककी रक्तपातपूर्ण उडीसा-विजयमे पहले ही मिल चुका था। परतु एक धार्मिक भावना और उच्च बुद्धिके कारण इस साम्राज्यका ह्रास रुका रहा और इसके बाद हजार सालसे भी अधिक लबे समयतक वह (ह्रास) अपनी पराकाष्ठाको नही पहुच सका। हा, अध पतनके निकृष्टतम कालमें ही हम उसे पूरे जोरोपर देखते है जब कि अनियत्रित पारस्परिक आक्रमण, राजाओ और सरदारोके उद्दाम अहकार तथा शक्तिशाली ऐक्यकी प्राप्तिके लिये किसी राजनीतिक सिद्धात एव सामर्थ्यके पूर्ण अभावने, सार्वजनीन देशभक्तिके अभावने और शासकोंके परिवर्तनके प्रति जनसाधारणकी परपरागत उपेक्षावृत्तिने इस सारे विशाल प्रायद्वीपको समुद्र-पारसे आनेवाले मुट्ठीभर सौदागरोंके हाथमे सौंप दिया। परतु इन बुरे-से-बुरे परिणामोंके आनेमें चाहे कितनी ही देर क्यो न लगी हो और साम्राज्यकी राजनीतिक महानता तथा भव्य बौद्धिक एव कलात्मक सस्कृतिके कारण एव पुन-पुन होनेवाले आध्यात्मिक जागरणोंके कारण आरभमें इनका कितना ही प्रतिकार एव अवरोध क्यो न किया गया हो फिर भी पीछेके गुप्तवशीय राजाओंके समयतक भारत अपनी जातियोके राजनीतिक जीवनमें अपनी सच्ची मानसिकता एव अतरतम भावनाके स्वाभाविक एव पूर्ण विकासकी सभावनाको खो चुका था।

इस बीच इस साम्राज्यने उस उद्देश्यको जिसके लिये इसका निर्माण हुआ था, पूर्ण रूपसे तो नही पर काफी अच्छी तरहसे पूरा किया, अर्थात् इसने भारतभूमि और भारतीय सभ्यताको वर्वरोकी हलचलकी उस बडी भारी बाढसे बचाया जिसने सभी प्राचीन सुस्थिर सस्कृतियोको आतकित कर दिया था और जो अतमें इतनी बलवत्तर सिद्ध हुई कि समुन्नत यूनानी-रोमन सभ्यता एव विशाल और शक्तिशाली रोमन साम्राज्य उसके आगे नही टिक सका। वह हलचल टघूटनो, स्लावो, हूणो और शको (Scythians) की बडी भारी

सहस्राब्दियोंमें पश्चिम, पूर्व तथा दक्षिणकी ओर फैलती हुई अनेक शक्तियोंके भारतके ऊपर प्रबल प्रहार करती रहीं, कई बार एकाएक आक्रमण भी हुए, पर जब वह दुर्बल होने लगा तो भारतीय सभ्यताका विशाल प्रासाद ज्यों-का-त्यों खड़ा था और वह तबतक भी दृढ़ महान् तथा सुरक्षित बना रहा। जब कभी यह साम्राज्य दुर्बल हुआ तभी आक्रमण हुए और ऐसा प्रतीत होता है कि जब कभी देश कुछ समयके लिये (आक्रमणोंसे) सुरक्षित रहा तभी ऐसी (दुर्बलताकी) अवस्था भी उत्पन्न हो गयी। जिस आवश्यकताने साम्राज्यको जन्म दिया था उसकी पूर्ति न होनेपर साम्राज्य कमजोर पड़ जाता था क्योंकि तब प्रादेशिक भावना पृथक्त्ववादी आंदोलनोंके रूपमें फिरसे जाग उठती थी और न आंदोलन साम्राज्यके ऐक्यको छिन्न-भिन्न कर देते अथवा संपूर्ण उत्तरमें इसके बृहत् विस्तारको नष्ट-भ्रष्ट कर देते थे। कोई नया संकट एक नये राजवंशके अधीन इसकी शक्तिको पुनरुज्जीवित कर देता था परन्तु यह घटना अपने-आपको बारंबार दुहराती रही जब कि अंतमें संकटके बहुत समयके लिये दूर हो जानेपर उसका सामना करनेके लिये निर्मित साम्राज्य नष्ट हो गया, यहांतक कि फिर जीवित ही न हो सका। यह अपने पीछे पूर्व दक्षिण और मध्यमें कुछेक महान् साम्राज्य छोड़ गया और साथ ही उत्तर-पश्चिममें बहुत अधिक अव्यवस्थित जातियोंका एक समूह छोड़ गया। यह उत्तर-पश्चिमी प्रदेश एक छिद्र-स्थल था जहांसे मुसलमान बलपूर्वक घुस आये और बादमें ही समयमें उन्होंने उत्तरमें फिरसे प्राचीन पर एक अन्य अर्थात् मध्य-एशियाई ढंगके साम्राज्यका निर्माण कर लिया।

इन अधिक प्राचीन विदेशी आक्रमणों तथा इनके परिणामोंको इनके वास्तविक आकारमें प्रकाशमें देखना होगा जो प्रायः विद्वानोंके अतिरंजित सिद्धांतोंके द्वारा प्रायः ही विकृत कर दिया जाता है। सिकंदरका आक्रमण यूनानी जातिका पूर्वकी ओर बढ़नेका आवेग था। उसके लिये पश्चिमी और मध्य एशियामें तो कुछ कार्य करनेको था पर भारतमें उसका अपना कोई भविष्य नहीं था। चन्द्रगुप्तके द्वारा तुरत उखाड़ फेंके जानेके बाद उसका नाम निशानतक नहीं रहा। बादके मौर्यवंशी राजाओंकी दुर्बलताके समय यूनानी-मध्य-एशियाई लोगों (Graeco-Bactrians) ने जो आक्रमण किया और जिसे पुनः उठते हुए भारतीय साम्राज्यकी शक्तिने निष्फल कर दिया वह एक यूनानी-भावापन्न जातिका आक्रमण था जो पहलेसे ही भारतीय संस्कृतिके द्वारा गहरे रूपमें प्रभावित हो चुकी थी। पीछेके पार्थियन हूण और एक जातियोंके आक्रमण अधिक भयानक प्रकारके थे और कुछ समयतक तो वे भारतकी अखण्डताके लिये संकटपूर्ण ही प्रतीत हुए। तथापि अंतमें उन्होंने केवल पंजाबको ही प्रबल रूपसे प्रभावित किया यद्यपि उन्होंने पश्चिमी तटकी ओर बहुत दूर दक्षिणतक भी अपनी लहरें फेंकीं और दक्षिणकी ओर बहुत नीचेतक कुछ समयके लिये विदेशी जातिके राजवंश प्रतिष्ठित हो गये होंगे। इन भागोंके जातीय स्वभावपर कहांतक प्रभाव पड़ा इस विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पूर्वीय विद्वानों एवं जाति-तत्त्ववेत्ताओं-

ने कल्पना की है कि पंजाब शक-जातिमें ही परिणत हो गया था, राजपूत उसी शक-वंशके हैं और बहुत दूर दक्षिणतक भी भारतीय रक्तमें इस आक्रमणके कारण परिवर्तन आया था। इन कल्पनाओंके आधारमें प्रमाण बहुत ही कम है अथवा है ही नहीं तथा अन्य सिद्धांतोंके द्वारा भी ये खंडित हो जाती हैं, और यह अत्यंत संदेहपूर्ण है कि बर्बर आक्राता इतनी बडी सख्या-में आ सके हों जिससे कि इतना बड़ा परिणाम उत्पन्न हो जाय। और फिर यह बात इस तथ्यके द्वारा भी असभवनीय सिद्ध हो जाती हैं कि एक या दो या तीन पीढियोंमें आक्राता पूर्ण रूपमें भारतीय बन गये, उन्होंने भारतीय धर्म, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज एवं संस्कृति-का पूर्ण रूपसे ग्रहण कर लिया और भारतीय जन-समुदायमें घुल-मिल गये। रोमन साम्राज्यके देशोंकी भांति इस देशमें ऐसी कोई भी घटना नहीं हुई कि बर्बर जातियोंने एक उत्कृष्टतर सभ्यतापर अपने नियम, अपनी राजनीतिक प्रणाली, अपने बर्बर रीति-रिवाज एवं विदेशी शासन थोप दिये हों। इन आक्रमणोंका यह एक सर्व-सामान्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है और इसका कारण इन तीनमेंसे कोई एक या तीनों रहे होंगे। सभव है कि आक्रामक लोग जातियां न होकर फौजें हों, उनका आधिपत्य कोई ऐसा स्थायी बाह्य शासन नहीं था जिसे अपने विदेशी रूपमें दृढ होनेका अवसर मिले, क्योंकि प्रत्येक आक्रमणके बाद भारतीय साम्राज्यकी शक्तिने पुन जीवित होकर विजित प्रांतोंको फिरसे स्वायत्त कर लिया और अंतमें, भारतीय संस्कृतिकी प्रबलतया प्राणवत एव सात्म्यकारी स्वरूप इतना शक्तिशाली था कि आक्रमण-कारियोंमें आत्मसात्करणके प्रति किसी मानसिक प्रतिरोधके रहनेके लिये अनुमति या अव-काश नहीं दे सकता था। कुछ भी हो, यदि ये आक्रमण अपने रूप-स्वरूपमें बहुत ही बडे थे तो यह मानना होगा कि भारतीय सभ्यताने अपने-आपको उस अपेक्षाकृत नयी यूनानी-रोमन सभ्यतासे अत्यधिक सबल, जीवंत और ठोस प्रमाणित किया जो टयूटनों और अरबोंके आगे अभिभूत हो गयी अथवा उनके अधीन होकर एव एक ऐसे हीन रूपमें ही जीवित रही जो अत्यधिक बर्बर और जीर्ण-शीर्ण हो गया था तथा पहचाना भी नहीं जा सकता था। और यह भी घोषित करना होगा कि आखिर भारतीय साम्राज्य अपनी दृढता और महानताके समस्त गर्वसे युक्त रोमन साम्राज्यकी अपेक्षा अधिक क्षमताशाली सिद्ध हुआ है, क्योंकि पश्चिममें क्षत-विक्षत होनेपर भी वह इस प्रायद्वीपके बहुत बडे भागको सुरक्षित बनाये रखनेमें सफल हुआ।

वास्तवमें आगे चलकर जो पतन हुआ, मुसलमानोंकी जो विजय हुई जो पहले तो अरबोंके हाथों असफल हो चुकी थी पर बहुत लंबी अवधिके बाद जिसकी फिरसे चेष्टा की गयी और जो सफल भी हुई, और उसके पश्चात् जो कुछ घटित हुआ वह सब भारतीय जातियों-की क्षमतापर किये गये संदेहोंको उचित ठहराता है। पर यहां सबसे पहले हम उन कति-पय मिथ्या धारणाओंको दूर कर दें जो वास्तविक प्रश्नको आच्छादित कर देती हैं। यह विजय उस समय संपन्न हुई जब प्राचीन भारतीय जीवन और संस्कृतिकी जीवनी-शक्ति कर्में

और सृजनके दो सहस्र वर्षोंके बाद कुछ समयके लिये क्षीण हो चुकी थी या फिर अपनी क्षीणताके बहुत निकट पहुंच गयी थी और उसे संस्कृतसे जन-भाषाओंकी ओर तथा नयी जमती हुई प्रादेशिक जातियोंकी ओर संक्रमण करके अपने अंदर नवजीवनका संचार करनेके लिये सांस लेनेका अवकाश चाहिये था। उत्तरमें यह विजय काफी शीघ्रताके साथ प्राप्त हो गयी यद्यपि वहां भी यह सर्वथा पूर्ण या कई शताब्दियोंतक नहीं हो सकी परंतु दक्षिणने जैसे पूर्वकालमें प्राचीनतर देशीय साम्राज्यके विरुद्ध अपनी स्वतंत्रताको सुरक्षित रखा था उसी प्रकार अब भी उसे दीर्घ कालतक सुरक्षित रखा और विजयनगरके राज्यके अस्त तथा मराठोंके उदयके बीच कोई बहुत लंबा अंतराल नहीं था। राजपूतोंने अकबर और उसके उत्तराधिकारियोंके समयतक अपनी स्वतंत्रताको कायम रखा और अंतमें मुगलोंने कुछ अंशमें अपने सेनापतियों और मंत्रियोंके रूपमें कार्य कर रहे राजपूत राजाओंकी सहायतासे ही पूर्व और दक्षिणपर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित किया। और फिर इसके स्थापित हो सकनेका एक कारण यह भी था कि—यह एक ऐसा तथ्य है जिसे प्रायः ही भुला दिया जाता है—मुस्लिम शासनने अपना विदेशीपन बहुत शीघ्र ही छोड दिया। देशके मुसलमान अपने बृहत्तर अंशमें जातिकी दृष्टिसे भारतीय थे और हैं, पठान तुर्क और मुगल रक्तका मिश्रण बहुत ही थोडी मात्रामें हुआ और यहांतक कि विदेशी राजा तथा दरबार भी लगभग तुरंत ही मन प्राण और रुचि-प्रवृत्तिमें पूर्णरूपेण भारतीय बन गये। यदि कुछेक यूरोपीय देशोंकी भांति भारतीय जाति विदेशी शासनके तले अनेक सदियोंतक वस्तुतः निष्क्रिय संतुष्ट और निःशक्त रहती तो निःसंदेह यह एक महान् आभ्यंतरिक दुर्बलताका प्रमाण होता पर सच पूछा तो ब्रिटिश राज्य ही वह पहला विदेशी शासन है जिसका भारतपर वस्तुतः निरंतर अधिकार रहा है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन सभ्यता अन्य एशियाई धर्म एवं संस्कृतिका जिसके साथ यह घुल-मिल नहीं सकी भारी दबाव पड़नेपर तिमिराच्छन्न होकर ह्रासको प्राप्त हो गयी पर उसके दबावके बावजूद भी यह जीवित बची रही अनेक दिशाओंमें उस पर अपना दबाव डाला और ह्रासकी अवस्थामें भी हमारे अपने युगतक जीवित तथा पुनरुत्थानमें समर्थ रही और इस प्रकार एक ऐसी सफलता एवं स्वस्थताका प्रमाण दिया जो मानव सभ्यताओंके इतिहासमें विरले ही देखनेमें आती है। और राजनीतिक क्षेत्रमें महान् शासकों राजनीतिज्ञों सैनिकों और प्रशासकोंको प्रादुर्भूत करना इसने कभी नहीं बंद किया। अवनतिके समय इसकी राजनीतिक प्रतिभा अपनी अंतर्दृष्टि और क्रियाशीलतामें इतनी पर्याप्त नहीं थी इतनी व्यापी सफल और तीव्र नहीं थी कि पठानों मुगलों और यूरोपियनोंका सामना कर सके। परंतु यह जीवित बची रहने तथा पुनरुज्जीवनके प्रत्येक अवसरकी प्रतीक्षा करनेकी सामर्थ्य रखती थी इसने राणा सांगाके नेतृत्वमें साम्राज्यकी प्राप्तिके लिये यत्न किया विजयनगरके महान् साम्राज्यका निर्माण किया राजपूतानाकी पहाड़ियोंमें सदियोंतक इस्लामके विरुद्ध डटा रहा और अपने बुरे-से-बुरे दिनोंमें भी योग्यतम मुगल बादशाहोंकी समस्त शक्तिके

विरुद्ध शिवाजीका राज्य स्थापित किया और कायम रखा, मरहठा-राज्यसघ और सिक्खोंके खालसा सप्रदायका सघटन किया, महान् मुगल साम्राज्यके भवनकी जड खोद डाली और एक बार फिर साम्राज्य-निर्माणके लिये अतिम प्रयत्न किया। अवर्णनीय अधकार, फूट और अव्यवस्थाके बीच जब यह अतिम और लगभग सर्वनाशी पतनके किनारे खडी थी तब भी यह रणजीतसिंह, नाना फणनवीस और माधोजी सिंधियाको जन्म देकर इगलैंडकी भवितव्यताकी अवश्यभावी प्रगतिका विरोध कर सकी। परतु ये तथ्य इस सभवनीय आरोपकी गुरुताको कम नही करते कि भारतीय सभ्यता केंद्रीय समस्याको देखने और सुलझानेमें तथा नियतिके एक ही अटल प्रश्नका उत्तर देनेमे असमर्थ रही, परतु ह्रास-कालकी घटनाओके रूपमें विचारे जानेपर ये एक काफी विलक्षण इतिहासका निर्माण करते हैं जिसकी उपमा ऐसी ही परिस्थितियोमे, सुलभ नही, और तब निश्चय ही ये सपूर्ण प्रश्नको इस स्थूल स्थापनासे भिन्न एक और ही रग-रूप दे देते है कि भारतवर्ष सदा ही परतत्र और राजनीतिक दृष्टिसे अशक्त रहा है।

मुस्लिम विजयने जो समस्या पैदा कर दी वह वास्तवमें विदेशी शासनके प्रति अधीनता और पुन स्वतत्रता प्राप्त करनेकी योग्यताकी नहीं बल्कि दो सभ्यताओंके पारस्परिक सघर्षकी थी। उनमेंसे एक थी प्राचीन और स्वदेशीय, दूसरी मध्ययुगीन तथा बाहरसे लायी हुई। जिस बातने समस्याके समाधानको दु साध्य बना दिया वह यह थी कि उनमेंसे प्रत्येक एक शक्तिशाली धर्मके प्रति आसक्त थी। उनमेंसे एकका धर्म युद्धप्रिय और आक्रमणकारी था, दूसरीका आध्यात्मिक दृष्टिसे तो अवश्य ही सहिष्णु और नमनीय था पर अपने साधनाभ्यासमें अपने सिद्धातके प्रति दृढनिष्ठ था और सामाजिक विधि-विधानोकी दीवारके पीछे अपनी प्रतिरक्षा करनेके लिये कटिबद्ध रहता था। इसके दो समाधान समझमें आने योग्य थे, या तो एक ऐसे महत्तर आध्यात्मिक सिद्धात एव रचनाका उदय होता जो दोनो धर्मोका समन्वय कर सकती अथवा एक ऐसी राजनीतिमूलक देशभक्तिका उदय होता जो धार्मिक सघर्षको अतिक्रम करके दोनो जातियोको एक कर सकती। इनमेंसे पहला समाधान उस युगमें सभव ही नही था। अकबरने मुस्लिम पक्षकी ओरसे इसके लिये यत्न किया, परतु उसका धर्म एक आध्यात्मिक रचना होनेकी अपेक्षा कही अधिक एक बौद्धिक एव राजनीतिक रचना था और उसे दोनो जातियोके प्रबलतया धार्मिक मनसे स्वीकृति प्राप्त करनेका कभी कोई अवसर नही मिला। नानकने हिंदू पक्षकी ओरसे इसके लिये प्रयत्न किया, परतु उनका धर्म अपने सिद्धातमें सार्वभौम होनेपर भी व्यवहारमें एक सप्रदाय बन गया। अकबरने एक सर्वसामान्य राजनीतिमूलक देशभक्तिको उत्पन्न करनेका भी प्रयास किया, परतु इस प्रयासका भी विफल होना पहलेसे ही नियत था। मध्य एशियाई सिद्धातके आधारपर निर्मित एक निरकुश साम्राज्य परम शक्तिशाली सयुक्त भारतके निर्माणार्थ समान रूपसे सेवा करनेके लिये दोनो जातियोकी प्रशासकीय योग्यताका महान् व्यक्तियो, राजाओ और सरदारोंके

रूपमें आवाहन करके अपनी मनोवांछित राष्ट्रीय भावनाको नहीं उत्पन्न कर सका। उसके लिये जनताकी जीवंत स्वीकृतिकी आवश्यकता थी और वह उद्बोधक राजनीतिक आदर्शों तथा संस्थाओंके अभावके कारण मूर्त्त रूप नहीं ग्रहण कर सकी। मुगल साम्राज्य एक महान् और ऐश्वर्यशाली रचना था और इसके निर्माण तथा रक्षणके लिये राजनीतिक प्रतिभा एवं दक्षता बहुत अधिक मात्रामें प्रयुक्त की गयी थी। यह किसी भी मध्ययुगीन या समकालीन यूरोपीय राज्य या साम्राज्यके समान ही भव्य, शक्तिशाली और कल्याणकारी था और, यह भी कहा जा सकता है कि, औरंगजेबकी कट्टरतापूर्ण हठधर्मिताके होते हुए भी यह धार्मिक दृष्टिसे उसकी अपेक्षा अनंततः अधिक उदार और सहिष्णु था। इसके शासनमें भारत शासनिक और राजनीतिक शक्ति एवं आर्थिक समृद्धिमें तथा अपनी कला और संस्कृतिकी उत्कृष्टतामें अभ्युन्नत था। परन्तु यह भी अपनेसे पहलेके साम्राज्योंकी भांति, यहांतक कि उनसे भी अधिक अनिष्टकारी रूपमें तथा उसी तरीकेसे असफल हो गया अर्थात् इसका पतन भी बाह्य आक्रमण नहीं बल्कि आंतरिक विघटनके कारण हुआ। कोई सैनिक एवं प्रशासनिक केंद्रीभूत साम्राज्य भारतकी जीवंत राजनीतिक एकता नहीं संपादित कर सकता था। और यद्यपि प्रादेशिक जातियोंमें नया जीवन उदयोन्मुख प्रतीत होता था तथापि इस बीच यूरोपीय जातियोंके घुस आने और पेशवाओंकी असफलता तथा उसके बादकी अराजकता और अधोगतिकी निराशापूर्ण अव्यवस्थासे उत्पन्न सुयोगको उनके हस्तगत कर लेनेके कारण नवजीवनके उस अवसरमें एकाएक व्याघात पड़ गया।

विघटनके इस कालमें भी दो अद्भुत रचनाएं प्रकट हुईं जो पुरानी अवस्थाओंमें नये जीवनका आधार स्थापित करनेके लिये भारतके राजनीतिक मानसका अंतिम प्रयत्न थीं किंतु उनमेंसे कोई भी ऐसी नहीं सिद्ध हुई जो समस्याको सुलझा सकती। मराठोंका पुनरुज्जीवन जिसे रामदासकी महाराष्ट्र-धर्म-विषयक परिकल्पनासे प्रेरणा मिली और जिसे शिवाजीने आकार प्रदान किया इस बातके लिये प्रयत्न था कि प्राचीन रीति-नीति और भावनाका जो अंश आज भी समझ या स्मृतिमें आ सकता है उसका पुनरुद्धार किया जाय। परन्तु यह प्रयत्न आध्यात्मिक प्रेरणाके तथा इसके सूत्रपातमें सहायता करनेवाली लोकतांत्रिक शक्तियोंके होते हुए भी विफल हो गया जैसे कि अतीतका पुनरुद्धार करनेवाले सभी प्रयत्न विफल होंगे ही। पेशवा अपनी समस्त प्रतिभाके होते हुए भी सन्धापककी अंतर्दृष्टिसे शून्य थे और वे केवल सैनिक एवं राजनीतिक महासंघ ही स्थापित कर सके। और एक साम्राज्यकी स्थापना करनेका उनका प्रयत्न सफल नहीं हो सका क्योंकि वह एक ऐसी प्रादेशिक राष्ट्रभक्तिसे प्रेरित हुआ था जो अपनी सीमाओंसे परे अपनेको विस्तारित करने तथा एकीभूत भारतके जीवंत आदर्शोंके प्रति जागृत होनेमें असफल रही। दूसरी बार सिक्खोंका खालसा सम्प्रदाय एक ऐसी रचना था जो आश्चर्यजनक रूपमें मौलिक तथा अनूठी थी और उसकी दृष्टि भूतपर नहीं भविष्यपर लगी हुई थी। अपने धर्मतांत्रिक नेतृत्व तथा अपनी जनतंत्रीय

भावना और रचनामे, अपने गभीर आध्यात्मिक आरभमें तथा इस्लाम और वेदातके गहनतम तत्त्वोको सयुक्त करनेके प्रथम प्रयासमे स्वतत्र और अद्वितीय होता हुआ भी वह मानव समाजकी तीसरी या आध्यात्मिक अवस्थामे प्रवेश करनेके लिये एक असामयिक प्रवृत्ति था, परतु वह आत्मा और बाह्य जीवनके बीच समृद्ध सर्जनक्षम विचारधारा और सस्कृतिका एक सचारक माध्यम नही उत्पन्न कर सका। और इस प्रकार बाधाओ और त्रुटियोंसे ग्रस्त होनेके कारण वह सकीर्ण स्थानीय सीमाओमे आरभ हुआ और उन्हीमे समाप्त हो गया, उसने तीव्रता तो अधिगत की पर विस्तारकी क्षमता नही। उस समय वे अवस्थाए विद्यमान ही नही थी जिनमे वह प्रयत्न सफल हो सकता।

इसके बाद आयी रात्रि और समस्त राजनीतिक प्रेरणा और सृजनका अस्थायी अत। अतिम पीढीने दासतापूर्ण निष्ठाके साथ पश्चिमके आदर्शो और आचारोकी नकल करने एव प्रतिकृति उतारनेका जो निर्जीव प्रयत्न किया वह भारतवासियोकी राजनीतिक मनीषा एव प्रतिभाका कोई सच्चा चिह्न नही है। परतु अस्तव्यस्तताके समस्त कुहासेके बीच अभी भी एक नयी सध्याके, सायकाल नही वरन प्रात कालकी युग-सध्याके फिरसे उदित होनेकी सभावना है। युग-युगका भारत मरा नही है, न उसने अपनी अतिम सर्जनक्षम वाणी ही उच्चारित की है, वह जीवित है और उसे अपने लिये तथा (देश-देशके) मानव-समुदायोंके लिये अभी भी कुछ करना है। और जिसे अब जागरित होनेकी चेष्टा करनी होगी वह अग्रेजियतमें रगी कोई ऐसी पूर्वीय जाति नही जो पश्चिमकी आज्ञाकारिणी शिष्या हो तथा उसकी सफलता और विफलताके चक्रको दुहराना ही जिसके भाग्यमें बदा हो, अपितु वह प्राचीन एव स्मरणातीत (भारत) शक्ति है जो अपनी गहनतम आत्माको फिरसे प्राप्त करेगी, ज्योति और शक्तिके परम उद्गमकी ओर अपना मस्तक पहलेसे भी ऊचा उठाकर अपने धर्मके सपूर्ण मर्म तथा विशालतर रूपको खोजनेकी ओर अभिमुख होगी।

परिशिष्ट

हम पश्चिमका ऐसा ही अनुकरण करते आ रहे हैं, उस जैसे या कुछ-कुछ उस जैसे बननेका यत्न करते रहे हैं और यह सौभाग्यकी बात है कि हम इसमें सफल नहीं हुए, क्योंकि इसमें सफल होनेका अर्थ होता एक कृत्रिम या दो प्रकृतियोंवाली संस्कृतिकी रचना करना परंतु जैसा कि टेनीसन (Tennyson) ने अपने ल्यूक्रेटियस (Lucretius) के मुंहसे कहलाया है दो प्रकृतियोंवाली संस्कृतिकी कोई भी प्रकृति नहीं होती और कृत्रिम संस्कृति कोई स्वस्थ संस्कृति नहीं होती न ही वह सत्यको जीवनमें चरितार्थ करनेवाली होती है। अपने स्वरूप-को पूर्ण रूपसे पुन प्राप्त कर लेना ही हमारे उद्धारका एकमात्र उपाय है।

मुझे लगता है कि इस विषयमें समर्थन और उद्योधन दोनोंके रूपमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। परंतु पहले हम अपने शब्दोंके अर्थ स्पष्ट कर लें। हम बातसे मैं पूरी तरहसे सहमत हूं कि पिछली सदीमें यूरोपीय सभ्यताका अनुकरण करने और अपने-आपको एक प्रकारके काले-भूरे अंगरेज बनाने अपनी प्राचीन संस्कृतिको कूडेदानमें फेंककर पश्चिमकी पोशाक या वर्दी पहननेका जो प्रयत्न किया गया और जो कुछ दिशाओंमें अब भी जारी है वह एक भ्रांत तथा अनुचित प्रयत्न था। तथापि हम प्राय यहांतक कह सकते हैं कि कुछ मात्रामें यहांतक कि एक बडी मात्रामें भी अनुकरण करना उस परिस्थितिकी एक औच शास्त्रीय आवश्यकता थी और नहीं तो कम-से-कम एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता तो थी ही। केवल तभी नहीं जब कि एक हीनतर संस्कृति किसी महत्तर संस्कृतिके संपर्कमें आती है बल्कि तब भी जब कि एक अपेक्षाकृत निष्क्रियता निद्रा और संकुचनकी अवस्थामें घिरी हुई संस्कृतिको किसी जागृत सक्रिय तथा भयानक रूपमें सर्जनशील सभ्यताका सामना करना पडता है और इससे भी बढकर जब उसे ऐसी सभ्यताका एक सीधा आघात लगता है जब वह विलक्षण और सफल शक्तियों तथा क्रियाओंको अपने ऊपर टूट पडते हुए अनुभव करती है तथा नयी धारणाओं और रचनाओंकी एक बडी भारी शृंखला और विकासपरंपरा को देखती है—तब वह जीवनकी सहजप्रवृत्तिके वश ही इन विचारों और रूप-रचनाओंको ग्रहण करने इन्हें अपने साथ मिलाकर अपनेको समृद्ध बनाने यहांतक कि इनकी नकल करने और प्रतिकृति उतारने और किसी-न-किसी प्रकार इन नयी शक्तियों और नये अवसरोंको व्यापक रूपसे विचारमें लाकर इनसे लाभ उठानेके लिये प्रेरित होती है। यह एक ऐसी घटना है जो इतिहासमें कम या अधिक मात्रामें अंशत या पूर्णत बारंबार घटित हुई है। परंतु यदि केवल यंत्रवत् अनुकरण किया जाय यदि अधीनता और दासताकी वृत्ति पैदा हो जाय तो निष्क्रिय या अपेक्षाकृत दुर्बल संस्कृति नष्ट हो जाती है उसे आक्रमणकारी ग्राह निगल जाता है। और इससे कम पतनकी अवस्थामें भी जितना वह इन अवांछनीय वस्तु ओंको और भुकती है उतना वह क्षीण हो जाती है नये विचारों और रूपोंको अपने साथ संयुक्त करनेके प्रयत्नमें असफल होती है बल्कि उसके साथ-साथ अपना मूल भावकी शक्ति को भी खो बैठती है। अपना केंद्रको फिरसे प्राप्त करना अपने निजी आधारको दृढ

नेकालना तथा जो कुछ उसे करना ही उसे अपनी क्षमता और प्रतिभाके द्वारा करना ही, निःसंदेह, उद्धारका एकमात्र उपाय है। परंतु तब भी कुछ मात्रामें ग्रहण करना, बाह्याचारोको भी अपनाना,—यदि बाह्याचारोके किसी भी प्रकारके ग्रहणको अनुकरण ही कहा जाय तो कुछ अनुकरण भी करना,—अनिवार्य होता है। उदाहरणार्थ, साहित्यमें हमने और कई चीजोको अपनानेके साथ-साथ उपन्यास, कथा-कहानी तथा आलोचनात्मक निबंधके रूपको अपना लिया है। इसी प्रकार, सायंस में हमने खोजो और आविष्कारोको ही नही बल्कि अनुमानमूलक अनुसंधानकी क्रिया-प्रक्रियाको भी, राजनीतिमें प्रेस और प्लेटफार्मको, आंदोलनके रूपो और अभ्यासो तथा सार्वजनिक संघ-संगठनको अपना ही लिया है। मेरे ख्यालमें कोई भी व्यक्ति गंभीरताके साथ ऐसा नही सोचता कि हमारे जीवनमें ये जो आधुनिक चीजें, जुड गयी है इन्हे विदेशी वस्तुएं होनेके कारण त्याग देना या बहिष्कृत कर देना चाहिये,—यद्यपि ये सबकी सब, किसी प्रकार भी, विशुद्ध वरदान नही हैं। परंतु प्रश्न यह है कि इन चीजोका उपयोग हम क्या करते है और आया हम इन्हे अपने मूल-भावके साधनोके रूपमें तथा, किसी विशेष परिवर्तनके द्वारा, उसके सांचोके रूपमे परिणत कर सकते है या नही। यदि हम ऐसा करते हैं तब तो समझो कि हमने इन्हे ग्रहण करके हजम कर लिया है, नहीं तो समझना चाहिये कि हमने लाचार होकर इनकी नकल भर की है।

परंतु बाह्याचारोको ग्रहण करना ही इस विषयका मर्म नही हैं। जब मैं ग्रहण और हजम करनेकी बात कहता हू तो मेरे मनमें वे विशेष प्रकारके प्रभाव, विचार तथा शक्ति-सामर्थ्य घूम रहे होते है जिन्हे यूरोप एक प्रबल जीवंत शक्तिके साथ सामने लाया है और जो हमारी अपनी सांस्कृतिक प्रवृत्तियो एवं सांस्कृतिक सत्ताको जागृत तथा समृद्ध कर सकते है यदि हम एक जयशाली शक्ति और मौलिकताके साथ उनसे व्यवहार करनेमें सफल हो जाय, यदि हम उन्हे अपने अस्तित्वकी विशिष्ट प्रणालीके अंतर्गत करके उसकी निर्माणकारी क्रियाके द्वारा उन्हे रूपांतरित कर सके। सच पूछो तो हमारे पूर्वज बाहरसे प्राप्त होनेवाले जिस भी ज्ञान या कलात्मक सुझावको ग्रहण करने योग्य या भारतीय ढंगसे व्यवहरणीय समझते थे उसे लेकर वे उसपर ऐसी ही क्रिया किया करते थे, वे अपनी मौलिकताको कभी नही गंवाते थे, न अपने अनुपम वैशिष्ट्यको ही नष्ट करते थे, क्योंकि वे सदा ही अदरसे शक्तिशाली रूपमें सृजन करते थे। परंतु अच्छेको ग्रहण करने तथा बुरेको त्याग देनेके सूत्र-का मैं, निश्चय ही, एक अधकचरी वस्तुके रूपमें परिहार करूंगा। यह उन सहज सूत्रोंमेंसे एक है जो उथले मनको आकृष्ट कर लेते है पर अपनी परिकल्पनामें दुर्बल होते हैं। स्पष्टतः ही, यदि हम किसी वस्तुको "ग्रहण करे" तो उसका अच्छा और बुरा दोनों अंग अस्तव्यस्त रूपमे एक साथ घुस आयेगे। उदाहरणार्थ, यदि हम उस भीषण, दैत्याकार और विध्वंसकारी वस्तु उस विकराल आसुरिक रचना, अर्थात् यूरोपीय व्यवसायवादको अपनायें,—दुर्भाग्यवश, परिस्थितियां हम ऐसा करनेके लिये विवश कर रही हैं,—तो चाहे हम उसका

भारतीय संस्कृति और बाह्य प्रभाव

भारतीय सभ्यता और इसके पुनरुत्थानपर विचार करते हुए मैंने सुझाव दिया था कि सभी क्षेत्रोंमें एक शक्तिशाली नव-निर्माण करना ही हमारी महान् आवश्यकता है, हमारे पुनरुत्थानका अर्थ तथा हमारी सभ्यताकी रक्षाका एकमात्र उपाय है। भारतको आज आधुनिक जीवन और चिंतनकी विशाल बाढ़का सामना करना पड़ रहा है, उसपर एक अन्य प्रबल सभ्यताका आक्रमण हो रहा है जो उससे प्रायः ठीक उल्टी है या कम-से-कम उसकी भावनासे अत्यंत भिन्न भावनाके द्वारा प्रेरित है। ऐसी दशामें वह तभी जीवित रह सकता है यदि वह इस अपरिपक्व नये आक्रमणशील तथा शक्तिशाली जगत्‌का सामना अपनी आत्माकी उन नयी विस्तृतर रचनाओंके द्वारा करे जो उसके अपने आध्यात्मिक आदर्शोंके साँचेमें ढली हुई हों। उसे इसका सामना इसकी महत्तर समस्याओंको अपने ही ढंगसे अपनी सत्तामेंसे उद्भूत होनेवाले समाधानोंके द्वारा तथा अपने गभीरतम और विशालतम ज्ञानसे हल करके ही करना होगा—इस दृष्टिकी वह उपेक्षा नहीं कर सकता चाहे ऐसी उपेक्षाको वांछनीय ही क्यों न समझा जा सकता हो। इस सिलसिलेमें मैंने कहा था कि पश्चिमके ज्ञान, इसकी धारणाओं और क्षमताओंमेंसे जो कुछ भी आत्मसात् करने योग्य है, उसकी मूल भावनाके साथ संगत है, उसके आदर्शोंके साथ मेल खा सकता है, जीवनके नये निर्माणके लिये मूल्यवान् है उस सबको उसे इससे ग्रहण करके आत्मसात् कर लेना चाहिये। बाहरसे पड़नेवाले प्रभाव और अंदरसे करने योग्य नवसृजनका यह प्रश्न अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है, इसपर विस्तारसे चर्चा करनेकी आवश्यकता है। विशेषकर, यह आवश्यक है कि हम इस विषयमें एक अधिक सुनिश्चित विचार बना लें कि ग्रहण करनेसे हमारा क्या मतलब है और आत्मसात् करनेका वास्तविक परिणाम क्या होगा, क्योंकि यह दूरतक प्रभाव डालने वाली अत्यावश्यक समस्या है जिसके संबंधमें हमें अपने विचारोंको स्पष्ट कर लेना होगा और दृढ़तापूर्वक तथा दूरदर्शिताके साथ अपनी समाधानकी पद्धति निश्चित करनी होगी।

परन्तु ऐसी मान्यता रखना संभव है कि यद्यपि नवसृजन—पुराने रूपोंके प्रति अचल आसक्ति नहीं—हमारे जीवन और रक्षाका एकमात्र उपाय है, तथापि किसी पश्चिमी वस्तुको ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, हमें जिन चीजोंकी जरूरत है वे सब हम अपने अंदर ही पा सकते हैं, कोई भी मूल्यवान् वस्तु अपने अंदर फिर उत्पन्न किये बिना ग्रहण नहीं की

जा सकती और फिर वह छिद्र तो पाश्चात्य बाढ़की बाकी सभी चीजोंको अदर वहा ले आवेगा। और, अगर मैंने समझनेमें भूल नही की है तो, बगलाकी एक साहित्यिक पत्रिकामें[1] मेरे इन लेखोंपर जो टिप्पणी प्रकाशित हुई है उसका तात्पर्य भी यही है। यह पत्रिका इस आदर्शकी प्रस्थापना करती है कि नवसृजन पूर्णरूपेण राष्ट्रीय प्रणालीके आधारपर तथा राष्ट्रीय भावनाके अनुसार अदरसे ही उद्भूत होना चाहिये। उक्त टिप्पणीके लेखक इस स्थापनाको, जो एक सार्वभौम मूल सिद्धात है, अपना आधार बनाते है कि समस्त मानवजाति एक है, पर विभिन्न जातिया उसी सर्वसामान्य मानवजातिके विभिन्न आतरात्मिक रूप हैं। जब हम उस एकताको प्राप्त कर लेते है तो विविधताका सिद्धात खडित नही हो जाता वरन् कही अधिक समर्थित ही हो जाता है, अपने-आपको, अर्थात् अपने विशिष्ट स्वभाव एव सामर्थ्यको मिटाकर नही बल्कि उसका अनुसरण करके तथा उसकी स्वतत्रता और क्रियाकी उच्चतम सभावनाओंतक उसे उठाकरके ही हम जीवत एकतातक पहुच सकते है। यह एक ऐसा सत्य है जिसपर स्वय मैंने भी, मानवजातिके किसी प्रकारके राजनीतिक एकीकरणके सबधमें आधुनिक विचार तथा प्रयत्नकी चर्चा करते हुए, यह कहकर बारबार बल दिया है कि यह सामाजिक विकासके मनोवैज्ञानिक आशयका एक अत्यत महत्त्वपूर्ण अग है, और फिर एक विशेष जातिके जीवन एव सस्कृतिके, इसके सभी अगो और अभिव्यक्तियोंके इस प्रश्न-की चर्चा करते हुए भी मैंने इस सत्यपर पुन-पुन जोर दिया है। मैं बलपूर्वक कह चुका हू कि एकरूपता वास्तविक नही वरन् निर्जीव एकता है एकरूपता जीवनका विनाश कर डालती है जब कि वास्तविक एकता, यदि उसकी नीव सुचारु रूपसे रखी जाय तो, विविधता-की प्रचुर शक्तिके द्वारा बलशालिनी और फलप्रद बन जाती है। परतु उक्त लेखक यह भी कहते है कि पश्चिमी सभ्यताकी श्रेष्ठ बातोंको ग्रहण करनेका विचार एक मिथ्या धारणा है जिसका कोई सजीव अर्थ नही है, बुरेको त्यागकर अच्छेको ग्रहण कर लेनेकी बात सुननेमें बहुत अच्छी लगती है, परतु यह बुरा और अच्छा इस प्रकार अलग-अलग नही किये जा सकते. ये एक ही सत्ताका एक ऐसा मिश्रित विकास है कि इन्हे एक-दूसरेसे जुदा नही किया जा सकता, ये बच्चेके मकान-रूपी खिलौनेके अलग-अलग टुकडे नही है जो पास-पास रखे हुए है और आसानीसे अलग किये जा सकते है,—और गला खड-खड करके एक तत्वको ले लेने तथा शेषको छोड देनेका मतलब क्या है? यदि हम कोई पश्चिमी आदर्श ग्रहण करते है, तो उसे हम एक ऐसे जीवत बाह्याचारमें ही लेते है जो हमें प्रभावित करता है, हम उस बाह्याचारकी नकल करते है, उसकी भावना एव स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके वशमें हो जाते है, और अच्छा और बुरा उस सजीव विकासमें परस्पर गुथे हुए एक ही साथ हमपर टूट पडते है और अपना सयुक्त अधिकार स्थापित कर लेते है। सच पूछो तो दीर्घकालमें

[1] श्री सी आर दासद्वारा सपादित 'नारायण'।

हम पश्चिमका ऐसा ही अनुकरण करते आ रहे हैं उस जैसे या कुछ-कुछ उस जैसे बननेका यत्न करते रहे हैं और यह सौभाग्यकी बात है कि हम इसमें सफल नहीं हुए, क्योंकि इसमें सफल होनेका अर्थ होता एक कृत्रिम या दो प्रकृतियोंवाली संस्कृतिकी रचना करना परंतु जैसा कि टेनीसन (Tennyson) ने अपने ल्यूक्रिशस (Lucretius) के मुँहसे कहलाया है दो प्रकृतियोंवाली संस्कृतिकी कोई भी प्रकृति नहीं होती और कृत्रिम संस्कृति कोई स्वस्थ संस्कृति नहीं होती न ही वह सत्यको जीवनमें चरितार्थ करनेवाली होती है। अपने स्वरूप को पूर्ण रूपसे पुनः प्राप्त कर लेना ही हमारे उद्धारका एकमात्र उपाय है।

मुझे लगता है कि इस विषयमें समर्थन और संशोधन दोनोंके रूपमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। परंतु पहले हम अपने शब्दोंके अर्थ स्पष्ट कर लें। इस बातसे मैं पूरी तरहसे सहमत हूँ कि पिछली सदीमें यूरोपीय सभ्यताका अनुकरण करने और अपने-आपको एक प्रकारके काले-भूरे अंगरेज बनाने अपनी प्राचीन संस्कृतिको कूड़ेदानमें फेंककर पश्चिमकी पोशाक या वर्दी पहननेका जो प्रयत्न किया गया और जो कुछ दिशाओंमें अब भी जारी है वह एक भ्रांत तथा अनुचित प्रयत्न था। तथापि हम प्रायः यहाँतक कह सकते हैं कि कुछ मात्रामें यहाँतक कि एक बड़ी मात्रामें भी अनुकरण करना उस परिस्थितिकी एक जीव शास्त्रीय आवश्यकता थी और नहीं तो कम-से-कम एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता तो थी ही। केवल तभी नहीं जब कि एक हीनतर संस्कृति किसी महत्तर संस्कृतिके संपर्कमें आती है बल्कि तब भी जब कि एक अपेक्षाकृत निष्क्रियता निद्रा और संकुचनकी अवस्थामें गिरी हुई संस्कृतिको किसी जागृत सक्रिय तथा भयानक रूपमें सर्जनशील सभ्यताका सामना करना पड़ता है और इससे भी बढ़कर जब उसे ऐसी सभ्यताका एक सीधा आघात लगता है जब वह विलक्षण और सफल शक्तियों तथा क्रियाओंको अपने ऊपर टूट पड़ते हुए अनुभव करती है तथा नयी धारणाओं और रचनाओंकी एक बड़ी भारी शृंखला और विकासपरंपरा को देखती है—तब वह जीवनकी सहजप्रवृत्तिके वश ही इन विचारों और रूप-रचनाओंको ग्रहण करने इन्हें अपने साथ मिलाकर अपनेको समृद्ध बनाने यहाँतक कि इनकी नकल करने और प्रतिकृति उतारने और किसी-न-किसी प्रकार इन नयी शक्तियों और नये अवसरोंको व्यापक रूपसे विचारमें लाकर इनसे काम उठानेके लिये प्रेरित होती है। यह एक ऐसी घटना है जो इतिहासमें कम या अधिक मात्रामें अंशतः या पूर्णतः बारंबार घटित हुई है। परन्तु यदि केवल यन्त्रवत् अनुकरण किया जाय यदि अधीनता और दासताकी वृत्ति पैदा हो जाय तो निष्क्रिय या अपेक्षाकृत दुर्बल संस्कृति नष्ट हो जाती है उसे आक्रमणकारी ग्राह निगल जाता है। और इससे कम पतनकी अवस्थामें भी जितना वह इन अवांछनीय वस्तुओंकी ओर झुकती है उतना वह क्षीण हो जाती है नये विचारों और रूपोंको अपने साथ संयुक्त करनेके प्रयत्नमें असफल होती है बल्कि उसके साथ-साथ अपने मूल भावकी शक्ति को भी खो बैठती है। अपना केंद्रको फिरसे प्राप्त करना अपने निजी आधारको दृढ़

निकालना तथा जो कुछ उसे करना हो उसे अपनी क्षमता और प्रतिभाके द्वारा करना ही, निसंदेह, उद्धारका एकमात्र उपाय है। परतु तब भी कुछ मात्रामें ग्रहण करना, बाह्याचारोको भी अपनाना,—यदि बाह्याचारोंके किसी भी प्रकारके ग्रहणको अनुकरण ही कहा जाय तो कुछ अनुकरण भी करना,—अनिवार्य होता है। उदाहरणार्थ, साहित्यमें हमने और कई चीजोको अपनानेके साथ-साथ उपन्यास, कथा-कहानी तथा आलोचनात्मक निबधके रूपको अपना लिया है। इसी प्रकार, सायस मे हमने खोजो और आविष्कारोको ही नही बल्कि अनुमानमूलक अनुसधानकी क्रिया-प्रक्रियाको भी, राजनीतिमें प्रेस और प्लेटफार्मको, आदोलनके रूपो और अभ्यासो तथा सार्वजनिक सघ-सगठनको अपना ही लिया है। मेरे ख्यालमें कोई भी व्यक्ति गभीरताके साथ ऐसा नही सोचता कि हमारे जीवनमें ये जो आधुनिक चीजे, जुड गयी हैं इन्हे विदेशी वस्तुए होनेके कारण त्याग देना या बहिष्कृत कर देना चाहिये,—यद्यपि ये सबकी सब, किसी प्रकार भी, विशुद्ध वरदान नही है। परतु प्रश्न यह है कि इन चीजोका उपयोग हम क्या करते है और आया हम इन्हे अपने मूल-भावके साधनोंके रूपमें तथा, किसी विशेष परिवर्तनके द्वारा, उसके साचोंके रूपमें परिणत कर सकते हैं या नही। यदि हम ऐसा करते हैं तब तो समझो कि हमने इन्हे ग्रहण करके हजम कर लिया है, नही तो समझना चाहिये कि हमने लाचार होकर इनकी नकल भर की है।

परतु बाह्याचारोको ग्रहण करना ही इस विषयका मर्म नही है। जब मैं ग्रहण और हजम करनेकी बात कहता हू तो मेरे मनमें वे विशेष प्रकारके प्रभाव, विचार तथा शक्ति-सामर्थ्य घूम रहे होते हैं जिन्हे यूरोप एक प्रबल जीवत शक्तिके साथ सामने लाया है और जो हमारी अपनी सास्कृतिक प्रवृत्तियो एव सास्कृतिक सत्ताको जागृत तथा समृद्ध कर सकते हैं यदि हम एक जयशाली शक्ति और मौलिकताके साथ उनसे व्यवहार करनेमें सफल हो जाय, यदि हम उन्हे अपने अस्तित्वकी विशिष्ट प्रणालीके अतर्गत करके उसकी निर्माणकारी क्रियाके द्वारा उन्हे रूपातरित कर सके। सच पूछो तो हमारे पूर्वज बाहरसे प्राप्त होनेवाले जिस भी ज्ञान या कलात्मक सुझावको ग्रहण करने योग्य या भारतीय ढगसे व्यवहरणीय समझते थे उसे लेकर वे उसपर ऐसी ही क्रिया किया करते थे, वे अपनी मौलिकताको कभी नही गवाते थे, न अपने अनुपम वैशिष्टचको ही नष्ट करते थे, क्योकि वे सदा ही अदरसे शक्तिशाली रूपमें सृजन करते थे। परतु अच्छेको ग्रहण करने तथा बुरेको त्याग देनेके सूत्र-का मैं, निश्चय ही, एक अधकचरी वस्तुके रूपमें परिहार करूगा। यह उन सहज सूत्रोंमेंसे एक है जो उथले मनको आकृष्ट कर लेते है पर अपनी परिकल्पनामें दुर्बल होते हैं। स्पष्टत ही, यदि हम किसी वस्तुको "ग्रहण करें" तो उसका अच्छा और बुरा दोनो अग अस्तव्यस्त रूपमे एक साथ घुस आयेंगे। उदाहरणार्थ, यदि हम उस भीषण, दैत्याकार और विवशकारी वस्तु, उस विकराल आसुरिक रचना, अर्थात् यूरोपीय व्यवसायवादको अपनायें,—दुर्भाग्यवश, परिस्थितिया हमें ऐसा करनेके लिये विवश कर रही हैं,—तो चाहे हम उसका

रूप अपनायें या उसका सिद्धांत, हम अधिक अनुकूल अवस्थाओंमें उसके द्वारा अपना वैभव तथा आर्थिक संबल तो बढ़ा सकते हैं पर निश्चय ही हम उसके सामाजिक भेद वैषम्य नैतिक महामारियां और क्रूर समस्याएं भी मोल ले लेंगे और तब मेरी समझमें नहीं आता कि हम जीवनमें आर्थिक लक्ष्यके दास बनने तथा अपनी संस्कृतिके आध्यात्मिक तत्त्वको गंवानेसे किस तरह बचेंगे।

परंतु, इसके अतिरिक्त इस प्रसंगमें अच्छा और बुरा इन शब्दोंका कोई निश्चित अर्थ नहीं है न हमारी कोई सहायता ही करते। यदि मुझे इनका प्रयोग एक ऐसे क्षेत्रमें करना पड़े जहां इनका केवल सापेक्ष अर्थ ही हो सकता है, उदाहरणार्थ आचारशास्त्रके नहीं वरन् जीवनोंके पारस्परिक आदान-प्रदानके विषयमें तो पहले मुझे इनको यह सामान्य अर्थ देना पड़ेगा कि जो भी चीज मुझे अधिक घनिष्ठ और श्रेष्ठ रूपमें तथा आत्म-प्रकाशक सुषमाकी अधिक महान् एवं यथार्थ समाधानाके साथ अपने-आपको बूझनेमें सहायता पहुंचाती है वह अच्छी है, जो चीज मुझे मेरी अपनी दिशासे भ्रष्ट कर देती है, जो चीज मेरी शक्ति एवं समृद्धिका तथा मेरी आत्मसत्ताकी विशालता एवं उच्चताको क्षीण और क्षुद्र कर देती है वह मेरे लिये बुरी है। यदि इनके भेदको इस रूपमें ग्रहण किया जाय तो मेरे विचारमें किसी भी गंभीरप्रकृति एवं विवेकशील मनुष्यके सामने जो वस्तुओंकी तहमें जानेकी चेष्टा करता है यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वास्तविक प्रश्न इस या उस छोटे-मोटे बाह्य आचारको ग्रहण करनेका नहीं है जिसका मूल्य केवल गौणात्मक ही होता है, उदाहरणार्थ विधवाओंका पुनर्विवाह, बल्कि प्रश्न है उन महान् प्रभावशाली विचारोंके साथ बरतनेका जैसे कि जीवनके बाह्य क्षेत्रमें सामाजिक और राजनीतिक स्वाधीनता, समानता और जनतंत्रके विचार हैं। यदि मैं इनमेंसे किसी विचारको ग्रहण करता हूं तो इसलिये नहीं कि ये आधुनिक या यूरोपीय हैं, जो अपने-आपमें कोई विशेषता बतलानेवाली बात नहीं है, वरन् इसलिये कि ये मानवीय हैं, क्योंकि ये आत्माके सम्मुख पथप्रद दृष्टिकोणोंको रखते हैं और मानवजीवनके भावी विकासके लिये सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण विचार हैं। जनतंत्रके प्रभावशाली विचारको ग्रहण करनेसे मेरा मतलब यह है कि स्वयं यह विचार प्राचीन यूरोपीय शासनतंत्र और समाजकी भांति प्राचीन भारतीय शासनतंत्र और समाजमें भी उसके एक अंगके रूपमें विद्यमान था भले इसे पूर्ण रूपमें क्रियान्वित न किया गया हो—मेरे विचारमें अपने जीवन-शासनकी भावी प्रणालीमें अवश्य इसे किसी रूपमें समाविष्ट करना हमारे विकासके लिये आवश्यक है। आत्मसात् करनेसे मेरा मतलब यह है कि हमें इसको स्थूल सीमित इसके यूरोपीय रूपोंमें नहीं ग्रहण करना चाहिये बल्कि जो चीज इसके अनुरूप है, इसके भावको आलोकित करती है तथा जीवन और समाज-संबंधी हमारी परिकल्पनासे इसके उच्चतम आशयका समर्थन करती है उसकी ओर हम लौटना होगा और उसी प्रकाशमें इसकी सीमा मात्रा तथा स्व-स्थापना अन्य विचारोंके साथ इसके संबंध तथा इसके प्रयोगको निर्धारित करना होगा। प्रत्येक

(ग्राह्य) वस्तुपर मैं इसी सिद्धांतका प्रयोग करूंगा, प्रत्येकपर उसके अपने प्रकार तथा उसके विशेष धर्मके अनुसार, उसके महत्त्व तथा उसकी आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक एवं व्यावहारिक उपयोगिताकी यथार्थ मात्राके अनुसार।

मैं इसे व्यक्तिगत सत्ताका एक स्वतःसिद्ध नियम समझता हूं जो प्रत्येक सामूहिक सत्तापर भी लागू हो सकता है कि बाहरसे हमारे अंदर आनेवाली सभी चीजोंको बहिष्कृत कर देना न तो वांछनीय है और न संभव। इसी प्रकार इस नियमको भी मैं इतना ही स्वयंसिद्ध मानता हूं कि एक सजीव सत्ताको जो बाह्य वृद्धिके द्वारा नहीं बल्कि स्व-विकास तथा आत्म-सात्करणके द्वारा वर्धित होती है, अपने अंदर ग्रहण की हुई चीजोंको अपनी जीवविज्ञानीय या मनोवैज्ञानिक देहके नियम, आकार, तथा विशिष्ट कार्यके अनुकूल बनानेके लिये पुनःगठित करना चाहिये, जो चीज इसके लिये हानिकर या विषैली हो उसे त्याग करके,—और भला आत्मसात् न हो सकने योग्य वस्तुके सिवा वह और है ही क्या?—केवल उसी चीजको ग्रहण करना होगा जिसे आत्म-अभिव्यक्तिके उपयोगी उपादानमें परिणत किया जा सके। संस्कृतके एक उपयुक्त पदका, जो बंगला भाषामें भी प्रयुक्त होता है, प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि यह आत्मसात्करण है, चीजको जज्ब करके अपनी बना लेना है, उसे अपने अंदर स्थिर होकर अपनी सत्ताके विशिष्ट आकारमें परिणत होने देना है। किसी चीजका पूर्णतया बहिष्कार कर देना तो असंभव है और इसका कारण ठीक यही है कि हम एकतामें विभिन्नताका एक रूप-विशेष हैं जो अन्य समस्त सत्तासे वस्तुतः पृथक् नहीं है, बल्कि हमारे चारों ओरकी सभी वस्तुओंसे संबंध रखता है, क्योंकि जीवनमें यह संबंध आदान-प्रदानकी एक प्रक्रियाके द्वारा अत्यंत व्यापक रूपमें अपने-आपको प्रकट करता है। यदि पूर्ण रूपसे बहिष्कार करना संभव हो भी तो भी वह वांछनीय नहीं है और इसका कारण यह है कि चारों ओरकी चीजोंके साथ आदान-प्रदान स्वास्थ्यपूर्ण स्थायित्व एवं विकासके लिये आवश्यक है, जो सजीव सत्ता ऐसे समस्त आदान-प्रदानको त्याग देगी वह जड़ता एवं अवसादके कारण शीघ्र ही क्षीण होकर नष्ट हो जायगी।

मानसिक, प्राणिक और शारीरिक रूपसे मैं विशुद्ध पृथक्ताकी अवस्थामें अपने अंदरसे होनेवाले अविमिश्र आत्म-विकासके द्वारा ही नहीं विकसित होता, मैं कोई ऐसी पृथक् स्वयं-स्थित सत्ता नहीं हूं जो अपनी ही दुनियामें जहां उसके सिवा और कोई नहीं है और जहां उसकी आंतरिक शक्तियों और गंभीर विचारणाओंके सिवा और कोई चीज क्रिया नहीं करती, एक पुरानी अभिव्यक्तिसे नयीकी ओर बढ़ रही हो। प्रत्येक व्यक्तिभावापन्न सत्तामें द्विविध क्रिया हो रही है, अंदरसे होनेवाला आत्म-विकास जो उसकी सत्ताकी सबसे बड़ी अंतरीय शक्ति है और जिसके द्वारा वह वह है, और बाहरसे आनेवाले आघातोंको ग्रहण करना जिनको कि उसे अपनी व्यष्टि-सत्ताके अनुकूल बनाकर आत्म-विकास और आत्म-क्षमताके साधनोंमें परिणत करना होता है। ये दोनों क्रियाएं एक-दूसरीका बहिष्कार करनेवाली नहीं हैं,

न दूसरी पहलीके लिये हानिकारक ही है। हां, यदि आंतरिक बुद्धिशक्ति इतनी दुर्बल हो कि अपने पारिपार्श्विक जगत्के साथ सफलतापूर्वक व्यवहार ही न कर सके तो दूसरी बात है। इसके विपरीत आत्माका प्रबल संगठन एवं स्वस्थ और सक्षम सत्तामें आत्म-विकासकी शक्ति उद्दीप्त हो उठती है और साथ ही यह एक महत्तर तथा स्पष्टतः अधिक आत्म-स्वामित्वपूर्ण आत्म-निर्धारणमें भी सहायक होता है। जैसे-जैसे हम विकास क्रममें ऊपर उठते हैं हमें पता चलता है कि अंदरसे मौलिक विकास साधित करनेकी सचेतन रूपसे आत्म-निर्धारण करनेकी शक्ति अधिकाधिक बढ़ती जाती है, यहांतक कि जो लोग अत्यंत शक्तिशाली रूपमें अपने अंदर निवास करते हैं उनमें यह आश्चर्यजनक कभी-कभी तो प्रायः विस्मयकारी परिमाणमें बढ़ जाती है। पर साथ ही हम यह भी देखते हैं कि बाह्य जगत्को आत्मसात् और प्रभावतः अधिकृत करनेकी सबल शक्ति भी उसी अनुपातमें बढ़ जाती है। जो लोग अत्यंत शक्तिशाली रूपमें अपने अंदर निवास करते हैं वे जगत् तथा इसके समस्त द्रव्योंको अत्यंत व्यापक रूपमें आत्माके लिये प्रयुक्त भी कर सकते हैं—और यह भी कहना होगा कि वे ही अपनी सत्ताके द्वारा अत्यंत सफलतापूर्वक संसारकी सहायता कर सकते तथा इसे समृद्ध बना सकते हैं। जो मनुष्य अपनी अंतरात्माको सर्वाधिक उपलब्ध करता तथा उसीके द्वारा सर्वाधिक जीवन यापन करता है वही विश्वात्माका सर्वाधिक आलिंगन कर सकता तथा उसके साथ एक हो सकता है, स्वराट् अर्थात् स्वतंत्र आत्म-स्वामी और आत्म-शासक ही सर्वाधिक सम्राट् बन सकता है अर्थात् जिस जगत्में वह रहता है उसका स्वामी और निर्माता बन सकता है और साथ ही आत्मामें सबके साथ सर्वाधिक एकमय हो सकता है। यही वह सत्य है जिसकी शिक्षा यह विकसित होती हुई सत्ता हमें देती है और यह प्राचीन भारतीय अध्यात्म-ज्ञानके महत्तम रहस्योंमेंसे एक है।

अतएव अपनी आत्मामें निवास करना तथा अपनी सत्ताके धर्म स्वधर्म के अनुसार अपनी सत्ताके केंद्रसे अपनी आत्म-अभिव्यक्तिका निर्धारण करना ही सबसे पहली आवश्यकता है। ऐसा न कर सकनेका अर्थ है जीवनका विघटन, पर्याप्त रूपमें ऐसा न करनेका मतलब है शिथिलता, दुर्बलता, अकुशलता, बाहरी ओरकी शक्तियोंके द्वारा उत्पीड़ित और पराभूत किये जानेका भय; बुद्धिमत्ता और सतर्कताके साथ अपने बाहरिक करणोपकरणों तथा आंतरिक शक्तियोंका सबल रूपमें प्रयोग करते हुए ऐसा न कर सकनेका अर्थ है अस्तव्यस्तता, अव्यवस्था और अंतमें जीवन-शक्तिका ह्रास और विनाश। परंतु अपने बाहरी ओरका जीवन हमारे सामने या साधन-सामग्री प्रस्तुत करता है, उसे कार्यमें न ला सकना, सहजस्फूर्त चुनाव और प्रबल प्रभुत्वपूर्ण आत्मसात्करणके साथ उसे अधिकारमें न लाना भी एक भारी त्रुटि है तथा हमारे अस्तित्वके लिये एक संकट है। एक स्वस्थ व्यष्टि-सत्ताके लिये कोई बाह्य समाघात या अंदर प्रवेश करनेवाली कोई शक्ति, विचार एवं प्रभाव एक ऐसे उत्तेजक-की तरह कार्य कर सकता है जो अन्तःसत्ताको असामंजस्य, असंगति या विपत्तिकी भावनाके

प्रति सचेत कर दे, और तब एक सघर्ष उठ खडा होता है, उस बाह्य प्रभाव आदिका बहिष्कार करनेका आवेग और प्रक्रिया शुरू हो जाती है, परतु इस सघर्ष, बहिष्कारकी इस प्रक्रियाके परिणामस्वरूप भी कुछ परिवर्तन एव विकास साधित होता है, जीवनकी सामर्थ्य और साधन-सामग्रीमें कुछ वृद्धि होती है, इस आक्रमणके द्वारा सत्ताकी शक्तियोको प्रेरणा और सहायता प्राप्त होती है। इसी प्रकार, वह प्रभाव एक उद्दीपकके रूपमें भी कार्य कर सकता है और तुलना और सुझावके द्वारा तथा बद द्वारोको खटखटाकर एव सुप्त शक्तियोको जगाकर आत्म-चेतनताकी एक नयी क्रियाको और नवीन शक्यताके बोधको भी उद्बुद्ध कर सकता है। वह एक सभाव्य सामग्रीके रूपमें भी प्रवेश कर सकता है जिसे तब फिरसे आतरिक शक्तिके एक आकारमें ढालना होता है, आतरिक सत्ताके साथ समस्वर करके इसकी अपनी विशिष्ट आत्म-चेतनाके प्रकाशमें पुन निरूपित करना होता है। परिस्थितिके महान् परिवर्तनके समय या बहुत-से आक्रामक प्रभावोके साथ घनिष्ठ सपर्कके समय ये सब प्रक्रियाए एक साथ कार्य करती है और सभवत कुछ समयके लिये अत्यधिक कठिनाई और परेशानी होती है, सदेह और सकटसे भरी हुई कितनी ही क्रियाए होती है, पर साथ ही एक महान् आत्मविकास-साधक रूपातर या महत् और शक्तिशाली नवजन्मका अवसर भी प्राप्त होता है।

सामूहिक आत्मा वैयक्तिक आत्मासे इसी बातमें भिन्न होती है कि वह अनेक वैयक्तिक आत्माओका समूह होने तथा अपने अदर अनेक सामूहिक परिवर्तनोके योग्य होनेके कारण अधिक आत्मावलबी होती है। उसमें भीतर-ही-भीतर निरतर आदान-प्रदान होता रहता है जो, शेष मानवजातिके साथ आदान-प्रदानके सीमित रहनेपर भी, जीवनी-शक्ति और अभिवृद्धिकी, तथा कार्यक्षेत्रको विकसित करनेकी शक्तिकी रक्षा करनेके लिये दीर्घकालतक पर्याप्त हो सकता है। यूनानी सभ्यताने,---मिस्र और फिनीशिया तथा अन्य पूर्वीय देशोंके प्रभावोकी छत्रछायामें विकसित होनेके बाद,---अ-यूनानी "बर्बर" सस्कृतियोसे अपने-आपको तीव्र रूपमें पृथक् कर लिया और कई शताब्दियोतक वह प्रचुर परिवर्तनो तथा आतरिक आदान-प्रदानकी सहायतासे अपने ही अदर जीवित रहनेमें समर्थ हुई। प्राचीन भारतमें भी हम एक सस्कृतिका ऐसा ही दृष्टात पाते हैं, वह चारो ओरकी सभी सस्कृतियोसे गहरा विभेद रखती हुई अपने ही अदरसे सबल रूपमें जीवन यापन करती थी। आतरिक आदान-प्रदान और परिवर्तनोकी और भी अधिक प्रचुरताके कारण इसकी जीवनी-शक्ति बनी रह सकी। चीनकी सभ्यता इस बातका एक तीसरा उदाहरण प्रस्तुत करती है। परतु भारतीय सस्कृतिने कभी भी बाह्य प्रभावोका पूर्ण बहिष्कार नहीं किया, बल्कि बाह्य तत्त्वोको चुनावपूर्वक आत्मसात् करने, उन्हे अधीन रखने तथा रूपातरित करनेकी अति महान् शक्ति उसकी प्रक्रियाओकी एक विशेषता थी, उसने प्रत्येक बडे या दुर्धर्ष आक्रमणसे अपनी रक्षा की, परतु जिस भी चीजने उसे आकर्षित या प्रभावित किया उसे उसने अधिकृत करके अपनेमें मिला लिया और मिलानेकी इस क्रियामें उसने उसे एक ऐसे विशिष्ट परिवर्तनमेंसे गुजरनेके लिये बाध्य किया जिसने

प्रेरणाके द्वारा नयी कार्य-प्रवृत्तियोंकी ओर जागरित होता है तब परिवर्तित होता है, यहांतक कि जब यह उसका निषेध और बहिष्कार करता है तब भी यह परिवर्तित होता है, क्योंकि एक पुराना विचार या सत्य भी जिसे मैं एक विरोधी विचारके मुकाबलेमें बलपूर्वक स्थापित करता हूं, स्थापना और बहिष्कारके उस प्रयत्नमें मेरे लिये एक नया विचार बन जाता है, नये पहलुओं और परिणामोंका जामा धारण कर लेता है। इसी प्रकार मेरा जीवन भी, जीवन-संबंधी जिन प्रभावोंका इसे मुकाबला और सामना करना पड़ता है उनके द्वारा परिवर्तित होता है। अंतमें एक बात यह भी है कि हम आधुनिक जगत्‌के महान् प्रभावशाली विचारों और समस्याओंके साथ संबंध रखनेसे बच नहीं सकते। आधुनिक जगत् अबतक भी मुख्य रूपमें यूरोपमय है, अर्थात् यह एक ऐसा जगत् है जिसपर यूरोपीय मनोवृत्ति और पश्चिमी सभ्यताका आधिपत्य है। हम इस अनुचित प्रधानतामें सुधार करने, एशियाई और, अपने लिये, भारतीय मनोवृत्तिका प्रभुत्व पुनः स्थापित करने तथा एशियाई एवं भारतीय सभ्यताके महान् मूल्योंका रक्षण और विकास करनेका दावा करते हैं। परंतु एशियाई या भारतीय मानस अपने प्रभुत्वको सफलतापूर्वक तभी स्थापित कर सकता है जब कि वह उन समस्याओंका सामना करके इनका एक ऐसा हल निकाले जो उसके अपने आदर्शों तथा मूलभावका समर्थन करे।

जिस सिद्धांतकी मैंने प्रस्थापना की है वह हमारी प्रकृतिकी आवश्यकता तथा वस्तुस्थिति एवं जीवनकी आवश्यकता दोनोंका परिणाम है। वह सिद्धांत है—अपनी मूल भावना, प्रकृति तथा अपने आदर्शोंके प्रति निष्ठा, नये युग और नयी परिस्थितिमें अपने स्वभावानुगत रूपोंका सृजन, पर साथ ही बाह्य प्रभावोंके साथ सबल और प्रभुत्वपूर्ण रूपमें व्यवहार, जिसका रूप पूर्ण बहिष्कार ही हो यह आवश्यक नहीं और आज वस्तुस्थितिको देखते हुए, वह व्यवहार इस प्रकारका हो भी नहीं सकता, अतएव एक सफल आत्मसात्करणके तत्त्वका होना आवश्यक है। अब रह गया इस सिद्धांतके प्रयोगका,—प्रयोगकी मात्रा, उसके प्रकार और मार्गदर्शक अनुभवोंका—अत्यंत कठिन प्रश्न। इसपर विचार करनेके लिये हमें संस्कृतिके प्रत्येक क्षेत्रपर दृष्टिपात करना होगा और भारतीय मूलभाव और भारतीय आदर्श क्या है इसके ज्ञानको सदा दृढ़तापूर्वक पकड़े रखकर यह देखना होगा कि इनमेंसे प्रत्येक क्षेत्रमें वे वर्तमान स्थिति और संभावनाओंपर किस प्रकार क्रिया करके नयी जयशाली रचनाकी ओर ले जा सकते हैं। इस प्रकारका विचार करनेमें अत्यंत हठधर्मी बननेसे काम नहीं चलेगा। प्रत्येक योग्य भारतीय विचारकको चाहिये कि वह इसपर विचार करे अथवा, अधिक अच्छा यह होगा कि जैसे बंगालके कलाकार इसे अपने क्षेत्रमें क्रियान्वित कर रहे हैं, वैसे ही वह भी इसे अपने ज्ञान और बलके अनुसार कार्यान्वित करे, तथा इसपर कुछ प्रकाश डालने या इसे चरितार्थ करनेमें योगदान दे। उसके बाद भारतीय पुनरुत्थानकी भावना, विश्वव्यापी काल-पुरुषकी वह शक्ति ही, जिसने नये और अधिक महान् भारतके निर्माणके लिये हमारे बीच विचरण करना आरंभ कर दिया है, बाकी चीजोंकी सुध आप ही ले लेगी।